प्रकाशक :
मेडिकल पुस्तक भवन,
गोलादीनानाथ, वाराणसी ।

लेखक—डॉ० शिवदयाल गुप्त, ए. एम. एस.

चतुर्थ संस्करण

मूल्य—रु० १९·०० मात्र

मुद्रक—
वैजनाथ प्रसाद
कल्पना प्रेस,
रामकटोरा रोड, वाराणसी ।

यह भूल जाते हैं कि यह कार्य नैतिक दृष्टि से अनुचित होने के साथ-साथ कानूनी दृष्टि से भी सम्भव नहीं है। फिर भी लेखक का यह दावा नही कि सम्पूर्ण विपय का स्वतन्त्र रूप से संकलन किया गया है। पुस्तक के लेखन मे कई अंग्रेजी, संस्कृत व हिन्दी ग्रन्थों की सहायता ली गई है, उनके लेखकों एवं प्रकाशकों के प्रति लेखक का हार्दिक आभार प्रदर्शित है। जहाँ तक पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न है सभी पारिभाषिक शब्द भारत सरकार द्वारा प्रकाशित चिकित्सा विज्ञान शब्दावली के अनुकूल रखे गये हैं।

सब कुछ सावधानी रखते हुए भी पुस्तक में त्रुटियाँ हो सकती हैं जिनके लिए क्षमा प्रार्थना तथा पुस्तक के भविष्य के लिए सहयोग सद्भावना एवं प्रोत्साहन की कामना करते हुए।

विनीत :

सिरसागंज (मैनपुरी) डॉ० शिवदयाल गुप्त

१-६-७० लेखक

—:०:—

कि ग्रन्थ का विषय सामान्य शल्य विज्ञान (Minor Surgery) तक ही सीमित रक्खा गया है विशेष ज्ञान (Speciali zation) के लिए तत्सम्बन्धी अन्य साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। यह अवश्य है कि भाषा एव विषय की दृष्टि से उच्च होते हुए भी मुद्रण, कागज, चित्र आदि की दृष्टि से पुस्तक अगरेजी पुस्तकों के स्तर की नही बन सकी है, और इसका मूल कारण यह है कि प्रचार के लिए जो क्षेत्र इस ग्रन्थ से कहीं अधिक मूल्य के अग्रेजी ग्रंथों को मिलता है वह हिन्दी ग्रथो को उपलब्ध नही।

सरल सुबोध भाषा, एक निश्चित वैज्ञानिक क्रम से सामान्य शल्य विज्ञान सम्बन्धी सभी बातो का सकलन एव स्पष्टीकरण, सम्बन्धित विषय की आधुनिकतम सूचना पुस्तक की अपनी निजी विशेषतायें है। सामान्य शल्य चिकित्सक के लिए आवश्यक सभी औषधियों का वर्णन भी दे दिया गया है और इस प्रकार अपने विषय की हिन्दी मे यह सर्वांग पूर्ण कृति उन चिकित्सको के लिए जो एलोपैथिक चिकित्सा को तो अपनाए हुए हैं किन्तु अग्रेजी के ज्ञान के अभाव मे विषय का समुचित अध्ययन नही कर सकते—एक वरदान होगी। दूसरी श्रेणी मे उन विद्यार्थियो का समुदाय है जो मिश्र चिकित्सा प्रणाली कालेजों मे एलोपैथिक चिकित्सा का अध्ययन करते हैं। उनके लिए भी पुस्तक की उपादेयता असंदिग्ध है। आधुनिक मेडिकल कालेजों मे जहॉ शिक्षक एव शिक्षार्थी दोनों के ही मन मे हिन्दी के प्रति हीनता की यह भावना व्याप्त है कि 'हिन्दी मे इस प्रकार की कृतियाँ हो ही नहीं सकतीं' पुस्तक को स्थान मिलने की कदापि आशा नही और वर्तमान परिस्थितियो को देखते हुए निकट भविष्य मे यह आशा की भी नहीं जा सकती।

पुस्तक इसी विषय के किसी अन्य अग्रेजी ग्रंथ का अनुवाद मात्र है यह प्रमुख आक्षेप है जो कुछ आलोचक प्रस्तुत कर सकते है किन्तु वे

सम्बन्धी कुछ ऐसे ग्रन्थों[1] का नाम आता है जो आज उपलब्ध नहीं। इस सबका अर्थ यह है कि आज से बहुत समय पूर्व ही भारत मे शल्य-चिकित्सा अपने एक सुव्यवस्थित रूप मे थी। ग्रन्थों मे यहाँ तक उल्लेख मिलता है कि तत्कालीन शल्य चिकित्सक कृत्रिम अंग लगाने में निपुण थे।[2]

सुश्रुत के शल्य-चिकित्सा के लिए चौबीस तीव्र धार वाले शस्त्रों के अलावा १०१ अन्य शस्त्रों का उल्लेख मिलता है और इसमे भी कोई सन्देह नही कि इनमे से बहुत-से आधुनिक शस्त्रों के ही समान हैं। ये शस्त्र —

"तानि षट् प्रकाराणि। यद्यथा स्वस्तिक यन्त्राणि, संदंश यन्त्राणि, ताल यन्त्राणि, नाडी यन्त्राणि, शलाका उपयन्त्राणि चेति। तत्र चतुर्विंशतिः स्वस्तिक यन्त्राणि, द्वे संदंश यन्त्रे, द्वे एव ताल यन्त्रे, विंशतिर्नाड्या, अष्टविंशति शलाकाः, पञ्चविंशतिः उप यन्त्राणि"—सुश्रुत।

अर्थात् तीव्रधार वाले शस्त्रो के अलावा दूसरे शस्त्र स्वस्तिक,[3] संदश,[4] ताल,[5] नाड़ी,[6] शलाका,[7] तथा उपयन्त्र[8] इस प्रकार छः कोटि के है जिनकी संख्या क्रमशः चौबीस, दो-दो, बीस, अट्ठाईस तथा पचीस हैं।

तीव्रधार के काटने वाले शस्त्र भी बीस प्रकार के गिनाए गए हैं। इन सबके लिखने का तात्पर्य यह कि शस्त्रों के इस वर्णन से ही स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उस समय शल्य-चिकित्सा भी उन्नत रूप मे थी। संज्ञाहरण के लिए भोज प्रबन्ध मे मोहिनी चूर्ण का उल्लेख मिलता है किन्तु उसकी निर्माण-विधि तथा प्रयोग-विधि का स्पष्ट उल्लेख नही।

प्राचीन काल मे रोगजनक जीवाणुओ के सम्बन्ध मे थोड़ी बहुत जानकारी थी अथवा नही इसमे अवश्य ही सन्देह है क्योंकि सूक्ष्मदर्शक यन्त्र जैसे किसी

---

१. औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम्।
शेषणा शल्य तन्त्राणामूलान्येतानि निर्दिशेत॥

२. चरकसहिता १–११६–१५ १६.

3. Crusiform 4. Forceps 5. Pick lock like 6. Tubular 7. Rods 8. Accessory.

विषय-सूची

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम	विषय प्रवेश	१–१२
द्वितीय	रोगी परीक्षा	१३–२६
तृतीय	जीवाणु विज्ञान	२७–४५
चतुर्थ	जीवाणुओं से रक्षा	४६–८३
पञ्चम	पट्टियाँ	८४–१०९
छटवाँ	शस्त्र कर्म	११०–१५४
सातवाँ	शोथ एव विद्रधि	१५५–१६०
आठवाँ	व्रण एवं व्रणोत्पादन	१६१–२०३
नवम्	क्षत एव अन्य दुर्घटनायें	२०४–२६७
दशम्	रक्तस्राव	२६८–३०१
ग्यारहवाँ	सामान्य शस्त्र कर्म (शाखायें)	३०२–३२१
बारहवाँ	सामान्य शल्य कर्म (श्वसन तंत्र)	३२२–३४४
तेरहवाँ	सामान्य शस्त्र कर्म (रक्तवह तंत्र)	३४५–३७९
चौदहवाँ	सामान्य शस्त्र कर्म (पचन तत्र)	३८०–४१२
पन्द्रहवाँ	गुदा एव मलाशय के रोग	४१३–४३९
सोलहवाँ	मूत्र एव प्रजनन तन्त्र के रोग	४४०–५०६
सत्रहवाँ	अवशिष्ट सामान्य शस्त्र कर्म	५०७–५४१
अठारहवाँ	कोथ एवं निर्जीवाङ्गत्व	५४२–५५६
उन्नीसवाँ	अर्बुद	५५७–५७८
बीसवाँ	अस्थिभंग एवं सन्धिच्युति	५७९–६१३

—:o:—

६—राजनैतिक उथल-पुथल प्रत्येक भारतीय विज्ञान के लिए घातक सिद्ध हुई है। आक्रमणकारियो द्वारा विशाल पुस्तकालयों का जलाया जाना, विद्वानो का अपमान करना, भारतीय विज्ञान के स्थान पर विदेशो विज्ञान को बलपूर्वक बिठाना, भारतीय विज्ञान की उन्नति मे कोई राजकीय सहयोग न देना आदि ऐसी बाते रही हैं जिन्होने विज्ञान की उन्नति करने के स्थान पर उसको एकदम अवनति के गर्त मे गिरा दिया है। जब मुसलमान देश के शासक बने तो उन्होंने यूनानी चिकित्सा पद्धति को अपनाया तथा उसका प्रचार किया तथा जब शासन प्रबन्ध अंग्रेजों के हाथो मे आया तो उन्होने एलोपैथिक चिकित्सा पद्धति को प्रोत्साहन दिया—आयुर्वेद एकदम पिछड़ गया।

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति विशेष कर शल्य चिकित्सा आज से दो हजार वर्ष पूर्व जिस स्थिति मे थी तथा उस समय तक उसमें जो कुछ उन्नति हो चुकी थी वह उसी रूप मे रही। उसके पश्चात् कोई उन्नति नही हो सकी; भिन्न-भिन्न कारणो से थोड़ी बहुत अवनति अवश्य हुई और यही कारण है कि आयुर्वेदिक शल्य-चिकित्सा-पद्धति को आज हम अव्यवहार्य रूप मे देखते है।

उत्थान कार्य—क्या यह संम्भव है कि आयुर्वेदोक्त शल्य-चिकित्सा पद्धति को उन्नत करके ऐस रूप मे लाया जा सके कि वह महान् वैज्ञानिक उन्नति के इस युग मे समाज के लिए व्यवहार्य तथा अधिक उपयोगी हो सके? यह एक ऐसा प्रश्न है जो प्रत्येक भारतीयता प्रेमी व्यक्ति के मस्तिष्क मे उठ सकता है किन्तु वर्तमान परिस्थितियों को देखकर वह इसको असम्भव समझकर छोड भी दे सकता है क्योकि पाश्चात्य शल्य-चिकित्सा-पद्धति जिस उन्नत रूप मे हमारे सामने है उसको देखते हुए यह दुराशा मात्र है कि सदियों की पिछडी हुई शल्य-चिकित्सा-पद्धति को उसके समकक्ष लाया जा सके।

इस स्थल पर प्रधान बात जो हम भूल जाते हैं वह यह है कि विज्ञान किसी देश, जाति व समाज की बपौती नही वह तो सारे ससार की वस्तु है। एक देश-विशेष मे कोई वैज्ञानिक आविष्कार होता है और ससार का प्रत्येक देश उसको अपनाकर उससे लाभ उठाता है। इसीलिए चिकित्सा विज्ञान के

आयुर्वेद के लिए यह कहा जाता है कि इसका प्रथम ज्ञान ब्रह्मा ने आदि पुरुष दक्ष को दिया[1]। दक्ष से यह ज्ञान अश्विनी कुमारों को, अश्विनी कुमारों से इन्द्र तथा इन्द्र से ऋषि भारद्वाज को प्राप्त हुआ। भारद्वाज के शिष्य आत्रेय ने ईसा से छः शताब्दी पूर्व तक्षशिला के निकट अपने छः शिष्य अग्निवेश, भेड, जतूकर्ण, पाराशर, हारीत और क्षारपाणि को इस विषय की शिक्षा दी। इनमें से प्रत्येक ने अलग-अलग संहिताएँ लिखीं किन्तु दुर्भाग्य से आज केवल भेड व अग्निवेशकृत संहिताएँ ही उपलब्ध हैं। अग्निवेशकृत संहिता का संपादन चरक ने किया जो चरकसहिता के नाम से प्रचलित है।

शल्यतन्त्र भी आयुर्वेद की मुख्य शाखा है जिसका ज्ञान इन्द्र से धन्वन्तरि को मिला। धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत ने शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी ज्ञान को संग्रहीत किया और यह ग्रन्थ ही आज सुश्रुत संहिता के नाम से उपलब्ध है। सम्भवतः प्रारम्भ में यह ग्रन्थ केवल शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी ही रहा हो [illegible] द्वारा [illegible]चिकित्सा-सम्बन्धी श्लोकों का भी इसमें समावेश कर [illegible] है।

इस प्रकार आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थों में शल्य-चिकित्सा का ग्रन्थ सुश्रुत-[illegible] अनुमान यह किया जाता है कि यह लगभग दो सहस्र वर्ष [illegible] लिखा गया है। इस संहिता में भी शल्य-चिकित्सा

[illegible] विशेष महत्व की स्पष्ट की जाती है और वह [illegible] लेखन प्रणाली ही इस प्रकार की रही है कि लेखक [illegible] को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि यह ज्ञान [illegible] को उपलब्ध होता गया। महान् ग्रन्थ गीता के [illegible] कि सम्पूर्ण ज्ञान कृष्ण ने युद्ध-स्थल पर अर्जुन [illegible] उल्लेख है। इस स्थल पर आयुर्वेद के सम्बन्ध [illegible] इसका प्रथम ज्ञान ब्रह्मा ने आदि पुरुष दक्ष को दिया [illegible] सकता है।

चाहिए कि एक सार्वदैहिक सवेदनाहारी[1] पदार्थ के रूप मे नायट्रस ओक्सायड की खोज सन् १७७६ में ही प्रीस्टले स्मिथ द्वारा की जा चुकी थी किन्तु वह प्रयोग मे नही आई। क्राउफोर्ड लोग के पश्चात् एक दन्त चिकित्सक विलियम मोर्टन[2] ने सन् १८४६ में दाँत निकालने मे इसका प्रयोग किया और इसके साथ हो साथ जोन सी वारैन ने इसकी सहायता से एक अर्बुद को बिना किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचाए निकाला। सन् १८४७ मे सिम्पसन[3] द्वारा क्लोरोफार्म का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इसके बाद धीरे-धीरे अन्य सार्वदैहिक सवेदनाहारी तथा स्थानिक संज्ञाहरण के लिए कोकेन के भिन्न-भिन्न योग काम मे आने लगे और आज संज्ञाहरण के कई भिन्न-भिन्न रूप है जो काम मे लाए जा रहे हैं। अनुसंधान कार्य जारी है और वैज्ञानिकों का ध्यान एक ऐसे पदार्थ की ओर केन्द्रित है जो मस्तिष्क के केवल पीडाग्राहक क्षेत्र को ही अवसादित करे जिसके प्रयोग से रोगी पीड़ा का तो अनुभव न करे किन्तु मस्तिष्क के अन्य सभी केन्द्रो के कार्य करते रहने से सब कुछ देख-सुन व समझ सके।

(३) जर्मन वैज्ञानिक विलियम कोनार्ड रोटिजन[4] द्वारा सन् १८९५ मे होने वाले क्ष-किरण के आविष्कार ने भी शल्य चिकित्सा की उन्नति में बहुत बडा योग दिया है।

(४) किसी भी प्रकार के शल्यकर्म के समय रक्तस्राव जितना ही कम हो उतना ही रोगी के हित मे है और इसीलिए सर्जन के लिए यह आवश्यक है कि रक्तनलिका के कटते ही उसको दबाकर या बन्धन बाँधकर एकदम रक्तस्राव बन्द कर दे। बात बहुत छोटी-सी है किन्तु बहुत ही महत्वपूर्ण जिसके बिना बड़े-बडे शल्य कर्म सम्भव नही हो सकते। रक्तनलिका मे बन्धन बाँधकर रक्तस्राव को बन्द करने के विचार को प्रारम्भ करनेवाला फ्रान्सीसी शल्य चिकित्सक एम्ब्रौस पारे[5] था जिसने सर्वप्रथम सोलहवी शताब्दी मे इस विचारधारा को जन्म दिया।

(५) शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध मे नीव के पत्थर के रूप में दो महान् आविष्कार जीवाणुवाद तथा संज्ञाहरण सम्बन्धी होने के पश्चात् शल्य विज्ञान

1. General Anaesthetic. 2. William Mortan.
3. Simpson. 4. William conard Roentgen.
5. Ambrose Parre.

भी उपकरण की ओर कोई संकेत नहीं मिलता। किन्तु कृमियों का ज्ञान अवश्य था और साथ ही व्रण को विषहारी वस्तुओं से धोने, व्रण, रोगी की शय्या तथा रोगी के निवास-स्थान को धूपन आदि द्वारा शुद्ध करने की प्रथा थी और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से जीवाणुनाशन की ओर भी ध्यान था ही।

शल्य-चिकित्सा की अवनति—समय की प्रगति के साथ-साथ प्रगति करते जाना ही जीवन है और कोई भी विज्ञान तभी जीवित रह सकता है जब उसमे शततः सुधार तथा आविष्कार होते रहें। यह हो सकता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व आयुर्वेदिक शल्य विज्ञान तत्कालीन अवस्थाओं को देखते हुए उन्नति के शिखर पर रहा हो किन्तु समय के साथ-साथ उसमे कोई प्रगति न होकर अवनति ही होती रही है और इस समय वस्तुस्थिति यह है कि आयुर्वेदोक्त शल्य-चिकित्सा को अव्यवहार्य समझा जाता है, आधुनिक शल्य विज्ञान की उन्नत अवस्था मे वह उसके समकक्ष नहीं मालूम पड़ सकती। यह सम्भावना अवश्य हो सकती है कि आयुर्वेद ग्रन्थो के गहन अध्ययन के पश्चात् कुछ अच्छी औषधियाँ अथवा किसी रोग विशेष की शल्यकर्म विधि आविष्कृत हो सके।

शल्य विज्ञान की विशेष उन्नति न होकर अवनति क्यो हुई इसके भी कई विशेष स्पष्ट कारण हैं।

१. सुश्रुत शल्य-चिकित्सा का अन्तिम ग्रन्थ है, इसके पश्चात् किसी भी विद्वान ने यह प्रयत्न नहीं किया कि सुश्रुतोक्त विधियो मे परीक्षण के आधार पर मालूम पड़ने वाली त्रुटियों को सुधार कर परिष्कृत किया जाय तथा अन्य नई-नई विधियों का उसमे समावेश हो। मोतियाबिन्द के लिए एक ऐसे शल्यकर्म का उल्लेख है जिसमे लेंस को अपने स्थान से हटा देते हैं। यदि इस पर परीक्षण किए जाते तो क्या यह सम्भव नहीं था कि इस प्रकार के शल्यकर्म की बुराइयाँ सामने आती और फलतः उसकी अनुपयोगिता स्पष्ट हो जाती। फिर यह भी सम्भव हो सकता था कि लेंस को केवल स्थानान्तर

पूर्ण सुधार या उनकी भीषणता मे तो कमी नही आ जाती आदि बातें भी जाननी चाहिए। अब तक क्या चिकित्सा की जा चुकी है यह जानना भी नितान्त आवश्यक है। इस सन्वन्ध मे यदि रोगी के पास कोई लिखित व्यवस्था पत्र हो तो बहुत अच्छा है अन्यथा चिकित्सक, चिकित्सा-विधि एवं औषधियों का नाम सुनकर की बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। यदि आवश्यक हो तो वर्तमान रोग से सम्बन्धित किसी पूर्ववर्ती रोग के सम्बन्ध मे भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। उदाहरण के लिए कुछ रोग फिरग या पूयमेहजन्य हो सकते हैं: यदि किसी वयोवृद्ध व्यक्ति पर शल्यकर्म करना है तो मधुमेह का निराकरण भी कर लिया जाना चाहिए।

मुख्य लक्षण उनकी प्रकृति एवं इतिहास के साथ ही साथ पारिवारिक इतिहास भी जानना चाहिए। कुछ रोगो में वंशानुगामी होने की भी प्रवृत्ति पाई जाती हैं यथा फिरग, क्षय, कुष्ठ, सन्धिवात आदि। क्षय एव कुष्ठ ऐसे तो नहीं कि माता-पिता से सीधा बच्चे को संक्रमण हो सके बल्कि यह अवश्य है कि प्रारम्भ से ही बच्चों को ऐसे वायुमण्डल मे रहना पड़ता है कि उसको ये रोग आसानी से हो जा सकते हैं।

परीक्षा—रोगी से रोग के लक्षण एवं उनकी प्रकृति आदि का निश्चय कर लेने के बाद प्रश्न आता है रोगी की परीक्षा का। काय चिकित्सा विषयक परीक्षा मे यह आवश्यक होता है कि पीड़ित तन्त्र की विस्तृत परीक्षा के साथ-ही-साथ अन्य तन्त्रो की भी संक्षिप्त परीक्षा की जाय। शल्य रोगों मे लक्षणों के अनुसार पीड़ित अंग की पूर्ण परीक्षा की जानी चाहिए, किन्तु इसके अलावा अन्य अंगों की परीक्षा की उसी अवस्था मे आवश्यकता है जब रोग का उनसे कोई विशेष सम्बन्ध होने की आशंका हो। अस्थि भग्न, विद्रधि क्षत आदि में पीड़ित अंग के अतिरिक्त अन्य अगो की परीक्षा व्यर्थ-सी है।

परीक्षा क्रमबद्ध, उपयुक्त तथा उद्देश्ययुक्त होनी चाहिए और साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि परीक्षा करते समय रोगी को किसी प्रकार का कष्ट न हो और न परीक्षा इतनी लम्बी ही हो जानी चाहिए जिससे रोगी ऊब जाय। क्रमबद्ध से तात्पर्य यह है कि परीक्षा एक पूर्व निश्चित क्रम से

३ – अहिंसाप्रिय बौद्धधर्म के प्रचार ने इस प्रकार की भावना को और भी बढाया तथा शल्य कर्म की उन्नति एकदम रोक दी। बौद्धधर्म का प्रचार इतना विशाल रूप में था कि राजा तक उसको मानते थे एवं बौद्ध भिक्षुओं के प्रभाव में थे। इसीलिए शवच्छेद तथा पशुओं पर शल्यकर्म का अभ्यास करना राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध करार दे दिए गए।

उपरोक्त दोनों कारणों का ही फल यह भी हुआ कि शल्यकर्म का अभ्यास उच्च श्रेणी के विद्वान व्यक्तियों द्वारा न किया जाकर निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के हाथों में सीमित हो गया और इसके फलस्वरूप शल्य-चिकित्सा का अध्ययन, अभ्यास तथा प्रगति एकदम रुक गई।

४ - इसमें कोई सन्देह नहीं कि शल्यकर्म पीड़ाकर क्रिया है जिससे रोगी घबडाता है और अन्य साधनों से लाभ की आशा न रहने पर ही शल्यकर्म की शरण लेता है। प्राचीनकाल में संज्ञाहरण के साधनों के अभाव में तो कोई विरला साहसी रोगी ही जो सब प्रकार से निराश हो जाता था शल्यकर्म की अनुमति देता था। इस प्रकार की स्थिति में शल्य-चिकित्सा की उन्नति असम्भव ही थी।

५—केवल शल्य-चिकित्सा ही नहीं अपितु सम्पूर्ण चिकित्सा विज्ञान के ह्रास का एक प्रमुख कारण यह भी है कि ऋषि प्रणीत ग्रन्थों के प्रति हमारी अन्ध श्रद्धा है, इनमें किसी प्रकार की त्रुटि निकालना लेखक में अविश्वास तथा उसका अपमान समझा जाता है और इसीलिए भयंकर पाप समझकर उसको कोई करना नहीं चाहता। यदि कोई इस प्रकार का साहस करे भी तो उसकी ओर सबकी उँगली उठने लगती है। इस प्रकार की भावना का स्पष्ट फल यह हुआ है कि आयुर्वेदिक ग्रन्थ जिस रूप में आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व थे उसी रूप में चले आ रहे हैं, साहित्यिक दृष्टि से खींचा-तानी करके भिन्न-भिन्न श्लोकों के चाहे कुछ भी कितने ही अर्थ लगा दिए गए हों किंतु प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर उनमें कोई भी परिवर्तन नहीं किया गया जिसकी महान् आवश्यकता थी।

तापमान एवं स्पर्शासह्यता--नहीं ।

स्थान – बाईं बहिकर्ण के थोड़ा नीचे, जबडे के कोण से कुछ पीछे तथा नीचे हटकर ।

आकार--पूँगीफल (सुपारी) के बराबर ।

रूप--अनियमित ।

निकटस्थ धातुओं से सम्बन्ध-चर्म से ससक्त नहीं किन्तु गम्भीरस्थ ऊतकों से संसक्त-चिपका हुआ ।

प्रकृति – घन-ठोस ।

उपरोक्त परीक्षा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह किसी निकटस्थ अंग के कैंसर के कारण लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि है। मुख की परीक्षा करने पर कुछ भी नहीं मालूम पड़ता । स्वरयन्त्र दर्शक[1] द्वारा स्वरयन्त्र की परीक्षा करने से वहाँ कैंसर की उपस्थिति का आभास मिलता है जो अभी बहुत छोटा तथा लक्षणों से रहित है ।

अन्य विशिष्ट परीक्षाएं – अन्य परीक्षाओ से तात्पर्य क्ष-किरण द्वारा अथवा स्थानिक धातु को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करने से है। कभी-कभी रक्त, मल-मूत्र आदि की भी परीक्षा कराना आवश्यक हो जाता है। अस्थिभग, सन्धिच्युति, अस्थिवृद्धि अथवा अस्थिक्षय का भय होने पर तो क्ष-किरण की शरण अवश्य ही ली जानी चाहिए ताकि निश्चित निदान हो सके। ध्यान रखना चाहिए कि ये परीक्षाएँ सभी अवस्थाओं मे आवश्यक नही केवल उसी समय करानी चाहिए जब इनकी आवश्यकता हो ।

निदान--चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व उपरोक्त परीक्षाओं का प्रधान महत्व निश्चित निदान के लिए है किन्तु निदान की घोषणा करने मे कभी भी उतावली नही करनी चाहिए क्योंकि कभी-कभी यह भी होता है कि दो-एक दिन चिकित्सा का प्रभाव देखकर ही निश्चित निदान पर पहुँचा जा सकता है। साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कुछ अवस्थाएँ ऐसी है जिनमे दो-तीन दिन तक चिकित्सा का फल देखने के लिए नही ठहरा

1. Laryngoscope.

प्रकार की अवस्था कम होती है तथा उसके साथ मे ही ज्वर, कास आदि न्यूमोनिया के अन्य लक्षण भी मिलने चाहिए। तापमान के बढ़े होने का अर्थ उदरस्थ अगों का शोथ हो सकता है यद्यपि उण्डुकपुच्छ शोथ के साथ मे तापमान का कम या थोडा ही बढा होना भी सम्भव है। नाड़ी की तेजी, चेहरे का सफेद-सा पड जाना, एकदम अवसाद की अवस्था आदि ऐसी बाते हैं जो किसी भीषण अवस्था की सूचक है जैसे आन्त्र वेध[1] आदि। यहाँ भी रोगी की पूर्वावस्था का अवश्य ध्यान रखना पडेगा क्योंकि पहले स्वस्थ व्यक्ति मे अकस्मात् ही इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाना असंगत है जबकि आन्त्र ज्वर[2] की भीषण अवस्था मे अवश्य ही इस प्रकार का सन्देह किया जा सकता है।

परिदर्शन--उदर पर सामान्य निगाह डालकर श्वसन के साथ उदर मे होने वाली गति देखी जाती है। यदि गति नही होती अथवा कम होती है तो सम्भव है कि उदर गुहा मे अन्दर किसी स्थल पर शोथ हो। आध्मान के कारण उदर फूला हुआ भी हो सकता है। यदि मध्य भाग फूला है तो विकृति छोटी आँतो मे, यदि किनारो पर अधिक फूला है तो बडी आँतो मे और यदि किसी विशेष स्थल पर ही अधिक फूला है तो यह मलाशय, गुदमार्ग या बृहद् आन्त्र मे स्थित आन्त्रावरोध के कारण हो सकता है। इसी समय यह भी अनुमान लगाया जाता है कि ऊपर से देखने पर ही पुरःसरण[3] तो नही मालूम पड़ रही है। पूर्व किए गए शल्य कर्म के चिह्न तथा आन्त्र-वृद्धि के लिए सम्भव निर्गम स्थल[4] भी देख लिए जाने चाहिए। उदर पर दृष्टि डालते-डालते रोगी के सामान्य स्वास्थ्य का भी स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है। यदि किसी बालक की उदर प्राचीर की शिराएँ पूर्ण स्पष्ट दिख रही है तो सम्भव है सिरोसिस[5] की अवस्था उपस्थित है।

परिस्पर्शन, स्पर्श करते समय हाथ थोडा गर्म होना चाहिए तथा स्पर्शन उँगलियों से इस प्रकार किया जाना चाहिए कि रोगी थोडा

---

1. Perforation 2. Typhoid 3. Peristalsis 4. Hernial orifices 5. Cirrhosis of Liver.

चिकित्सक भी बहुत कम शल्यकर्म करने का साहस करते थे। सर्वप्रथम लुई पाश्चर, रौबर्ट कौच तथा जोसफ लिस्टर ने सन् १८६५ व १८८५ के मध्य जीवाणुओं सम्बन्धी ज्ञान को जनसाधारण के सामने रखा। सन् १८६७ में लिस्टर ने शल्य कर्म में जीवाणुनाशक का सिद्धान्त[1] सम्बन्धी अपनी सूचना प्रकाशित की तथा सन् १८७८ में लुई पाश्चर के परीक्षणों के आधार पर रौबर्ट कोच ने 'शल्यकर्म में उपसर्ग[2]' सम्बन्धी लेख प्रकाशित किया। इसके पश्चात् शल्यकर्म में जीवाणुहीनता तथा जीवाणुनाशक के सम्बन्ध में पूरी-पूरी सावधानी बरती जाने लगी और शल्यकर्म की एक प्रधान बाधा दूर हो गयी।

(२) जीवाणुओं सम्बन्धी आविष्कार के पश्चात् दूसरा बड़ा आविष्कार जिसने शल्य विज्ञान के विकास में बहुत कुछ योग दिया है संवेदनाहारी पदार्थ सम्बन्धी है। स्पष्ट है कि यदि ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न की जाती जिसमें रोगी शल्यकर्म की पीड़ा को न अनुभव करे तो वह शल्यकर्म के लिए अपनी अनुमति नहीं ही दे सकता। संवेदनाहारी पदार्थों के आविष्कार से पूर्व स्थिति यह थी कि सब तरफ से निराश हो चुकने पर चिकित्सक तथा रोगी शल्यकर्म के लिए तैयार होते थे। शल्यकर्म करते समय रोगी को शराब आदि मादक पदार्थ देकर अर्द्ध विक्षिप्त-सा बना दिया जाता था। इसके बाद भी कई बलिष्ठ सहायक उसको चारों ओर से जकड़ लेते थे और रोगी की चिल्लाते चीखते हुए अवस्था में शल्यकर्म किया जाता था। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि शल्यकर्म करना उस समय कितना भयंकर व वीभत्स कार्य होता था और ऐसी अवस्था में लम्बे-लम्बे शल्यकर्म करना प्रायः असम्भव था। अतः शल्यकर्म की उन्नति भी सम्भव नहीं हो सकती थी।

सर्वप्रथम सन् १८४२ में एक ग्रामीण चिकित्सक क्राउफोर्ड लोंग[3] ने ईथर की सहायता से एक छोटा-सा शल्यकर्म किया। यहाँ यह भी ध्यान रखना

---

1 Antiseptic Principle of surgery.

2 Surgical Infections. 3. Crawford Long.

तृतीय अध्याय

--: ० :—

जीवाणु विज्ञान

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान या शल्य विज्ञान की उन्नति का बहुत कुछ श्रेय जीवाणु विज्ञान के सिद्धात की मान्यता को है। असख्य परीक्षणों आदि के पश्चात् अब इसमे कोई सन्देह नही रह जाता है कि बहुत से साधारण रोग जैसे मलेरिया, न्यूमोनिया, टायफायड आदि तथा बहुत से शल्य रोग भी जैसे पूयोत्पादन, कोथ आदि जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होते है। इन जीवाणुओ के ज्ञान से पूर्व छोटे से छोटा शल्य कर्म भी बहुत भयकर समझा जाता था क्योंकि रोगी का भविष्य अन्धकार मे रहा करता था; शल्य कर्म करते समय पूयोत्पादक जीवाणु क्षत मे पहुँच कर कभी भी रोगी के जीवन को संकट में डाल सकते थे। इन पूयोत्पादक या अन्य रोगोत्पादक भिन्न-भिन्न जीवाणुओ की उत्पत्ति, वृद्धि आदि सम्बन्धी सम्पूर्ण नियमो का विस्तृत वर्णन ही जीवाणु विज्ञान है जो अलग से स्वतन्त्र एक विषय है। इस स्थल पर बहुत ही संक्षिप्त रूप मे इस विज्ञान का वर्णन देखना है।

जीवाणु—

चेतना जगत मे जिस प्रकार पशु-पक्षी, मनुष्य आदि दृश्य स्थूल जीव है उसी प्रकार अदृश्य सूक्ष्म जीव भी है जो प्रायः एक कोशिक होते है तथा जिनको सूक्ष्मदर्शक की सहायता के बिना नही देखा जा सकता। इनका आकार लगभग १|२५,००० इञ्च से अधिक नहीं होता है। शरीर केन्द्र रहित एक कोशिका[1] का बना होता है। कुछ जीवाणु तो इतने छोटे होते हैं कि उनको अभी तक उपलब्ध सूक्ष्मदर्शक की सहायता से भी नहीं देखा

1. Cell.

को उच्चता के शिखर पर पहुँचाने वाला महान् आविष्कार रसायन औषधियों[1] सम्बन्धी है। इस कोटि की औषधियों के आविष्कार का प्रारम्भ सन् १९१० से होता है जब पौल एहर्लिच ने संखिया के सेन्द्रिय योगिक सालवर्सन का प्रयोग प्रारम्भ किया। इसके बाद सन् १९३२ में जर्मन वैज्ञानिक जी. डोग्मेक ने प्रोण्टोसील का आविष्कार किया जिसके पश्चात् ही इस विभाग की अन्य औषधियाँ सल्फानिलेमायड, सल्फाथियाजोल आदि प्रयोग में आने लगीं। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक महान् आविष्कार पेनिसिलीन का हुआ है जो ए० फ्लेमिंग तथा एच० डब्लू० फ्लोरे ने सन् १९४२ में किया। पेनिसिलीन का आविष्कार चिकित्सा जगत की प्रगति में एक बहुत ही बडा कदम है और शल्य चिकित्सा को भी इससे बहुत बड़ी सहायता मिली है। पेनिसिलीन के पश्चात् ही अन्य भिन्न-भिन्न प्रतिजीवी पदार्थ ऑरोमायसीन, क्लोरोमायसिटीन आदि काम में आते जा रहे हैं।

(६) सूक्ष्मदर्शी के आविष्कार ने जो चिकित्सा की सामान्य प्रगति में योगदान किया है उसमें शल्य-चिकित्सा भी सम्मिलित है और आज तो सूक्ष्मदर्शी की सहायता से बहुत ही सूक्ष्म रूप की शल्य क्रिया भी सम्भव होती जा रही है।

शल्य चिकित्सा की उन्नति में प्रधान रूप से सहयोग देनेवाले उपरोक्त चिकित्सा सम्बन्धी आविष्कारों की अनुपस्थिति में शल्य चिकित्सा कभी भी इतना आगे नहीं बढ सकती थी। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न शल्य रोगों की चिकित्सा विधि तथा शल्य कर्म करने की विधि में भी आश्चर्यजनक प्रगति हुई है और आज फुफ्फुसोच्छेद,[2] हृदय व मस्तिष्क के शल्यकर्म तथा वृक्क एवं हृदयारोपण तक बडी सरलता के साथ किए जाते हैं। रक्ताधान, हृदयोत्तेजक औषधियाँ तथा कृत्रिम विधि से रक्त सचालन आदि ऐसे उच्चकोटि के उपचार हैं कि किसी रोगी की हृदय गति ५० मिनट तक बन्द रहने पर भी उसको जीवनदान दिया जा सकता है। इस सबके फलस्वरूप शल्यक्रिया इतनी सरल एवं निरापद बन गई है कि दिन प्रति दिन उसमें प्रगति होती जा रही है।

---

1. Chemotherapeutic Drugs. 2. Resection of Lung.

प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन करने की विशेष क्षमता होती है। ऐनथ्रैक्स के स्पोरो को प्रयोगशाला मे २० वर्ष तक जीवित रखा जा सकता है। इतनी लम्बी अवधि तक सुप्तावस्था मे पडे रहने के बाद भी अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर जीवाणु अपना कार्य पूर्ववत् प्रारम्भ कर दे सकते है। स्पोरों पर ताप का अधिक प्रभाव नही पडता। साधरण जीवाणु जहाँ ६० सेण्टीग्रेड के तापक्रम पर रहने पर आधा घण्टा मे मर जाते हैं वहाँ स्पोर इससे अधिक समय तक उबाले जाने पर भी नष्ट नही होते। जीवाणुनाशक वस्तुएँ भी स्पोरों पर शीघ्र प्रभाव नही डाल पाती। कारबोलिक अम्ल के ५ प्रतिशत शक्ति के घोल मे साधारण जीवाणु थोडे समय में ही नष्ट हो जाते है किंतु स्पोरों को समाप्त करने के लिए कई दिन तक इस घोल मे रखना आवश्यक है। जल व भोजन की कमी को भी स्पोर अधिक समय तक सहन कर सकते हैं।

वृद्धि--वृद्धि से तात्पर्य संख्या वृद्धि तथा शरीर-वृद्धि दोनों ही है। संख्या वृद्धि अर्थात् उत्पत्ति की ओर ऊपर ही सकेत कर दिया गया है। शरीरवृद्धि के लिए अन्य जीवधारियो की तरह इनको भी भोजन, जल व उचित तापक्रम की आवश्यकता है।

भोजन--जीवाणु अपना भोजन जीवित अथवा मृत जैव[1] पदार्थों से ही प्राप्त करते हैं। जो जीवाणु अपना भोजन केवल मृत पदार्थों से प्राप्त करते है उनको मृतजीवी[2] तथा जो अपना भोजन जीवित सेन्द्रिय पदार्थों से प्राप्त करते है उन्हे परजीवी[3] कहा जाता है। कुछ जीवाणु ऐसे भी होते है जो अपना भोजन मृत व जीवित दोनों से ही प्राप्त कर लेते हैं। किंतु इसका अर्थ यह कदापि नही लगाया जा सकता है कि सभी परजीवी जीवाणु रोगोत्पादक होते है। बहुत से जीवाणु ऐसे है जो शरीर के अदर बिना किसी प्रकार का रोग उत्पन्न किए पडे रहते हैं।

जल—जीवाणुओ को जीवित रहने तथा वृद्धि करने के लिए जल भी अत्यंत आवश्यक है। जल के पूर्ण अभाव या कमी मे भी उनकी वृद्धि रुक जाती है और यदि यह अभाव बना रहता है तो उनकी मृत्यु भी सम्भव है।

1. Organic Matter 2. Saprophytes 3. Parasites.

कुछ रोग पुरुषों को नहीं हो सकते और कुछ स्त्रियों को। कुछ रोग जैसे जलवृषण, श्लीपद आदि किन्हीं-किन्हीं प्रदेशों में अधिक होते हैं।

इसके बाद रोगी से रोग के प्रधान कष्टकर लक्षणों को जाना जाता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति में भी भिन्नता हुआ करती है, कुछ व्यक्ति अपने लक्षणों को बड़ी लम्बी-चौड़ी कथा सुनाने लगते हैं जबकि कुछ इतने संक्षिप्त होते हैं कि पूरा पूरा वर्णन भी नहीं दे पाते। ऐसी अवस्था में चिकित्सक की चतुरता इसमें है कि वह रोगी की पूरी-पूरी कथा को सुने अवश्य किन्तु उसमें से अपने मतलब की प्रधान-प्रधान बातों को ही अंकित कर ले। संक्षिप्त उत्तर देने वाले रोगी से भी बिना उसको क्रोधित किए चतुराई से सभी बातें मालूम कर ली जानी चाहिए। कभी-कभी यह सम्भव है कि रोगी इतना कष्ट में हो कि वह सारी बातें न बता सके। वहाँ रोगी के परिचारकों से सब कुछ जानने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न संक्षिप्त एवं क्रमबद्ध होने चाहिए और साथ ही रोगी को यह आभास मिलते रहना चाहिए कि जो कुछ भी किया जा रहा है उसकी भलाई के लिए है तथा चिकित्सक पूर्ण प्रयत्नशील व सहानुभूतियुक्त है। यदि परीक्षा में विलम्ब लग रहा है तो रोगी को कोई सुन्दर स्वादिष्ट औषधि दे दी जानी चाहिए ताकि उसके मन को थोड़ा संतोष हो।

लक्षणों की प्रकृति जानना भी आवश्यक है जैसे यदि किसी स्थल पर पीड़ा है तो वह किस प्रकार की है, एक-सी लगातार हो रही है अथवा रह-रह कर उठती है, दबाने से बढ़ती तो नहीं, पीड़ा का क्षेत्र कितना है, मुख्यतः किस स्थल पर है, मुख्य स्थल से किधर को जाती मालूम पड़ती है आदि बातें भी जाननी चाहिए।

मुख्य लक्षणों को अंकित करने के पश्चात् उनका इतिहास जानना आवश्यक हो जाता है। लक्षणों का प्रारम्भ कब तथा किस प्रकार हुआ, प्रारम्भ के बाद लक्षण सततः बढ़ते जा रहे हैं अथवा स्थिर हैं, बीच-बीच में लक्षणों में

1. Hydrocele.

शरीर-सम्बन्धी पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। डिफ्थीरिया रोग में गला रुक जाने पर रोगी की जीवन रक्षा के लिए श्वास-प्रणालच्छेदन[1] शल्य कर्म नितांत आवश्यक है किन्तु उसके साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि सर्जन डिफ्थीरिया रोग की प्रकृति से पूर्ण परिचित हो और रोहिणी प्रतिजीव विष[2] का प्रयोग कर सके। जलोदर में उदर से जल निकालने वाला शल्य चिकित्सक यदि जलोदर के पूरे कारणों का विश्लेषण करके पूरी चिकित्सा नही करता तो वह सफल नही हो सकता। जीवाणुजन्य शल्य रोग यथा शोथ, विद्रधि आदि की चिकित्सा अथवा शल्य कर्म करते समय उत्पादक जीवाणुओ की पूरी-पूरी जानकारी होना आवश्यक है ताकि उनका निराकरण किया जा सके।

शल्य चिकित्सक के लिए पूयोत्पादक जीवाणुओं का ज्ञान स्पष्टतः अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है क्योंकि साधारण से साधारण शल्य कर्म करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है कि ये दुष्ट जीवाणु क्षत मे पहुँच कर पूयोत्पादन न कर दे और यदि किसी प्रकार पूयोत्पादन हो ही जाता है तो उसके लिए उचित प्रबन्ध करना भी शल्य चिकित्सक का ही काम है।

उपसर्ग और उपसर्ग की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ—

जीवाणुओं का शरीर मे प्रवेश पाकर वहाँ अधिकार जमा लेना ही उपसर्ग है। उपसर्ग के भिन्न-भिन्न मार्ग हो सकते हैं यथा मुख, श्वास मार्ग, श्लेष्मल कला व त्वचा आदि। एक शल्य चिकित्सक का सीधा सम्बन्ध बहुधा त्वचा द्वारा प्रविष्ट होने वाले उपसर्ग से ही पड़ता है। ध्यान रखना चाहिए कि जब तक त्वचा मे कोई घाव नही होता तब तक जीवाणु वहाँ प्रवेश नही पा सकते। एक विशेष प्रकार की अवस्था स्वोपसर्ग[3] की भी होती है। स्वोपसर्ग का अर्थ मनुष्य के शरीर मे ही किसी अन्य स्थान पर स्थित जीवाणुओं का दूसरे स्थान पर पहुँच कर विकृति प्रारम्भ कर देना है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति दन्तपूय—पायोरिया से पीड़ित है तो यह सम्भव है कि नेत्रों का शल्य कर्म

1. Tracheotomy 2. Diphtheria Antitoxin. 3. Autoinfection.

ही की जानी चाहिए, यह नहीं कि अभी किसी अंग को देखा परिस्पर्शन किया और फिर देखने लग गए अथवा पीडित अंग की परीक्षा पूरी नहीं कर पाई कि अन्य अंगों की परीक्षा करने लगे। इस प्रकार क्रमहीन परीक्षा होने से रोगी तथा उसके साथियों को यह आभास मिलने लगता है कि जो कुछ किया जा रहा है वह असावधानी के साथ किया जा रहा है। उपयुक्त होने का तात्पर्य यही है कि जो कुछ किया जाय वह ठीक विधिपूर्वक किया जाय, एक अशिक्षित साधारण व्यक्ति की तरह नहीं। देखते समय इस प्रकार देखना चाहिए कि सब कुछ स्पष्ट हो जाय तथा लिख लिया जाय।

परीक्षा का उद्देश्ययुक्त होना तो नितान्त आवश्यक है ही। यदि किसी अंग की परिस्पर्शन द्वारा परीक्षा की जा रही है तो पहले से यह ध्यान में रहना चाहिए कि परिस्पर्शन द्वारा अमुक-अमुक बातों को जानना है। निरुद्देश्य रूप से कोई भी परीक्षा की जाती रहे तो उससे पूरी जानकारी नहीं हो पाती। उदाहरण के लिए यदि हृदय की परीक्षा की जा रही है तो यह बात ध्यान में रहनी चाहिए कि किन-किन कपाटों की किस-किस विकृति को देखना है। यदि उदर का स्पर्शन द्वारा परीक्षण करना है तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि यकृत एवं प्लीहा की स्थिति देखने के अतिरिक्त और क्या-क्या देखना है। किन्तु इन सबका यह भी अर्थ नहीं लगा लिया जा सकता कि जो कुछ ध्यान में है उसी को देखा जाय और परीक्षा करते समय यदि अन्य प्रकार की विकृति या कोई विशेषता सामने आती है तो उसको भुला दिया जाय।

परीक्षा में क्रमशः परिदर्शन[1], परिस्पर्शन[2], परिताड़न[3], परिश्रवण[4] तथा विशिष्ट प्रायोगिक पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं। शल्य रोगों में प्रथम दो का ही अधिक महत्व है। अन्तिम तीन कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में ही आवश्यक हो सकती हैं, सर्वावस्था में नहीं।

परिदर्शन—सर्वप्रथम रोगी के शरीर पर एक सरसरी निगाह डाली जाती है तथा उसकी विशेष स्थिति यदि कोई हो, सामान्य स्वास्थ्य, कामला,

1. Inspection 2. Palpation 3. Percussion 4. Auscultation.

एवं श्वेताणुओं मे युद्ध छिड़ जाता है। इस युद्ध में यदि श्वेताणु विजयी होते है तो रोग नहीं हो पाता और यदि जीवाणु विजयी होते हैं तो रोग की उत्पत्ति हो जाती है। रोग उत्पन्न हो जाने के बाद भी श्वेताणुओ व जीवाणुओ का यह संघर्ष जारी रहता है और श्वेताणु इसी प्रयत्न मे रहते है कि जीवाणुओं को नष्ट करके शरीर को रोगमुक्त कर लिया जाय। यही कारण है कि शरीर सशक्त होने पर रोग पर विजय पाने की अधिक आशा रहती है।

रोग क्षमता—रोगजनक जीवाणुओ के शरीर मे प्रवेश करने से ही रोगोत्पत्ति नही हो जाती वल्कि शरीर की प्रतिकार शक्ति का इससे सीधा सम्बन्ध रहता है। जब शरीर रोग के प्रति सुग्राह्य[1] होता है तभी रोग की उत्पत्ति हो सकती है; शरीर के रोग के प्रति क्षम[2] अर्थात् रोग क्षम होने पर रोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रविष्ट हुए जीवाणुओ को मारने, उनकी वृद्धि रोकने तथा उनके विष को निर्विष करने की जो शक्ति शरीर मे होती है उसको ही रोगक्षमता[3] कहा जाता है। इसकी कमी को अक्षमता या सुग्राह्यता[4] कहते हैं।

यह रोगक्षमता दो प्रकार की होती है, जन्मजात या स्वाभाविक तथा जन्मोत्तर या उपार्जित।

स्वाभाविक क्षमता[5]—जन्म के साथ ही साथ प्राणियों मे रोगों का प्रतिकार करने की शक्ति हुआ करती है जिसके बल पर ही रोगजनक जीवाणुओं से शरीर की रक्षा होती है। किन्ही-किन्ही प्राणियो मे इस क्षमता का विशिष्ट रूप भी देखा जाता है जैसे बकरी राज्यक्ष्मा से, पक्षी धनुर्वात से तथा अफ्रीकन नीग्रो पीतज्वर से प्रायः पीड़ित नही होते।

जन्मोत्तर क्षमता[6]—जन्म के पश्चात् शरीर मे उत्पन्न होने वाली क्षमता को ही जन्मोत्तर क्षमता कहते है। इसके भी दो भेद होते है। रोगलब्ध तथा कृत्रिम।

---

1. Susceptible 2. Immune 3. Immunity 4. Susceptibility 5. Natural Immunity 6. Acquired Immunity.

परिस्पर्शन--दर्शन के वाद वारी आती है स्पर्शन की। परिस्पर्शन का अर्थ पीड़ित अंग को स्पर्श करके अर्थात् टटोल कर परीक्षा करना है। अंग-प्रत्यग की अपनी निजी विशेषता तथा रोग की प्रकृति के अनुसार उसमें कुछ-कुछ भिन्नता हो सकती है। साधारणतया परिस्पर्शन द्वारा पीड़ित स्थान का तापमान, स्पर्शासह्यता, वृद्धि का आकार, स्थान, निकटस्थ धातुओं से सम्बन्ध तथा उसकी प्रकृति आदि बातें देखी जाती हैं। अपने हाथ के पृष्ठ भाग से पीड़ित भाग को साधारणतया स्पर्श किया जाता है और साथ ही स्वस्थ अग अथवा शरीर के दूसरे भाग को भी उसी प्रकार स्पर्श किया जाता है और इस प्रकार सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि पीड़ित भाग कुछ अधिक गर्म तो नहीं। दबाने से पीड़ा होना स्पर्शासह्यता कहलाती है और यह बात भी आसानी से मालूम की जा सकती है। किसी स्थान का रक्तवर्णयुक्त, कुछ अधिक गर्म तथा स्पर्शासह्य होना शोथ का परिचायक है और यह शोथ स्थान व रोग की प्रकृति के अनुसार विद्रधि का रूप धारण कर सकता है। यदि किसी अर्बुद सदृश या अन्य प्रकार की वृद्धि की परीक्षा करनी है तो वृद्धि का स्थान, आकार, रूप आदि देखने के साथ ही साथ इस बात का भी निश्चय करना चाहिए कि वह स्थानिक धातुओं, चर्म, मासपेशी या अस्थि से ससक्त है अथवा स्वतन्त्र। उसके साथ ही वृद्धि की प्रकृति को भी समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि वह घन ठोस है या उसमें द्रव भरे होने की सम्भावना हो सकती है। इसके लिए टार्च के प्रकाश द्वारा भी परीक्षा की जा सकती है। यदि आवश्यकता हो तो स्थान विशेष की लसीका ग्रन्थियों की भी परीक्षा की जानी चाहिए क्योंकि निश्चित निदान में इनसे भी बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन सब परीक्षाओं के आधार पर यदि इस बात का सन्देह हो कि किसी निकटस्थ अग में विकृति के कारण यह वृद्धि हो सकती है तो उस अंग की भी परीक्षा की जानी चाहिए।

उदाहरण के लिए एक प्रौढ़ व्यक्ति जिसकी आयु ५०-६० वर्ष है, अपनी ग्रीवा में बाईं ओर चार मास से कुछ वृद्धि अनुभव करता है। इसकी परीक्षा निम्न प्रकार सम्भव है—

इनका रंग क्रमशः पीला, नारंगी तथा सफेद होता है। किन्तु साथ ही यह भी माना जाता है कि ये जीवाणु एक ही श्रेणी के भिन्न-भिन्न तीन रूप के हैं क्योंकि यह देखा गया है कि कभी-कभी एक जीवाणु दूसरे रूप में परिवर्तित हो जाता है।

३. पायोसिनीयस दण्डाणु[1]—इस जीवाणु की यह विशेषता होती है कि उसके द्वारा निर्मित पूय वायु के सम्पर्क मे आने पर हरे, पीले रंग की हो जाती है। साधारणतया यह जीवाणु दूसरों की अपेक्षा कमजोर ही होता है और इसके द्वारा उत्पन्न विकार भी आसानी से ठीक किया जा सकता है। कभी-कभी इसके कारण विषमयता भी उत्पन्न होते देखी गई है। मध्यकर्ण शोथ का भी यह कारण हो सकता है।

४. कोलाई[2]—ये जीवाणु आँतों मे बहुतायत के साथ पाये जाते हैं तथा वहाँ किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न करते। किन्तु जब आँतों मे अन्य कारणों से कोई विकार उत्पन्न होता है अथवा वैसे भी कभी-कभी ये विकारोत्पादन करने लगते है। आँतों से इधर-उधर फैलकर इसके द्वारा उण्डुकपुच्छ शोथ[3], पर्युदर्या शोथ[4], मूत्राशय शोथ[5], पित्ताशय शोथ[6], गर्भाशय शोथ[7] आदि अवस्थाएँ उत्पन्न हो जा सकती हैं। पूयोत्पादन के भी ये कारण बनते हैं और इनके द्वारा निर्मित पूय मे से मल के सदृश गन्ध आती है। आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु से ये जीवाणु बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं अतः विशेष विधि द्वारा ही दोनों को अलग-अलग पहचाना जा सकता है।

५. आन्त्रिक ज्वर का जीवाणु[8]—इस जीवाणु द्वारा उत्पन्न विकार प्रधानतया आन्त्रिक ज्वर या मोतीझला ही है किन्तु कभी-कभी ज्वर के पश्चात् अस्थि आदि मे पूयोत्पादन भी करता देखा गया है, यह लम्बा दण्ड के आकार का जीवाणु होता है तथा गति करता रह सकता है क्योंकि दोनो शिरो

1. B. Pyocaeners. 2. B. Coli. 3. Appendicitis. 4. Peritonitis. 5. Cystitis. 6. Inflammation of Bile Passages 7. Metritis. 8. B. Typhosus.

जा सकता क्योंकि इतने समय मे रोग भयकर घातक रूप धारण कर सकता है। अतः इस प्रकार की भयकर अवस्थाओं जैसे आन्त्रावरोधक[1] आदि मे रोगी एवं उसके अभिभावकों को भीषणता समझा कर चिकित्सा की उचित व्यवस्था के सम्बन्ध मे आवश्यक परामर्श दे देना चाहिए, अथवा सभी साधन उपलब्ध हो तो प्रधान शल्य चिकित्सक को सूचना देकर आवश्यक प्रबन्ध कर दिया जाना चाहिए।

निदान के सम्बन्ध मे एक और भी महत्वपूर्ण बात जो ध्यान मे रखने की है वह यह है कि सभी उपस्थित लक्षण किए गए निदान से सुसम्बद्ध होने चाहिए। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जो कुछ भी निदान किया गया है उसके साथ मे सभी लक्षण जो उपस्थित हैं फिट बैठने चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक रोग के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं और यदि वे नही पाए जाते अथवा दो एक लक्षण ऐसे पाये जाते है जो कथित निदान के साथ मे सम्भव नही तो निदान मे कहीं न कहीं भूल रह जाती है और उस पर फिर ध्यान दिया जाना चाहिये। यहाँ इस सम्भावना को भी नहीं भुलाया जा सकता कि प्रधान रोग के साथ मे जिसका कि निदान किया जा रहा है कुछ अन्य विकृतियाँ भी ऐसी हो सकती हैं जो अन्य लक्षणों को उत्पन्न कर रही हो। उनकी ओर भी सतर्क रहना आवश्यक है।

चिकित्सा—निदान के पश्चात् चिकित्सक का कर्तव्य हो जाता है चिकित्सा की उचित व्यवस्था करने का और उचित चिकित्सा प्रत्येक रोग की प्रकृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होगी ही जैसा कि आगे वर्णन करना है। यहाँ एक बात अवश्य ही स्पष्ट हो जानी चाहिए कि साधनो की कमी आदि के कारण प्रत्येक चिकित्सक द्वारा हर प्रकार की चिकित्सा सम्भव नहीं किन्तु प्रत्येक शिक्षित चिकित्सक से यह आशा अवश्य की जाती है कि वह रोग का निश्चित अथवा कुछ विशेष थोडी अवस्थाओं मे अनुमानिक निदान अवश्य कर लेगा। अतः निदान के पश्चात् यदि वह यह अनुभव करता है कि साधनों

1. Intestinal Obstruction.

पावें। बहुत से शल्य कर्म ऐसे होते है जिनमें जीवाणु उस स्थल पर पहले से उपस्थित नही होते जैसे किसी सामान्य अर्बुद या पथरी आदि को निकालना। इन अवस्थाओं मे यदि पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश ही बिलकुल रोक दिया जाय तो व्रणरोपण मे सहायता मिलेगी। इसके लिए स्पष्टतः प्रधान उपाय शल्यकर्म के समय क्षत के सम्पर्क मे आने वाली प्रत्येक वस्तु को जीवाणुहीन शुद्ध कर लेना है—यही जीवाणुहीन या अपूतिक शल्यकर्म है[1] और वस्तुओं के इस प्रकार शुद्धीकरण को निर्जीवाणुकरण[2] कहा जा सकता है। यह प्रथा इतनी व्यापक तथा आवश्यक है कि आजकल शल्य कर्म के बाद क्षत में पूयोत्पत्ति हो जाना सर्जन की असावधानी का सूचक माना जाता है। इस स्थल पर प्रथम जीवाणुनाशन तथा फिर निर्जीवाणुकरण के सम्बन्ध में विचार किया जायगा।

जीवाणुनाशन

व्रण चिकित्सा के समय व्रण मे जीवाणुओं को नष्ट कर देना या उनकी वृद्धि न होने देना ही जीवाणुनाशक है और यह जीवाणु नाशक औषधियों के प्रयोग से किया जाता है। जीवाणु नाशन औषधियाँ बाह्य या आन्तरिक हो सकती हैं। बाह्य औषधियों का प्रयोग व्रण बन्धन या अन्य कार्यो मे बाह्य औषधि के रूप मे होता है तथा आन्तरिक औषधियाँ रक्त मे मिलकर विकृति के स्थान पर पहुँचती तथा अपना कार्य करती हैं।

बाह्य जीवाणु नाशक*—

शल्यकर्म में जीवाणुहीनता की महत्ता को समझने वाले प्रथम वैज्ञानिक लार्ड लिस्टर के समय से कुछ बाद तक जीवाणु नाशक औषधि के रूप मे कार्बोलिक एसिड का ही प्रयोग होता रहा। किन्तु दूसरे ऐसे पदार्थो के लिए

---

1. Aseptic Surgery. 2. Sterilization.

* इस स्थल पर इन सभी पदार्थों का वर्णन बहुत ही संक्षेप में संकेत रूप में होगा। विस्तृत वर्णन के लिए लेखक की एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका देखिए।

[illegible] वमन के होने की भी बहुत कुछ सम्भावना है अतः उसकी [illegible] के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिए। पक्वाशय अथवा [illegible] के विकार की अवस्था में वमन नहीं होना अथवा एक-दो [illegible] है क्योंकि अग्नाशय शोथ की अवस्था में बार-बार वमन होता [illegible] आन्त्रावरोध जन्य वमन की अपनी निजी विशेषता होती है; प्रारम्भ में [illegible] पदार्थ निकलते हैं और बाद में पित्तरंजित हरा पीला द्रव [illegible] है। यदि अवरोध दूर नहीं होता तो पीत वर्ण दुर्गन्धित पदार्थ [illegible] जाता है जिसे मलीय वमन[1] कहना चाहिए। एक विशेष प्रकार के [illegible] में जब अवरोध का कारण पित्ताश्मरी होती है तीव्र स्वरूप का [illegible] प्रारम्भिक लक्षण होता है और इसलिए अधिक आयु की स्त्री में यदि [illegible] स्पष्ट कारण के अधिक समय तक वमन होता है तो इस अवस्था [illegible] किया जा सकता है।

[illegible] मलावरोध की प्रकृति की ओर भी ध्यान दिया [illegible] व अतिसार का क्रमशः इतिहास मिलना चिरकालीन [illegible] सकता है। मलावरोध तथा उसके साथ ही साथ [illegible] आन्त्रावरोध का परिचायक है यद्यपि आन्त्रा- [illegible] भी सम्भव है कि मल व वायु निकलती रहे। तीव्र [illegible] की अवस्था में मल रक्त वर्ण अर्थात् रक्त व

[illegible] की स्थिति, जिह्वा, चेहरे का भाव, तापमान, [illegible] देखी जाती है। तीव्र श्वास के साथही साथ [illegible] परिचायक हो सकता है कि विकृति उदरस्थ [illegible] फुफ्फुसावरण में है। इस स्थल पर स्पष्ट रूप [illegible] स्थूलोनिका की अवस्था में फुफ्फुसाव- [illegible] देखा गया है यद्यपि इस

[1] [illegible] Intussusception.

जाता है। स्त्रियों के पूयमेह जन्य उपसर्ग की अवस्था मे भी इसका प्रयोग लाभकर है। १ : १००० शक्ति का घोल पूयमेह जन्य नेत्रश्लेष्मला शोथ तथा १ : ४००० शक्ति का घोल सामान्य नेत्रश्लेष्मला शोथ की अवस्था मे नेत्र बिन्दु के रूप मे प्रयुक्त होता है।

दिन मे तीन या चार बार १½ ग्रेन की मात्रा मे लिया जाने पर यह मूत्र मार्ग विशोधन का भी काम करता है जब कि मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय होने पर प्रभाव अधिक शीघ्रता के साथ व्यक्त होता । शिरागत इंजेक्शन के रूप मे भी इसका प्रयोग किया जा सकता है किन्तु यथार्थ स्थिति यह है कि आन्तरिक विशोधक के रूप मे इसका प्रयोग विश्वसनीय नहीं और कभी-कभी उससे उत्क्लेश, मुँह मे रिक्त स्वाद, शीतपित्त आदि विषाक्त लक्षण भी देखे जाते हैं। सबसे बडी बात यह कि पेनिसिलीन एवं सल्फा विभाग की अधिक कार्यकर तथा निर्विष औषधियों की उपस्थिति में अब इसका इस प्रकार प्रयोग किया ही नही जाता।

एक्रीफ्लेविन का घोल ताजा ही प्रयोग मे लाना चाहिए। एक सप्ताह से अधिक पुराना घोल ठीक नही। घोल को बादामी रंग की शीशियों में ही रखना ठीक है, उबालने से यह बिगड़ता नही। मन्दबल लवणाम्ल से धोने से धब्बा छूट जाता है।

क्रिस्टल वायोलेट[1]—इसके हरे रंग के कण या चूर्ण होते हैं जिनमें किसी प्रकार की गन्ध नही आती। जेशियन वायोलेट[2] भी इसी को कहते हैं। यह १५० भाग जल, ३० भाग ग्लीसरीन तथा एल्कोहल व ग्लीसरीन मे भी घुलनशील है।

यह ग्राम धनात्मक जीवाणु विशेषकर स्टैफिलोकोक्काई के लिए विशेष रूप से घातक है और इसीलिए इसका प्रयोग कई चर्मरोगों तथा दग्ध व्रण की चिकित्सा मे किया जाता है। भिन्न-भिन्न चर्म रोगों मे इसका २-५ प्रतिशत शक्ति का घोल स्थान को पूरी तरह साफ करके तथा सुखाकर दिन मे दो-एक

1. Crystal Violet 2. Gentian Violet

भी कष्ट न हो। स्पर्शन द्वारा सर्वप्रथम किसी स्थल विशेष की पेशियों की कठोरता[1] या स्पर्शासह्यता[2] का अनुमान लगाया जाता है। प्लीहा अथवा यकृत की स्थिति भी देख ली जाती है कि वह बढे तो नहीं। हार्निया की अवस्था अवश्य ही देखने अथवा टटोलने से स्पष्ट हो जानी चाहिए किन्तु और्वी हार्निया[3] की निश्चिति के लिए कुछ विशेष सावधानी से परीक्षा करने की आवश्यकता है। अत्यासह्यता[4] का अनुमान एक पेंसिल द्वारा स्थल विशेष पर रेखा खींचकर लगाया जा सकता है। अत्यासह्यता का अर्थ उस स्थल पर स्थित भीतरी अंग की विकृति है। उदाहरण के लिए यदि उदर के दाएं भाग में नीचे तथा बाहर वाले चतुर्थांश में अत्यासह्यता है तो तीव्र उण्डुकपुच्छ शोथ आदि का अनुमान लगाया जा सकता है।

परिताड़न—इसके द्वारा उदरस्थ द्रव का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। रोगी को एक करवट लिटाकर यह भी आसानी से देखा जा सकता है कि जलोदर की अवस्था में द्रव नीचे की ओर चला जाता है। उदरावरण में हो जाने वाले रक्तस्राव की अवस्था में भी यदि रक्तस्राव शीघ्र ही देखने को मिले तो जलोदर जैसे भौतिक लक्षण मिल सकते हैं किंतु दूसरे लक्षण तथा लक्षणों की उत्पत्ति का इतिहास स्पष्ट कर दे सकता है कि जलोदर की अवस्था है अथवा रक्तस्राव की। यकृत, प्लीहा या गर्भाशय की वृद्धि का पूरा-पूरा अनुमान ताडन द्वारा लगाया जा सकता है क्योंकि जितने स्थान को ये अंग घेरे होंगे उतने स्थान में ध्वनि मन्द मिलेगी। अवरुद्ध आन्त्रवृद्धि[5] की अवस्था में ताडन द्वारा यह भी निश्चित किया जा सकता है कि उस स्थल पर आँतों का कौन-सा भाग है क्योंकि डिम-डिम ध्वनि का मिलना आँतों के कुछ भाग के होने का परिचायक है जबकि मन्द ध्वनि होने का अर्थ उस स्थान पर केवल आन्त्रयोजनी[6] के होने का ही सूचक है।

1. Rigidity. 2 Tenderness. 3. Femoral Hernia.
4. Hyperaesthesia. 5 Strangulated Hernia.
6. Mesentry.

जन्य उपसर्ग में भी लाभकर है। शल्य रोगों में प्रयोग के लिए सीबाजोल, सल्फाडियाजीन, सल्फाट्रायड आदि योग मुख द्वारा सेवन के लिए तथा सोल्यूसेप्टेसीन, सीबाजोल सोल्यूबिल आदि योग इन्जेक्शन द्वारा देने के लिए उपयुक्त हैं।

सामान्य फोड़े फुन्सी शोथ आदि की अवस्था में अथवा किसी स्थान पर कोथ की उत्पत्ति होने पर मुख द्वारा इस विभाग की औषधियों का प्रयोग बहुत ही महत्वपूर्ण है। ग्रसनीशोथ[1], टौंसिल शोथ[2], टौंसिल विद्रधि[3] सामान्य विद्रधि[4] आदि अवस्थाओं मे इस विभाग की औषधियों का प्रयोग शीघ्र ही लाभकर सिद्ध होता है। ज्वर, पीड़ा आदि लक्षण तीव्र होने पर सोल्यूसेप्टेसीन, सीबाजोल या सल्फाडियाजीन सोडियम् का इन्जेक्शन द्वारा भी प्रयोग किया जा सकता है। मध्यकर्णशोथ[5], कान का बहना या सन्धिशोथ की अवस्था मे भी इनका प्रयोग लाभकर है।

स्टैफिलोकोक्कसजन्य विषमयता की अवस्था मे सल्फाथियाजोल अधिक उपयुक्त है क्योंकि स्टैफिलोकोक्कस औरियस के लिए यह विशेष रूप से घातक है। पूर्ण सफलता के लिए यह आवश्यक है कि रक्त मे इसकी उपयुक्त मात्रा स्थिर बनी रहे और इसीलिए शिरागत इन्जेक्शन भी दिये जाते रह सकते हैं। कारबंकल[6], तीव्र अस्थिमज्जा शोथ[7], संयोजक ऊतिशोथ[8] की अवस्था में प्रथम आठ गोली और बाद मे प्रति चार घण्टे बाद दो गोली दी जाती रहनी चाहिए। इतनी मात्रा लगभग एक सप्ताह तक या ज्वर का पूर्ण नाश हो जाने तक देते रहना अच्छा है।

शल्य कर्म के बाद इनका इसलिए भी सेवन कराया जा सकता है कि पूयोत्पत्ति न होने पावे। इस दृष्टि से १-२ गोली प्रति छः घण्टे पश्चात् पर्याप्त है।

---

1. Pharyngitis. 2. Tonsillitis. 3. Peritonsillar Abscess 4. Abcess. 5. Otitis Media. 6. Carbuncle. 7. Acute Osteo. myelitis. 8. Cellulitis.

अन्य परीक्षाएँ—ऐसी अवस्था में जब उदरस्थ अंगों में विकृति होने में सन्देह हो, वक्ष-प्रान्त की भी परीक्षा की जानी चाहिए क्योंकि कभी-कभी जैसा कि पीछे भी संकेत किया गया है फुफ्फुसावरण में विकृति होने पर रोगी उदरशूल की शिकायत करता है। यह तो स्पष्ट ही है कि मूत्र-परीक्षा द्वारा वृक्कों की विकृति का अनुमान लगाया जा सकता है।

यदि तीव्रस्वरूप के आन्त्रावरोध का भय हो तो साबुन के पानी का एनीमा दिया जाना चाहिए। उससे मलाशय तथा आंतों के नीचे के भाग में स्थित मल निश्चिततः निकल जायेगा। इसके एक घंटे पश्चात् एनीमा पुनः दुहराया जाता है। यदि आन्त्रावरोध है तो अधिकांश अवस्थाओं में साबुन का पानी बिना मल आदि के वैसे का वैसा ही वापस निकल जाएगा। यदि अवरोधपूर्ण न होकर आंशिक है तो यह अवश्य सम्भव है कि दूसरी बार भी थोड़ा बहुत मल निकले।

अग्न्याशय शोथ[1] की अवस्था में मूत्र में डायस्टेज[2] की मात्रा बढ जाती है। प्रकृतितः यह मात्रा २०-४० इकाई होती है जो २५०-३०० इकाई तक बढ़ जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना है कि उदर की अन्य अवस्थाएँ भी जैसे तीव्र उदरावरण शोथ आदि मूत्र में डायस्टेज की मात्रा बढ़ा देती हैं।

---

1. Pencreatitis 2. Diastase,

६. मात्रा का निश्चय करते समय रोग व रोगी का बलाबल, विशिष्ट प्रतिजीवी पदार्थ द्वारा रोग के ठीक होने की सम्भावना आदि सभी का ध्यान रखना चाहिए।

७. प्रतिजीवी पदार्थ के असफल होने की अवस्था में असफलता के अन्य कारणों को भी भली प्रकार समझ लेना है। यह देख लेना है कि कहीं रोग के ठीक होने में दूसरी बाधा तो नहीं जैसे व्रण के ठीक होने मे निकास (Drainage) की कमी एक बड़ी बाधा हो सकती है, रोगी डायबिटीज आदि से तो पीड़ित नहीं, औषधि की मात्रा तो कम नहीं, जीवाणुओं में औषधि विशेष के प्रति प्रतिरोध शक्ति तो नहीं उत्पन्न हो गई अथवा ऐसे जीवाणु तो और सम्मिलित नहीं हो गये जो प्रयुक्त प्रतिजीवी पदार्थ द्वारा प्रभावित ही न हो रहे हों।

८. कुछ अवस्थाओं मे प्रतिजीवी पदार्थों का मिलित रूप से भी प्रयोग किया जा सकता है। इससे औषधि का प्रभाव क्षेत्र बढ़ता, जीवाणुओं में प्रतिरोध शक्ति नहीं उत्पन्न होने पाती तथा औषधिजन्य विषाक्त परिणामों की सम्भावना भी घट जाती है, क्योंकि फिर औषधि की कम मात्रा प्रयुक्त करनी पड़ती है।

९. प्रयोग करते समय सावधान रहना है कि विषाक्त परिणाम न उत्पन्न हो जायँ और इसलिए अनावश्यक रूप से अधिक समय तक या अधिक मात्रा मे प्रयोग करते रहने की असावधानी नहीं करनी चाहिए।

१०. ध्यान रखना है कि प्रतिजीवी पदार्थ के प्रयोग के साथ ही साथ चिकित्सा के दूसरे साधन भी अवश्य अपनाए जायँ यथा चीरा देना, निकास व व्रण की सफाई का प्रबन्ध, रोगी को उचित आसन मे आराम से रखना, पोषण देते रहना आदि बातें भी यथानुकूल आवश्यक है।

पेनिसिलीन—प्रथम प्रतिजीवी पदार्थ पेनिसिलीन भिन्न-भिन्न पूयोत्पादक जीवाणु, न्यूमोनिया, सूजाक, गर्दन तोड़ बुखार[1], रोहिणी[2], एन्थ्रेक्स, धनुर्वात, विसर्प[3], आतशक[4], मूषकदंशनज्वर आदि पर अपना प्रभाव डालती है।

1. Meningitis 2. Diphtheria 3. Erysepelas 4. Syphilis.

जा सका है। इनको विपाणु[1] या सूक्ष्मदर्शकातीत[2] कहा जाता है जैसे आमवात, मसूरिका, जलसंत्रास आदि के जीवाणु।

वर्गीकरण ये सभी जीवाणु मानव जाति के लिए हानिकारक हो ऐसा नही और इसीलिए सामान्य भाषा मे इनको अलक्षित मित्र व शत्रु कहा जा सकता है। इस प्रकार जीवाणुओं के दो विभाग किए जा सकते हैं एक विकारी[3] जो रोग उत्पन्न करते हैं तथा दूसरे अविकारी[4] जो रोग उत्पन्न नही करते। अविकारी जीवाणुओं मे से कुछ अविकारी निष्क्रिय ही नही बल्कि मानव जीवन के लिए लाभकर एवं आवश्यक हैं जैसे कुछ आन्त्रस्थ जीवाणु जीवनीय गणो का सश्लेषण द्वारा निर्माण करते हैं। इनकी संख्या भी बहुत अधिक है।

कुछ विकारी जीवाणु एक कोशिक न होकर बहु कोशिक भी होते हैं जिनको कीटाणु कहा जाता है और इस विभाग के अन्तर्गत आँतो मे विकृति उत्पन्न करने वाले भिन्न-भिन्न कृमि आते हैं।

प्रकृति में जीवाणुओ का कार्य--यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि कुछ जीवाणु विकारी हैं जो रोग की उत्पत्ति करते है तथा कुछ विकार नहीं, ये प्रकृति मे अन्य भिन्न-भिन्न कार्य करते है। दूध से दही जमाना, गुडी से सिरका व शराब बनना, भिन्न-भिन्न प्रकार के इन जीवाणुओं का ही कार्य है। कुछ जीवाणु ऐसे है जो हमारी आँतो मे रहकर पाचन क्रिया मे सहायता देते है, कुछ विटामिनो का निर्माण करते है और इस प्रकार हमारे लिए बहुत लाभदायक हैं। कुछ जीवाणु गूढ़ रचना वाले सेन्द्रिय पदार्थों मे सडन की क्रिया करके उनको भिन्न-भिन्न तत्वो मे बदल देते है। यह भी एक महत्वपूर्ण कार्य है जिससे प्रकृति मृत एव व्यर्थ सेन्द्रिय पदार्थ पशु, पक्षी या पौधे आदि को भिन्न-भिन्न तत्वो मे विभाजन कर देती है।

व्यापकता--यदि यह कहा जाय कि ये जीवाणु सर्वव्यापी है तो अतिशयोक्ति नही क्योंकि साधारणतया कोई भी स्थान ऐसा नही जहाँ ये न पाए जा

1. Virus 2. Ultramicroscopic 3. Pathogenic 4. Non-pathogenic

नेत्र रोगों मे पेनिसिलीन नेत्रबिन्दु या पेनिसिलीन नेत्र मलहम आशातीत लाभकर सिद्ध हुई। नेत्र श्लेष्मला के नीचे[1] या नेत्रोद् कक्ष[2] मे क्रिस्टलायन पेनिसिलीन घोल इंजेक्शन द्वारा दिया जा सकता है। इसके लिए ५०,००० यूनिट पेनिसिलीन ½ सी०-सी० शुद्ध परिस्रुत जल (लवण जल नहीं) में घोलनी चाहिए।

अन्तःपूयता[3] की अवस्था में प्रतिदिन ५-१० लाख इकाई पेनिसिलीन २०-४० सी०-सी० समबल लवण जल मे मिलाकर पूय के स्थान मे दी जाने पर आशातीत लाभ करती है किन्तु पेनिसिलीन देने से पहले पूय निकाल दी जानी चाहिए।

यथार्थ मे पेनिसिलीन का स्थानिक प्रयोग घोल, नेत्र मलहम, क्रीम, मुखगुटिका, अवधूलन चूर्ण[4] तथा सीकर[5] के रूप मे किया जा सकता है।

सीफेलोस्पोरिन—रासायनिक रचना की दृष्टि से यह पेनिसिलीन से मिलती जुलती है। ग्राम धनात्मक जीवाणु जिनमे पेनिसिलीन क्षम या प्रतिरोधी स्ट्रेप्टो- एवं स्टेफिलो आदि जीवाणु भी सम्मिलित हैं, इसके कार्य क्षेत्र मे आते हैं। मस्तिष्कावरण तक नहीं पहुँचती अतः मस्तिष्कावरण शोथ की अवस्था में प्रयोग व्यर्थ है। औषधि का प्रयोग पेशी या शिरागत इंजेक्शन के रूप मे किया जाता है। मुख द्वारा प्रयोग के लिए भी सीफैलेक्सिन २५० मिलीग्राम कैप्सूल के रूप मे उपलब्ध हैं। सीफैलोमिन १० या ५० सी० सी० के एम्पूल जिसमें

---

1. Subconjunctival. 2. Anterior Chamber. 3. Empyema

4. Dusting Powder–कैल्शियम पेनिसिलीन १।२–१½ लाख इकाई

सल्फाथियाजोल	१ औंस
	बहुत बारीक चूर्ण

5. Spray—

क्रिस्टलायन पेनिसिलीन	१० लाख
लायकर एड्रीनैलीन	३० बूँद
परिस्रुत जल	२ औंस
	सीकर के रूप मे प्रयुक्त

पड़ पाता क्योंकि शरीर में रोग का प्रतिकार करने की अपनी विशेष शक्तियाँ होती है। इन शक्तियों के क्षीण हो जाने पर ही जब जीवाणु शरीर में प्रवेश पा जाते है, रोगोत्पत्ति सम्भव हो जाती है।

जीवाणुओं की उत्पत्ति व वृद्धि--

उत्पत्ति—ससार का नियम है कि जो जन्म लेता है, वह मरता अवश्य है, और यदि उत्पत्ति न हो तो समूलोच्छेद निश्चित है। इसीलिए प्रकृति ने प्रत्येक जीवधारी के साथ उसकी उत्पत्ति के साधन भी जुटा दिए है। जीवाणुओं में भी उत्पत्ति होती है किन्तु वह बहुत ही सरल व साधारण विधि द्वारा होती है जिसको विभाजन की क्रिया[1] कहते है। एक जीवाणु से दो होते है, दो से चार और चार से आठ इसी प्रकार यह क्रम चलता रहता है। जीवाणु के शरीर के मध्य में हलकी झिल्ली उत्पन्न हो जाती है जिसके द्वारा ही वह दो भागों में बँट जाता है। प्रारम्भ में ये दोनों भाग जुडे रह सकते हैं किन्तु शीघ्र ही अलग-अलग होकर स्वतत्र जीवन प्रारम्भ कर देते है। साधारणतया एक जीवाणु अपनी उत्पत्ति के २०, ३० मिनट के अन्दर-अंदर युवा होकर उत्पत्ति प्रारम्भ कर देता है और इस प्रकार यदि एक घण्टे में एक बार विभाजन होना मान लिया तो २४ घण्टे में एक जीवाणु के लगभग ८८८८८६०८ जीवाणु हो जायेंगे। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कुछ जीवाणु उत्पन्न होने में अधिक समय लेते है और कुछ कम।

इस प्रकार की उत्पत्ति तभी सम्भव है जब जीवाणु को अनुकूल परिस्थितियाँ मिलें अर्थात् भोजन, जल एवं उचित तापक्रम हो जिसमें जीवाणुओं की वृद्धि व उत्पत्ति का क्रम जारी रहे। प्रतिकूल परिस्थितियाँ मिलने पर जीवाणुओं की उत्पत्ति रुक जा सकती है अथवा उनकी मृत्यु भी हो जा सकती है। कुछ जीवाणुओं में प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने शरीर में एक विशेष परिवर्तन कर लेने की अद्भुत क्षमता होती है। इस प्रकार का परिवर्तन स्पोरों की उत्पत्ति[2] है। जीवाणु शरीर की स्पोर एक विशेष अवस्था है जिसमे

1. Simple Fission. 2. Spore Formation.

ओलियण्डोमायसीन (Oleandomycin)—मुख्य योग साइक्लोमायसीन है। सायनरमायसीन मिश्रित योग है जिसमे ६७ प्रतिशत टेट्रासाइक्लीन तथा शेष ओलियण्डोमायसीन रहती है।

इसका मुख्य प्रयोग स्टैफ्लोकोकस जन्य उपसर्ग यथा अस्थिमज्जा शोथ, विद्रधि, कारबंकल, आन्त्रशोथ, गलशोथ, निमोनिया, मध्य कर्णशोथ आदि की चिकित्सा में है किन्तु प्रयोग उसी अवस्था मे करना ठीक है जब पेनिसिलीन से सफलता न मिली हो।

मात्रा—१–२ ग्राम चार भागो मे विभाजित करके मुख द्वारा। शिरागत इजेक्शन के लिए भी इसके विशेष योग उपलब्ध हैं।

नियोमायसीन (Neomycin)—सर्जरी मे इसका मुख्य उपयोग ऑतों पर शस्त्र कर्म करते समय आन्त्रपूतिरोधी (Intestinal-Antiseptic) के रूप मे है जब कि एक-एक ग्राम प्रति घण्टे चार मात्रा तक और इसके बाद एक ग्राम प्रति ४-६ घण्टे पर २-३ दिन तक दी जा सकती है। कभी-कभी तीव्र स्वरूप के मूत्र मार्गीय उपसर्ग मे जो अन्य औषधियो से ठीक नहीं हो रहा हो इसका २०० मिलीग्राम प्रति सी० सी० शक्ति का घोल पेशीगत इंजेक्शन द्वारा प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—१०-१५ मिलीग्राम प्रति किलो शरीर भार प्रतिदिन दे। ध्यान रखना है कि मुख द्वारा देने से रक्त मे शोषण नही होगा।

चर्मरोग—अनेक रोगों मे ½ प्रतिशत शक्ति का घोल, क्रीम, मरहम का प्रयोग भी प्रशस्त है।

केनामायसीन (Kanamycin)—औषधि ई० कोलाई सालमोनेला, शिगैला, नायस्सेरिया, एस० औरियस पर कार्यकर है, प्रोटियस स्यूडोमोनाज इसके प्रभाव क्षेत्र मे नहीं आते। मुख द्वारा दिये जाने पर शोषण कम किन्तु पेशी मे दिये जाने से शोषण शीघ्र हो जाता है तथा मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव के अतिरिक्त सभी स्थानों पर मिलने लगती है।

केनामायसीन सल्फेट (Kantrex) मुख्य योग है जो २५०, ५०० मिलीग्राम की शीशियों तथा ०·५ ग्राम के कैप्सूल के रूप मे उपलब्ध है।

इतना अवश्य है कि कुछ जीवाणु जल की कमी को अधिक सहन कर सकते हैं तथा कुछ कम, हैजे का जीवाणु जल के अभाव में शुष्क होने पर कुछ ही घण्टों में समाप्त हो जाता है जबकि डिफ्थीरिया का जीवाणु अधिक समय तक जीवित रह सकता है। स्पोरों में जल की कमी को सहन करने की अद्भुत क्षमता होती है--एन्थ्रैक्स के स्पोर शुष्क स्थान पर भी वर्षों तक जीवित रहते देखे गए हैं।

वायु--कुछ जीवाणुओं को वृद्धि करने के लिए आक्सीजन की आवश्यकता है जब कि कुछ ऐसे होते हैं जो आक्सीजन की उपस्थिति में वृद्धि नहीं कर सकते। प्रथम प्रकार के जीवाणुओं को वातापेक्षी[1] तथा दूसरे प्रकार के जीवाणुओं को वातानिरपेक्षी[2] कहा जाता है।

ताप यह स्पष्ट विदित है कि प्रत्येक प्राणी को वृद्धि के लिए ताप क आवश्यकता पडती है। जीवाणु भी ताप के अभाव में वृद्धि नही कर सकते। इतना अवश्य है कि भिन्न-भिन्न जीवाणुओं की वृद्धि के लिए भिन्न-भिन्न तापक्रम आवश्यक है। साधारण पूयोत्पादक जीवाणु २०-२४ सेंटीग्रेड के तापक्रम पर उत्तम वृद्धि करते हैं। १२° सेंटीग्रेड से कम या ४५° सेंटीग्रेड से अधिक तापक्रम पर उनकी वृद्धि नहीं हो सकती। कुछ जीवाणु ५०-६० डिग्री सेंटीग्रेड तापक्रम पर भी वृद्धि करते देखे गए हैं किन्तु इनकी संख्या बहुत कम है। अनुमान लगाया गया है कि विकारी जीवाणु ३५-४० डिग्री सेंटीग्रेड के तापक्रम पर उत्तम वृद्धि करते हैं।

६० डिग्री सेंटीग्रेड के तापक्रम पर अधिकाश जीवाणु नष्ट हो जाते हैं।

सूर्य प्रकाश का प्रभाव—सूर्य की किरणों का जीवाणुओं पर सीधा घातक प्रभाव पडता है; घातक होने का कारण किरणों में निहित गर्मी नहीं बल्कि परानील लोहित किरणें हैं जो जीवाणुओं को शीघ्र ही नष्ट कर देती है। बिजली के तीव्र प्रकाश का भी सूर्य से मिलता-जुलता ही प्रभाव पडता है। राजयक्ष्मा, एन्थ्रेक्स, आन्त्रज्वर के जीवाणु सूर्य प्रकाश मे शीघ्र ही नष्ट हो जाते है।

1. Aerobic 2. Anaerobic.

मिनट तक जल में उबाला जा सकता है किन्तु ध्यान रहे कि जल मे सोडा न डाला जाय क्योंकि सोडा डालने से रबर को हानि पहुँचती है। यदि दस्ताने में छिद्र हो गए हैं तो उनको प्रयोग मे नहीं लाना चाहिए क्योंकि सम्भव है कि छिद्र मे होकर जीवाणुयुक्त स्वेद के बिन्दु हाथ से व्रण मे पहुँच जायें।

दस्ताने पहनते समय यह किया जा सकता है कि हाथों पर स्पिरिट लगा ली जाय अथवा साबुन एवं ईथर का मिश्रण मल लिया जाय। ऐसा करने से पहनने मे सुविधा होती है। पहनते समय खुले हाथ से दस्ताने के बाहर के उस भाग को नहीं छूना चाहिए जो हथेली व उँगलियों पर रहता है, कलाई पर रहने वाले भाग को पकड़ा जा सकता है। यदि उँगलियों पर दस्ताने को चढ़ाने के लिए दबाने की आवश्यकता पडे तो स्पिरिट से भीगे गौज से दबाना चाहिए, खुले हाथ से नहीं। शल्यकर्म के पश्चात् दस्ताने को उतार कर धोया जाता, छिद्रों के लिए उनकी परीक्षा की जाती तथा सुखाकर फ्रेंच चौक लगाकर रख दिया जाता है।

वस्त्र—सर्जन व उसके सहायकों के सामान्य वस्त्र कैसे हों यह लिखने की आवश्यकता नहीं, किन्तु यह नितान्त आवश्यक है कि सामान्य वस्त्रो के ऊपर जीवाणुहीन शुद्ध एप्रन[1] जो कलाई तक आता हो, पहन लिया जाय। कलाई के आस-पास एप्रन में ही लगी हुई डोरी से इसको स्थिर कर दिया जाता है। एप्रन को अन्य व्रणोपचार वस्त्रों के साथ शुद्ध किया जा सकता है जैसा कि आगे लिखा जायगा। सिर के ऊपर भी शुद्ध की हुई टोपी लगा ली जा सकती है।

श्वास—शल्यकर्म करते समय यह भी सम्भव है कि सर्जन व उसके सहायकों की श्वास व्रण मे जीवाणु पहुँचा सके, अतः इसका भी प्रबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसके लिए मुखावरण[2] का प्रयोग किया जाता है। मुखावरण एक विशेष आकार का रूमाल-सा होता है जिसको शुद्ध करने के पश्चात् मुख पर इस प्रकार बाँध लिया जाता है कि उससे मुख एवं नाक ढँक जाती है किन्तु आँखे खुली रहती है क्योंकि आँखों के लिए उसमे छिद्र कटे

1. Apron 2. Face mask.

जीवाणुओं की उत्पत्ति करके मानव जीवन को ही संकट मे क्यों डाला? यथार्थ बात यह है कि प्रकृति समरूप से सभी प्रकार के जीवन की सहायक है फिर चाहे वह जीवन मनुष्य का हो या एक साधारण जीव का। प्रकृति मे शिकारी जीव भी हैं और शिकार भी तथा प्रकृति उन दोनों की ही हितैषी है। उसने उन दोनों को ही अपनी-अपनी विशेष शक्तियाँ, साधन व आदतें आदि दे रखी हैं जिनकी सहायता से वे अपना-अपना-कार्य करते हैं, शिकारी शिकार करने का प्रयत्न करता है तथा शिकार उससे अपनी रक्षा करने के लिए सतर्क रहता है, शक्ति-साधन व परिस्थितियों का पलड़ा जिधर झुक जाता है उधर ही विजय होती है।

रोगजनक जीवाणु तथा मानव को पीडित करने वाले रोगों का भी कुछ इसी प्रकार का सम्बन्ध है। जब किसी प्रकार रोगजनक जीवाणु मानव शरीर मे प्रवेश पा जाते है तो वे अपने स्वभाव विशेष के अनुसार वृद्धि के लिए सभी साधन मिलने पर शरीर मे अपनी वृद्धि करना शुरू कर देते हैं। इस वृद्धि के फलस्वरूप कुछ विष पदार्थ उत्पन्न होते है जिनका शरीर पर अपना विशिष्ट प्रभाव पड़ने से कुछ विशेष प्रकार के लक्षण प्रगट होने लगते हैं जिनको हम रोग कहते हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगजनक जीवाणुओं का स्वभाव तथा तज्जन्य विष पदार्थ भिन्न-भिन्न होने के कारण रोग भी भिन्न-भिन्न रूपो के ही होते हैं।

शरीर मे प्रवेश पा जाने के पश्चात् जीवाणु अपनी वृद्धि का प्रयत्न करते हैं और मानव शरीर की प्रकृति उनके नाश के साधन जुटाती है। शरीर प्रकृति के सफल होने पर रोग से छुटकारा होता है। चिकित्सा का अर्थ जीवाणुओं के नाश मे प्रकृति की सहायता करना तथा जिस प्रकार भी सम्भव हो जीवाणुओं का नाश करना है।

जीवाणु-सम्बन्धी ज्ञान का शल्य रोगों में महत्व—

मानव शरीर मे होने वाले सभी रोग चाहे उनको शल्य रोगो की संज्ञा दी जाय और चाहे काय-चिकित्सा सम्बन्धी रोग कहा जाय एक दूसरे से सुसम्बद्ध हैं। एक शल्य चिकित्सक शुद्ध शल्य चिकित्सक ही नहीं रह सकता उसे सम्पूर्ण

शुद्ध होने चाहिए। पूयमय व्रणो मे रखे जाने वाले गौज को किसी जीवाणु-नाशक घोल मे भिगोकर रखा जा सकता है किन्तु जीवाणु-हीन शस्त्रकर्म के समय प्रयोग मे आने वाले गौज, रुई, पट्टी आदि सभी जीवाणु-रहित शुद्ध होने आवश्यक हैं।

व्रण मे विशेष कर पूयमय व्रण मे गौज रखने का प्रधान उद्देश्य यही होता है कि वहाँ पर स्राव इकट्ठा न होता रहे बल्कि गौज मे शोषित होता जाय। गौज के ऊपर ही शोषक रुई[1] रखी रहती है जो गौज से भी स्राव को अपने मे शोषित करके संचित करती जाती है। साधारण रुई को सोडा तथा अन्य रासायनिक पदार्थो के साथ उबालते है जिससे उसकी वसा दूर होकर उसमे शोषक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। गौज तथा रुई को भी अन्य वस्त्रों के साथ ही शुद्ध कर लेना चाहिए। गौज तथा रुई दोनों के ही विसंक्रमित पैकेट बाजार मे मिलते है। जहाँ विसंक्रमण के पूरे-पूरे साधन नही वहाँ इसका उपयोग किया जा सकता है। किन्तु इनके प्रयोग मे इतना अवश्य है कि एक बार खुलने के पश्चात् फिर बाद के लिए उनको जीवाणुहीन शुद्ध नही रखा जा सकता। बड़े-बड़े अस्पतालों मे गौज के छोटे-छोटे टुकड़े काट कर अन्य वस्त्रो के साथ विसंक्रमित कर लिये जाते है।

वस्त्रों का विसंक्रमण वाष्प द्वारा किया जाता है। वाष्प की गर्मी से प्रायः सभी प्रकार के जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। वाष्प द्वारा विसंक्रमण करने के लिए एक विशेष प्रकार का यन्त्र आता है जैसा कि चित्र १ मे दिखाया गया है। यह एक गोल ड्रम के आकार का पात्र है जिसके बीच मे खाली स्थान होता है तथा दीवाल दोहरी चद्दर की बनी होती है। भीतरी चद्दर मे छिद्र होते है जिनमे होकर भाप अन्दर प्रवेश करती है। तलहटी मे जल भरा रहता है किंतु उसमे ऊपर की ओर कोई छिद्र नही होता जिससे बीच के खाली स्थान मे रखे हुए सामान तक पानी के अंश बिल्कुल नही पहुँच पाते बल्कि केवल वाष्प

1. Absorbent Cotton.

करते समय दाँतों से पूयोत्पादक जीवाणु पहुँच कर नेत्रों में विकृति प्रारम्भ कर दें। इस प्रकार उपसर्ग की प्रथम अवस्था उपसर्ग का अन्दर पहुँचना हुई।

अन्दर पहुँचने के पश्चात् जीवाणु किसी विशेष स्थान पर स्थित हो जाते हैं तथा वहाँ वृद्धि करना आरम्भ कर देते हैं। वृद्धि करने से उत्पन्न विष पदार्थ रक्त में मिलकर सम्पूर्ण शरीर में संचरित होते रहते तथा अपने विशेष लक्षण ज्वर आदि उत्पन्न करने लगते हैं। इस अवस्था को **जीवविषरक्तता**[1] की अवस्था कहा जाता है। अधिकांश रोगों में, विशेषकर पूयोत्पादक सम्बन्धी में, यही अवस्था देखी जाती है कि जीवाणु एक स्थान पर सीमित रहते हैं तथा तज्जन्य विष सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता हुआ अपने लक्षण उत्पन्न करता है।

कभी-कभी यद्यपि बहुत कम यह भी होता है कि जीवाणु स्वतः भी रक्त में भ्रमण करने लगते हैं। इस प्रकार की अवस्था को **जीवाणुरक्तता**[2] कहा जाता है। प्रथम की अपेक्षा यह अवस्था अधिक भयकर समझी जाती है।

यदि जीवाणु एवं जीवाणुजन्य विष के अतिरिक्त पूय के कण भी रक्त के साथ-साथ भ्रमण करने लगें तो इस प्रकार की अवस्था को **पूयरक्तता**[3] की अवस्था कहा जाता है। यह अवस्था बहुत कम देखने को मिलती है और वह भी आधुनिक युग में जब पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न रोगों की चिकित्सा बहुत सरल हो गई है।

उपसर्ग का निदान—

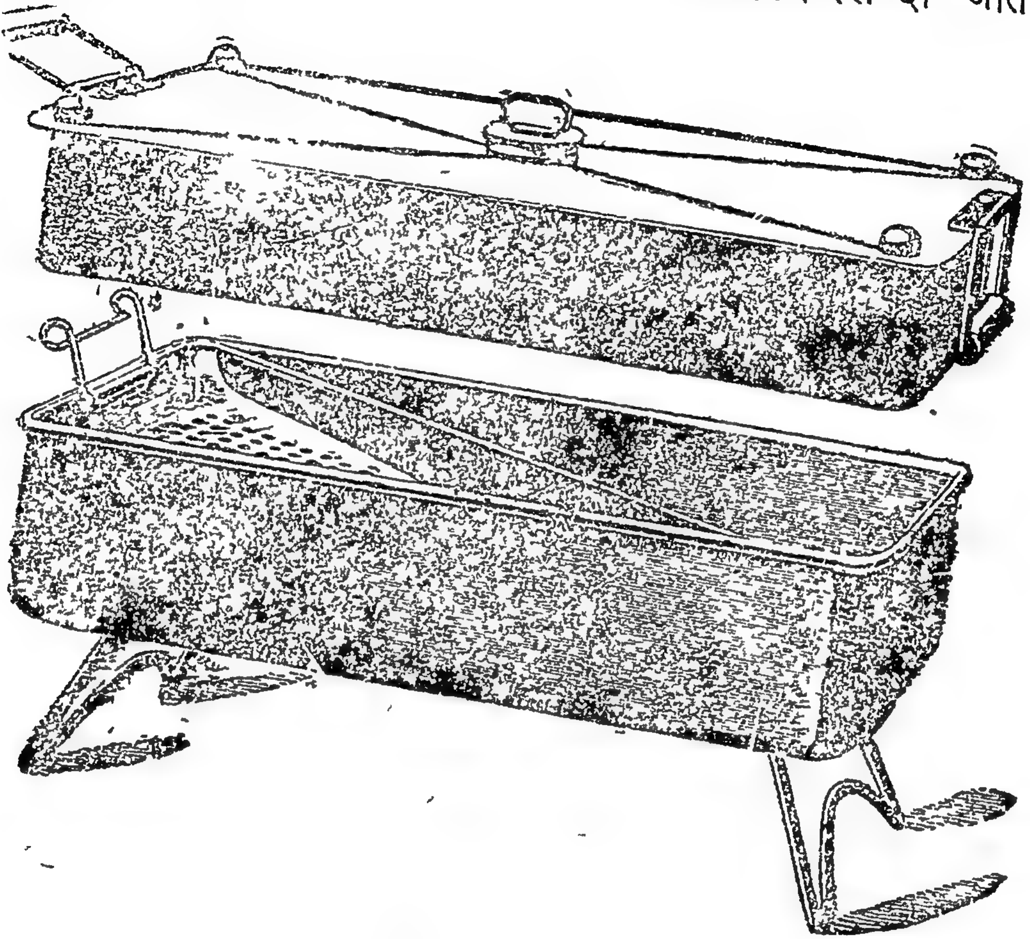
किसी भी रोग की चिकित्सा से पूर्व उसका निदान होना नितांत आवश्यक है और जीवाणु जन्य रोगों में यदि रोगजनक जीवाणु को पहचाना जा सके तो रोग की चिकित्सा बहुत सरल हो जाती है। इसके लिये निम्न साधनों का प्रयोग किया जा सकता है।

१. लक्षणों से—अलग-अलग प्रत्येक प्रकार के रोग को उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनके अनुसार वे विशेष प्रकार के लक्षण समूह को ही उत्पन्न करते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि कोई

---

1. Toxaemia 2. Bacteraemia 3. Pyemia.

दिखाया गया है इनके नीचे पाए लगे रहते है। जिन पर पात्र को खड़ा कर दिया जाता है तथा नीचे स्टोव या स्पिरिट लैंप जलाकर रख दी जाती है।



चित्र—३
विसंक्रामक पात्र

कुछ विसंक्रामक पात्र ऐसे भी आते हैं जिनके नीचे के तल मे बिजली द्वारा गर्म करने का प्रबन्ध रहता है। पात्र के भीतर उसी के आकार की किन्तु उससे कुछ छोटी एक जाली रहती है जिसके दोनों शिरों पर पकड़ने के लिए कुण्डे लगे रहते है। इस जाली मे शस्त्रों को रखकर पात्र मे रख दिया जाता है तथा इस जाली को बाहर निकाल कर ही एक साथ शस्त्रों को बाहर निकाला जा सकता है।

अच्छा हो कि जब पात्र मे जल उबलने लगे तब शस्त्रों को उसमे डाला जाय। ऐसा करने से मोरचा नही लगता। शस्त्र डालने के पश्चात् ढक्कन ढँक

४. **प्राणियों मे अन्तःक्षेप**—रोगी से प्राप्त जीवाणुओं का चूहा, खरगोश आदि प्राणियों मे अन्तःक्षेप किया जाता है। यदि इन प्राणियों को एक विशेष रोग की उत्पत्ति होती है तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रोगी भी उसी रोग से पीडित है।

५. **जीवाणुक्षमता परीक्षा**—यह विधि रोग के निदान के लिए नहीं बल्कि निदान के बाद चिकित्सा में सहायता देने के लिए अपनाई जाती है। रोगोत्पादक जीवाणुओं को लेकर उनका संवर्धन किया जाता तथा उन जीवाणुओं को ही नाश करनेवाली भिन्न-भिन्न औषधियों की जीवाणुओं पर क्रिया देखी जाती है कि वे किस औषधि से शीघ्र नष्ट होते हैं।

इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना है कि जीवाणुओं के भिन्न-भिन्न वर्ग[1] होते हैं। इस परीक्षा का यथार्थ अर्थ यह देखना है कि वर्ग विशेष के जीवाणु किस जीवाणुनाशक प्रतिजीवी योग से प्रभावित होंगे।

मिश्र उपसर्ग[2]—इस स्थल पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं कि एक बार मे केवल एक ही प्रकार के जीवाणु रोग उत्पत्ति करें, यह भी सम्भव है कि पूयोत्पादक जीवाणु तथा मलेरिया का साथ-साथ उपसर्ग हो।

श्वेताणुओं[3] की जीवाणु नाशन शक्ति—रक्त में प्रधानतया दो प्रकार के कण पाये जाते हैं—श्वेताणु और रक्ताणु। श्वेताणुओं का प्रधान कार्य शरीर की रक्षा करना है जब पूयोत्पादक जीवाणु किसी स्थल पर शरीर मे प्रवेश करते हैं तो श्वेताणु उनके नाश करने के लिए एकदम तत्पर हो जाते हैं। जीवाणुओं का श्वेताणुओ द्वारा भक्षण कर लिया जाता है। भक्षण किए हुए जीवाणुओं को सूक्ष्मदर्शक द्वारा श्वेताणुओं के शरीर मे देखा भी जा सकता है। जब किसी स्थान पर जीवाणु शरीर मे प्रवेश करते हैं तो उसी स्थान की ओर रक्त मे प्रवाहित श्वेताणुओं की दौड मच जाती है तथा वहाँ जीवाणुओ

---

1. Strains 2. Mixed Infection 3. White blood Corpuscles (W. B. C.)

पर भिन्न-भिन्न प्रकार के धागे लपेट दिये गये हों। विसंक्रमित कैटगट या रेशम के धागे कार्बोलिक घोल या स्पिरिट में सुरक्षित शीशियों मे बन्द बाजार मे बिकते है। शीशी के ऊपर रबर की डाट लगी रहती है जिसके द्वारा धागे के सिरे निकले रहते हैं अतः आवश्यकता के अनुसार लम्बा धागा निकाल कर काट लिया जाता है। निकले हुए सिरे को शुद्ध कार्बोलिक अम्ल लगा-कर विसंक्रमित कर लिया जाता है और इस प्रकार सम्पूर्ण धागा शुद्ध मिल जाता है।

ऊपर वर्णित टाके के धागों मे कैटगट ऐसा है जिसका शोषण हो जाता है और इसीलिए अन्दर के बन्धन या टाको के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। बाहरी टाकों के लिए रेशम का धागा अधिक उपयुक्त पड़ता है। जो आवश्यकतानुसार पतला ही होना चाहिए ताकि भद्दा निशान न पड़े।



रोग-लब्ध—यह पीछे ही स्पष्ट किया जा चुका है कि रोगजनक जीवाणुओं के शरीर में प्रवेश करने पर रोग उत्पन्न होने के साथ ही साथ शरीर में रोगोत्पादक जीवाणुओं के साथ संघर्ष छिड़ जाता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप कुछ ऐसे प्रतियोगी पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनको जीवाणु विरोधी प्रतियोगी पदार्थ कहना चाहिए, क्योंकि उन जीवाणुओं को नाश करने की इनमें विशेष शक्ति होती है। इस संघर्ष में यदि प्रतियोगी पदार्थ विजय पा गये तो रोग से मुक्ति हो जाती है। रोग से मुक्ति पाने के साथ ही साथ शरीर में उस रोग के प्रतियोगी पदार्थ भविष्य के लिये उत्पन्न हो जाते हैं। यही रोगलब्ध क्षमता है। कुछ रोगों जैसे माता, कर्णमूल आदि के लिये इस प्रकार की क्षमता जन्म भर रहती है जिससे वह व्यक्ति फिर उस रोग से पीडित नहीं होता। यही रोग-लब्ध क्षमता है।

कृत्रिम क्षमता[1]—स्वाभाविक या रोगलब्ध क्षमता शरीर में स्वतः उत्पन्न होती है जब कि कृत्रिम क्षमता विशेष प्रकार के साधनों द्वारा शरीर में उत्पन्न की जाती है। कृत्रिम क्षमता भी दो प्रकार की होती है—निष्क्रिय व सक्रिय।

निष्क्रिय[2] क्षमता का अर्थ यह होता है कि दूसरे व्यक्ति या प्राणी में उत्पन्न प्रतियोगी पदार्थों को जिनको प्रतिपिण्ड पदार्थ भी कह सकते हैं, पीडित व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट किया जाता है और इस प्रकार उसको रोग से युद्ध करने में समर्थ बनाया जाता है। इस प्रकार की क्षमता को ही निष्क्रिय क्षमता कहते हैं क्योंकि रोगी व्यक्ति को उसके लिये कुछ भी नहीं करना पड़ता। उसे तो प्रतियोगी पदार्थ बने बनाये मिल जाते हैं। इसको और भी स्पष्ट इस प्रकार समझा जा सकता है कि किसी प्राणी में, डिफ्थीरिया के जीवाणु पहुँचा कर डिफ्थीरिया रोग उत्पन्न किया गया किन्तु रोग की तीव्रता इतनी सीमित रखी गई कि प्राणी की उससे मृत्यु न होने पावे। उस प्राणी के शरीर में रोहिणी के प्रतिपिण्ड पदार्थ उत्पन्न हुए। यह पदार्थ उसके रक्त में ही होंगे। इन जीवाणु विरोधी पदार्थों से युक्त रक्त के जलीयांश सिरम को ले लिया गया। यही

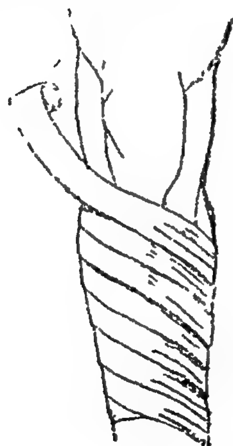
1. Artificial Immunity 2. Passive Immunity.

६—पट्टी समाप्त करने पर उसे गांठ या सेफ्टीपिन लगाकर स्थिर कर दिया जाता है किन्तु ध्यान रखना है कि गाठ या पिन उठते बैठते लेटते समय रोगी को कष्ट न पहुँचावे अथवा किसी स्थल विशेष पर अनावश्यक दबाव न डाले।

लपेट पट्टियों के भिन्न-भिन्न रूप—लपेट पट्टी को बाधने की विधि के अनुसार उसके निम्न रूप हो सकते हैं—

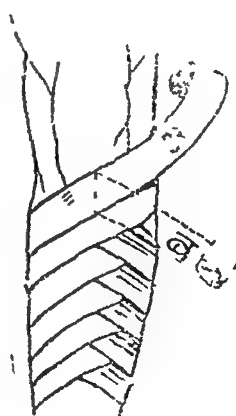
१—सर्पिल पट्टी[1]—पट्टी अंग पर कुण्डलों अर्थात् घेरों के आकार मे लगायी जाती है। प्रथम दो तीन लपेटों द्वारा पट्टी को स्थिर कर दिया जाता है। ये लपेट एक दूसरे को पूर्णतः ढॅके रहते है। इसके पश्चात् नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते है और लपेटों को इस प्रकार लगाया जाता है कि प्रथम लपेट का ऊपरी $\frac{1}{2}$-$\frac{2}{3}$ भाग तक दूसरे लपेट द्वारा ढॅका जाता रहे। यदि अग-की मोटाई एक-सी है तो इस प्रकार बढ़ते रहकर सम्पूर्ण अंग को ढॅका जा सकता है (चित्र ५)।

२—परावर्तित पट्टी[2]—यदि अंग की मोटाई एक-सी नही बल्कि नीचे



चित्र—५

सामान्य सर्पिल पट्टी



चित्र—६

मोड़युक्त सर्पिल पट्टी

से ऊपर की ओर बढती जाती है जैसा कि कलाई के ऊपर या घुटने के नीचे के भाग मे होता है तो उपरोक्त सामान्य सर्पिल पट्टी उपयुक्त नहीं पड

1. Spiral Bandage. 2. Reverse Bandage.

पूयोत्पादन की दृष्टि से निम्न जीवाणु महत्व के है—

१. स्ट्रेप्टोकोक्कस[1]—पूयोत्पादन की दृष्टि से यह महत्व का प्रबल गोलाकार जीवाणु है जो पूय की परीक्षा करने पर उसमे श्रृङ्खला के रूप मे देखा जा सकता है। इन श्रृङ्खलाओ की लम्बाई एक-सी न होकर भिन्न-भिन्न हो सकती है। इसके द्वारा उत्पन्न शोथ उग्र स्वरूप का तथा शीघ्र ही चारो ओर फैल जाने वाला होता है। इसी जाति के प्रबल श्रेणी के कुछ जीवाणु ऐसे होते है जो एक प्रकार का ऐसा विष पदार्थ बनाते हैं जिससे रक्त मे रक्त के कण घुलने लगते हैं। विसर्प[2] सव्रण अन्तर्हृद् शोथ[3] के उत्पादक जीवाणु इसी श्रेणी के हैं। प्रायः पूयरक्तता तथा विषरक्तता जिनकी ओर पीछे संकेत किया गया है, इसी जीवाणु द्वारा उत्पन्न होती हैं। इसकी उत्पत्ति के लिए शारीरिक ताप सबसे अधिक अनुकूल पड़ता है, अतः शरीर मे प्रवेश पाने पर यह शीघ्रता के साथ बढने लगता है।

२ स्टैफिलोकोक्कस[4]—इनको कभी-कभी गुच्छाणु भी कहा जाता है क्योंकि पूय की परीक्षा करने पर ये अंगूरों के से गुच्छे के रूप मे देखे जाते हैं। पूयोत्पादन की दृष्टि से स्ट्रेप्टोकोक्कस की अपेक्षा ये मृदु किन्तु अधिक व्यापक स्वरूप के गोलाकार जीवाणु है जो भिन्न-भिन्न प्रकार की विद्रधि, सयोजक ऊति शोथ[5], अस्थिमज्जा शोथ[6], पर्युदर्या शोथ[7], अथवा पूयता[8] आदि की उत्पत्ति करते देखे गए है। शल्य कर्म के समय सर्जन की असावधानी से जो पूयोत्पत्ति हो जाती है उसमे प्रायः इन्हीं का हाथ रहता है क्योंकि वायु, धूल, जल व चर्म पर ये प्रायः उपस्थित रहते हैं। आक्सीजन की उपस्थिति में इनकी वृद्धि आसानी से हो जाती है।

साधारणतया इन जीवाणुओ के तीन विभाग किए जाते है यथा स्टैफिलोकोक्कस पायोजीनस सायट्रस[9], ओरियस[10] तथा एल्बस[11]। उत्पत्ति के समय

1. Streptococcus 2. Erysepelas 3. Ulcerative Endocarditis 4. Staphylococcus. 5 Cellulitis 6. Osteomyelitis 7. Peritonitis 8. Empyema 9. Staphylococcus Pyocyaneus Citreus. 10. Aureus. 11. Albus.

तथा दूसरी तीन इंच चौडी होनी चाहिए। पट्टी के बाहरी शिरों को एक दूसरे के साथ-सी दिया जाता है और इस प्रकार दो बेलन हो जाते हैं जो अलग-अलग दोनों हाथों में पकड़ लिए जाने चाहिए—छोटा दाएँ हाथ मे तथा बड़ा बाएँ हाथ मे रहे। रोगी कुर्सी, चारपाई या स्टूल पर बैठ जाता है तथा उपचारक उसके पीछे खडा होकर पट्टी बाँधना शुरू करते हैं। जिस स्थल पर दोनों सिरे मिले हुए हैं उसको बीचोबीच माथे पर रखा जाता है तथा बेलनों को कानों के ऊपर होते हुए पीछे ले जाया जाता है। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि पट्टी को माथे पर जितना भी हो सके नीचे रखा जाय और पीछे ले जाते समय भी उसको नीचे–पश्चादास्थि के उभार से काफी नीचे ही रखा जाय। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो पट्टी के ऊपर की ओर खिसक जाने की बहुत कुछ सम्भावना है।

सिर के पीछे पहुँच कर दोनों पट्टियों का मार्ग बदल जाता है। बड़ी चौड़ी पट्टी सिर के चारो ओर माथे पर होती हुई घूमती रहती है तथा छोटी पट्टी सिर को ऊपर से ढँकती हुई पीछे से आगे और आगे से पीछे चलती रहती है जब तक कि पूरा शिर या इच्छित भाग भली प्रकार ढँक नहीं जाता है। यह इस प्रकार किया जाता है कि सिर के पीछे चौड़ी पट्टी छोटी पट्टी को दबाती हुई बाँईं ओर से दाँईं ओर को आगे बढ़ जाती है और छोटी पट्टी को मोड़ कर पीछे से सिर के बीच मे ऊपर होते हुए आगे की ओर को ले जाते हैं। आगे माथे पर पहुँचकर यह छोटी पट्टी दाँईं ओर से आने वाली चौड़ी पट्टी के लपेट के नीचे दबा दी जाती है और चौड़ी पट्टी आगे बाँईं ओर सिर के पीछे की ओर को निकल जाती है। अब छोटी पट्टी को माथे पर चौड़ी पट्टी से दबाए रखते हुए ही मोड़कर सिर के ऊपर होते हुए पीछे की ओर ले जाते हैं। पीछे जहाँ से पहले मोड़ दिया था वहीं ले जाया जाता है जहाँ पर चौडी पट्टी पुनः इस छोटी पट्टी को दबाती हुई आगे निकल आती है और छोटी पट्टी को फिर उसके नीचे दबा रखते हुए आगे की ओर ले आया जाता है जहाँ माथे पर के मध्य से पहले की तरह वह फिर पीछे लौटती है। इस प्रकार चौडी पट्टी सिर के चारो ओर चलती रहती है तथा छोटी पट्टी सिर के ऊपर आगे पीछे घूमती रहती है यहाँ तक कि सम्पूर्ण सिर ढँक जाता है और फिर पट्टियो के

पर कुछ काल से लगे रहते हैं। ज्वर के बाद शरीर में वर्षों तक यह रह सकता है तथा मल या मूत्र में मिलता रहता है।

६. पूयमेह का जीवाणु[1]—यह जीवाणु मूत्र मार्ग में प्रविष्ट होकर व्रण की उत्पत्ति करता तथा पूय बनाने लगता है। कभी-कभी इससे सन्धि शोथ की भी उत्पत्ति होते देखी गई है और यदि किसी प्रकार नेत्रों में पहुँच जाय तो भयकर स्वरूप का नेत्रश्लेष्मला शोथ उत्पन्न कर सकता है। बाहर इसकी उत्पत्ति कठिनता से होती है क्योंकि उत्पत्ति के लिए रक्त आवश्यक है।

७. न्यूमोनिया का जीवाणु[2]—इसके द्वारा प्रधानतया फुफ्फुसों में ही विकार उत्पन्न होता है। श्वसनक ज्वर अर्थात् न्यूमोनिया का उत्पादक जीवाणु यही है। फुफ्फुस के सम्बन्ध में जहाँ कहीं भी पूयोत्पादन होता है वहाँ यह अवश्य पाया जा सकता है जैसे उरःपूय, फुफ्फुस के अन्दर पीड़िकाओं की उत्पत्ति जैसा कि यक्ष्मा रोग के समय कभी-कभी होता है। यह जीवाणु भी सदा जाड़े में ही पाया जाता है।

८. धनुस्तम्भ का जीवाणु[3]—यह जीवाणु पूयोत्पादन तो नहीं करता किन्तु फिर भी शल्य कर्म करते समय इससे बचने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाना चाहिए क्योंकि यदि किसी प्रकार व्रण में पहुँच जाता है तो भयंकर रोग धनुस्तम्भ की उत्पत्ति का कारण बन सकता है। पशुओं के निकले मल में इसकी उपस्थिति प्रायः रहती है और इसलिए मार्ग में लगे आघात के समय उत्पन्न क्षत में इसके पहुँच जाने की बहुत कुछ सम्भावना होती है। यही कारण है कि इस प्रकार उत्पन्न क्षत की चिकित्सा में रोग की उत्पत्ति रोकने के लिए एण्टी टिटेनस वैक्सिन का प्रयोग प्रायः करना चाहिए।

यक्ष्मा का जीवाणु[4]—यक्ष्मा अर्थात् तपेदिक का उत्पादक होने के कारण यह इतना व्यापक जीवाणु है कि साधारण व्यक्ति भी इससे परिचित है। यक्ष्मा ज्वर के अतिरिक्त कुछ शल्य रोग भी यथा अस्थिमज्जा शोथ[5] यक्ष्मज वंक्षण सन्धि शोथ[6], यक्ष्मज कशेरुका विकृति[7] आदि इसके कारण

---

1. Gonnococcus. 2. Pneumococcus. 3. B. Tetani 4. B. Tuberculosis 5. Osteomyelitis 6. Tuberculous Hip joint 7. Tuberculous Spine.

तक स्तन पूरे ढँक नहीं जाते, जारी रहता है। यह स्पष्ट है कि बाएँ स्तन को पट्टी नीचे की ओर से आकर ढँकती है तथा दाएँ स्तन को ऊपर से आकर ढँकती है। यदि कमर की पट्टी को स्थिर करते समय पट्टी को दूसरी दिशा में लपेटा गया होता तो यह क्रम उलटा होता है और यह कोई महत्व नहीं रखता कि पट्टी को किस क्रम से लपेटा जाय।



चित्र न०–१३
स्तन की पट्टी

स्तनच्छेदन के पश्चात् की पट्टी—यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान

चतुर्थ अध्याय

जीवाणुओं से रक्षा

कमरे की वायु, धूल के कण, साधारण जल, वस्त्र, रोगी का चर्म, सर्जन के हाथ आदि मे जीवाणु सर्वत्र व्यापक हैं और इन स्थानों से शल्य कर्म करते समय क्षत मे इनका पहुँच जाना बहुत सरल है। अतः शल्यकर्म की सफलता का प्रथम आधार इन जीवाणुओं को क्षत मे न पहुँचने देना है। यही जीवाणुहीनता है और आधुनिक जीवाणुहीन या अपूतिक शल्य कर्म[1] से पूर्व जिसके प्रारम्भकर्ता लार्ड लिस्टर थे, प्रायः छोटे से छोटा शल्य कर्म भी पूयमय हो जाया करता था और इसलिए शल्य कर्म से रोगियों की मृत्यु बहुत हुआ करती थी। पूय की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विचार करते समय अनुमान यह लगाया गया कि जिस प्रकार शर्करा के घोल मे थोड़ा खमीर मिला देने से मद्य की उत्पत्ति होने लगती है उसी प्रकार रक्त या सिग्म के सम्पर्क मे पूयोत्पादक जीवाणुओं के आने से ही पूयोत्पत्ति होने लगती है। अतः उस समय प्रथम ध्यान इस ओर गया कि ऐसी औषधियों का प्रयोग किया जाय जो पहुँचे हुए जीवाणुओं को नष्ट कर दे जिससे पूयोत्पादन अधिक न होने पावे। फलतः व्रणोपचार मे जीवाणुनाशक औषधियों का प्रयोग होने लगा जिससे पूयोत्पत्ति बहुत कम हो गई। यह जीवाणु नाशक पद्धति है जिसकी विद्रधि एवं व्रणचिकित्सा करते समय अब भी शरण ली जाती है। किन्तु जीवाणुओं को नाश करने वाली औषधियाँ विपाक्त होने के कारण जहाँ जीवाणुओं को नष्ट करती हैं वहाँ थोड़ा बहुत प्रभाव शरीर के ऊतकों व जीव कोशिकाओं पर भी ऐसा डालती हैं जिससे व्रण के रोपण में थोड़ी बाधा पड़ती है यद्यपि यह बाधा नगण्य तथा अस्पष्ट होती है। फलतः वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर गया कि ऐसा प्रयत्न क्यों न किया जाय जिससे जीवाणु क्षत में प्रवेश ही न कर

---

1. Aseptic Surgery.

जलीयाश यदि किसी प्रकार वहाँ पहुँच भी जाता है तो वह व्रण तक न पहुँच सके।

ऊर्ध्वशाखा की पट्टियाँ—

कक्षा की पट्टी—पट्टी कक्षा मे पीछे की ओर से सामने लाई जाती तथा स्कन्ध के ऊपर ले जाई जाती है। यहाँ से पीछे पीठ की ओर से होती हुई पट्टी दूसरी ओर की कक्षा में पहुँचती है तथा फिर वहाँ होती हुई इसी ओर के स्कन्ध पर आ जाती है। स्कन्ध से पट्टी के आगे बढ़ने की दिशा में ही आगे बढ़ती हुई कक्षा मे पीछे से प्रवेश करके सामने से निकल कर स्कन्ध के ऊपर पहुँच जाती है। अब फिर स्वस्तिक पट्टी के रूप मे ही दूसरा लपेट शुरू होता है और आवश्यकतानुसार चार-छः लपेट लगाकर पट्टी को समाप्त किया जाता है। एक लपेट दूसरे से नीचे की ओर अथवा ऊपर की ओर जैसा उपयुक्त पडे, हटते रहते हैं।

उँगली की पट्टी—(चित्र–१५) आवश्यकतानुसार ½ या ¾ इंच चौडी पट्टी ली जाती है। प्रथम कलाई के चारो ओर एक दो लपेट लगाकर पट्टी को स्थिर कर दिया जाता है। यहाँ पट्टी के सिरे को यदि स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो अच्छा है क्योंकि बाद मे गाँठ लगाई जा सकेगी। अब हाथ के पीछे होती हुई पट्टी जिस अंगुली को बाँधना है उसके मूल मे लाई जाती है तथा वहाँ से एक दो तिरछा लपेट लेते हुए आगे उँगली के शिरे तक ले जाई जाती है। अब पट्टी को उँगली के चारों ओर लपेटते हुए पुनः अंगुली की जड़ तक



चित्र—१५
अँगुली की पट्टी

भी जो जीवाणुनाशन के साथ ही साथ शरीर धातुओं को हानि न पहुँचाये, खोज जारी रही। आजकल निम्न जीवाणु नाशक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। इस स्थल पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक चिकित्सक अपनी-अपनी रुचि के अनुसार किसी विशेष वस्तु का अधिक प्रयोग करता है।

एल्कोहल—इसका प्रयोग बहुत अधिक मात्रा मे किया जाता है। ७० प्रतिशत शक्ति का एल्कोहल रेक्टीफाइड स्पिरिट या मेथीलेटेड स्पिरिट तीनों ही प्रायः काम मे लाए जाते हैं। हाथों को धोने अथवा चर्म को स्वच्छ करने के लिए एल्कोहल उत्तम है। किन्तु औजारो को रखने तथा शुद्ध करने के लिए स्पिरिट का ही प्रयोग करना चाहिए।

आयोडीन—यह गहरे काले रग के छोटे-छोटे कणो के रूप मे मिलती है। इसका दो प्रतिशत शक्ति का घोल प्रायः बाह्य प्रयोग के लिए मेथिलेटेड स्पिरिट मे ही बनाया जाता है जिसे टिंचर आयोडीन नाम से लगभग सभी जानते हैं। यह एक सुलभ तथा उत्तम जीवाणुनाशक पदार्थ है जिसका प्रयोग रोगी के चर्म को शुद्ध करने के लिए करते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि यह जल या वसा की उपस्थिति मे कार्य नहीं करता अतः इसको लगाने से पहले चर्म को ईथर से साफ तथा शुष्क कर लेना चाहिए। एक पाइंट मे एक ड्राम टिंचर आयोडीन डालकर नाड़ी व्रण तथा योनिमार्ग एवं गर्भाशय के प्रक्षालन के लिए भी प्रयोग मे लाया जा सकता है। किसी भी स्थान के शोथ पर लगाने से भी लाभकर है।

लायसोल—यह एक कोलतार यौगिक है जो गहरे भूरे अथवा काले रग के गाढे तरल पदार्थ के रूप में प्राप्त है। एक विशोधक पदार्थ के रूप मे इसका दो प्रतिशत घोल प्रक्षालन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। बिना जल मिश्रित शुद्ध लायसोल मे चाकू अथवा सुई आदि भी डुबाकर शुद्ध किये जा सकते है। कार्बोलिक अम्ल की अपेक्षा यह कम विषैला है तथा इससे अस्त्र बिगड़ते भी नहीं।

पोटास परमैंगनेट—यह छोटे-छोटे कणो के रूप मे मिलने वाला गहरे

यदि पैर को सम्मिलित किया जाता है तो अंगुलियों के पोरों के पास प्रथम दो-चार लपेट साधारण तथा गुल्फ पर पहुँच कर 8 आकार लपेट लगाने चाहिए।

गुल्फ की पट्‌टी —(एड़ी छोड़कर) इस स्थल पर 8 आकार पट्टी लगाई जाती है जिसका एक लपेट पैर पर तथा दूसरा जंघा के नीचे के भाग गुल्फ सन्धि पर रहता है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार सन्धि को ढँकने के बाद जघा के नीचे के भाग पर पट्टी को समाप्त कर दिया जाता है।

गुल्फ की पट्‌टी--(एड़ी एवं पाँव सहित) पैर के अन्दर की ओर एड़ी के नीचे से पट्टी बाँधना शुरू किया जाता है। पट्टी के सिरे को बाएँ हाथ से साधे रहकर प्रथम लपेट एड़ी के बीचोबीच भीतर से बाहर की ओर



चित्र १६-गुल्फ की पट्टी
(एड़ी एवं पाँव सहित)

यथा कवलधारण, व्रण प्रक्षालन, योनिमार्ग प्रक्षालन आदि के लिए घोल के रूप में प्रयोग किया जाता है।

एक्रोडीन रंग पदार्थ—इसके अतर्गत एक्रीफ्लेविन यूफ्लेविन व प्रोफ्लेविन आदि रंग पदार्थ आते हैं जो सभी नारंगी लाल या बादामी लाल रग के हलकी गन्ध युक्त तिक्त स्वाद के रंग पदार्थ हैं जो जल तथा एल्कोहल दोनों में ही घुलनशील होते हैं। ये सभी रक्त रस एवं पूय की उपस्थिति में कार्यकर, अंगों के लिए अक्षोभक, रोपण धातु के उत्तेजक शक्तिशाली जीवाणुनाशक तथा निर्विप पदार्थ हैं जिनका आजकल शल्य चिकित्सा में बहुत प्रयोग किया जाता है।

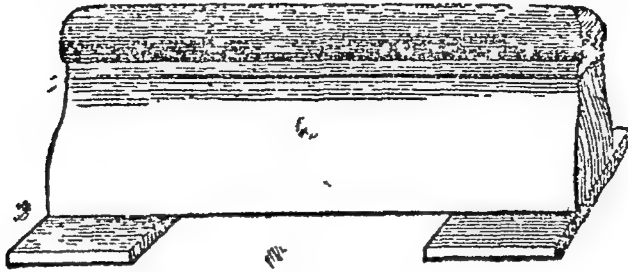
एक्रीफ्लेविन का घोल मलहम या इमल्शन[1] के रूप में साधारणतया नाड़ी व्रणों की चिकित्सा मे प्रायः प्रयोग किया जाता है। पहले व्रण को किसी जीवाणुनाशक घोल से धोकर साफ कर लिया जाता है। इसके पश्चात् एक्रीफ्लेविन के १ : १००० शक्ति के घोल मे भींगा गॉज रख कर पट्टी बाँध दी जाती है। १ : ४००० शक्ति के घोल से वृहद्आन्त्र शोथ[2] की अवस्था में मलाशय प्रक्षालन अथवा पूयमेह की अवस्था में मूत्र मार्ग[3] प्रक्षालन किया

१—एक्रीफ्लेविन	७॥ ग्रेन
गर्म उबलता हुआ जल	१ औंस
वूल फैट (ऊर्ण वसा)	१ औंस
लीक्विड पैराफिन मिलाकर कुल	७॥ औंस

विधि—ऊर्ण वसा को गर्म करके शुद्ध कर लें तथा ठंडा करके जीवाणुहीन शुद्ध खरल में डालें अब एक्रीफ्लेविन को पानी मे घोलकर उसी खरल मे डालते जायँ, इस प्रकार इमल्शन तैयार हो चुकने के बाद गर्म किया हुआ लीक्विड पैराफिन धीरे-धीरे भली प्रकार मिला दिया जाता है। दग्ध व्रण की चिकित्सा के लिए यह उत्तम दवा है।

2. Colitis 3. Urethra

प्रकार जितने भी आवश्यक हों लपेट लगा दिए जायँ तथा अन्त मे पट्टी के सिरे को सेफ्टीपिन से स्थिर कर दिया जाना चाहिए।



चित्र न०-२३

नितम्बाश्रय

दोनों ओर के उरु की स्वस्तिक पट्टी—पहली पट्टी की तरह इसका प्रारम्भ भी दाईं उरु तथा वृषण के मध्य की घाई से किया जाता है तथा पट्टी दाईं नितम्बास्थि के ऊपरी शिरे पर पहुँच कर कमर के पीछे जाती हुई बायीं नितम्बास्थि के ऊपर एवं बाहरी किनारे पर पहुँचती है। यहाँ से पहली पट्टी की तरह दायीं उरु के सामने ही नहो चली आती बल्कि बायीं उरु मूल के भीतर की ओर होकर बायीं जंघा के पीछे से बायीं जंघा के सामने ही आ जाती है। इस स्थल पर बायीं जघा वाले प्रथम लपेट को उल्लघित करती है तथा नाभि के नीचे उदर पर होकर बायीं ओर पहुँच जाती तथा नाभि के स्तर पर पीठ पर होती हुई बायीं ओर आ जाती है। यहाँ से नाभि के नीचे वाले प्रथम लपेट को उल्लंघित करती हुई पुनः बायीं जघा के सामने आ जाती है। यहाँ से बायीं जघा की घाई मे पहुँच कर फिर शुरू की तरह ही आगे बढ़ती है तथा बिलकुल उसी क्रम से लपेट लगाती हुई लौटकर यहीं आ जाती है। प्रत्येक लपेट अपने से पहले लपेट को लगभग आधा ढकता हुआ ऊपर की ओर हटता जाता है और इस प्रकार जितने भी आवश्यक हों लपेट लगा दिये जाते है। यहाँ पर एक बात का और ध्यान रखना चाहिए कि कमर के पीछे जाने वाली पट्टी नितम्बास्थियों के ऊपरी किनारे को स्पर्श करती हुई ही रहे जब कि पीठ पर जाती हुई पट्टी नाभि के स्तर पर रहनी चाहिए।

बार लगाया जा सकता है। पीड़ाहर तथा साथ ही जीवाणुनाशक होने के कारण दग्ध व्रण की चिकित्सा में इसका विशेष महत्व है जब टैनिक एसिड के स्थान पर २ प्रतिशत शक्ति का जलीय घोल सीकर के रूप में अथवा इतनी ही शक्ति की जेली प्रयुक्त की जाती है। क्रिस्टल वायोलेट १ प्रतिशत, कुनीन यूरिया हाइड्रोक्लोर ½ प्रतिशत, ट्रेगकेन्थ २ प्रतिशत, ग्लीसरीन १५ प्रतिशत तथा जल कुल १०० यह एक अच्छा योग है। दूसरा योग जेंशियन वायोलेट १ प्रतिशत, ब्रिलियेण्ट ग्रीन १/१० प्रतिशत, एक्रीफ्लेविन १/१० प्रतिशत, सल्फा डियाज़ीन ५ प्रतिशत जेली के रूप में प्रयुक्त। दग्धव्रण को विशेष साफ करने की आवश्यकता नहीं। फलकों को काटकर अलग करने के पश्चात् इसको साधारणतया लगाया जा सकता है।

ब्रिलियेट ग्रीन[1]--इसके छोटे-छोटे स्वर्णाभ चमकदार कण होते हैं जो जल एवं एल्कोहल में घुलनशील हैं।

इसका प्रयोग ०·०५ या ०·१ प्रतिशत शक्ति के घोल के रूप में किया जाता है। यह केवल जीवाणुनाशक ही नहीं अपितु रोपण धातु के निर्माण को भी प्रोत्साहन देता है। इसका प्रयोग क्रिस्टल वायोलेट की तरह ही है बल्कि कभी-कभी उसके साथ भी प्रयुक्त किया जाता है जैसा कि ऊपर के योग में दिखाया गया है। इसका दूसरा महत्वपूर्ण प्रयोग सायकोसिस[2] की चिकित्सा में है। ५ प्रतिशत शक्ति की सेलिसिलिक मलहम की सहायता से प्रथम खुरण्ड हटा दिये जाते हैं तथा बाद में उखाड़ने लायक बालों को भी उखाड़ दिया जाता है। इसके बाद ७० प्रतिशत शक्ति के एल्कोहल में इसका एक प्रतिशत शक्ति का घोल प्रतिदिन लगाया जाता है।

मरक्यूरोक्रोम[3]—यह जल में घुलनशील अल्प शक्ति जीवाणुनाशक है जो क्षोभ नहीं उत्पन्न करता तथा हरित वर्ण पर्पटी[4] या कणों के रूप में उपलब्ध है। निष्क्रिय या क्षारीय माध्यम की अपेक्षा अम्लीय माध्यम में यह अधिक

1. Brilliant Green. 2. Sycosis 3. Mercurochrome 4. Seales.

हर समय तैयार यथास्थान रखे रहने चाहिए। इन सबका स्पष्ट वर्णन इस स्थल पर आवश्यक नहीं किन्तु इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए है कि इन सबको यथास्थान ठीक रखने का उत्तरदायित्व थियेटर नर्स का है फिर भी हाउस सर्जन को चाहिए कि वह प्रधान सर्जन के आने से पूर्व भली प्रकार देखकर निश्चय कर ले कि जो शस्त्र-कर्म होना है उसके अनुकूल सभी तैयारी हो चुकी है या नहीं। इन सबके अतिरिक्त यह आवश्यक-सा है कि शस्त्र-कर्म गृह को ऋतु के अनुसार गर्म अवश्य रखा जाय। औजार आदि को शुद्ध करने की विधि का वर्णन पीछे ही किया जा चुका है और तदनुकूल उनको शुद्ध करके तैयार कर लेना चाहिए।

सर्जन व उसके सहायक—रोगी को शस्त्र कर्मागार मे डालने के साथ ही सर्जन व उसके सहायकों को पीछे वर्णित विधि के अनुसार अपने हाथो की शुद्धि करके एप्रन, रबर के दस्ताने व फेसमास्क आदि पहनकर तैयार हो जाना चाहिए। प्रधान नर्स को जो शस्त्र-कर्म के समय औजारो आदि को संभालने व देने के लिए है अन्य सहायको व सर्जन की तरह ही शुद्ध तैयार हो जाना चाहिए। इस नर्स का शस्त्र-कर्म के समय एक बहुत ही प्रमुख स्थान है क्योंकि उसको अनुमान एवं संकेत मात्र से ही यह समझ जाना है कि किस समय किस औजार की आवश्यकता पड़ती है। यदि ऐसा नही होता तो शस्त्र-कर्म मे अनावश्यक विलम्ब लगना सम्भव है। इस सम्बन्ध मे यथार्थ बात यह भी है कि जो नर्स कुछ काल तक सततः कार्य करती रहती है वह सर्जन विशेष के तरीकों की अभ्यस्त हो जाने के कारण आसानी से काम करती रह सकती है।

सहायक भी दो प्रकार के होते हैं एक शुद्ध[1] सहायक तथा दूसरे अशुद्ध[2] सहायक। शुद्ध सहायक ही शस्त्र-कर्म के समय प्रयुक्त होने वाले औजारों को छू सकते तथा शस्त्र-कर्म मे सर्जन की सीधी सहायता कर सकते हैं। साथ ही इन शुद्ध सहायकों को यह विशेष रूप से ध्यान रखना है कि वे अपने हाथों से किसी भी ऐसी वस्तु को न छुएँ जो अशुद्ध हो और यदि असावधानी से ऐसा

1. Clean. 2. Unclean.

देते हैं जब कि शरीर की कोशिकाओं को प्रभावित नहीं करते। इसी प्रकार की क्रिया को सवरणात्मक[1] क्रिया कहते हैं।

शल्य चिकित्सा की दृष्टि से महत्वपूर्ण आन्तरिक जीवाणुनाशक सल्फा विभाग की औषधियाँ तथा पेनिसिलीन व दूसरे प्रतिजीवी[2] पदार्थ हैं।

सल्फनोमायड विभाग की औषधियाँ—सर्वप्रथम सन् १६६५ मे डौमैक[3] नामक जर्मन वैज्ञानिक ने इस विभाग की प्रथम औषधि का आविष्कार किया जो प्रोण्टोसील रुब्रम[4] के नाम से बाजार मे आई तथा प्रयुक्त की जाने लगी। आविष्कार होते रहे और आजकल इस विभाग की सीबाजोल, सल्फाग्वानीडीन, सल्फाडियाजीन आदि कई औषधियाँ काम मे आ रही हैं।

इस विभाग की औषधियों का प्रधान कार्य कुछ जीवाणुओं पर होता है जिनकी वृद्धि को ये रोक देतीं अथवा उनका नाश कर देती हैं। साथ ही यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि इनके प्रयोग से शरीर की प्रतिकार शक्ति नहीं बढ़ती और इसलिए औषधि सेवन बन्द करने से रोग का पुनराक्रमण हो सकता है।

साधारणतया इस विभाग की औषधियाँ गोलाकार जीवाणु जनित कई भिन्न-भिन्न रोगों मे लाभकर हैं और इस कोटि के जीवाणु ही पूयोत्पादन में प्रधान भाग लेते हैं। अतः शल्य रोगों की चिकित्सा मे इन औषधियों का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु इतना अवश्य ही ध्यान रखना है कि सभी योग समान रूप से लाभकर नहीं हुआ करते। इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही नहीं कि कुछ कम लाभकर हों तथा कुछ अधिक बल्कि कुछ का कार्य-क्षेत्र भी अन्य की अपेक्षा विस्तृत हुआ करता है। उदाहरण के लिए सल्फानिलेमायड केवल स्ट्रेप्टोकोक्कस जन्य उपसर्ग मे ही लाभकर पाए गए हैं जबकि सल्फापरीडीन इन पर तो लाभकर है ही किन्तु उसके साथ ही साथ न्यूमोकोक्कस, गोनोकोक्कस एवं मेंगिनोकोक्कस जन्य उपसर्ग मे भी लाभकर है। सल्फथियाजोल उपरोक्त सभी मे लाभकर होने के साथ ही साथ स्टैफिलोकोक्कस औरियस

1. Selective Action. 2. Antibiotics. 3. Domagk. 4. Prontosil Rubrum.

रोगी बेहोश रहता है अतः अशुद्ध सहायकों को यह विशेष रूप से ध्यान रखना है कि उसका कोई अंग खुला न रहे क्योंकि आपरेशन के समय शस्त्र-कर्म के स्थान के अतिरिक्त रोगी का सम्पूर्ण शरीर ऋतु के अनुसार गर्म कपड़ों से ढँका रहना चाहिए। यदि गर्म बोतलों का प्रयोग किया जाता है तो वे इतनी गर्म नही होनी चाहिए कि उसके अंग झुलस जायँ। यह विशेष रूप से ध्यान रखना है कि शरीर के किसी अंग विशेषकर हाथ या पैरों पर अनुचित रूप से दबाव या तनाव न पड़ता रहे जिससे तन्त्रिका-सूत्रों के विकृत होने से कोई विशेष खराबी आ जाय।

शस्त्र-कर्म का स्थान—रोगी के बेहोश होने के साथ ही साथ अशुद्ध सहायक द्वारा शस्त्र-कर्म के स्थान की पट्टी काट कर हटा दी जाती है। शस्त्र-कर्म के स्थान को शुद्ध तौलियों से इस प्रकार ढॅक दिया जाता है कि केवल उतना ही भाग जिस पर शस्त्र-कर्म होना है, खुला रहता है। शस्त्र-कर्म के स्थान के आस-पास का भाग अथवा मेज का थोड़ा भी भाग जिस पर शस्त्र-कर्म के समय औजार रखे जा सकते अथवा जो सर्जन या उसके शुद्ध सहायकों द्वारा स्पर्श किया जा सकता है, शुद्ध तौलिए द्वारा ढॅका रहना चाहिए। शस्त्र-कर्म के आस-पास के चर्म से ये कपड़े विशेष प्रकार के क्लिपों (चित्र २५) द्वारा सग्लन कर दिए जाते हैं। ये क्लिप चर्म में भी थोड़ा चुभते हुए कपड़े को वहीं स्थिर रखते हैं। शस्त्र-कर्म के स्थान पर टिंचर आयोडीन लगाने के पश्चात् शस्त्र-कर्म प्रारम्भ किया जाता है। लिखने की आवश्यकता नही कि जिस स्थान पर शस्त्र-कर्म किया जा रहा है वह भली प्रकार प्रकाशित हो।



चित्र २५—तौलिया क्लिप

शस्त्र कर्म—

शस्त्र-कर्म का प्रारम्भ चर्म के छेदन[1] से ही होता है। छेदन यथा-सम्भव

1. Incision.

शल्य रोगों के अतिरिक्त न्यूमोनिया, पूयमेह, मूत्र मार्गीय अन्य उपसर्ग, विसर्प, मतिष्क सुषुम्ना ज्वर, प्रसूत ज्वर, प्लेग, आमातिसार आदि कई रोगों में इस विभाग की औषधियों का प्रयोग बहुत ही महत्व का है।

(भिन्न-भिन्न योग)

स्थानिक प्रयोग—सल्फनोमायड का प्रयोग चूर्ण या मलहम के रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार के व्रण या दग्ध व्रण की चिकित्सा में किया जाता है। व्रण को भली प्रकार साफ करके सल्फनोमायड चूर्ण उस पर बुरका जा सकता है और साथ ही साथ इस विभाग की औषधियों का मुख द्वारा भी सेवन हितकर है। सल्फनोमायड के समबल लवण जल में ०·८ प्रतिशत शक्ति के १०० सी० सी० घोल में लगभग २½ ग्राम और भी सल्फनोमायड चूर्ण मिलाकर गाढ प्रलम्बन के रूप में भी व्रण पर लगाया जा सकता है। कोल्ड क्रीम या लेनोलिन में ६ प्र० श० शक्ति का मलहम दग्ध व्रणों पर लगाने के लिए उपयुक्त है। नासाकोटर शोथ[1] की अवस्था में सल्फथियाजोल सोडियम का ५ प्रतिशत घोल नासा बिन्दु या सीकर के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। सल्फसीटेमायड १० प्रतिशत या ३० प्रतिशत शक्ति के घोल या मलहम के रूप में नेत्रों की कई भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में स्थानिक प्रयोग के लिए बहुत उत्तम योग है।

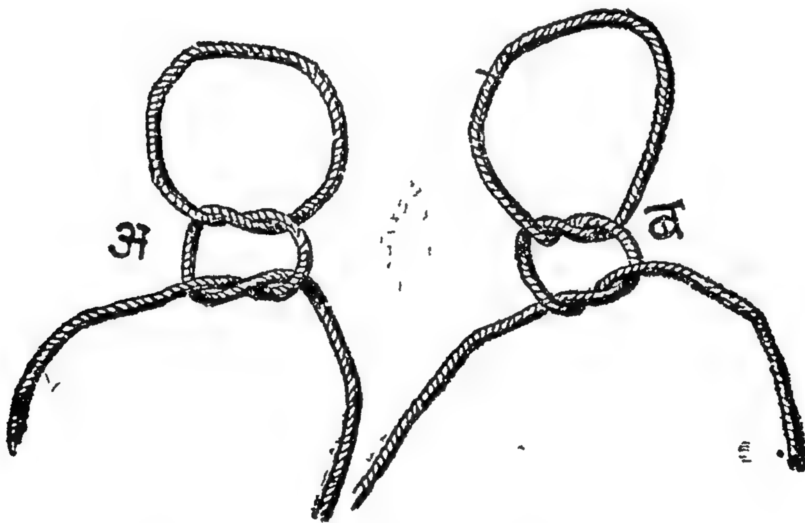
भिन्न-भिन्न चर्मरोगों में सल्फनोमायड चूर्ण का स्थानिक प्रयोग युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि कभी-कभी रोगी में इस प्रकार के प्रयोग के प्रति असह्यता देखी जाती है जिसके कारण प्रयोग के स्थान पर खुजली पैदा होने के अतिरिक्त अन्य सार्वदैहिक विषमयता के लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं।

प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ नियम—१. यदि जीवाणुओं की संख्या अधिक है तो औषधि की रक्तगत मात्रा भी अधिक होनी चाहिए तभी उसका ठीक प्रकार से प्रभाव पड सकता है, थोड़ी-थोडी मात्रा देने से यह हो सकता है कि फिर जीवाणु उसके लिए क्षम हो जायें और फिर औषधि का उन पर कुछ भी प्रभाव न पड़े।

---

1. Sinusitis.

१. **गोफनिका या एकैकशः टांके**—चर्म के ऊपर प्रायः इसी प्रकार के टाके लगाए जाते हैं। इनका सबसे बड़ा लाभ यह है कि यदि किसी कारणवश प्राथमिक विरोहण[1] नही होता और व्रण मे पूय पड़ जाती है तो आवश्यकतानुसार एक-दो टाके काटकर ही उसको निकाला जा सकता है सम्पूर्ण व्रण को खोलने की आवश्यकता नही पडती। टाँका लगाना प्रारम्भ करते समय सर्जन सुई को अपनी ओर से छेदन से लगभग १/८-१/४ इंच की दूरी पर चर्म में प्रविष्ट करता तथा दूसरी ओर ठीक इतनी ही दूरी पर बाहर निकालता है। यदि व्रण के दोनो किनारों पर सुई समान दूर नही रहती तो गॉठ लगाते समय यह सम्भव है कि एक ओर का च री ओर के चर्म पर थोड़ा चढ़ जाय। एक ओर से चर्म मे प्रविष्ट होकर दूसरी ओर निकल आने के बाद धागों मे गॉठ लगा दी जाती है। गॉठ लगाते समय भी यह देख लेना चाहिये कि व्रण के दोनों किनारे एक दूसरे से भली प्रकार मिल जायें। गाँठ व्रण के ठीक



चित्र २७—अ—रीफ ग्रन्थि
ब—ग्रेनी ग्रन्थि

ऊपर न होकर सुई प्रवेश के स्थान पर होना अच्छा है।

1. Healing by first intention.

प्रतिजीवी पदार्थ

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक युग को चिकित्सा जगत की सबसे बड़ी देन प्रतिजीवी पदार्थ हैं जिनके कारण चिकित्सा क्षेत्र मे क्रांति सी उत्पन्न हो गई है। शल्य रोगों की चिकित्सा में भी इनका बहुत महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि पूयोत्पादक सभी मुख्य-मुख्य जीवाणु इनके प्रभाव क्षेत्र में आते हैं। सबसे बड़ी बात यह कि सुलभ होने के साथ ही साथ इनका प्रयोग निरापद, सुभीते का तथा सरल भी है।

किन्तु सुलभ होने के कारण जितनी अधिकता के साथ इनका प्रयोग किया जाता है उसे अवश्य युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। सामान्यतः इनके प्रयोग के सम्बन्ध मे निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिए।

१. अनिश्चितता की स्थिति मे भी हलके फुलके रोगो के लिए इनका प्रयोग अनावश्यक सा है क्योंकि अकारण प्रयोग से यदि जीवाणुओं मे प्रतिरोध की उत्पत्ति हो जाती है तो आवश्यकता पड़ने पर प्रतिजीवी पदार्थ के सफल न होने पर एक समस्या उत्पन्न हो जा सकती है। शल्य कर्म से पहले या पश्चात् प्रतिजीवी पदार्थ का इस उद्देश्य से प्रयोग करना कि शोथ आदि की उत्पत्ति न होने पावे कदापि युक्तिसंगत नहीं।

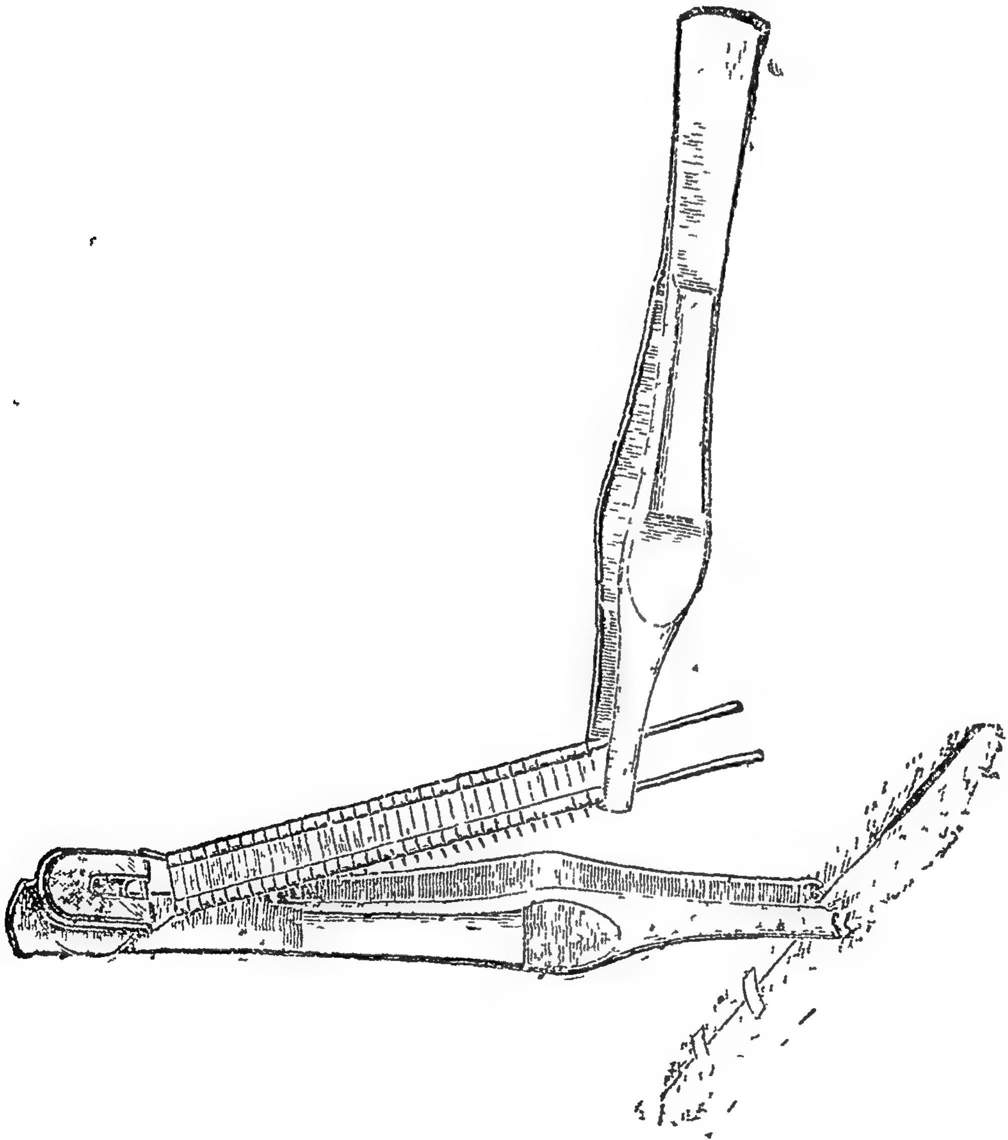
२. प्रयोग करने से पूर्व यह निश्चय अवश्य कर लेना चाहिए कि रोगी के शरीर मे प्रतिजीवी पदार्थ की प्रतिक्रिया न उत्पन्न हो जाय।

३. प्रतिजीवी पदार्थों के प्रयोग के समय चिकित्सक के पास वे सभी साधन पूर्ण तैयार रहने चाहिए जिनका यदि प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है तो रोगी की जीवन-रक्षा के लिए तत्क्षण प्रयोग किया जा सके।

४. जहाँ तक सम्भव हो सके जीवाणुओं की परीक्षा विशेषकर औषधि के प्रति उनकी सह्यता की परीक्षा कर ली जाय तो अच्छा है। किन्तु सामान्य चिकित्सक के लिए यह सम्भव नहीं होता, लक्षणों के आधार पर ही उसको आगे बढना पड़ता है।

५. यह भी ध्यान रखना है कि प्रतिजीवी पदार्थों के प्रयोग से लक्षण दब जा सकते हैं।

माइकल क्लिप[1]—कुछ शल्य चिकित्सकों द्वारा चर्म के क्षत को बन्द करने के लिए टांकों के स्थान पर माइकल क्लिपों का प्रयोग किया जाता है। इनके लगाने में अवश्य शीघ्रता होती है किन्तु चर्म को अधिक गहराई तक नहीं पकड़ पाते, अतः जहाँ व्रणोष्ठों पर तनाव पड़ने का अन्देशा हो वहाँ इनका प्रयोग नही किया जाना चाहिए। क्लिप धातु के बने छोटे-छोटे और



चित्र—३२
मायकल क्लिप

1. Michel's clip

हृदन्तः शोथ[1], अस्थिमज्जा शोथ[2], प्रसूतिज्वर, फोडा तथा शोथ, फुफ्फुसावरण शोथ, कारबंकल, अन्तः गर्भाशय शोथ[3], पर्युदर्या शोथ[4], गह्वर शिरानाल घनास्रता[5], आदि भी प्रायः ऐसे जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न रोग हैं जो पेनिसिलीन द्वारा नष्ट हो जाते हैं, अतः पेनिसिलीन के प्रयोग से इनमें भी लाभ होता है। उण्डुकपुच्छ शोथ[6], यकृत विद्रधि[7], मूत्र-संस्थान का बी० कोलाई द्वारा उपसर्ग आदि ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनमें पेनिसिलीन द्वारा कुछ लाभ पहुँच भी सकता है और नहीं भी। कोथ[8] की अवस्था में भी पेनिसिलीन का प्रयोग लाभकर है। किन्तु पेनिसिलीन के प्रयोग के साथ ही साथ एण्टीसिरम का प्रयोग तथा शल्यकर्म भी आवश्यक है।

आन्त्रज्वर, उपान्त्र ज्वर, विशूचिका, कुष्ठ, मलेरिया, यक्ष्मा, प्लेग, आमवात ज्वर, कैंसर, मस्तिष्क शोथ, तन्त्रिका शोथ आदि ऐसे रोग हैं जिनमें पेनिसिलीन के प्रयोग से कुछ भी आशा नहीं की जा सकती।

पेनिसिलीन का प्रयोग प्रायः इन्जेक्शन द्वारा ही किया जाता है क्योंकि विशेष प्रकार की गोलियों के रूप में मुख द्वारा भी प्रयोग अधिक लाभकर नहीं होता। पेनिसिलीन का स्थानिक प्रयोग भी महत्व का है जिसका इस स्थल पर ही आगे वर्णन करना है।

पेनिसिलीन की मात्रा रोग एवं रोगजनक जीवाणु की प्रकृति पर निर्भर है क्योंकि कुछ रोगों में अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है तथा कुछ में कम की। उदाहरण के लिए सूजाक के लिए पेनिसिलीन का एक दो इन्जेक्शन ही पर्याप्त होता है जबकि हृदन्तः शोथ के लिए २१ दिन तक प्रतिदिन एक इन्जेक्शन आवश्यक है।

सल्फा विभाग की औषधियों की तरह पेनिसिलीन की क्रियाशीलता पूय या रक्त रस की उपस्थिति में कम नहीं होती किन्तु यदि अंग विशेष में रक्त प्रवाह की कमी है अथवा कोथ की उपस्थिति है तो वहाँ पेनिसिलीन के न पहुँच

---

1. Endocarditis 2. Osteomyelitis 3. Endometritis 4. Peritonitis 5. Cavernous Sinus Thrombosis 6. Appendicitis 7. Liver Abscess 8. Gangrene

दिनों तक के लिए छोड़ा जा सकता है जिससे रोगी बार-बार के कष्ट से बच जाता है।

ध्यान रखना चाहिए कि स्राव को निकलता रखने का सर्वोत्तम साधन व्रण का रुख नीचे की ओर को रखना है ताकि स्राव नीचे की ओर स्वयमेव ही बहता रहे। इसीलिए शस्त्र-कर्म के पश्चात् रोगी के आसन के सम्बन्ध मे भी ध्यान रखना है। उसको यथासम्भव ऐसे आसन मे ही लिटाना चाहिए जिससे व्रण का रुख नीचे को रहे। साधारण विद्रधि खोलते समय भी इस बात का ध्यान रखना है कि चीरा नीचे के तल से ही लगाया जाय।

व्रण की पश्चात् सुश्रूषा

यदि व्रण जीवाणुहीन शुद्ध है तथा निकास नलिका का भी प्रयोग नहीं किया गया तो टाँके लगाने के पश्चात् किसी जीवाणुनाशक औषधि का ऊपर प्रलेप करके शुद्ध गौज व रुई रखकर शुद्ध पट्टी बाँध दी जाती है। यदि रोगी को पीड़ा या अन्य उपद्रव नही होता तो यह पट्टी ८–१० दिन तक बंधी रहने के पश्चात् खोली जाती तथा जीवाणुहीनता का पूर्ण ध्यान रखते हुए टाँके काट दिए जाते हैं। टाका काटते समय टाँके के एक सिरे को चिमटी से पकड़ कर ऊपर की ओर उठा कर कैंची से नीचे की ओर से काट दिया जाता तथा बाहर खींच लिया जाता है। सभी टाँके काटने के पश्चात् किसी जीवाणुनाशक घोल का प्रलेप करके एक दो दिन के लिए पट्टी और बाध दी जा सकती है।

उदर प्रान्त के व्रणों के सम्बन्ध मे यह अवश्य ध्यान रखना है कि यदि रोगी कास से पीड़ित है तो टाँके १०–१२ दिन पश्चात् काटे जाने चाहिए।

यदि जीवाणुहीन शुद्ध व्रण मे निकास नलिका का प्रयोग किया गया है तो इसे प्रायः २४–४८ घण्टे पश्चात् अलग कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त सभी चिकित्सा उपरोक्त प्रकार ही होती है।

५. फिनोक्सी मीथायल पेनिसिलीन—मुख द्वारा प्रयोग के लिए १२५, २५० व ५०० मिलीग्राम की गोलियाँ।

इसके अतिरिक्त मैथीसलीन, ओक्सेसिलीन, क्लोक्सेसिलीन आदि अन्य योग भी उपलब्ध हैं जो पेनिसिलीनेज द्वारा निष्क्रिय नहीं होते। स्टैफ्लोकोक्कस ओरियसजन्य उपसर्ग की अवस्था में इसका प्रयोग अवश्य है क्योंकि ये जीवाणु वृद्धि करते समय पेनिसिलीनेज का निर्माण करते हैं।

प्रयोगविधि—साधारणतया पेनिसिलीन का प्रयोग पेशीगत इंजेक्शन द्वारा ही किया जाता है और यही विधि सर्वोपयुक्त भी है। प्रोकोन पेनिसिलीन का प्रयोग तो इस मार्ग के अतिरिक्त दूसरे मार्ग से करना ही नहीं चाहिए। क्रिस्टेलायन पेनिसिलीन का प्रयोग शिरा द्वारा भी सम्भव है किन्तु शिरा में घनास्रता[1] का भय बना रहता है। मस्तिष्कावरण शोथ की अवस्था में क्रिस्टेलायन पेनिसिलीन का सुषुम्ना नलिका में भी प्रयोग सम्भव है। इसके लिए १००००-२५००० यूनिट क्रिस्टेलायन पेनिसिलीन २ सी० सी० जल में या समबल लवण जल में मिलाकर दी जा सकती है।

स्थानिक प्रयोग—पेनिसिलीन का स्थानिक प्रयोग भी बहुत लाभकर है। पूयुक्त स्थान पर इसके स्थानिक इन्जेक्शन से स्थानिक तथा सार्वदैहिक दोनों ही लाभ होते हैं। कारबंकल फोड़ा होने पर पेनिसिलीन के साधारण इन्जेक्शन के अलावा सूजे हुए स्थान पर चार छः इन्जेक्शन देने से बहुत लाभ होता है। पर्युदर्या शोथ होने पर भी पेनिसिलीन का स्थानिक या सार्वदैहिक प्रयोग लाभकर हो सकता है, यदि पर्युदर्या शोथ का कारण पेनिसिलीन सुग्राह्य जीवाणु हो। पूय-युक्त स्थानों या नाड़ी व्रणों में रबर की उबाली हुई नलिका द्वारा पेनिसिलीन घोल पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार के प्रयोग के लिए ३०-४० सी०-सी० समबल लवण जल में ५-१० लाख पेनिसिलीन घोलना चाहिए। गले या मुख के रोगों में पेनिसिलीन लोजेंज लाभकर हैं अथवा गले के अन्दर सीकर के रूप में भी पेनिसिलीन पहुँचाया जा सकता है। बहुत से घावों या चर्मरोगों में पेनिसिलीन मलहम आशातीत लाभ करता है। विभिन्न

1. Thrombosis.

मलावरोध उग्र स्वरूप का हो तो साधारण एनीमा देकर चार घण्टे पूर्व गुदा मार्ग से २-४ औंस अण्डी का तेल, २-४ औंस जैतून का तेल चढा दिया जाना चाहिए। एनीमा के पश्चात् भी २ औंस जैतून का तेल गुदा मे चढाया जा सकता है।

आध्मान अधिक उग्र स्वरूप का तथा कष्टकर होने पर गुदा मार्ग से एक रबड की नली-फ्लेटस ट्यूब-प्रविष्ट कर देना लाभकर होता है अथवा ऑतों की शिथिलता का सन्देह होने पर एसरीन सैलीसिलेट $\frac{१}{१००}$ ग्रेन, एसीटायल कोलीन १—१½ ग्रेन या पिट्यूटरी एक सी. सी. प्रति चार घण्टे पश्चात् चर्माधः इंजेक्शन द्वारा प्रयुक्त किये जा सकते हैं, किन्तु इनका प्रयोग करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है तथा केवल विशेष आवश्यकता होने पर ही इनका प्रयोग करना चाहिए।

उण्डुकपुच्छोच्छेदन[१] शस्त्र-कर्म में शस्त्र-कर्म के ४८ घण्टे पश्चात् एनीमा तथा ७ दिन पश्चात् मृदु विरेचन दिया जा सकता है।

मूत्रावरोध—इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शस्त्र-कर्म के पश्चात् ही मूत्रत्याग अवश्य करा दिया जाया करे। कभी-कभी शस्त्र-कर्म के पश्चात् स्वयमेव मूत्र नही आता और यह विशेषकर मलाशय, योनि-मार्ग, वस्ति, हर्निया[२] आदि शस्त्र-कर्मो मे हो सकता है। मूत्रावरोध होने पर यथासम्भव मूत्र-नलिका का प्रयोग न करना ही ठीक है। कभी-कभी एनीमा देने पर मलत्याग के साथ ही मूत्र-त्याग भी हो जाता है। साधारणतया रोगी को उत्साह दिलाना, मूत्र-त्याग का प्रयत्न करने के लिए उससे कहना तथा मूत्राशय के ऊपरी भाग मे सेक करना लाभकर होता है। मोरायल,[3] डोरायल[४] या ओस्मोडिल[५] का इजेक्शन भी लाभकर है किन्तु यदि शस्त्र-कर्म ऑतो पर किया गया है तो इनका प्रयोग करना ठीक नही क्योंकि इनके इंजेक्शन से आन्त्रगति को भी उत्तेजना मिलती है। उपरोक्त साधनों के असफल होने

---

1. Appendectomy 2. Hernia. 3. Moryl 4. Doryl 5. Osmodil.

क्रमशः १ व ४ ग्राम औषध होती है पेशी में या शिरा में इंजेक्शन के लिए मिलते हैं।

स्ट्रेप्टोमायसीन—पेनिसिलीन के पश्चात् प्रयोग में आने वाला प्रतिजीवी पदार्थ स्ट्रेप्टोमायसीन है जिसका मुख्य उपयोग क्षय रोग की चिकित्सा में है यद्यपि कुछ ग्राम धनात्मक एवं ऋणात्मक जीवाणु भी इसके प्रभाव क्षेत्र में आते हैं। इसकी एक बड़ी दुर्बलता यह है कि औषधि के प्रयोग करने के साथ ही साथ कुछ जीवाणुओं में इसके प्रति प्रतिरोध शक्ति उत्पन्न होती जाती है जिसमें वे फिर इससे प्रभावित नहीं होते इसलिए केवल इसका ही कभी प्रयोग नहीं करना चाहिए बल्कि इसके साथ ही साथ क्षय रोग निरोध दूसरी औषधियों का भी प्रयोग करना आवश्यक है। औषधि का आन्त्र मार्ग से शोषण नहीं होता, अतः इसका प्रयोग सदैव पेशीगत इंजेक्शन द्वारा किया जाता है; मस्तिष्कावरण शोथ की अवस्था में ५०–१०० मिलीग्राम की मात्रा ५–१० सी० सी० जल में घोलकर सुषुम्ना मार्ग से भी दी जा सकती है। मुख मार्ग से प्रयोग उसी अवस्था में किया जाता है जब अतिसार की हालत में आँतों पर प्रभाव डालना अभीष्ट हो।

मात्रा—एक ग्राम प्रतिदिन है जो २ सी० सी० जल में घोलकर प्रति २४ घण्टे या आधी-आधी दो बार में भी दी जा सकती है। तीव्र उपसर्ग होने पर कभी-कभी एक ग्राम प्रातः-सायं भी दे सकते हैं किन्तु दस दिन से अधिक नहीं।

मुख्य दुष्परिणाम श्रवण तन्त्रिका पर होता है जिसके कारण श्रवण शक्ति का ह्रास तथा चक्कर आना आदि की उत्पत्ति सम्भव है। औषधिजन्य ज्वर, विस्फोट (Rash) अथवा प्रतिक्रिया की उत्पत्ति भी हो सकती है जिसके लिए सतर्क रहना चाहिए।

टेट्रासाइक्लीन विभाग—टेट्रासाइक्लीन, ओक्सी टेट्रासाइक्लीन (टेरामायसीन, टेट्रासिन, एक्रोमायसीन) क्लोरटेट्रासाइक्लीन (औरोमायसीन) आदि कई भिन्न योग इस विभाग के अन्तर्गत आते हैं जो कार्य की दृष्टि से लगभग समान हैं। सभी ग्राम धनात्मक व ऋणात्मक जीवाणुओं तथा सायटो-

या दग्ध व आन्त्रावरोध (प्लाविका की क्षति) की अवस्था मे देखी जाती है ।

२. तन्त्रिका स्तब्धता[1]—इसमें होता यह है कि रक्त नलिकाओं पर अनुकम्पी नियन्त्रण[2] समाप्त हो जाने से वे एकदम विस्तृत हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप रक्त की अत्यधिक मात्रा उधर पहुँच जाती है । आकस्मिक गम्भीर स्वरूप की मानसिक विकृति, भय, शोक आदि, सुषुम्नीय संज्ञाहरण[3], फुफ्फुसीय शल्य[4] आदि की अवस्था मे इसी प्रकार की अवस्था उत्पन्न होती है । तीव्रग्राही स्तब्धता[5] जो यथार्थ में एक उग्रस्वरूप की एलर्जिक प्रतिक्रिया है इसी प्रकार की स्थिति है जिसमें केशिकाओं का एकदम विस्फार[6] हो जाता है ।

३. हृद्जन्य स्तब्धता[7]—इसमे रक्त की मात्रा में कमी नही होती किन्तु हृदय रक्त प्रवाह को ठीक-ठीक बनाये रखने मे असमर्थ हो जाता है फलतः अंगों को आवश्यक मात्रा मे रक्त पहुँच नही पाता ।

४. जीवाणु विषजन्य स्तब्धता[8]—इसमे भी रक्त की मात्रा पूर्ण रहती है किन्तु उपसर्ग की तीव्रता के अनुरूप जीवाणुओं की अधिकता तथा उनसे उत्पन्न अन्तर्विष का दुष्प्रभाव रक्त नलिकाओं की दीवाल पेशियो पर पडने से उनका विस्फार हो जाता है अतः रक्त प्रवाह में रक्त की कमी हो जाती है ।

रोगोत्पादक मूल कारण के अनुसार यह विभाजन चिकित्सा की दृष्टि से भी उपयुक्त है । किन्तु फिर भी रोग के उत्पत्ति काल के अनुसार (१) प्राथमिक स्तब्धता[9] आघात या शल्यकर्म के पश्चात् तत्काल उत्पन्न एवं (२) द्वितीयक स्तब्धता[10] कुछ समय बाद उत्पन्न अथवा स्थिति की उग्रता के अनुसार

1. Neurogenic Shock. 2. Sympathetic control. 3. Spinal Anaesthesia 4. Pulmonary embolism. 5. Anaphylactic Shock. 6. Dilatation. 7. Cardiozenic. 8. Bacterimic. 9. Primary 10. Secondary.

सायटोसिस है जिनकी उत्पत्ति अधिक मात्रा में या अधिक समय तक औषधि सेवन करते रहने से हो सकती है। इसलिए दस दिन से अधिक औषधि सेवन करना युक्तिसंगत नहीं और यदि आवश्यक हो तो रक्त-परीक्षा करते रहना चाहिए।

नोवोवायोसिन (Novobiocin)—इसका कार्यक्षेत्र पेनिसिलीन की तरह ही है। स्टैफ्लोकोक्कस जन्य ऐसे उपसर्ग की अवस्था में जब पेनिसिलीन का प्रयोग असफल हो गया हो इसका प्रयोग आवश्यक है विशेष कर अस्पतालों में ही होने वाले स्टेफलोकोकल उपसर्ग में। वायोटोक्सिन एवं कैथोमाइसीन दो योग हैं।

मात्रा—२५०-५०० मिलीग्राम प्रति छः घण्टे पश्चात् मुख द्वारा।

एरेथ्रोमायसीन (Erythromycin)—यह पूर्णतः नोवोवायोसिन सदृश है और उसी के स्थान पर इसका प्रयोग किया जाता है। दोनों को मिलाकर प्रयोग भी सम्भव है। आयलोटायसीन इसी का योग है।

मात्रा—२५० मिलीग्राम प्रति छः घण्टे मुख द्वारा है। पेशी अथवा शिरा द्वारा प्रयोग के लिए विशेष योग भी उपलब्ध हैं किन्तु प्रायः इंजेक्शन द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता।

लिंकामायसीन (Lincomycin)—यह प्रतिजीवी पदार्थ एरेथ्रोमायसीन से मिलता-जुलता है और पेनिसिलीन प्रतिरोधी जीवाणुओं द्वारा उपसर्ग की अवस्था में जब इंजेक्शन द्वारा औषधि प्रयोग की आवश्यकता हो तो इसी का प्रयोग किया जाना चाहिए। स्ट्रेप्टो, न्यूमो व स्टैफिलोकोक्कस सभी पर कार्यकर है। औषधि का मुख अथवा पेशी या शिरगत इंजेक्शन द्वारा दिया जाने पर शीघ्र ही शोषण हो जाता है तथा मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव को छोड़कर सभी स्थानों पर पहुँच जाती है।

औषधि २५० व ५०० मिलीग्राम के कैप्सूल तथा ६०० मिलीग्राम की शीशियों में उपलब्ध है।

मात्रा—साधारणतया ६०० मिलीग्राम पेशी या शिरा में प्रति ८ घण्टे पर दी जानी चाहिए।

७. मूत्र की मात्रा नापते रहना अच्छा है। नियमतः एक सी. सी. मूत्र प्रति घंटा प्रति किलो शरीर भार के हिसाब से आते रहना चाहिए और यदि ऐसा नही होता है तो तदनुकूल व्यवस्था करना आवश्यक है। आवश्यकता होने पर मूत्राशय मे कैथेटर लगाए रक्खा जा सकता है।

८. रोगी को पीड़ा होना भी स्वाभाविक है और इसके लिए मौर्फीन या पैथीडीन आदि पेशी मे या नोवेल्जिन शिरा मार्ग से अवश्य प्रयुक्त किये जाते है।

९. मानसिक शान्ति के लिए भी प्रशान्तक योग सीक्विल, लार्जेक्टिल आदि किसी का भी इन्जेक्शन या मुख द्वारा प्रयोग आवश्यक है। इनके प्रयोग से पीड़ा मे भी कमी होगी।

१०. यदि रोगी अस्पताल मे है तो केन्द्रीय शिरा दाब[1] लेने की व्यवस्था कर दी जा सकती है। रक्त की पूर्ण परीक्षा भी आवश्यक है ताकि तदनुकूल आधान[2] में हेर-फेर किये जाते रह सके।

नोट—स्तब्धता की जितनी सुन्दर तथा सुनियन्त्रित व्यवस्था अस्पताल मे हो सकती है उतनी रोगी के घर पर या साधारण चिकित्सा के स्थान पर भी नही। किन्तु यदि स्तब्धता की उत्पत्ति दुर्घटना के कारण हुई है तो रोगी को स्थानान्तरण करने से पहले स्तब्धता की अवस्था को नियन्त्रण मे ले आना अच्छा है। स्थानान्तरण भी पूर्ण आराम तथा बिना हलचल से किया जाता है और वह भी प्राथमिक उपचार[3] के पश्चात्।

विशिष्ट चिकित्सा—

अ—हीनरक्ती स्तब्धता—

१. लवण जल, प्लाज़्मा, डैक्स्ट्रान व रक्त का आधान अनिवार्य है और रोगी की स्थिति के अनुसार शीघ्र से शीघ्र इसका प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

---

1. Central venous pressure CVP. 2. Infusion 3. First Aid.

मात्रा—१५ मिलीग्राम प्रति किलो शरीर भार २४ घण्टे के हिसाब से है जो आधी-आधी प्रातः-सायं दी जानी चाहिए। १५ ग्राम से अधिक दिया जाना उचित नहीं।

निर्जीवाणुकरण

आधुनिक युग मे छोटे से छोटे शस्त्र कर्म के समय भी जीवाणुहीनता का ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि यदि शस्त्र कर्म के समय व्रण मे जीवाणु पहुँच जाते हैं तो पूयोत्पादन निश्चित है। यह बात इतने व्यापक रूप से स्पष्ट होनी चाहिए कि यदि किसी सामान्य शस्त्र कर्म के पश्चात् पूयोत्पादन हो जाता है तो यह शल्य चिकित्सक की असावधानी का सूचक है। जीवाणु-हीनता का ध्यान विद्रधि खोलते समय भी रखना चाहिए क्योंकि यदि यह ध्यान नहीं रखा जाता तो पूय मे जहाँ सामान्य पूयोत्पादक जीवाणु हैं वहाँ सम्भव है धनुर्वात के जीवाणु पहुँच कर उपद्रव शुरू कर दे तथा रोगी का जीवन सकट मे डाल दें।

जीवाणुहीनता का ध्यान रखने का अर्थ यही है कि क्षत के सम्पर्क मे जो भी आवे वे जीवाणुहीन शुद्ध हों। इस स्थल पर जहाँ भी शुद्ध शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका अर्थ जीवाणुहीन शुद्ध (Aseptic) लिया जाना चाहिए। जीवाणुओं का वर्णन करते समय यह स्पष्ट किया ही जा चुका है कि जीवाणु सर्वत्र व्यापक छोटे-छोटे अदृश्य जीव हैं अतः यह स्पष्ट है कि शस्त्र कर्म के समय कमरे की वायु, चिकित्सक के हाथ, शस्त्र कर्म का स्थान, औजार आदि सभी को जीवाणुहीन शुद्ध कर लिया जाय। जीवाणुहीन शुद्ध करने की क्रिया को ही निर्जीवाणुकरण[1] या विसंक्रमण कहते है और इसके लिए ताप तथा जीवाणुनाशक भिन्न-भिन्न औषधियों का प्रयोग किया जाता है। क्षत में जीवाणु कमरे की वायु, चिकित्सक व उसके सहायक, औजार, तौलिया, बर्तन, टाँके लगाने का सामान, घोल या जल से पहुँच सकते हैं। अतः इस स्थल पर यह विचार करना है कि इनका निर्जीवाणुकरण (विशोधन अथवा विसंक्रमण) किस प्रकार किया जा सकता है।

---

1. Sterilization.

से उतना विश्वसनीय नही जितना सक्रिय क्षमतोत्पत्ति अर्थात् टिटेनस टॉक्सायड का प्रयोग है। अतः एलम प्रेसीपिटेटड टॉक्सॉयड १/२ सी. सी. का इन्जेक्शन दिया जाता है जो १ व ६ महीने के अन्तर से दुहराया जाता है। इसका आघात से कोई सम्बन्ध नही, रोग के लिए स्थाई स्वरूप की क्षमता उत्पत्ति की जाती है।

२ - टौक्सोयड का प्रयोग किया भी जा चुका हो तब भी आघात के पश्चात् क्षत स्थान की पूर्ण सफाई, क्षत विक्षत धातुओं, बाह्य पदार्थ, रक्त के थक्के आदि को हटा देना और यदि क्षत बड़ा है अथवा गन्दगी अधिक है अथवा रोगी देर से आया है तो टाके ३-५ दिन बाद लगाए जा सकते है। तब तक खुले क्षत का ही जीवाणुहीन साधनों को अपनाते हुए उपचार किया जाना चाहिए।

३—यदि आघात से छः वर्ष पूर्व तक टौक्सोयड का प्रयोग किया जा चुका है तो इस समय १/२ सी. सी. टोक्सोयड और दिया जाना चाहिए।

४—यदि आघात से छः वर्ष पूर्व से भी अधिक पहले टौक्सोयड दिया गया है तो—

अ—व्रण अधिक गन्दा होने पर टौक्सोयड १/२ सी. सी., ए. टी. सी. १५०० यूनिट तथा टैट्रासाइक्लीन ५०० मिलीग्राम तीन बार ५ दिन तक।

ब—क्षत स्वच्छ व छोटा होने पर टौक्सोयड १/२ सी. सी.।

५—यदि टौक्सोयड कभी दिया ही नही गया तो—

अ—क्षत बड़ा तथा गन्दा होने पर टौक्सोयड १/२ सी. सी., ए. टी. एस. १५०० यूनिट तथा पेनिसिलीन या टैट्रासाईक्लीन भरपूर मात्रा मे ५ दिन तक। टैक्सोयड १ व ६ मास बाद दुहराया जाता है।

ब—क्षत हलका व साफ होने पर टोक्सोयड १/२ सी. सी. तत्क्षण तथा १ व ६ मास के अन्तर से। साथ ही ए. टी. एस. १५०० यूनिट।

रोग निरोध-की उपरोक्त विधि आदर्श तथा शत प्रतिशत विश्वसनीय भी है। किन्तु प्रत्यक्ष मे प्रायः इतना सम्भव नही हो पाता। प्रायः आघात के पश्चात् ए. टी. एस. १५०० यूनिट दे दी जाया करती है।

में से सारे मल को निकाल देना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस सम्बन्ध में प्रथम इस बात की ओर ध्यान देना है कि नाखून पूरी तरह कटे हों। अच्छा हो प्रत्येक शस्त्र-कर्म के समय नाखूनों को काट दिया जाया करे। एक सर्जन को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना है कि वह किसी गन्दे व्रण, व्रणोपचार का गन्दा वस्त्र आदि, गुदा व योनि की परीक्षा बिना रबर के दस्ताने पहने खुले हाथों से न करे, विशेष कर जिस दिन शस्त्र-कर्म करना है उस दिन शस्त्र-कर्म करने से पूर्व। नाखून काटने के बाद साबुन तथा बड़े बालों के ब्रश से हाथों को विशेषतः नाखूनों के आस-पास तथा रेखाओं पर खूब रगड़-रगड़ कर गर्म निर्जीवाणु शुद्ध जल से हाथों को पाँच मिनट तक धोया जाता है। इस प्रकार हाथ कुहनी तक धोये जाते हैं।

ब्रश जिसका हाथ धोने के लिए प्रयोग में लाया जाता है पहले से ही शुद्ध कर लिया जाना चाहिए। उसको दस मिनट तक पानी में उबाला जाता और फिर १ : २० शक्ति के कार्बोलिक घोल में प्रयोग आने के समय तक रख दिया जाता है।

इस प्रकार अच्छी तरह कुहनी तक धो लेने के पश्चात् हाथों को ७० प्रतिशत शक्ति के एल्कोहल में भींगे वस्त्र से पाँच मिनट तक रगड़ा जाता है। पोरवों के बीच की घाई तथा नाखूनों के आस-पास और भी अच्छी तरह रगड़ा जाता है। हाथों की पूर्ण शुद्धि हो जाने के पश्चात् शुद्ध किये हुए रबड़ के दस्ताने पहन लिए जाते हैं। दस्ताने पहन लेने के बाद फिर किसी अशुद्ध वस्तु पर हाथ नहीं लगाना चाहिए। रोगी के शस्त्र-कर्म के स्थान पर बँधी हुई पट्टी आदि को भी दूसरे अशुद्ध सहायक उतार देंगे। यदि किसी प्रकार कोई वस्तु छू जाती है तो दस्ताने बदल दिये जाने चाहिए।

दस्ताने बहुत ही पतली रबड़ के बने होते हैं और इनके पहनने पर भी उँगलियों की स्पर्शन शक्ति में कुछ कमी नहीं पड़ती। प्रयोग करने से पूर्व इनको भी शुद्ध कर लिया जाना चाहिए। शुद्ध करने के लिए इनको दस

उनको चारपाई के नीचे लटका दिया जाना चाहिए। दस दिन पश्चात् रोगी को कुर्सी पर बिठाया जा सकता है।

आघातजन्य ज्वर[1]—यह दो प्रकार का हो सकता है यथा—

अनौपसर्गिक[2]—अर्थात् व्रण मे उपसर्ग न होने पर भी ज्वर का आने लगना। इस प्रकार का ज्वर शस्त्र-कर्म या आघात के प्रायः दूसरे दिन प्रारम्भ होता है तथा १००-१०१ डिग्री फारेनहाइट तक ही जाता है। २४ घण्टे के अन्दर-अन्दर यह स्वतः ही शान्त हो जाता है।

औपसर्गिक[3]—अर्थात् व्रण मे पूयोत्पादक जीवाणुओं के पहुँच जाने से इस प्रकार के ज्वर की उत्पत्ति होती है जब विषाक्त पदार्थ उपसर्ग के स्थान अर्थात् व्रण से शोषित होने लगते हैं। शरीर का तापमान बढ़ जाता है तथा उसके साथ ही साथ नाड़ी की तेजी, शिरःशूल, पीड़ा आदि लक्षण भी रहते हैं। तापमान बिना चिकित्सा के गिरता नही।

अनौपसर्गिक ज्वर के लिए किसी चिकित्सा की आवश्यकता नही क्योंकि वह स्वतः ही शान्त हो जाता है जब कि औपसर्गिक ज्वर के लिए चिकित्सा की नितात आवश्यकता है। यह चिकित्सा 'व्रण मे पूयोत्पादन' के समान ही होनी चाहिए।

आघात जन्य-प्रलाप[4]—आघात-जन्य ज्वर की तरह यह भी दो प्रकार का होता है यथा—

विषमयता जन्य[5]—अर्थात् व्रण मे पूयोत्पत्ति के कारण विष पदार्थ रक्त मे मिलते जाते हैं जिनके कारण ज्वर एवं प्रलाप आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यह भी दो प्रकार का हो सकता है प्रथम सक्रिय जिसमे रोगी विशेषतया रात के समय अधिक बाते करता तथा बेचैन रहता है। द्वितीय प्रकार के विषमयता-जन्य प्रलाप मे दीर्घ कालीन उपसर्ग या अन्य कारण से रोगी की

1. Traumatic Fever. 2. Aseptic. 3. Septic. 4. Traumatic Delirium 5. Toxic.

रहते हैं। ऐसा होने से श्वास के साथ निकली हुई वायु व्रण तक सीधी नहीं जा सकती, मुखावरण में छन कर जाती है।

मुखावरण पहन लेने के पश्चात् भी अनावश्यक रूप से अधिक बातें करना ठीक नही तथा छींकते या खाँसते समय मुख को व्रण की ओर नहीं किए रहना चाहिए बल्कि दूसरी ओर उससे दूर कर लेना चाहिए। यथासम्भव इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि मुख में कोई पूय केन्द्र[1] न हो तथा प्रतिश्याय इन्फ्लूएजा से पीड़ित होने की अवस्था में शल्यकर्म में सीधा भाग न लिया जाय।

रोगी के चर्म का निर्जीवाणुकरण—

यह स्पष्ट है कि साधारणतया चर्म पर असंख्य जीवाणु रहते हैं जो शल्य-कर्म करते समय क्षत में प्रविष्ट होकर पूयोत्पादन कर सकते हैं। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि शस्त्र-कर्म के स्थान के चर्म का विशोधन कर लिया जाय। विशेष रूप से गन्दे स्थान जैसे पेडू, गुदा के आस-पास का स्थान अथवा कक्षप्रदेश भली प्रकार शुद्ध किए जाने चाहिए।

सर्वप्रथम बालों को उस्तरे से साफ किया जाता है और यह करते समय साबुन का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। ऐसा करने से बालों के साथ-साथ बहुत-सा मल तथा चर्म का ऊपरी एक दो स्तर भी हट जाता है। इसके बाद उस स्थान को रुई के फाए तथा साबुन से रगड़-रगड कर गर्म पानी से खूब धोया जाता है। यदि चर्म अधिक कोमल नहीं है तो रगडने के लिए ब्रश की सहायता ली जा सकती है।

धोने के बाद किसी ऐसी वस्तु का प्रयोग करना चाहिये जिससे वसा के सभी अश अलग हो जायँ। वसा के अश चर्म से सदैव निकलते रहते है और इनके साथ मिलकर ही गन्दगी तथा जीवाणु चर्म पर स्थित हो जाया करते हैं। वसा के अंशों को अलग करने के लिए तारपीन तेल या ईथर का प्रयोग किया जा सकता है। तारपीन का तेल क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे चर्म लाल पड जा सकता है; अतः कोमल चर्म पर इसका प्रयोग सम्भव नहीं।

1. Septic Focii.

मे घनता की उपस्थिति इसके प्रधान लक्षण हैं। तीन चार दिन मे कफ निकलते रहने से अवस्था स्वयंमेव शान्त हो जाती है अथवा कफ-निष्कासक औषधियों के प्रयोग से इस कार्य मे और सहायता पहुँचाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त रोग का निदान होते ही रोगी को तख्त अथवा जमीन पर चित् लिटा दिया जाता है तथा धीरे-धीरे उसको इधर-उधर करवट लिवाया जाता है। करवट लिवाने का यह कार्य १०-१२ बार करना चाहिए और ऐसा करने से कभी-कभी श्वासनलिका मे अटका हुआ कफ का टुकड़ा हट जाता तथा रोगी को ठीक प्रकार श्वास आने लगती है। यदि प्रथम बार मे सफलता न मिले तो इस विधि को प्रति चार घण्टे पश्चात् दुहराना चाहिए। इससे भी लाभ न होने पर श्वसनी दर्शी[1] की सहायता लेते हुए कफ का चूषण[2] भी सम्भव है। कार्बनडाइ-आक्साइड का सुंघाया जाना हितकर है।

श्वास-नलिका शोथ—अधिकाश मे उत्पन्न होने वाले इस उपद्रव का कारण ठंडी ईथर वाष्प सूंघना अथवा अन्य प्रकार से ठंड लग जाने से प्रतिश्याय का हो जाना है, पूय अथवा रक्त आदि के अश अन्दर पहुँच जाने से लोबर निउमोनिया की उत्पत्ति भी सम्भव है।

अधःस्थितिक न्यूमोनिया[3] अर्थात् फुफ्फुसों के नीचे के भाग आधार पर घनता की उत्पत्ति उस भाग मे रक्त संचार की कमी से हो जा सकती है। रक्त-संचार की कमी का प्रधान कारण हृदय की दुर्बलता, उदर के ऊपरी भाग मे होने वाले शस्त्र कर्मों की अवस्था या आध्मान[4] के कारण मध्यच्छद[5] पेशी का कार्य ठीक न होने से फुफ्फुसों के उस भाग का ठीक प्रसार न हो सकना है। इनके अलावा इस प्रकार की स्थिति का एक प्रधान कारण रोगी विशेषकर वृद्ध व्यक्ति का अधिक समय तक एक ही आसन से लेटे रहना भी होता है जैसा कि ऊर्वस्थि की ग्रीवा के भग्न के लिए आवश्यक होता है। लवण-जल के अत्यधिक अन्तःक्षेप से भी इस प्रकार की अवस्था के उत्पन्न होने मे सहायता मिलती है।

---

1. Bronchoscope. 2. Aspiration. 3. Hypostatic Pneumonia 4. Abdominal Distension. 5. Diaphragm.

सर्जन शस्त्र-कर्म प्रारम्भ करता है। टिंचर आयोडीन लगाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उस स्थान पर पानी के अंश या स्नेह के अंश न हों क्योंकि इनकी उपस्थिति होने पर टिंचर आयोडीन की चर्म में प्रवेश करने की शक्ति घट जाती है, टिंचर आयोडीन, आयोडीन का रेक्टीफाइड स्पिरिट या मेथिलेटेड स्पिरिट में २ प्रतिशत शक्ति का घोल होता है।

कुछ सर्जन बाल बनाने तथा धोने के पश्चात् ही टिंचर आयोडीन लगाकर शुद्ध गौज की गद्दी रखकर पट्टी बाँध देते हैं। शस्त्र-कर्म करने से ३-४ घण्टे पूर्व फिर टिंचर आयोडीन का प्रलेप कर दिया जाता है तथा शस्त्र-कर्म के समय अन्तिम रूप से एक प्रलेप किया जाता है। टिंचर आयोडीन चर्म के लिए स्वतः क्षोभक है, अतः इसमें भींगा फाया रखकर पट्टी बाँधना ठीक नहीं।

कुछ सर्जन टिंचर आयोडीन के स्थान पर पिकरिक अम्ल का स्पिरिट में ३-५ प्रतिशत शक्ति का घोल प्रयुक्त करते हैं, किन्तु जिन व्यक्तियों में इसके प्रति असह्यता होती है उनमें प्रयोग के स्थान पर या सम्पूर्ण शरीर पर चकत्ते[1] से पड़ जाते हैं। मेटाफन[2] इस कार्य के लिये सर्वोपयुक्त है, यद्यपि इसका मूल्य अधिक है।

आवश्यकता पड़ने पर जब २४ घण्टे का समय नहीं मिलता तथा शस्त्रकर्म तत्क्षण करना आवश्यक होता है, चर्म को उसी समय तैयार किया जाता है। इसके लिए विना पानी व साबुन की सहायता से बाल बनाये जाते तथा बाल बनाने के बाद ईथर उस स्थान पर भली प्रकार लगा दिया जाता है ताकि स्नेह का अंश नष्ट हो जाय। इसके पश्चात् टिंचर आयोडीन का लेप करने के पश्चात् ही शल्य-कर्म प्रारम्भ कर दिया जाता है।

रबर शीट—रबर शीट का विसंक्रमण उसके ऊपर १ : ४० शक्ति के कार्बोलिक घोल का हलका प्रलेप करके किया जाता है। प्रयोग के पश्चात् इसको किसी विसंक्रमित शुद्ध टावल या चदरे में लपेट कर रख देना चाहिए।

व्रणोपचार वस्त्र—व्रणोपचार वस्त्रों से तात्पर्य टावल, चदरा, एप्रन, मुखावरण, फाहा[3], गौज, रुई व पट्टी आदि से है। वे सब भी जीवाणु-रहित

1. Skin Eruptions 2. Metaphen. 3. Swab.

उत्पत्ति हो जाया करती है। धीरे-धीरे जब शोथ युक्त स्थल पर रक्त प्रवाह धीमा पड़ जाता या बन्द हो जाता है तो स्थान रक्त वर्ण न रह कर कालिमा-युक्त हो जाता है और यदि पूयोत्पत्ति होती है तो वर्ण धीरे-धीरे श्वेत-सा होता जाता है।

सूजन—रक्त-प्रवाह बढ़ने तथा स्थानिक धातुओं मे रक्त से निरन्तर लसीका-स्राव होते रहने से शोथ युक्त स्थान पर कुछ उभार-सा प्रतीत होने लगता है। स्थान यदि पोला है तो यह उभार अधिक स्पष्ट होगा किन्तु स्थान यदि अपेक्षाकृत ठोस एवं सघन है तो वहाँ उभार तो अधिक प्रतीत नहीं होगा किन्तु पीड़ा अधिक तीव्र होगी।

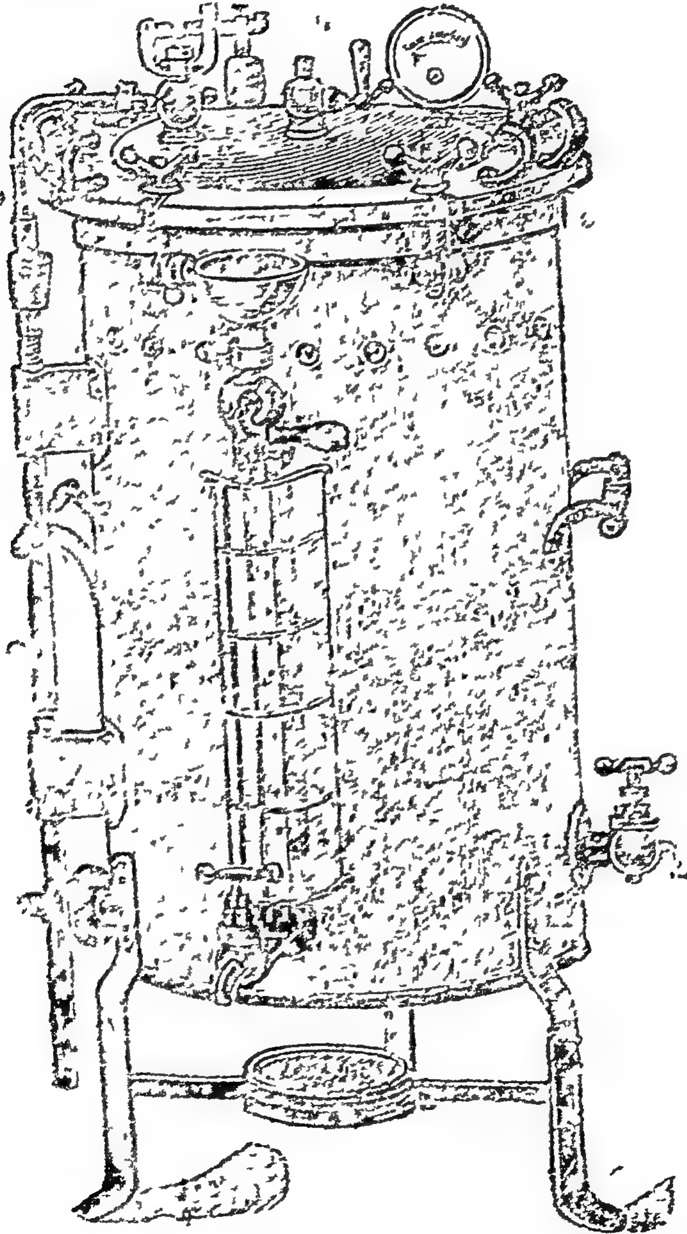
पीड़ा—पीड़ा शोथ का एक प्रमुख लक्षण है जो कभी-कभी इतनी तीव्र होती है कि नींद आना कठिन हो जाता है, प्रकृति ने इस प्रकार के लक्षण की उत्पत्ति करके मनुष्य का उपकार ही किया है क्योंकि यदि यह तत्काल कष्टकर लक्षण नहीं होता तो सम्भव है पीड़ित व्यक्ति चिकित्सा का कभी ध्यान भी नहीं करता। पीड़ा का कारण स्थान विशेष की संवेदी तन्त्रिकाओं का रक्त परिपूर्णता के कारण क्षुभित होना है और यही कारण है कि पोले स्थानों पर पीड़ा अधिक तीव्र नहीं होती जबकि ठोस स्थानों पर हलका शोथ भी अधिक पीडाकर होती है। किसी-किसी स्थान पर प्रारम्भ मे केवल दबाने से पीड़ा होती है, 'स्वयंमेव नहीं-इस प्रकार की स्थिति को स्पर्शासह्यता[1] कहा जाता है। कभी-कभी यह लक्षण उस समय देखा जाता है ज़ब रोगी को अन्य प्रकार से रोग का ज्ञान भी नहीं होता।

ताप—रक्त प्रवाह बढ़ जाने के कारण ही शोथ युक्त स्थान का ताप आस-पास के स्थान के ताप से अधिक होता है। इस परीक्षा के लिए परीक्षक हाथ की उँगलियों को उलटी ओर से कुछ क्षणो तक उस स्थान पर रखता है। इसके पश्चात् शरीर के दूसरे स्थान या दूसरी ओर के उसी स्थान पर रखता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों के तापों की तुलना करके यह निश्चय किया-जा सकता है कि शोथ-युक्त स्थान अधिक गर्म है।

---

1. Tenderness.

ही व्याप्त होकर अपना काम करती रहती है। यंत्र में ऊपर की ओर एक दाब-मानक यंत्र जो घड़ी के आकार का होता है, लगा रहता है जिसका सहायता से यन्त्र में की भाप का दबाव किसी भी समय जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त पानी निकालने, भरने तथा भाप निकालने के लिए भी नल लगे रहते हैं।



चित्र—१
वाष्प द्वारा विसंक्रमण यन्त्र

रचना की दृष्टि से पूय मे ऊतको की कोशिका[1], श्वेतकोशिका, जीवाणु तथा पूयकोशिकाएँ पाई जाती हैं। पूयकोशिकाएँ[2] कई भागों मे विभक्त केन्द्र-युक्त कोशिकाएँ होती है जिनके भीतर को वस्तु दानेदार सी-मालूम पड़ती है।

पूयोत्पादन मे प्रायः स्टैफिलोकोक्काई नामक जीवाणुओं की प्रधानता रहती है किन्तु कभी-कभी स्ट्रप्टोकोक्काई, आन्त्रिक ज्वर के जीवाणु, आन्त्र जीवाणु[3] या पूयमेह के जीवाणु भी पूयोत्पादन कर सकते हैं। मिश्र उपसर्ग भी सम्भव है। यकृत विद्रधि मे किसी भी प्रकार के जीवाणु नही मिलते। इस प्रकार के पूयोत्पादन का मुख्य रूप किसी विशेष कारण से दुर्बलता के फलस्वरूप स्थानिक ऊतकों का गलने लगना है। कभी-कभी यह भी होता है कि जीवाणु एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच कर पूयोत्पत्ति कर दे अथवा कुछ समय तक निष्क्रिय पड़े रहकर जब उचित अवसर मिले तभी पूयोत्पादन शुरू कर दे। इस स्थल पर यह ध्यान रखना चाहिए कि पूयोत्पादन जीवाणुजन्य होता है किन्तु प्रत्येक स्थान पर उत्पन्न होने वाली पूय को बाह्य चर्म पर होने वाले क्षत एव तज्जन्य जीवाणु-प्रवेश से सम्बन्धित सिद्ध किया जा सके यह सर्वावस्था मे सम्भव नही क्योंकि कभी-कभी क्षत-अलक्षित रूप मे उत्पन्न होता है और कभी यह भी हो सकता है कि क्षत उत्पन्न ही न हो बल्कि शरीर के अन्य स्थल से पहुँचकर जीवाणु वहाँ पूयोत्पादन कर दे।

किसी स्थान विशेष पर निर्मित, एकत्रित एव सीमित पूय का नाम ही विद्रधि है। विद्रधि के केन्द्र मे गली हुई स्थानिक ऊतक, मृत श्वेतकोशिकाएँ एव जीवाणु रहते है। इसके चारो ओर ऐसी ऊतक का वलय रहता है जो क्षीण होकर नष्ट होती जा रही है। इसके भी बाहर की ओर शोथयुक्त ऊतक का तीसरा प्रात रहता है, जहाँ श्वेतकोशिकाओं की अधिकता रहती है। इस प्रकार प्रकृति का यह प्रयत्न रहता है कि पूय एक ही स्थान पर सीमित रहे, आगे की ओर बढ़कर अधिकाधिक ऊतको को नष्ट न करने पावे। विद्रधि के

1. Cell. 2. Pus cells. 3. B. Coli.

के ड्रमों मे भर कर यन्त्र के अन्दर रख देते है। ये ड्रम गोल छोटे-बड़े कई आकारो के हो सकते है। इनकी पार्श्व की दीवालों मे कई छिद्र होते है और साथ-ही एक ३-४ इञ्च चौडी धातु की छिद्रयुक्त पट्टी भी चढी रहती है जिसको ड्रम के ऊपर इधर-उधर घुमाया जा सकता है। ड्रम मे वस्त्र भरने के बाद उसको विसंक्रामक यन्त्र मे रखने से पूर्व इस पट्टी को इस प्रकार घुमा दिया जाता है कि पट्टी के छिद्र तथा ड्रम की दीवाल के छिद्र एक दूसरे से मिल जाते हैं और इस प्रकार भाप ड्रम के अन्दर भली प्रकार प्रवेश कर सकती है किन्तु जब विसक्रमण के पश्चात् उनको बाहर निकाल कर रखा जाता है तो पट्टी को इस प्रकार घुमा दिया जाता है कि वे छिद्र एक दूसरे से मिलते नहीं जिसके कारण बाहरी वायु फिर विसंक्रमित वस्त्रों के सपर्क मे नही आ सकती। प्रयोग मे आते समय तक वस्त्रो को इन्ही ड्रमों मे रखा जाता है। इसी प्रकार का एक ड्रम चित्र २ मे दिखाया गया है।

पात्रों की शुद्धि—बडे-बडे प्याले, तस्तरी आदि का निर्जीवाणुकरण उनको १०-१५ मिनट तक जल मे उबाल कर किया जा सकता है किन्तु इसमे कभी-कभी बडी असुविधा होती है क्योकि इन पात्रो को रखकर उबालने के लिए किसी और भी बडे बर्तन की आवश्यकता होती है और फिर अधिक पानी डालकर उबालने मे समय भी लगता है। अतः पात्र मे थोडी मेथिलेटेड स्प्रिट डालकर उसमे आग लगाई जा सकती है और इस प्रकार बड़ी सरलता के साथ पात्रो का विसक्रमण हो जाता है।

औजारों की शुद्धि—साधारण औजारो की शुद्धि पानी मे डालकर १०-१५ मिनट तक उबाल कर की जाती है। पानी मे, एक पाइट मे एक ड्राम के हिसाब से सोडाबाई कार्ब डाल लिया जाना चाहिए। सोडा डालने से पानी का क्वथनांक बढ जाता, औजारो मे जंग नही लग पाती तथा उनकी चिकनाई हट जाती है।

औजारो को उबालकर शुद्ध करने के लिए विशेष प्रकार के पात्र भी आते है जिनको विसंक्रमण पात्र कहते है। साधारणतया ये निकल के बने होते है तथा आकार मे लम्बे अथवा चौकोर होते है। चित्र (३) जैसा कि चित्र मे

उसमें होकर फिर नाडीव्रण सदश[1] अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है। जब वह विद्रधि के अन्दर पहुँच जाती है तो उसको खोल दिया जाता है तथा खोलने के साथ ही साथ पूय बाहर निकलने लगती है। इस प्रकार करने से धमनी आदि नलिकाओं को क्षति पहुँचने का भय नहीं रहता।

विद्रधि खोलते समय उस स्थान को सज्ञाहीन सुन्न बना देना अधिकांश मे सम्भव नहीं क्योकि पूय के सम्पर्क मे आकर कोकेन निष्क्रिय हो जाती है—सर्वांग संज्ञाहरक पदार्थ का अवश्य प्रयोग किया जा सकता है किन्तु छोटे-से काम के लिए इतना बडा प्रबन्ध करना युक्तिसगत नही मालूम पडता, फिर भी यदि विद्रधि की विकृति तथा रोगी की स्थिति देखते हुए यह नितान्त आवश्यक ही हो तो करने मे कोई आपत्ति भी नहीं। यदि विद्रधि उँगली मे है तो जैसा कि आगे व्यक्त किया गया है अंगुली मूल मे कोकेन का इन्जेक्शन देकर उस स्थान को सुन्न किया जा सकता है। साधारणतया छेदन के स्थान पर ईथायल क्लोरायड का सीकर छोड देने से कुछ क्षणो के लिए सुन्नता अवश्य आ जाती है और इतने समय मे ही वेधन पत्र अन्दर प्रविष्ट करके निकाल लिया जाता है।

छेदन करने से पूर्व विद्रधि के ऊपर टिंचर आयोडीन अथवा स्पिरिट का प्रलेप कर लेना आवश्यक है तथा अन्य प्रकार से भी जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए—विद्रधि का अर्थ जीवाणुओ की स्वतः ही वहाँ उपस्थिति तो है किन्तु फिर भी यदि हम जीवाणुहीनता का ध्यान नहीं रखते तो अधिक भयकर स्वरूप के टिटेनस आदि के जीवाणु रोगी के शरीर में प्रवेश पा सकते है। इसलिए जीवाणुहीनता का अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए।

निकास[2]—छेदन के पश्चात् व्रणोपचार की आवश्यकता पडती है और इसका मूल-भूत सिद्धात उस स्थल की पूर्ण सफाई तथा पूय एव अन्य स्राव आदि का एकत्रित न होने देना है। इसके लिए बहुत ही साधारण उपाय जो

1. Sinus forceps. 2. Drainage.

दिया जाता है तथा फिर २०-२५ मिनट तक शस्त्रों को उबाला जाता है। इसके बाद पात्र का ढक्कन खोलकर शस्त्रों सहित जाली को बाहर निकाल लिया जाता है तथा उनको तामचीनी के दूसरे बड़े प्यालों या तस्तरियों में जो पहले से शुद्ध कर लिये गये हों, रख दिया जाता है। इनके ऊपर १:६० शक्ति का कार्बोलिक घोल या शुद्ध जल डाला जा सकता है।

यदि विसंक्रामक पात्र उपलब्ध न हो तो किसी भी पात्र में उबालकर शस्त्रों को शुद्ध किया जा सकता है। सूई लगाने की पिचकारी भी इसी प्रकार उबाल कर शुद्ध की जाती है। रबड़ के ट्यूबों को भी इसी प्रकार उबाल कर शुद्ध करके १:२० शक्ति के कार्बोलिक घोल में रख देना चाहिए।

चाकू, सुई, कैंची आदि धार वाले शस्त्रों का विसंक्रमण उबाल कर नहीं किया जा सकता क्योंकि उबालने से उनकी धार नष्ट हो जाती है। इनको २ या ३ मिनट शुद्ध कार्बोलिक अम्ल में रखकर फिर स्पिरिट में रख दिया जाता है। यदि कोई शस्त्र शल्य-कर्म करते समय हाथ से छूट कर जमीन पर गिर पड़े अथवा अन्य अशुद्ध अविसंक्रमित वस्तुओं से छू जाय तो उसको इसी विधि से शुद्ध करने के बाद काम में लेना चाहिये। शल्य-कर्म करते समय यदि किसी दूसरे शस्त्र की आवश्यकता पड़ जाय तो उसको भी उपरोक्त विधि से तत्क्षण शुद्ध किया जा सकता है।

शल्य-कर्म के पश्चात् शस्त्र गर्म जल से खूब धो दिये जाते हैं फिर उबाल कर या स्पिरिट में डुबाकर शुद्ध कर लिये जाते हैं तथा सुखाकर रख दिये जाते हैं। अच्छा हो यदि यह सब करने के बाद हलकी वैसलीन लगा दी जाय क्योंकि ऐसा करने से फिर जंग नहीं लग पाती।

टांके व बन्धन—टाके लगाने के लिए रेशम, सन, रेशम के कीड़े से बना धागा जिसको सिल्कवार्मगट कहते हैं, चाँदी का तार, कंगारू टेण्डन आदि-आदि काम में लाये जाते हैं। प्रयोग में लाने से पूर्व इनका निर्जीवाणुकरण भी नितान्त आवश्यक है। निर्जीवाणुकरण निम्न प्रकार किया जा सकता है—

जब कि विद्रधि ग्रीवा के ऊपरी प्रदेश में सीमित रहती है। विद्रधि चिबुक[1] के नीचे ग्रीवा के सामने ऊपरी या नीचे के भाग मे अथवा ग्रीवा के पीछे के भाग मे हो सकती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि विद्रधि का कारण बाह्य चर्म का ही कोई क्षत आदि नही बल्कि दन्त, मसूड़ा,[2] जिह्वा गलग्रन्थि आदि की ओर से आने वाला उपसर्ग भी हो सकता है।

यदि पूयोत्पादन नही हुआ है तो पेनिसिलिन के इन्जेक्शन एवं सल्फा विभाग की औषधियों के प्रयोग से शोथ को शांत करने का प्रयत्न किया जाता है किन्तु यदि पूय उत्पादन हो चुका है तो पूय को चीरा देकर निकाल देना आवश्यक है। ग्रीवा में धमनियों, शिराओं, तन्त्रिका सूत्रों की अधिकता है, अतः चीरा सावधानी के साथ दिया जाना चाहिये। जीवाणुहीनता का पूर्व ध्यान रखते हुए उचित स्थान पर प्रथम चर्म का छेदन किया जाता है तथा नीचे के भाग को साफ करने के पश्चात् जिस ओर पूय होने का सन्देह है उसी ओर से नाडी-व्रण सदंश प्रविष्ट कर दी जाती है। जैसे ही पूय निकलना शुरू होता है छेदन के मुख को और भी चौड़ा कर दिया जाता है। यदि विद्रधि के अन्दर खाने बन जाने का सन्देह है तो उंगली डाल कर उनको भी ठीक कर दिया जाता है। इसके पश्चात् निकास के लिए रबर की नली प्रयुक्त की जा सकती है। इस प्रकार विद्रधि की पूर्ण चिकित्सा करते रहना चाहिये। पेनिसिलिन का इजेक्शन एवं सल्फा औषधियो का मुखद्वारा प्रयोग भी अवश्य किया जाता है।

प्रत्यग्ग्रसनी या गल पश्चात् विद्रधि[3]—तीव्र-स्वरूप की गल पश्चात् विद्रधि केवल बच्चों मे ही देखी जाती है क्योंकि इसका प्रधान कारण अन्न-नलिका के पीछे स्थित लसीकाग्रन्थियो का उपसर्ग हुआ करता है और ये लसीका ग्रन्थियाँ दो वर्ष की आयु के पश्चात् समाप्त हो जाती है। एक छोटा बालक जिसे सर्दी है अकस्मात् ही यदि कष्ट श्वास[4] एवं निगलने मे कठिनाई[5] अनुभव

1. Chin 2. Gums. 3. Retropharyngeal Abscess. 4. Dyspnoea. 5. Dysphagia.

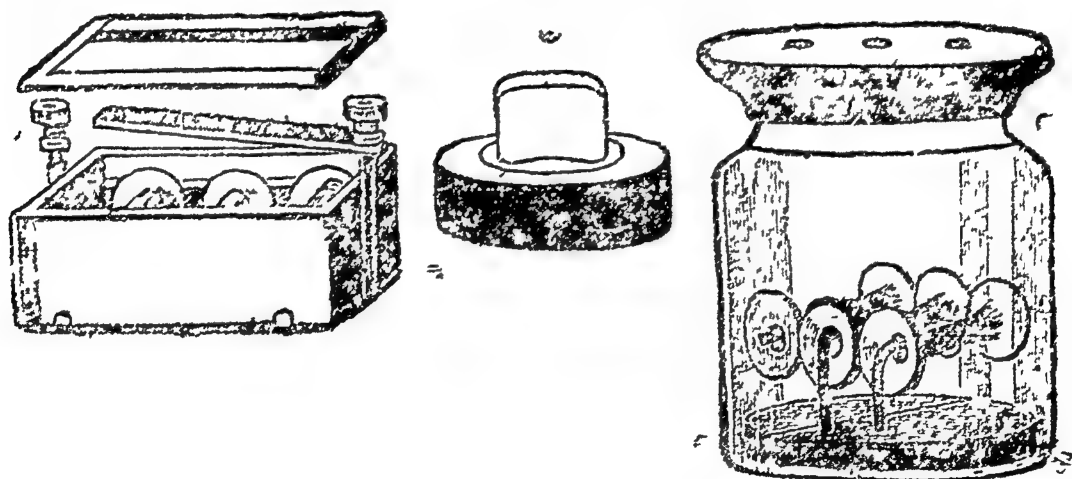
कैटगट को काच की घिर्रियों आदि पर लपेट कर आठ दिन तक निम्न घोल मे डुबाये रखा जाता है—

आयोडीन ....१ प्रतिशत
पोटास आयोडायड .. ·२ ,,
शुद्ध परिस्रुत जल...... ·३७ ,,
मेथीलेटेड स्पिरिट..... ...६० ,,

आठ दिन के पश्चात् वह प्रयोग के लिए उपयुक्त हो जाती है तथा आधी शक्ति के उपरोक्त घोल मे अथवा एल्कोहल मे सुरक्षित रखी जा सकती है। अधिकाश सर्जन सीलबन्द ट्यूबों में प्राप्त कैटगट को ही प्रयोग मे लाते हैं जो पूर्ण शुद्ध होते हैं। मोटाई के अनुसार कैटगट भी ०००००० से ६ नम्बर तक इस प्रकार १२ आकारों मे मिलती है।

कगारू टेंडन—का विशोधन भी कैटगट की तरह ही किया जाता है।

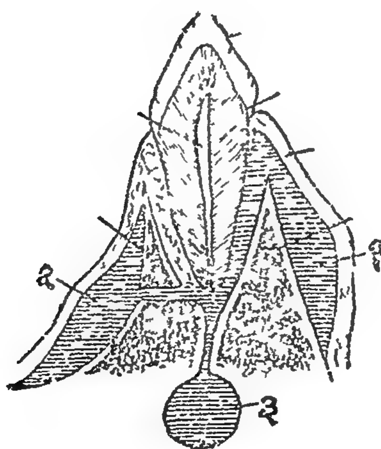
टाँके व बन्धन के लिए प्रयुक्त इन पदार्थों को रखने के लिए कई भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्र आते हैं जैसा कि (चित्र ४) में दिखाया गया है। इनके



चित्र—४
कैटगट—पात्र

अन्दर एक सलाई पर कॉच की घिर्रियाँ चढ़ी रहती हैं जिन पर कैटगट आदि को लपेट दिया जाता है। पात्र के आकार के अनुसार घिर्रियों की संख्या भी १, २ या अधिक हो सकती है और यह भी हो सकता है कि भिन्न-भिन्न घिर्रियो

दन्त विद्रधि[1]—दन्त विद्रधि से तात्पर्य दांत के आस-पास होने वाली विद्रधि से है। क्षरणग्रस्त दन्त[2] की उपस्थिति मे इसकी उत्पत्ति होने की अधिक सम्भावना रहती है क्योंकि इस प्रकार की स्थिति मे ऊपर की ओर से आसानी से उपसर्ग पहुँच सकता है। विद्रधि दाँत के बाहर, भीतर अथवा मूल मे कही भी हो सकती है जैसा कि चित्र ३६ मे दिखाया गया है। दाँत के मूल मे होने वाली विद्रधि बाहर भीतर होने वाली विद्रधि से अधिक उग्र तथा पीड़ाकर होती है और इसकी यदि समय पर उचित चिकित्सा नही हो पाती तो यह भी सम्भव है कि बाहर चर्म के नीचे तक पहुँच जाय। यदि चर्म के नीचे पहुँचकर फूटती या चीरा देकर निकाली जाती है तो उत्पन्न नाड़ी व्रण को बाहर से ठीक करना कठिन हो जाता है क्योंकि जब तक पूय का उद्गम स्थान दन्तमूल नही ठीक किया जाता नाड़ी व्रण का बन्द होना सम्भव नही। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि क्षरणग्रस्त दन्त की अवस्था मे केवल दन्तमूल का थोड़ा भाग शेष रह जाता है जिसके ऊपर भी मास की उत्पत्ति हो जाती है। ऐसी स्थिति मे मुख की अन्दर से परीक्षा करने पर नाड़ीव्रण का यथार्थ कारण स्पष्ट नही हो पाता। एक्स-रे परीक्षा द्वारा ही स्थिति का यथार्थ अनुमान लगाया जाता है।



चित्र—३६—१ व २—दन्त वेष्ट विद्रधि—दांत के बाहर अन्दर
३—दन्तमूल विद्रधि

---

1. Alveolar Abscess. 2. Carious Tooth.

पञ्चम् अध्याय

पट्टियाँ

व्रण को आच्छादित रखने, व्रणोपचार वस्त्रों को साधने, दबाव डालने, रक्तप्रवाह को नियंत्रित करने, शोथ कम करने, अंग विशेष की गति को रोकने तथा अंग विशेष को आधार देने आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पट्टी बाँधना आवश्यक है। यह कार्य एक साधारण व्यक्ति द्वारा भी किया जा सकता है जब कि कार्य अव्यवस्थित-सा तथा साधारण ही होगा और उससे उद्देश्य की पूर्ति भी भली प्रकार नहीं हो सकेगी। इसीलिए शल्य चिकित्सा का एक आवश्यक अंग होने के कारण प्रत्येक शल्य चिकित्सक को अंग-प्रत्यंग की सुव्यवस्थित रूप से पट्टी बाँधने का अभ्यास होना आवश्यक है। इसके लिए केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं बल्कि पुस्तक की सहायता लेते हुए भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टी बाँधने का भली प्रकार अभ्यास करना चाहिए तभी वे आवश्यकता पड़ने पर ठीक तरह से लगाई जा सकती हैं। पट्टी देखने में सुव्यवस्थित तथा सुन्दर होने के अतिरिक्त न अधिक कड़ी होनी चाहिए जिससे रक्त सचार ही बन्द हो जाय एवं रोगी को कष्ट हो और न इतनी ढीली ही कि आसानी से खुल जाय या इधर-उधर लटकने लगे।

पट्टी तैयार करने के लिए मारकीन, गर्जा, मलहम, लट्ठा, गॉज, फलालेन आदि किसी भी प्रकार के कपडे का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु यह आवश्यक है कि वह साफ होने के साथ ही साथ मजबूत व चिकना भी हो। भिन्न-भिन्न स्थानों पर पट्टी लगाने के लिए उनकी लम्बाई तथा चौड़ाई भी भिन्न भिन्न होना ठीक है और इसीलिए एक इंच से चार इंच चौडी तथा 6 गज लम्बी पट्टी सदैव तैयार रखनी चाहिए जिनमे से आवश्यकता के अनुसार कोई भी काम मे लाई जा सके। प्रत्येक आकार की बेलनाकार लपेटी हुई पट्टियाँ बाजार मे मिलती हैं जिनको प्रयोग मे लाया जा सकता है अथवा स्वतः भी

मूल मे उत्पन्न पूय कक्षा की चर्म मे खुलने वाली कई छोटी-छोटी विद्रधियो के रूप मे दिखाई देती हैं जो निकास पूर्ण न होने के कारण देर मे ठीक होती है। स्थान की सफाई विद्रधियो का भली प्रकार खोल देना और यदि आवश्यक हो तो आखुरण शस्त्र द्वारा खुरच देना, सल्फा विभाग की औषधियो अथवा पेनिसिलिन का प्रयोग ऐसे साधन है जिनसे शीघ्र पूर्ण लाभ होने की आशा की जा सकती है।

गम्भीरस्थ लसीका ग्रन्थियों की विद्रधि लसीकाग्रन्थियों मे किसी प्रकार उपसर्ग पहुँच जाने से उत्पन्न होती है। यह अधिक उग्र स्वरूप की होती है। शोथ, पीड़ा एव ज्वरादि लक्षण भी अधिक कष्टकर होते हैं।

प्रधान चिकित्सा विद्रधि को खोल देना, सफाई के साथ निकास करना तथा पेनिसिलिन एवं सल्फाविभाग की औषधियो का प्रयोग है। क्योंकि इस स्थान पर कई लसीका ग्रन्थियाँ होती है अतः एक के बाद एक विद्रधि उत्पन्न होती रह सकती है और इस प्रकार की स्थिति रोकने का प्रधान उपाय पेनिसिलिन का प्रयोग तथा उत्पन्न विद्रधि की पूर्ण चिकित्सा है।

विद्रधि खोलते समय भी सावधानी बरतनी चाहिए क्योंकि कक्षा मे तन्त्रिकाओ, एव रक्त नलिकाओ का जाल-सा बिछा रहता है जिसको बचाये रखना आवश्यक है। इसके लिए यही किया जा सकता है कि चर्म मे छेदन करने के पश्चात् नाड़ी व्रण सदश से छेदन को विस्तृत करके अथवा उँगली अन्दर प्रविष्ट करके पूय को निकाला जाय।

वक्षण विद्रधि[1]—इसी को बद[2] निकलना कहते है। इसके प्रधानतया दो रूप देखे जाते हैं प्रथम उत्थान धातुगत लसीका ग्रन्थियो मे या उनके आस-पास पूयोत्पादन तथा द्वितीय गभीरस्थ लसीका ग्रन्थियों मे या उनके आस-पास पूयोत्पादन। प्रथम प्रकार की स्थिति बाह्य जननेन्द्रिय या गुदा के आस-पास के किसी व्रण के कारण उत्पन्न होती है जब द्वितीय प्रकार की स्थिति पैर की उँगलियो, पैर का तल या अन्तःपृष्ठ; टाँग के सामने या अन्दर की

1. Abscess of Groin. 2. Bubo.

२—पट्टी सदैव भीतर से वाहर की ओर[1] वाधना चाहिए, अर्थात् लपेट अंग के भीतर शरीर के मध्य की ओर से आरम्भ होकर अंग के सामने होता हुआ वाहर की ओर, वहाँ से फिर अंग के पीछे होता हुआ भीतर की ओर जहाँ से आरम्भ हुआ था, जाना चाहिए। इस प्रकार पट्टी अंग के सामने भीतर से वाहर की ओर तथा अंग के पीछे वाहर से भीतर की ओर जाती रहेगी।

३—अंगो पर पट्टी सदैव नीचे से ऊपर की ओर चलनी चाहिए और अच्छा हो यदि ऊपर की अपेक्षा नीचे नाममात्र के लिए कुछ अधिक कड़ी रहे।

४—शुरू से अन्त तक पट्टी लगभग एक-सी कड़ी रहनी चाहिए ताकि आराम देने के साथ ही साथ कम-से-कम इतना दवाव डालती रहे जिससे व्रणोपचार वस्त्र स्थिर वने रहे। यदि स्थान विशेष से रक्तस्राव हो रहा है जैसा कि स्तन पर के आपरेशन आदि के पश्चात् अथवा रक्त रस आदि के संचित होते रहने की सम्भावना है तो पट्टी को विशेष कड़ा वाधा जा सकता है, ताकि रक्तस्राव न होता रहे। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि नीचे के अग की ओर रक्त-संचार विलकुल वन्द न हो जाय तथा कम-से-कम २४ घण्टे पश्चात् पट्टी को ढीला किया जाता रहे।

५—पट्टी वाधना प्रारम्भ करते ही दो एक लपेट पट्टी को स्थिर करने के लिए लगा देने चाहिए ताकि पट्टी नीचे की ओर खिसक न जाय।

६—यदि इस प्रकार की सम्भावना हो कि पट्टी से दूर के भाग में शोथ की उत्पत्ति हो सकती है तो इस भाग पर पहले पट्टी वांधना चाहिये।

७—पट्टी लगा देने के पश्चात् अंग को संधियों पर मोड़ना नहीं चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से रक्त नलिकाओं पर अधिक दवाव पड़ सकता है।

८—यदि आवश्यकता हो तो पट्टी वाधने से पहले व्रण के चारो ओर डस्टिंग पाउडर बुरका जा सकता है।

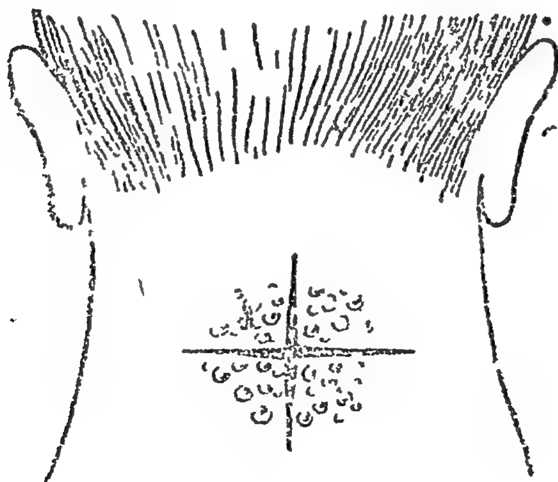
---

1. From medial to lateral.

पीड़ित अंग को पूर्ण आराम मिलना चाहिए। अतितनाव लवण जल[1] अथवा मैगसल्फ के घोल से पीडित भाग को सेका जाता अथवा गर्म-गर्म घोल से उसका प्रक्षालन ही किया जाता है। किन्तु इसके साथ ही शोथ के चारों ओर किसी जीवाणु नाशक औषधि का प्रलेप कर दिया जाना चाहिए ताकि शोथ का प्रसार अधिक न होने पावे। क्ष-किरण के स्थानिक प्रयोग से भी बहुत लाभ होता है। रोगी के मूत्र की परीक्षा की जानी चाहिए और यदि वह मधुमेह से पीडित है तो इन्सुलीन का प्रयोग नितात आवश्यक है। पीड़ा के लिए पीड़ा-शामक औषधियों का मुख द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए।

आधुनिक युग मे सर्वोत्तम चिकित्सा पेनिसिलिन एव अन्य प्रतिजीवी योग तथा सल्फा औषधियो का प्रयोग है जिससे निश्चित लाभ की अवश्य ही आशा की जा सकती है। सार्वदैहिक प्रयोग के अतिरिक्त पेनिसिलिन का स्थानिक प्रयोग भी किया जा सकता है जबकि क्रिस्टलायन पेनिसिलिन का घोल सीधा शोथ के स्थान पर कई भिन्न स्थलो पर सुई चुभो-चुभो कर प्रविष्ट किया जाना चाहिए।

यदि रोगी देर से आता है जब कि पूयोत्पादन हो चुका है तो चीरा देकर सम्पूर्ण पूय को और यदि आवश्यक हो तो उसके साथ ही साथ गली हुई धातु को भी काट कर निकाल दिया जाना चाहिए। यदि शोथ का



चित्र ४० अ—कारबंकल के लिए छेदन रेखा

1. Hyperto nic Saline.

सकती। ऐसे स्थान पर परावर्तित पट्टी आवश्यक हो जायगी। परावर्तित पट्टी एक विशेष प्रकार की सर्पिल पट्टी ही है जिसमें प्रत्येक लपेट के समय पट्टी को अपने ही ऊपर मोड़ना पड़ता है। ये मोड़ लगाते जाने से पट्टी अंग पर ठीक बैठ जाती है उसमें कहीं ढिलाई नहीं पड़ती तथा देखने में भी स्थिर सुव्यवस्थित तथा सुन्दर लगती है।

सुन्दर रूप से मोड़ों को लगाने में प्रारम्भ में अवश्य कुछ कठिनाई पड़ती है किन्तु दो एक साधारण नियम ध्यान में रखने तथा अभ्यास करने से यह कठिनाई दूर हो जाती है। मोड़ सदैव अंग के बाहर की ओर लगाना चाहिए; ऐसे स्थान पर नहीं लगाना चाहिए जहाँ अस्थि का उभार हो। मोड़ देते समय पट्टी को थोड़ा ढीला कर दिया जाता है और जिस हाथ में पट्टी का बेलन है उसकी कलाई को इस प्रकार घुमा दिया जाता है कि पट्टी का ऊपर की ओर का किनारा नीचे की ओर तथा नीचे का किनारा ऊपर की ओर हो जाता है अर्थात् पट्टी अपने ऊपर एक मोड़ मुड़ जाती है। ऐसा करने से हथेली का पूर्वपृष्ठ यदि पहले अंग की ओर था तो अब वह बाहर की ओर हो जायगा और हथेली का पृष्ठभाग अंग की ओर हो जायगा। प्रारम्भ में कुछ व्यक्ति मोड़ लगाते समय पट्टी को ढीली करने के साथ ही साथ जहाँ मोड़ लगाना है उस स्थान पर पट्टी पर अंगूठा या उंगली रख लेते हैं किन्तु अभ्यास हो जाने पर इस प्रकार उंगली या अंगूठा लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ा करती। मोड़ लगाते समय पट्टी को ढीला करने के बाद मोड़ लग चुकने पर फिर पट्टी को कड़ा करके ही बाँधना चाहिए। परावर्तित पट्टी बाँधते समय एक लपेट के समय बेलन का बाहरी पृष्ठ तथा दूसरे लपेट के समय बेलन की पट्टी का अन्दर का पृष्ठ अंग की ओर रहेगा। चित्र ६ में दिखाया गया है कि लपेट का 'अ' रूप मोड़ के पश्चात् 'ब' हो जाता है।

२. ४ आकार पट्टी[1]—इस पट्टी के क्रमशः दो लपेट आपस में मिलकर अंग्रेजी का आठ का अंक या हिन्दी के चार का अंक बनाते हैं और इसीलिए अंग्रेजी में इसको फिगर आफ एट पट्टी कहा जाता है। सन्धियों के लिए यही पट्टी अधिक उपयुक्त पड़ता है। कभी-कभी परावर्तित पट्टी के स्थान पर भी इसको बाँधकर काम चलाया जा सकता है।

---

1. Figure of eight. 2. Spica Bandage.

रहे। जिस ओर पूय मालूम पड़े उसी ओर चीरा आवश्यक है[1] क्योंकि पूय का भली प्रकार निकल जाना चिकित्सा का प्रथम आधार है।

चीरा देने के पश्चात् जो व्रण बनते हैं उनपर एक्रीफ्लेविन घोल, इमल्शन, ५ प्रतिशत लवण विलयन आदि किसी के भी द्वारा व्रणोपचार किया जा सकता है। यदि सम्भव हो उष्ण लवण जल द्वारा पीड़ित भाग का सेंक भी किया जाना चाहिए, निकास के लिए रबर नलिका के प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ सकती है। इस सब स्थानिक चिकित्सा के साथ ही साथ प्रतिजीवी योगों का प्रयोग भी आवश्यक है।

भिन्न-भिन्न स्थानों के संयोजक ऊतिशोथ—

कपाल प्रदेशीय संयोजक ऊति शोथ[2] —इसके दो रूप हो सकते हैं—चर्म के ही नीचे अथवा कपाल को आच्छादित करने वाली पेशियों के भी नीचे। प्रथम अधिक उग्र स्वरूप का नहीं तथा एक ही स्थान पर सीमित भी रहता है। दूसरा अधिक उग्र स्वरूप का होता है और यदि पूयोत्पादन हो चुका है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि सम्पूर्ण सिर मे पूय भरी हुई है। ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण भी रोग की तीव्रता के अनुपात में ही तीव्र रहा करते हैं। शोथ का कारण प्रायः कपाल के क्षत हुआ करते है।

यदि प्रारम्भिक अवस्था में ही रोगी देखने को मिल जाता है तो पेनिसिलिन आदि के प्रयोग से शोथ को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि पूयोत्पादन हो चुका है तो शीघ्र से शीघ्र चीरा देकर पूय को निकाल देना ही अच्छा है। चीरा निम्नतल मे ऐसे स्थान पर लगाना चाहिए कि पूय का निकास स्वयमेव होता रहे। स्थिति के अनुसार हो सकता है कि दो-चार स्थानों पर छेदन करना पड़े। यदि ऐसा है तो दोनों ओर कर्ण पाली के सामने थोड़ा ऊपर

---

१. यतो दोषगति विद्याद्व्युत्सर्गो यत्र तत्र च
तत्र तत्र व्रण कुर्यात् यथा दोषो न तिष्ठति
—सुश्रुत

2. Cellulitis of the scalp

फिर ऊपर ले जाकर दूसरी ओर के कान के सामने से लाते हुए सिर के ऊपर होकर उसी स्थल पर जहाँ से नीचे ले गये थे, पिन लगाकर स्थिर कर दिया जाता है। (चित्र ७)



(चित्र न०—७)
सिर की पट्टी



(चित्र न०—८)
सिर की पट्टी दबाव युक्त

३—**दबाव युक्त पट्टी**—जब क्षत सिर के पार्श्व मे ही स्थिर हो तथा उस पर थोड़ा बहुत दबाव भी डालना हो तो सिर के चारो ओर लपेट इस प्रकार लगाये जाते हैं कि एक लपेट ऊपर चढता है तो दूसरा नीचे की ओर उतरता है तथा वे एक दूसरे को उसी स्थल पर काटते हैं जहाँ पर कि दबाव डालना है। (चित्र ८)

४—**वितान पट्टी**[1]—सिर के लिए यही विशेष प्रकार की पट्टी जो शिर को भली प्रकार ढँक लेती है तथा यदि ठीक तरह से लगाया जाय तो आसानी से हटती भी नहीं। किन्तु लगाने मे कुछ कठिन और साथ ही साथ सिर को थोड़ा कष्टकर होने के कारण विशेष प्रयुक्त नहीं की जाती। यह भी हो सकता है कि सम्पूर्ण सिर को न ढँककर उसके ऊपर के केवल थोड़े आवश्यक भाग को ही ढँक दिया जाय।

इसके लिए दो पट्टियों की आवश्यकता पड़ती है जिनमे से एक दो इंच

---

1. Caphaline Bandage.

लगता है। पीड़ित चर्म गुलाबी लाल तथा उभरा हुआ होता है। आस-पास के चर्म से किनारों पर उठा हुआ होना इसका विशेष लक्षण है जो उँगली से टटोल कर आसानी से मालूम किया जा सकता है जब कि चर्माधः संयोजक ऊति शोथ की अवस्था में जो उभार तथा लालिमा होती है वह धीरे-धीरे कम होती हुई स्वस्थ चर्म से मिल जाती है। जैसे-जैसे क्षेत्र बढ़ता जाता है, पीड़ित चर्म पर विस्फोट उत्पन्न होते जाते हैं जिनमें से पानी-सा निकलने लगता है। स्थान की प्रकृति के अनुसार सूजन बहुत कुछ बढ़ जा सकती है और इसलिए विसर्प की उत्पत्ति यदि अण्डकोषों के चर्म पर या उसके आस पास हुई है तो अण्डकोष बढ़कर भ्रूण के शिर के बराबर तक हो जा सकते हैं। सम्बन्धित लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि भी अवश्य होती है किन्तु पूयोत्पादन बहुत कम होता देखा गया है।

जब स्थिति में सुधार होता है तो शोथ धीरे-धीरे शान्त हो जाता है तथा चर्म का रंग हलका बादामी रह जाता है जो धीरे-धीरे नये चर्म के आने पर ठीक हो जाता है।

एक विशेष प्रकार की अवस्था भी जिसे भ्रमण-शील विसर्प[1] कहा जा सकता है, देखी जाती है। उसमें महीनों तक शरीर के कभी किसी भाग पर और कभी किसी भाग पर विसर्प की उत्पत्ति होती रहती है।

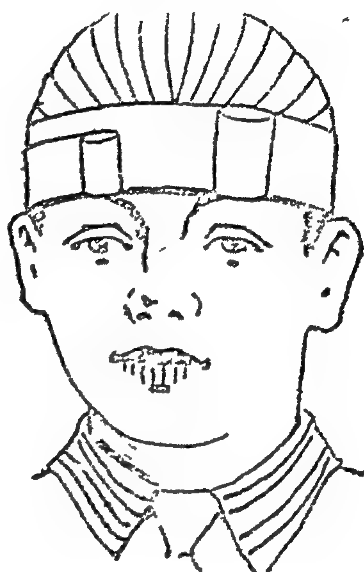
चिकित्सा—रोग बहुत ही आसानी के साथ एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक फैल सकता है अतः एक शल्य चिकित्सा गृह में इस बात की बहुत ही सावधानी रखनी चाहिए। विसर्प के रोगी को शेष दूसरे रोगियों से बिलकुल अलग कर दिया जाता है तथा उसका व्रणोपचार सबके पश्चात् किया जाता अथवा इस बात का ध्यान रखा जाता है कि चिकित्सक हाथों में दस्ताने पहन कर उसके व्रण का उपचार करे और इसके पश्चात् भी हाथों की पूर्ण सफाई कर ली जाया करे ताकि अपना एवं दूसरे रोगियों का बचाव बना रहे।

1. Migrating Erysipelas

सिरे को स्थिर कर दिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना है कि छोटी पट्टी का पीछे से आगे को आनेवाला प्रथम लपेट सिर के बीच में रहता है। इसके पश्चात् क्रमशः पीछे जाने वाला लपेट इसके बाँई ओर तथा आगे जाने वाला लपेट दाँई ओर रहना चाहिए। ये लपेट अपने पास वाले लपेट को



चित्र—९
वितान बन्धेज अपूर्ण



चित्र—१०
वितान बन्धेज पूर्ण

थोड़ा ढके रहें यह भी आवश्यक है। सिर के आगे पीछे छोटी पट्टी को चौड़ी पट्टी से दबाते समय यह भी ध्यान रहना चाहिए कि वह मध्यविन्दु के जितना अधिक निकट रहे उतना ही अच्छा है। सुविधा के अनुसार पट्टी के बेलनो को एक दूसरे हाथ में बदला जा सकता है। देखे चित्र—९ तथा—१०।

५—नेत्र की पट्टी—दवा आदि डालने के पश्चात् नेत्र के ऊपर रुई की गद्दी रख दें। पट्टी का स्वतन्त्र शिरा माथे पर इस आँख के थोड़ा ऊपर रखें तथा बेलन को माथे पर हो दूसरी स्वस्थ आँख की ओर ले जावें और सिर का चक्कर लगाते हुए दुबारा स्वस्थ ओर के कान के ऊपर उसके थोड़ा पीछे तक ले जाएं। वहाँ से पट्टी तिरछी सिर के नीचे की ओर उतरती हुई पीछे से पीड़ित ओर के कान के नीचे से होती हुई पीडित नेत्र पर आ जाती है। रुई को ढकने के बाद पट्टी के सिरे को माथे के चारों ओर जाने वाले लपेट से स्थिर कर दिया जाता है।

वह जल सदृश, पूय युक्त या दुर्गन्धित है। स्राव की सूक्ष्म-दर्शक द्वारा परीक्षा करने से उत्पादक जीवाणुओ का भी पता लगाया जा सकता है।

११. सम्बन्धित लसीका ग्रन्थियाँ--प्राथमिक फिरगी को व्रण अवस्था मे ये कठोर तथा चलायमान, कैसर की अवस्था मे कठोर किंतु स्थिर होती है जबकि रोडेण्ट व्रण की उत्पत्ति होने पर उनकी वृद्धि उसी अवस्था मे होती है जब पूयोत्पादक जीवाणुओ का भी उपसर्ग हो चुका हो। अन्य सामान्य व्रणों मे लसीका ग्रन्थियो को वृद्धि व्रण के आकार तथा विकृति के समान अनुपात मे हुआ करती है।

१२. अन्य परीक्षायें—फिरग के लिए रोगी के रक्त की परीक्षा अथवा घातक व्रण का सन्देह होने पर व्रण के किनारो से कुछ अश काटकर उसकी सूक्ष्म-दर्शक द्वारा परीक्षा की जा सकती है और इस प्रकार की परीक्षाये सदैव निश्चित निदानकर होती है। इसके भी अलावा रोगी के साधारण स्वास्थ्य, उसके अन्य अगों तथा यदि किसी विशेष रोग का सन्देह है तो उस रोग की प्रकृति के अनुसार दूसरी परीक्षाये करानो चाहिए। उदाहरण के लिए यदि व्रण के फिरगार्बुद जन्य होने का सन्देह है तो मुख की परीक्षा करने पर सम्भव है कि तालु मे कुछ विकृति अथवा जिह्वाशोथ के लक्षण मिलने लगे। नाडी व्रण के होने पर यदि उसका किसी अस्थि से सम्बन्धित होने का सन्देह हो तो एक्स-रे फोटो अवश्य लिया जाना चाहिए।

चिकित्सा--प्रत्येक व्रण की चिकित्सा उसके प्रकार तथा अवस्था के अनुसार की जानी चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार के व्रणो का वर्णन इसी स्थल पर आगे किया जायगा। अवस्था से तात्पर्य व्रण की स्थिति से है। प्रथम अवस्था मे व्रण धातुओ के गलने से फैल रहा होता है जब कि उसका तल पूय तथा स्राव से आच्छादित, ओष्ठ मोटे तथा आस-पास का स्थान भी शोथयुक्त होता है। द्वितीय अवस्था मे व्रण विरोहण की तैयारी मे होता है जब कि पूय एव स्राव के घट जाने तथा कणिका ऊतक[1] के उत्पन्न होने लगने से वह

1. Granulations.

प्रकार भर दिया जाता है। इस प्रकार व्रण तथा उसके आस-पास के स्थान को पेस्ट से भली प्रकार आवश्यकतानुसार ढॅक दिया जाता है। प्रति ३-५ दिन पश्चात् जैसा भी आवश्यक हो, पेस्ट को बदल दिया जाना चाहिए। यदि व्रण गन्दा है तो उपरोक्त प्रकार की चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व उसको पूर्ण स्वच्छ कर लिया जाना चाहिए।

ध्यान रखना चाहिए कि जागृति के इस युग मे भी अस्पताल के भय या लापरवाही के कारण रोगी अधिक समय तक इस कोटि के चिरकालीन व्रणों की उचित चिकित्सा नहीं कराता तो अस्थि के विकृत हो जाने के अलावा भी उस स्थान पर कैंसर की उत्पत्ति होने लगती है, अतः सदेह होने पर अन्य साधारण परीक्षा के साथ ही साथ उस स्थान की ऊतकों विशेषकर व्रणोंष्ठो से लेकर कुछ अश की सूक्ष्म-दर्शक द्वारा परीक्षा करा ली जानी चाहिए। यदि कैंसर की उत्पत्ति हो चुकी है तो क्ष-किरण का प्रयोग आवश्यक है अथवा अंगोच्छेदन[1] का विचार करना पड सकता है।

तन्त्रिका विकार जन्य व्रण—यदि किसी स्थान की पोषक तन्त्रिकाएँ[2] विकृत है और वहाँ व्रण की उत्पत्ति हो जाती है तो व्रण का विरोहण बहुत ही कठिनाई से होता है। कुष्ठ[3], अगघात[4], सुषुम्ना के रोगो अथवा तन्त्रिका तन्त्र के अन्य रोगो मे इसी प्रकार की स्थिति उत्पन्न होते देखी जाती है।

चिकित्सा—यथासम्भव इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि इस प्रकार के स्थानो पर व्रणोत्पत्ति न होने पावे, अतः उस भाग को शुष्क रखना, उस पर दबाव न पडने देना आदि बातें आवश्यक हैं। यदि व्रणोत्पत्ति हो जाती है तो किसी मृदु जीवाणुनाशक औषधि से व्रणोपचार करना चाहिए।

भेदक व्रण[5]—इस प्रकार का व्रण अधिकाश मे पैर के अँगूठे के मूल में पाया जाता है, कभी-कभी यद्यपि बहुत कम पैर के दूसरे भाग या अन्यत्र भी देखा जाता है। यह सर्वविदित है कि चलने मे पैर के जिन स्थानो पर अधिक

---

1. Amputation 2. Trophic Nerves 3. Leprosy 4. Paralysis 5. Perforating ulcer.

रखनी है कि पीडित ओर की बाहु को वक्ष के साथ समकोण पर रखा जाय ताकि व्रण चिह्न के बनने पर वह वक्ष की ओर ससक्त न हो जाय। पट्टी का बाँधा जाना चित्र में स्पष्ट है। स्कन्ध की स्वस्तिक पट्टी के लपेट और लगाए जाने चाहिए ताकि वक्ष भली प्रकार ढँक जाय। यदि आवश्यकता हो तो दूसरी ओर के स्कन्ध के भी एक दो लपेट लगाए जा सकते हैं।

बहुपुच्छीय पट्टी[1]—इस प्रकार की पट्टी उदर व वक्षप्रात के ढँकने के लिए बहुत उपयोगी है, विशेष कर उस अवस्था में जब व्रणोपचार वस्त्रों का बार-बार बदलने की आवश्यकता पडती हो। इसको तैयार करने की विधि यह है कि प्रथम फलालेन की दो इंच चौडी और इतनी लम्बी कि वक्ष या उदर के चारों ओर उसको डेढ बार लपेटा जा सके, कई पट्टियाँ तैयार कर ली जाती हैं। अब फलालेन के एक दूसरे टुकडे पर इनको इस प्रकार रखकर कि पट्टियाँ एक दूसरे के समानान्तर रहे, तथा नीचे की पट्टी का लगभग ¼ भाग ऊपर की पट्टी से ढँका रहे, दोनों ओर सी दी जाती हैं। फलालेन का बीच का टुकड़ा आवश्यकतानुसार ४-६ इंच चौकोर हो सकता है। यदि इस प्रकार की पट्टी पहले से तैयार नहीं की गई है तो तत्क्षण उसको तैयार भी किया जा सकता है—बीच में चौकोर भाग छोड कर दोनों ओर दो-दो इंच चौड़ी पट्टी फाड़कर कर दी जाती है। इस प्रकार तैयार करने में इतना अवश्य है कि ये पट्टियाँ एक दूसरे को आच्छादित नहीं कर पायेंगी।

यदि इस पट्टी को उदर पर लगाना है तो नीचे की पट्टी ऊपर की पट्टियों की अपेक्षा छः इंच लम्बी होनी चाहिए ताकि उसको जंघा के चारों ओर लाकर स्थिर किया जा सके। यदि वक्ष पर लगाना है तो फलालेन के बीच वाले टुकडे के साथ ऊपर की ओर दो इंच की दूरी पर पर्याप्त लम्बाई की दो और पट्टियाँ सी देनी चाहिए जिससे इन लम्बी पट्टियों को कन्धे पर ऊपर होकर लाकर पट्टी को पिन के साथ स्थिर किया जा सके।

1. Many tailed Bandage.

व्रण सदैव गुप्तांगों पर ही उत्पन्न होता है। कभी-कभी यह रोग रोगी के सीधे सम्पर्क से व्रण परीक्षा करते समय असावधानी से चिकित्सक या परिचारिका को भी होते देखा गया है जब व्रण उँगलियों पर उत्पन्न होता है। कभी-कभी यद्यपि बहुत कम ओष्ठ, स्तन या उदर के नीचे के भाग पर भी व्रणोत्पत्ति होती देखी गई है।

फिरंगी व्रण तीन प्रकार का हो सकता है यथा प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय अवस्था का व्रण। प्रथम अवस्था में शिश्न पर कठिन व्रण[1] उत्पन्न होता है जो शिश्न को आच्छादित करने वाली अग्रचर्म के अन्दर की ओर, पीछे की घाई पर अथवा नीचे की ओर सीवन पर स्थित होता है। कभी-कभी मूत्र नलिका में छिद्र के ओष्ठों की भीतर की ओर भी यह व्रण पाया जाता है। व्रण का तल कठिन तथा मोटा होने के कारण ही इसको कठिन व्रण कहा जाता है। कभी-कभी व्रण केवल उठे हुए दाने के रूप में भी मिलता है जिसमें केवल जलन होती है, पीड़ा नहीं। इसका रंग लाल होता है किंतु व्रणोत्पत्ति नहीं होती। व्रण से पतला स्राव होता रहता है जिसमें ट्रिपोनोमा पैलिडा देखे जा सकते हैं। इस अवस्था में फिरंग के जीवाणु व्रण तक ही सीमित रहते हैं अन्दर शरीर में प्रविष्ट नहीं हो पाते।

द्वितीय अवस्था के व्रण प्रायः मुख की श्लैष्मिक कला पर पाए जाते हैं। मुख के भीतर गले के दोनों ओर गोल या अर्द्ध गोल लाल-लाल चकत्ते देखे जा सकते हैं। धीरे-धीरे इन स्थानों पर व्रण बनने लगते हैं जो गले के नीचे और पिछले भाग पर तथा तालु पर भी दिखाई देते हैं। ये व्रण गहरे नहीं होते तथा इनके किनारे स्पष्ट तथा कुछ भूरे से होते हैं।

तृतीय अवस्था में चर्म के नीचे तन्तु ऊतक आदि की गाँठें-सी बनने लगती हैं जिनको गम्मा[2] कहा जाता है। अस्थियों पर भी इनकी उत्पत्ति हो सकती है। गम्मा के ऊपर का चर्म धीरे-धीरे घिसता रहता है और जब पूर्णतः घिसकर नष्ट हो जाता है तो वहाँ व्रण की उत्पत्ति हो जाती है जिसमें से भूरे

1. Hard chancre. 2. Gumma

कमर के चारो ओर वाली पट्टी से बाँध दिया जाता है। इस प्रकार रूमाल द्वारा बने हुए थैले मे अण्डकोप सधे रहते हैं।

साधारण वेलनाकार पट्टी को प्रथम कमर के चारों ओर दो-तीन लपेट लगाकर स्थिर कर दिया जाता है तथा गॉट भी लगा दी जाती है। अब पट्टी के वेलन को सामने से ही नीचे अण्डकोपो पर ले जाकर अण्डकोपों के चारों ओर वहाँ पर के व्रणोपचार वस्त्रो को स्थिर करते हुए लपेट देते हैं। भली प्रकार लपेटने के बाद फिर कमर के चारो ओर वाले लपेट तक लाकर उसको गॉट लगाकर स्थिर कर दिया जाता है।

अण्डकोप एवं मलद्वार के मध्य स्थान की पट्टी—इस स्थान की पट्टी के सम्बन्ध मे जो विशेप बात ध्यान मे रखनी है वह यह है कि पट्टी बँधी रहने की अवस्था मे भी मल-मूत्र त्याग मे कोई बाधा न पड़े।

दाहिनी ओर नाभि के नीचे से यह पट्टी आरम्भ की जाती है और बाईं ओर को ले जाते हुए एक-दो लपेट लगाकर उसको प्रथम स्थिर कर देना अच्छा है। अब दाहिनी ओर उदर के नीचे के भाग से तिरछी नीचे की ओर शिश्न के ऊपर के भाग को ढँकती हुई बाईं उरु के पीछे से बाएँ नितम्ब और उरु के बीच की थाई पर होती हुई शिश्न के नीचे भाग पर आ जाती है। इस भाग को ढँकती हुई दाहिनी नितम्बास्थि के शिखर तक सामने पहुँच जाती है। यहाँ से पीछे कटि-प्रदेश पर होती हुई बाएँ नितम्ब के ऊपर से सामने आकर बाईं उरु के सामने से ही तिरछी नीचे उतर कर शिश्न के नीचे के भाग पर पहुँच जाती है जहाँ से दाहिनी उरु के पीछे होती हुई जहाँ से सर्वप्रथम आरम्भ हुई थी, आ जाती है। आवश्यकतानुसार इस प्रकार के दो-चार लपेट लगाए जा सकते हैं और शिश्न के नीचे के भाग को भली प्रकार आच्छादित कर दिया जाता है। स्पष्ट है कि शिश्न ढँकने नही पाता बल्कि बाहर निकला रहता है तथा मल-मार्ग भी खुला रहता है।

इस स्थल पर की जाने वाली पट्टी के सम्बन्ध मे यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वह मल-मूत्र से खराब न होने पावे। व्रणोपचार वस्त्रों के ऊपर थोड़ा बरसाती का टुकड़ा भी रखा जा सकता है ताकि मल-मूत्र युक्त

विद्ध क्षत[1]—तीव्र नोकदार शस्त्रों के शरीर मे प्रविष्ट होने से उत्पन्न क्षत को विद्ध क्षत कहा जाता है। बन्दूक की संगीनें, किरच, तलवार, चाकू की नोक आदि से इसी प्रकार से क्षत उत्पन्न होते है। स्पष्ट है कि क्षत का मुख शस्त्र की चौड़ाई से अधिक नही हो सकता किंतु साथ ही शस्त्र की लम्बाई जितना गहरा अवश्य हो सकता है और इसीलिए उसकी भयंकरता का अनुमान क्षत के मुख को देखकर नही लगाया जा सकता। इस प्रकार के क्षतो से रक्तस्राव अधिक नहीं हो पाता क्योंकि यदि कोई रक्त नलिका विदीर्ण हो भी जाती है तो निकलने वाला रक्त अन्दर ही अन्दर रह जाता है।

इस प्रकार के क्षतो मे पेशी व चर्म की अपेक्षा आन्तरिक अंगों को अधिक हानि पहुँचने का भय रहता है और यदि किसी मर्माङ्ग को चोट पहुँच चुकी है तो रोगी की तत्काल मृत्यु भी हो सकती है। कभी-कभी एक ही शस्त्र से दो क्षत उत्पन्न हो जाते हैं—एक शस्त्र के प्रवेश का दूसरा शस्त्र के निकलने का अर्थात् आर-पार छिद्र हो जा सकता है। प्रथम क्षत द्वितीय की अपेक्षा अधिक चौड़ा होता है तथा उसके ओष्ठ अन्दर की ओर धँसे होते है जबकि द्वितीय क्षत प्रथम की अपेक्षा कम चौडा होता है और उसके ओष्ठ बाहर की ओर निकले हुए होते है। यदि क्षत उदर या वक्ष प्रात मे है तो यह भी सम्भव है कि उसमे होकर आन्तरिक अग बाहर निकल पडे। किसी प्रकार जीवाणु प्रवेश के कारण इस प्रकार के क्षतो मे यदि पूयोत्पादन हो जाता है तो वह अधिक उग्र स्वरूप का होता है क्योंकि निकास की समुचित व्यवस्था न हो सकने के कारण अन्दर ही अन्दर उत्पात मचा सकता है।

विदीर्ण क्षत[2]—चर्म तथा उसके नीचे की ऊतकों के खिंचकर फटने से उत्पन्न क्षत को विदीर्ण क्षत कहा जाता है। हिंसक जानवरो के काटने या

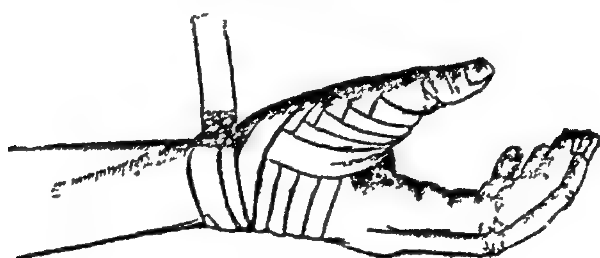
---

1. Punctured wound 2. Lacerated wound.

सूक्ष्मास्य शल्याभिहित यदगत्वाशयद्विता।
उत्तुंडित निर्गतवा तद्विद्ध इति निर्दिशेत्॥

ऊपर ले आते हैं जहाँ से हाथ के पीछे होकर ही वह कलाई पर पहुँच जाती है। कलाई पर गाँठ लगाकर उसको स्थिर कर दिया जाता है।

अंगूठे की पट्टी-स्वस्तिक पट्टी—(चित्र-१६) एक ¾ इंच चौड़ी पट्टी लेकर प्रथम कलाई के चारो ओर दो तीन लपेट लगाकर वह स्थिर कर दी जाती है। इसके पश्चात् अगूठे के पीछे से उसके मूल मे पहुँचती है तथा जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है अन्दर की ओर से निकलकर अगूठे के सामने होती हुई उसके बाहर से अगूठे के पीछे आकर फिर कलाई पर



चित्र—१६
अगूठे की सुपाशा पट्टी

पहुँच कर एक आधी लपेट लगाती है। इसी प्रकार दूसरे लपेट जितने भी आवश्यक हो और लगाए जाते हैं तथा जैसा कि चित्र मे स्पष्ट है अंगूठा ढँक दिया जाता है। अन्त मे कलाई के चारो ओर दो-तीन अतिरिक्त लपेट लगाकर पट्टी स्थिर कर दी जाती है।

अगूठे की सन्धि पर दबाव डाले रखने के लिए यह पट्टी बहुत उपयुक्त है, अतः अगूठे से रक्तस्राव होने अथवा अगूठे की सन्धि की मोच की अवस्था में यही पट्टी बाँधी जानी चाहिए।

हाथ एवं अग्रबाहु की पट्टी—(चित्र-१७) पट्टी को कलाई पर स्थिर करने के पश्चात् जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है हथेली तथा कलाई के चारो ओर स्वस्तिक पट्टी के रूप मे तीन-चार लपेट लगा दिए जाते है। हाथ का पीछे तथा सामने का भाग आवश्यकतानुसार ढँक जाने के पश्चात् कलाई के चारों ओर दो-तीन साधारण लपेट लगाकर पट्टी को समाप्त किया जा सकता

७—टाँके लगाने के पश्चात् एक्रीफ्लेविन के जलीय या स्पिरिट घोल या स्पिरिट मे भिगोकर गौज रखकर कड़ी पट्टी बाँध दी जाती है।

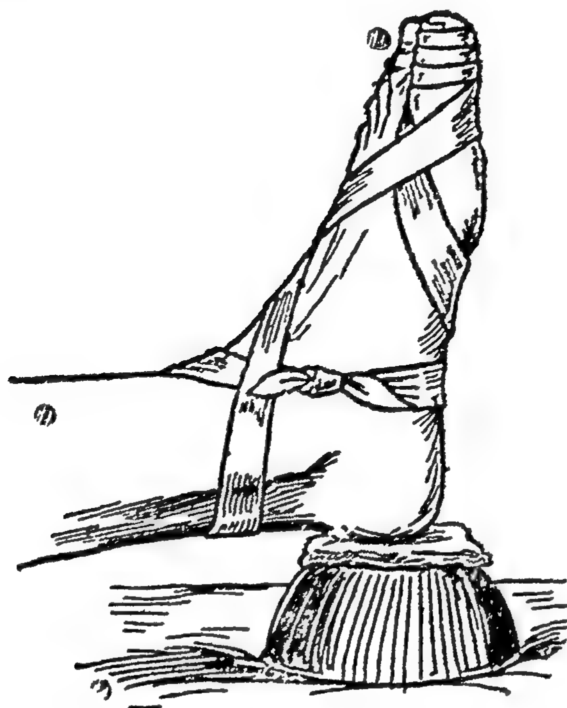
८—पीड़ित अग को पूर्ण आराम की स्थिति मे रखना चाहिए तथा रोगी को भी उसके आराम तथा स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए आराम की स्थिति में रखा जाता है। पौष्टिक एव सुपाच्य भोजन दिया जाना चाहिए।

६—क्षत मे यदि टिटेनेस के जीवणु पहुँच जाने की किंचित् भी सम्भावना हो तो टिटेनेस एण्टीटोक्सिन ३००० यूनिट का इन्जेक्शन अवश्य दे दिया जाना चाहिए जो एक सप्ताह बाद फिर दुहराया जा सकता है। एण्टी गैस गैंग्रोन ८००० यूनिट का भी इस प्रकार प्रयोग किया जाता है किन्तु रोग प्रतिषेध की दृष्टि से वह इतना सफल नहीं, जितना टिटेनेस एण्टीटोक्सिन है।

१०—आधुनिक युग मे पूयोत्पादन की चिकित्सा अथवा उसकी उत्पत्ति रोकने के लिए भी पेनिसिलिन आदि प्रतिजीवी योग एवं सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग बहुत महत्व का है जिसको भुलाया नहीं जा सकता। इसीलिए प्रथम दिन ही प्रोकेन पेनिसिलिन चार लाख का इन्जेक्शन दिया जाता है जिसे प्रति २४ घंटे पश्चात् दो-चार दिन तक दिया जाता रहता है। इसके साथ ही मुख द्वारा सल्फा-विभाग की औषधियों का प्रयोग भी सम्भव है। इस प्रकार करने से पूयोत्पादन की सम्भावना लगभग समाप्त हो जाती है। पेनिसिलिन का स्थानिक प्रयोग भी सम्भव है और लेखक का यह निजी अनुभव है कि टाँके लगाने के पश्चात् क्षत मे क्रिस्टेलायन पेनिसिलिन अथवा प्रोकेन पेनिसिलिन का घोल पहुँचा देने से पूयोत्पादन की सम्भावना लगभग समाप्त हो जाती है। प्रोकेन पेनिसिलिन का चूर्ण सीधा ही क्षत मे बुरका जा सकता है।

क्षत का उपसर्ग—यदि आघात लगते समय की ही गन्दगी अथवा अन्य कारण से व्रण मे उपसर्ग पहुँच जाता है तो उसमे पूयोत्पादन होकर पूय निकलने लगती है, किनारे एव आस-पास का स्थान शोथयुक्त हो जाता है और उसमे रोगी को पीड़ा मालूम पड़ती है। इन सबके अतिरिक्त कुछ ज्वर व ज्वर के साथ ही रोगी कुछ बेचैनी भी अनुभव करने लगता है।

की ओर से पट्टी पैर को ऊपर से तिरछा पार करती हुई फिर टखने के अन्दर की ओर पहुँचती है। टखने के चारों ओर दो-तीन लपेट लगाकर उसको पिन से स्थिर किया जा सकता है अथवा जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है, पट्टी के प्रथम सिरे से गाँठ लगा दी जा सकती है।



चित्र १८—पैर के अंगूठे की पट्टी

जङ्घा की पट्टी—पट्टी बाँधना प्रारम्भ करने से पहले पैर को थोड़ा ऊंचा एडी के आधार पर रख लेना चाहिए। ताकि पट्टी बाँधने मे सुविधा हो। प्रारम्भ मे ही पट्टी को स्थिर करने के लिए चार-पाँच लपेट टखने के चारों ओर लगा दिये जाते हैं और यदि पैर पर भी पट्टी बाँधना हो तो 8 आकार पट्टी द्वारा उसको भी सम्मिलित किया जा सकता है। इसके पश्चात् जब पट्टी ऊपर की ओर चलती है तो जंघा के ऊपर की ओर क्रमशः मोटा होते जाने के कारण साधारण लपेट ठीक नहीं पडते वल्कि परावर्तित लपेट लगाने आवश्यक हैं। ये परावर्तन जंघा के बाहर की ओर देने चाहिए ताकि पट्टी सुन्दर दीख पड़े। इस प्रकार जितना ऊपर आवश्यक हो वहाँ तक पट्टी बाँधी जा सकती है।

सछिद्र क्षत—इस प्रकार की स्थिति मे जब आँते बाहर निकल पडी हों तब पूर्ण परीक्षा कर लेना आवश्यक है कि कही आँतों को अथवा अन्य अग को क्षति तो नहीं पहुँची। यदि आँतों या अन्य अग का विदार है तो कैटगट द्वारा उसको सी दिया जाना चाहिए, इसके पश्चात् सावधानी के साथ आँतों को अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। यदि उदर का छिद्र इतना छोटा है कि उसमे होकर आँतों को अन्दर प्रविष्ट नही किया जा सकता तो उस छिद्र को बडा कर लिया जाना चाहिए। बडा करते समय यह अवश्य ध्यान रखना है कि आँतो को अथवा किसी अन्य रक्त नलिका को क्षति न पहुँच जाय।

आँतों के अन्दर प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् पर्युदर्या, उदर की पेशियों अथवा प्रावरणी मे कैटगट के टाँके लगा दिए जाते है। यह टाँके दृढ़ होने चाहिए। इसके पश्चात् रेशम के धागे से चर्म में टाके लगा दिए जाते है। लिखने की आवश्यकता नही कि इन सब कार्यो मे जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

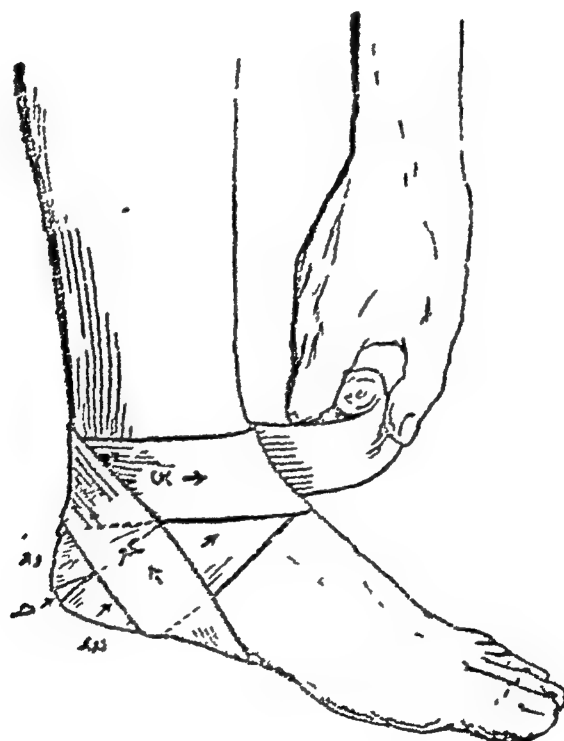
टाँके लगाने के पश्चात् लगभग एक सप्ताह तक रोगी को देखभाल की जाती है। पूयोत्पादन एवं पर्युदर्या शोथ रोकने को दृष्टि से पेनिसिलिन तथा सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग आवश्यक है।

सन्धियों के क्षत—इन क्षतो की भयकरता इस बात मे निहित है कि सन्धि के आवरणो के विदीर्ण हो जाने से उपसर्ग सन्धि मे अन्दर पहुँच सकता है जिससे सन्धि शोथ उत्पन्न होकर कालान्तर मे सन्धिग्रह[1] उत्पन्न हो जाय। सन्धि के पास ही क्षत होने पर आघात की प्रकृति के अनुसार सन्धि को क्षति पहुँचने का सन्देह किया जा सकता है और यदि क्षत मे होकर तैलीय सन्धि द्रव[2] निकलता मालूम पडता है तो इसकी पुष्टि हो जाता है।

यदि क्षत चर्म तक ही सीमित है तो सामान्य क्षत की तरह उसकी चिकित्सा की जाती है किंतु यदि सन्ध्यावरणो मे भी छिद्र हो चुका है तो प्रथम क्षत को पूरी तरह साफ किया जाता है तथा पिन, सूई या जो भी शल्य उपस्थित हो

1. Ankylosis 2. Synovial fluid.

लगाया जाता है। दूसरा लपेट इस लपेट के नीचे की ओर प्रथम लपेट को आधा ढंकते हुए तथा तीसरा लपेट ऊपर की ओर प्रथम लपेट के शेष ऊपरी आधे को ढंकते हुए लगाते हैं। तीसरा लपेट समाप्त करके पट्टी के बेलन को एड़ी से पैर के भीतर की ओर से होते हुए उसके ऊपर उँगलियों के मूल पर पहुँच जाते हैं। वहाँ उँगलियों के मूल में ऊपर की ओर बढ़ते हुए साधारण लपेट लगाए जाते हैं। जहाँ भी आवश्यक हो एक-दो परावर्तित लपेट भी लगाया जा सकता है। एडी पर पहुँच कर गुल्फ के चारों ओर 8 आकार पट्टी बाँध दी जाती है तथा गुल्फ सन्धि के ऊपर जंघा के नीचे पट्टी समाप्त कर दी जाती है। (चित्र-१६)



चित्र-२० एडी की पट्टी

गुल्फ एवं एड़ी के लिए पट्टी—इस पट्टी की विधि (चित्र-२०) में भली प्रकार समझाई गई है। अन्दर से बाहर की ओर पट्टी बाँधना शुरू करते समय प्रथम लपेट गुल्फ के सामने होता हुआ एडी के चारों ओर लगाया जाता है। दूसरा लपेट इसके थोड़ा ऊपर तथा तीसरा इसके थोड़ा नीचे की

शिरा द्वारा दिया जा सकता है। (४) प्रतिक्रिया प्रारम्भ होने पर कैलोमल अथवा मैगसल्फ का विरेचन दिया जाना चाहिए किन्तु यदि अवस्था अधिक चिन्ताजनक है तो २ औंस मैग-सल्फ ६ औंस पानी में घोलकर गुदामार्ग से चढ़ाया जा सकता है और फिर कुछ समय पश्चात् जल एकत्रित हो जाने पर रबर की नली द्वारा ही उसको निकाल दिया जाना चाहिये। यदि रोगी स्वतः मूत्र त्याग नहीं करता तो उसको भी शलाका (कैथेटर) द्वारा निकाल दिया जाना चाहिये। (५) तीव्र शिरःशूल होने पर कटिवेध द्वारा मस्तिष्क सुषुम्ना जल निकाल देना आवश्यक है। (६) जितने भी समय तक रोगी को आराम से बिना छेड़-छाड़ किए शुद्ध वायु एवं पौष्टिक सुपाच्य द्रव भोजन पर शांत रखा जा सके, उतना ही अच्छा है। इस बीच में यदि कोई कष्टकर लक्षण उत्पन्न होते हैं तो उनका समुचित प्रबन्ध किया जा सकता है अथवा शात रहकर धीरे-धीरे रोगी अपनी पूर्व शक्ति को प्राप्त करता है। यदि मस्तिष्क विकार के कुछ लक्षण प्रकट होते मालूम पड़े तो उनका तदनुकूल प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

मस्तिष्क सपीडन[1]--इसका अर्थ मस्तिष्क के भीतर भार अर्थात् दवाव का बढ जाना है जिसके कई भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं यथा (१) कपालास्थि के भंग अस्थि का टूटा हुआ भाग स्वय मस्तिष्क पर दबाव डालता है। (२) रक्तस्राव जो मस्तिष्कावरण के ऊपर[2] नीचे,[3] अथवा मस्तिष्क पदार्थ के अन्दर[4] कहीं भी हो सकता है। (३) विद्रधि[5] जो रक्तस्राव की ही तरह भिन्न-भिन्न स्थानों पर हो सकती है। (४) अर्बुद तथा (५) भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्पन्न शोथ जन्य पदार्थ।

सिर पर आघात लगने से कपालास्थि का भग्न हो सकता है अथवा आघात के कारण मस्तिष्क मे रक्त-स्राव हो जाता है। दोनों ही अवस्थाओं मे मस्तिष्क के एक विशेष स्थल पर दबाव पड़ने से उस स्थल से संबधित अंग प्रभावित होते है। इसके साथ ही निकटस्थ शिराओं पर दबाव पड़ने से रक्त के लौटने

---

1. Cerebral compression. 2. Extra dural. 3. Intradural. 4. Intra cerebral. 5. Cerebral Abscess.

सम्बन्ध में दो एक विशेष बातें ध्यान में रखना आवश्यक है अन्यथा पट्टी के खिसक जाने का भय रहता है। यदि पट्टी नीचे से जंघा पर बँधती हुई नहीं आई है तो उसको स्थिर करने के लिए पट्टी का स्वतन्त्र शिरा जान्वस्थि के नीचे रखा जाता है (चित्र—२१) तथा पट्टी के बेलन को जंघा के ऊपरी सिरे के पीछे से निकाल कर इस सिरे के ऊपर ही ले आया जाता है। यहाँ से पट्टी जानुसन्धि के पीछे होती हुई उसके नीचे के सिरे के अन्दर की ओर पहुँचती है। इस स्थल पर उसके नीचे के सिरे के चारों ओर चौथा लपेट लगा दिया जाता है। इस चौथे लपेट के पश्चात् पट्टी जानुसन्धि के सामने होती हुई नीचे उतरती है और इस प्रकार पाँचवाँ लपेट जंघास्थि के ऊपरी सिरे पर आ जाता है। अब पट्टी जंघास्थि के ऊपरी सिरे के पीछे जाकर सन्धि के अन्दर की ओर से सामने आ जाती है और संधि को ढँकती तथा पाँचवें लपेट का उल्लंघन करती हुई ऊपर की ओर चढ़ती है। ऊपर उरु के निचले सिरे के बाहरी ओर से चौथे लपेट का अनुसरण करती हुई पीछे से अन्दर की ओर पहुँचती है जहाँ से पाँचवें लपेट के साथ-साथ उसके ऊपरी आधे भाग को ढँकती हुई नीचे आती है। इस प्रकार 8 आकार पट्टी बाँधने का क्रम जारी रहता है तथा सन्धि को पूरा ढँक दिया जाता है (चित्र—२२)। सन्धि के पूरा ढँके जा चुकने पर पट्टी को पिन से स्थिर कर दिया जाता है।

उरु-सन्धि की स्वस्तिक पट्टी[1]—यह पट्टी रोगी के खड़े होने की अवस्था में अथवा यदि वह लेटा है तो कटि प्रदेश को नितम्बाश्रय[2] (चित्र—२३) के सहारे थोड़ा उठाए रखकर ही बाँधी जा सकती है। पट्टी का उद्देश्य उरुसंधि के आस-पास के क्षत पर रखे व्रणोपचार वस्त्रों को साधना है। इसका प्रारम्भ उरुसंधि के नीचे वृषण तथा उसके मध्य की घाई से किया जाता है। पट्टी के स्वतन्त्र सिरे को वहाँ रखकर बेलन ऊपर तथा बाहर की ओर नितम्बास्थि के ऊपरी किनारे पर ले जाया जाता है जहाँ से वह कमर के पीछे-पीछे स्वस्थ ओर की नितम्बास्थि के ऊपरी किनारे के सहारे-सहारे सामने आकर पीडित ओर की उरु पर ही आ जाता है। पीडित उरु के पीछे से पट्टी फिर उसी स्थल पर आ जाती है जहाँ से कि प्रारम्भ हुई थी। अब दूसरा लपेट प्रथम लपेट के ऊपरी आधे भाग को ढँकता हुआ उसी के सहारे-सहारे लगाया जाता है। इस

1. Spica of the Groin. 2. Pelvic Rest.

१ सिर के आघात—मस्तिष्क संघट्टन अथवा मस्तिष्क सम्पीड़न ।

२ अपस्मार अथवा मस्तिष्क गत रक्त सचार की विकृति ।

३ रोग-मधुमेह अथवा मूत्र-विषमयता जन्य अवस्था ।

४ विषाक्त पदार्थ—मद्य, अफीम या उसके यौगिक तथा बार्बीट्यूरेट विभाग की औषधियाँ ।

५ आतपघात अथवा अत्यन्त शीत का प्रभाव ।

१—इनमे से प्रथम का वर्णन अभी-अभी किया जा चुका है । सिर पर आघात का इतिहास तथा कभी-कभी नासा, कर्ण अथया मुख से रक्तस्राव देखा जा सकता है ।

२ अपस्मार[1]–दौड़े के बाद ही रोगी बेहोश हुआ होता है अथवा पहले दौडे आने का इतिहास मिल सकता है । प्रायः मल-मूत्र का त्याग अनजाने मे हो जाता है तथा परीक्षा करने पर पहले दौडों के समय जीभ काटने या अन्यत्र चोट लग जाने के निशान देखे जा सकते है ।

मस्तिष्क गत रक्त-सचार की विकृति के दो रूप हो सकते हैं यथा रक्ताघात[2] अर्थात् मस्तिष्क के किसी स्थल मे रक्तस्राव[3] अथवा रक्त प्रवाह का एकदम रुक जाना[4] । इस अवस्था मे सिर पर आघात लगने का कोई इतिहास नहीं मिलता यद्यपि यह सम्भव है कि बेहोशी की हालत मे गिरते समय सिर मे हलकी चोट लग गई हो । रोगी प्रायः ४० वर्ष से अधिक आयु का होता है और उसको रक्त-सस्थान सम्बन्धी कोई रोग हो सकता है । अधिकांशतः रक्त-दाबाधिक्य[5] के कारण मस्तिष्क गत रक्तस्राव अथवा सिफलिस की तृतीय अवस्था मे अन्तिम धमन्यावरोध[6] के कारण रक्त प्रवाह रुकने की अवस्था उत्पन्न होती है । पूर्ण परीक्षण के लिए रोगी को दो-तीन दिन तक पूर्ण देख-भाल मे रखा जा सकता है ।

---

1. Epilepsy 2. Apoplexy 3. Cerebral Haemorrhage 4. Embolism or Thrombosis 5. High Blood Pressure 6. Endarteritis Obliterans.

छठवाँ-अध्याय

शस्त्र-कर्म

शस्त्र-कर्म अर्थात् आपरेशन का अर्थ चाकू, चिमटी आदि की सहायता से विशिष्ट रोगों की चिकित्सा करना है। ये शस्त्र-कर्म बहुत ही साधारण विद्रधि खोलने से लेकर आन्त्र, हृदय, मस्तिष्क आदि सम्बन्धी बहुत ही महत्वपूर्ण रूप के हो सकते हैं। इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से ध्यान रखने की बात यह है कि प्रधान शस्त्र-कर्म के अतिरिक्त शस्त्र-कर्म के लिए तैयारी तथा शस्त्र-कर्म के पश्चात् रोगी की देखभाल का भी अपना एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान है जिसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व हाउस सर्जन पर रहता है—प्रधान सर्जन का कर्तव्य तो नियत समय पर शस्त्र-कर्म कर देना है।

इस स्थल पर हाउस सर्जन से सम्बन्धित इस सम्पूर्ण विषय की ही विशद् विवेचना करनी है।

शस्त्र-कर्म की पूर्ण व्यवस्था—

रोगी की तैयारी—उन अवस्थाओ को छोडकर जब दुर्घटना की स्थिति मे रोगी के प्रविष्ट होते ही शस्त्र-कर्म करना आवश्यक होता है, अन्य अवस्थाओ मे सदैव रोगी को शस्त्र-कर्म से एक दो दिन पूर्व अस्पताल मे प्रविष्ट कर लिया जाना चाहिए। इस प्रकार करने से रोगी व रोग का पूरा इतिहास लेने तथा रक्त, मूत्र आदि की परीक्षा करने के लिए पूरा-पूरा समय मिल जाता है। यदि इन परीक्षाओ के फलस्वरूप कोई विशेष बात मालूम पडती है तो उसका उचित प्रबन्ध किया जा सकता है। रोगी के हृदय व फुफ्फुसो की भी पूरी तरह परीक्षा कर ली जानी चाहिए और इस प्रकार यह निश्चय कर लिया जाना चाहिए कि वह रक्तवह या श्वसन तन्त्र के किसी रोग से तो पीड़ित नही।

चिकित्सा—अंग की पूर्ण परीक्षा की जानी चाहिए क्योंकि संभव है कि नीले धब्बे के नीचे अस्थिभंग आदि के रूप मे विशेष क्षति पहुँच चुकी हो। यदि आवश्यक हो तो एक्स-रे द्वारा परीक्षा कराई जा सकती है। हलके नीले स्याह पर टिंचर आयोडीन लगाकर छोड़ा जा सकता है। पूर्ण चिकित्सा अंग को आराम देना तथा शीत का प्रयोग करना है। शीत का प्रयोग बरफ या ठडे पानी के रूप मे किया जा सकता है। शीतोत्पादक[1] घोल मे भीगी पट्टी चोट लगे स्थान पर रखी जा सकती है तथा उसको भीगा ही रखा जा सकता है।

अवत्वक् रक्तसंचय—चर्म के नीचे होनेवाला रक्तस्राव जब चारो ओर फैल जाता तथा जमकर नीले वर्ण का हो जाता है उसको साधारणतया चर्माधः रक्तस्राव या नील कहा जाता है किन्तु जब वह द्रवरूप मे ही चर्म के नीचे ही एकत्रित हो जाता है तो उसको चर्माधः या अवत्वक् रक्तसंचय[2] कहना चाहिए।

द्रव संचय के कारण यह विद्रधि से मिलता-जुलता है किन्तु आघात के पश्चात् उत्पन्न होने तथा शोथ के कोई लक्षण न होने से इसको विद्रधि से भिन्न समझा जाना चाहिए। यह हो सकता है कि उपसर्ग पहुँच जाने पर वहाँ कालान्तर मे विद्रधि की उत्पत्ति हो जाय। चर्माधः रक्तसचय का भविष्य (१) पूर्ण शोषण और इस प्रकार उत्सेध (उठे हुए स्थान) की समाप्ति (२) द्रवाश का पूर्ण शोषण और तन्तु ऊतक की उत्पत्ति (३) द्रव से भरे द्रवार्बुद[3] की उत्पत्ति (४) बाहर से या अन्दर[4] से उपसर्ग पहुँच जाने पर विद्रधि की उत्पत्ति।

चिकित्सा—आघात लगते ही आघात के स्थान पर शीत का प्रयोग करने, दबाव डालने, कड़ी पट्टी बाँधने और इन सबके साथ ही साथ अग को पूर्ण आराम की स्थिति मे रखने से चर्माधः रक्तसचय की अवस्था को अधिक बढ़ने से रोका जा सकता है। संचित-रक्त का कुछ समय मे स्वतः ही शोषण हो

1. Cooling lotion. 2. Haematoma 3. Cyst 4. Auto infection.

पचन-संस्थान के शस्त्र कर्म—इस प्रकार के अधिकाश शस्त्र-कर्मो के लिए जहाँ तक भी सम्भव हो सके रोगी को कम-से-कम एक सप्ताह तक देख-भाल मे रखना चाहिए। यदि शस्त्र-कर्म मुख मे अथवा गले में होना है तो दाँतों एव मसूड़ों की तरफ विशेष रूप से ध्यान देना है और यदि दन्तपूय की सम्भावना हो तो उनको निकाला जा सकता है। अन्यथा प्रतिदिन भोजन के पश्चात् तथा रात को सोते समय हाइड्रोजन पर-ऑक्साइड से कुल्ले करके मुख की सफाई कर ली जानी चाहिए।

यदि शस्त्र-कर्म आमाशय पर होना है तो भोजन के सम्बन्ध मे विशेष सावधानी बरती जाती है। शस्त्र-कर्म से कम-से-कम तीन दिन पूर्व तक भोजन हलका तथा सुपाच्य होना चाहिए। शस्त्र-कर्म से चार घण्टे पूर्व एक औंस ग्लूकोज पाँच औंस पानी मे मिलाकर दिया जा सकता है। शस्त्र-कर्म से पहले दिन आमाशय प्रक्षालन किया जाता है और यदि प्रक्षालन के पश्चात् निकला हुआ द्रव दुर्गंध युक्त होता है तो उसके शुद्ध हो जाने तक शस्त्र-कर्म को रोका जाना अच्छा है।

यदि चिरकालीन स्वरूप का अन्त्रावरोध है तो भोजन हलका किन्तु पोषक होना चाहिए जिसमे ग्लूकोज की मात्रा अधिक हो। इस अवस्था मे अधिक तीव्र विरेचक औषधियों का प्रयोग भी ठीक नहीं, एनीमा द्वारा ही कोष्ठ-शुद्धि की जा सकती है।

मलाशय पर किये जाने वाले शस्त्र कर्म के लिए पूर्ण कोष्ठ-शुद्धि किया जाना आवश्यक है। दो दिन पूर्व कैस्टर आयल दिया जाता है तथा शस्त्र-कर्म के पूर्व दिन प्रातः-साय एनीमा देकर मल-शुद्धि कर ली जाती है। प्रातः मलाशय का प्रक्षालन कर लिया जाना चाहिए।

शस्त्र-कर्म गृह—प्रत्येक अस्पताल में शस्त्र-कर्म के लिए एक कमरा नियत रहता है जिसे शस्त्र-कर्मागार या शस्त्र-कर्म कक्ष या गृह[1] कहा जा सकता है। इसमे अस्त्र, शस्त्र, संज्ञाहरण के यन्त्र, आक्सीजन देने के साधन आदि सभी

1. Operation Theatre.

साधारण कृष्ण नेत्र की चिकित्सा की ओर ऊपर ही संकेत कर दिया गया है और वह पर्याप्त है। अधिक रक्तस्राव होने पर चीरा देकर या सूई की सहायता मे रक्त निकाल दिया जाता है इससे अवस्था के जल्दी ठीक हो जाने से चेहरे पर विकृति भी नही आती तथा उपसर्ग पहुँचकर पूयोत्पत्ति का भी भय नही रहता।

नख के नीचे रक्तस्राव—कभी-कभी उँगली पर आघात लगने से नख के नीचे भी रक्त-संचय हो जाया करता है जिसमे बहुत पीड़ा होती है। उपयुक्त स्थान पर चीरा देकर रक्त को निकाल देना ही उसकी प्रधान चिकित्सा है।

दो कठोर पदार्थों के बीच मे दब जाने से कभी-कभी चर्म पर नीले रंग के फलक-से पड़ जाते हैं। स्पिरिट का फाहा रखकर पट्टी बाँधना या काटकर रक्त निकाल देना ही इसकी प्रधान चिकित्सा है।

मोच[1]—अकस्मात् जोर के साथ सन्धि के मुड जाने से सन्धि-बन्धनों के खिंच जाने पर उसके कुछ सूत्र टूट जाते है, इसी को मोच आ जाना कहते है। इस प्रकार की दुर्घटना पैर की सन्धि मे अधिक हुआ करती है जब भागते, दौड़ते या कूदते समय पैर ऊँचे-नीचे पर पड जाने से गुल्फ-सन्धि के बाहर की ओर के बन्धन विकृत हो जाते है। कभी-कभी यह भी सम्भव है कि अस्थि के जिस भाग पर ये बन्धन लगे है, वह भी टूट-जाए। अस्थि-भंग का निश्चय एक्स-रे द्वारा ही हो सकता है।

सन्धि मे शोथ उत्पन्न हो जाता है तथा उसको किंचित् भी हिलाने में तीव्र पीडा होती है। धीरे-धीरे शोथ समाप्त होकर सब कुछ ठीक हो जाता है।

चिकित्सा—सधि को पूर्ण आराम की स्थिति मे रखना चाहिए। उसपर रबर की पट्टी बाँधी जा सकती है। शुरू-शुरू मे ही शीतोत्पादक विलयनों के प्रयोग से शोथ तथा पीडा मे शान्ति मिलती है। दो-तीन दिन पश्चात् सन्धि पर हलकी मालिश तथा उसको चलाने का प्रयत्न भी किया जा सकता है।

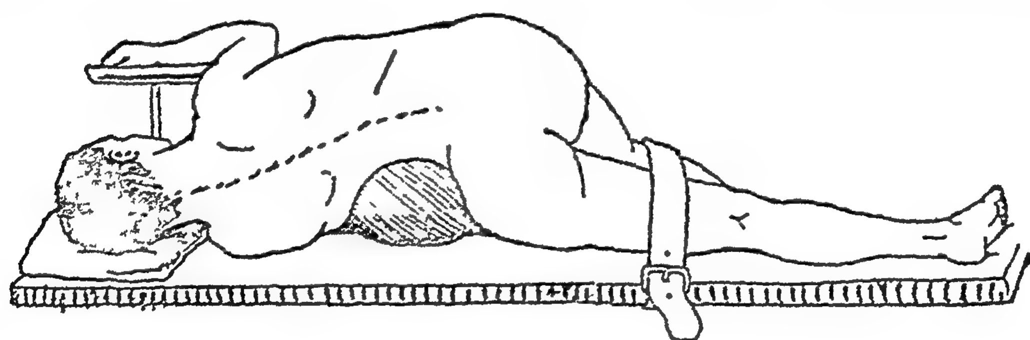
---

1. Sprain.

हो जाता है तो उन्हे शस्त्र-कर्म में फिर सीधा हाथ नहीं लगाना चाहिए अथवा हाथों की पूर्ववत् पुनः शुद्धि कर लेनी चाहिए। इसी प्रकार अशुद्ध सहायकों को चाहिए कि वे व्रण के सीधे सम्पर्क में आनेवाली रुई, गौज, पट्टी, औजार, वस्त्र आदि किसी भी वस्तु को न छूएँ, उनका केवल मात्र कर्तव्य ड्रमों को इधर-उधर करना, रोगी के हाथ-पैरों को साधना आदि है। यदि कोई औजार नीचे गिर जाता है तो उसको फिर विना शुद्ध किए काम मे नहीं लेना चाहिए। इस प्रकार की अन्य भी कई वातें हैं जिनका जीवाणुहीनता के उद्देश्य से ध्यान रखना है, किन्तु उन सबका इस स्थान पर वर्णन सम्भव नहीं। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जितने कम सहायकों से काम चलाया जाय, उतना ही अच्छा है।

शस्त्र कर्म का प्रारम्भ—

रोगी का आसन—शस्त्र-कर्म भवन के पास वाले कमरे में ही मूर्च्छित करने के पश्चात् रोगी को शस्त्र-कर्म भवन मे लाकर मेज पर लिटा दिया जाता है।



(चित्र २३)

वृक्क पर शल्य-कर्म के लिए आसन

छोटी श्रेणी के अस्पतालों में रोगी को मेज पर लिटाने के वाद ही वेहोश किया जाता है। मेज पर रोगी को किस आसन मे लिटाया जाय यह वात शस्त्र-कर्म की प्रकृति तथा शस्त्र-कर्म के स्थान पर निर्भर करती है और सारी वातों को देखते हुए तत्सम्वन्धी निर्णय भी उसी समय किया जा सकता है। फिर भी, इस स्थान पर भिन्न-भिन्न आसनो के सम्वन्ध मे थोड़ा प्रकाश डालना उपयुक्त ही होगा। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शस्त्र-कर्म की मेज में ही इस

तन्त्रिकातन्त्र का तीव्रस्वरूप का क्षोभ होता है किन्तु बाद में इसके साथ ही साथ जली हुई ऊतकों से उत्पन्न विष-पदार्थों के शरीर मे शोषण से विषमयता भी मिल जाती है। इस अवसाद या स्तब्धता की गहराई दग्ध किस श्रेणी का है, इस बात पर नहीं बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि शरीर का कितना क्षेत्र जला है। शाखाओं के दग्ध की अपेक्षा मध्य भाग का दग्ध अधिक भयंकर होता है। बच्चे व वृद्ध दाहों को कम सहन कर सकते हैं। इसी अवस्था में आन्तरिक अंगों की भी रक्ताधिक्य की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

२—**द्वितीय शोथ की अवस्था**—प्रथम अवस्था के पश्चात् व्रणों के पूर्ण स्वच्छ होकर उसमे कणिकाऊतक उत्पन्न होने तक यह अवस्था रहती है। दग्ध-स्थान से विषाक्त पदार्थों के शोषण होने के कारण रोगी को १००°-१०४° फा० तक ज्वर हो जाता है। निमोनिया, फुफ्फुसावरण शोथ[1], वृक्क-शोथ[2], पर्युदर्या शोथ[3] तथा कभी-कभी मस्तिष्कावरण[4] शोथ के लक्षण उत्पन्न हो जाते है। अतिसार की उत्पत्ति बहुधा होते देखी जाती है। कुछ रोगियों मे ग्रहणी[5] का शोथ या व्रण[6] भी उत्पन्न होते देखा गया है।

तृतीय विरोहण की अवस्था—यह पहले या दूसरे सप्ताह मे प्रारम्भ होकर व्रण के पूर्ण रूप से भर जाने तक रहती है। इस अवस्था मे आन्तरिक अंगो के यकृत, वृक्क आदि के विकार अथवा विसर्प, धनुस्तम्भ आदि उपद्रव उत्पन्न हो सकते है।

दाह से मृत्यु के कारण—(१) यदि रोगी अग्नि से मृत अवस्था मे ही निकाला गया है तो मृत्यु का कारण प्रायः श्वासावरोध ही होता है, धुआँ तथा ताप की अधिकता के कारण दम घुट जाना बहुत कुछ सम्भव है। (२) प्रथमावस्था मे मृत्यु-स्तब्धता के कारण होती है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि दग्ध की गहराई की अपेक्षा उसका विस्तार अधिक भयकर होता है। (३) तीसरी अवस्था मे मृत्यु का कारण पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा

---

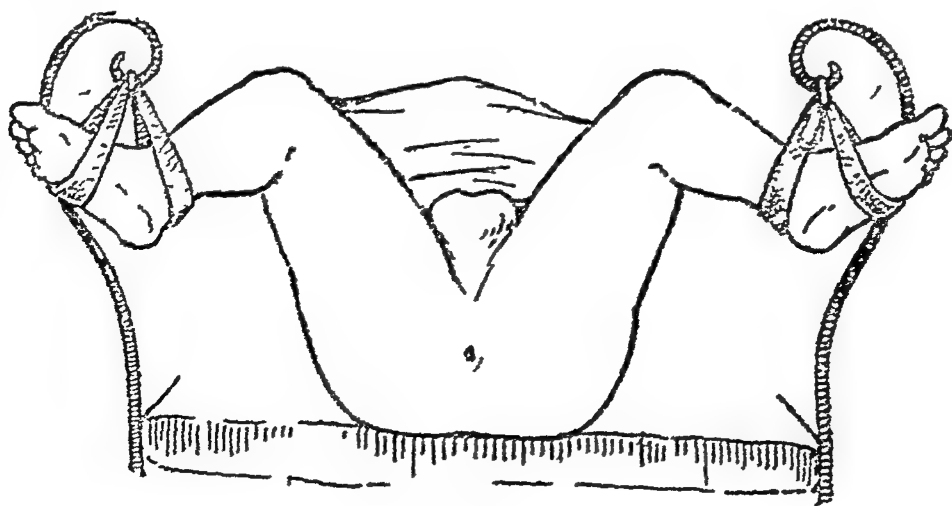
1. Pleurisy 2. Nephritis 3. Peritonitis 4. Meningitis 5. Duodenum inflammation or 6. Ulcer.

दिया जाना चाहिए ताकि रोगी शिर की ओर अधिक खिसक न सके। इस प्रकार को ट्रेण्डलन वर्ग[1] का आसन कहा जाता है।

पूयोरस[2] या वक्ष के अन्य शस्त्र-कर्म रोगी को मुँह की ओर लिटा कर ही किए जा सकते हैं। इस अवस्था में यदि आवश्यक हो तो विरुद्ध ओर के स्कन्ध के नीचे कुछ आधार रख कर उसको थोड़ा उठाया जा सकता है।

वस्ति प्रान्त के नीचे के भाग पैरीनियम[3] पर किए जाने वाले शस्त्रकर्म के लिए रोगी को एक विशेष आसन में जिसे लिथोटोमी[4] आसन कहते हैं रखना पड़ता है (चित्र २४)।

रोगी को साधना—यदि आधार भूत विसंज्ञक का प्रयोग नहीं किया गया है तो बेहोश करते समय प्रारम्भ में क्षणिक उत्तेजना के कारण रोगी इधर-उधर हाथ मार सकता है उस समय यह आवश्यक है कि अशुद्ध सहायक उसको साधे रहे। यदि रोगी से उसकी स्थिति पूछने या उसको सान्त्वना आदि देने के लिए कुछ कहना-सुनना हो तो यह मूर्च्छक द्वारा ही किया जाना चाहिए किसी अन्य सहायक द्वारा नहीं। मूर्च्छा के प्रारम्भ या शस्त्र-कर्म के पूरे दौरान में शस्त्र-कर्म गृह में पूरी-पूरी शांति रहना आवश्यक है—केवल औजारों की खटपट ही सुनाई पड़ती है।



(चित्र २४)
लिथोटोमी आसन

1. Trandelen burg. 2. Empyema. 3. Perineum.
4. Lithotomy Position.

ध्यान रक्खा जाय ताकि उपसर्गरोधी औषधियो के प्रयोग की आवश्यकता ही न पड़े और अस्पताल मे ऐसा बहुत कुछ अशों मे सम्भव भी है किन्तु रोगी के घर पर रहते हुए यह कठिन है अतः प्रारम्भ से ही सल्फा औषधियाँ, पेनिसिलीन, टैट्रासाइक्लीन आदि प्रतिजीवी पदार्थों का प्रयोग करने लगना चाहिए। रोगी को ज्वर का होना, बेचैनी, निद्रानाश, नाड़ी को तेजी, पीड़ा, व्रणों से अधिक स्राव आदि लक्षण उपसर्ग प्रारम्भ होने के परिचायक है और लक्षणों की तीव्रता व उग्रता की सीधे अनुपात मे ही उपसर्ग की भीषणता समझनी चाहिए। अच्छा तो यह है कि व्रणस्राव की परीक्षा व वर्द्धन करके यह निश्चय किया जाय कि उपसर्ग करनेवाले जीवाणु किस प्रकार के है तथा किस औषधि का उनपर अधिक प्रभाव पड़ सकता है। किन्तु सर्वावस्था मे यह संभव नही अतः रोग व रोगी की स्थिति तथा औषधि द्वारा होने वाले लाभ के आधार पर ही उचित मात्रा मे तथा विधि से सल्फा औषधियाँ तथा पैनीसलीन, टैट्रासाइक्लीन का प्रयोग करने लगा जाय। प्रोकेन पैनीसलीन का इंजेक्शन द्वारा प्रयोग तथा/अथवा टैरामायसीन या एक्रोमायसीन का प्रयोग पर्याप्त हैं। स्थानिक चिकित्सा की उचित व्यवस्था रहने पर इन औषधियो के प्रयोग की विशेष आवश्यकता भी नहीं पड़ा करती।

स—रोगी के सामान्य स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे भी विशेष सतर्क रहना है। प्रारम्भ मे यदि दग्ध उग्र स्वरूप का है तो ग्लूकोज, प्लाज्मा, डैक्सट्रान तथा ३-४ दिन पश्चात् रक्त के अन्तःक्षेप द्वारा रोगी की जीवन-रक्षा करना आवश्यक है। बाद मे रोगी को पौष्टिक भोजन विशेष कर प्रोटीनयुक्त, विटामिन योग, विशेषकर विटामिन सी तथा रक्तवर्द्धक औषधियाँ दी जाती है। चयापचय उत्तेजक डायना बोल, ओरा बोलीन आदि का प्रयोग भी लाभकर है।

स्थानिक चिकित्सा—१. गर्मी के स्रोत से दग्ध भाग का सम्पर्क तत्क्षण समाप्त कर दिया जाना चाहिए ताकि और अधिक गहराई तक क्षति न पहुँचे।

२. यदि सम्भव हो तो जले भाग को २०-३० मिनट तक ठण्डे पानी में

ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ प्रधान तन्त्रिका, धमनी या शिरा न हो क्योंकि इनसे जितना भी दूर रहा जा सके उतना ही अच्छा है। छेदन अनावश्यक रूप से अधिक लम्बा तो नही होना चाहिए किन्तु साथ ही उसको आवश्यकता से अधिक छोटा बनाना भी ठीक नही क्योंकि फिर आगे शस्त्रकर्म मे बाधा पड़ सकती है। यह ध्यान रखना है कि छेदन धमनी, तन्त्रिका, शिरा आदि की लम्बी दिशा मे ही दिया जाय उनके आर-पार विरुद्ध दिशा मे नही। शरीर के लगभग प्रत्येक स्थानों पर ही इस प्रकार का छेदन पेशी सूत्रों की भी लम्बी दिशा मे ही पड़ता है। दूसरी बात जो छेदन के सम्बन्ध मे ध्यान रखनी है वह यह है कि शस्त्रकर्म के पश्चात् बनने वाला व्रणचिह्न अशोभनीय नही होने चाहिए और यह चेहरे, ग्रीवा आदि अंगों पर के शस्त्र-कर्म के सम्बन्ध मे विशेष रूप से स्मरणीय है और वह भी स्त्रियों मे। इसके लिए जो कुछ किया जा सकता है वह यह है कि छेदन चर्म की प्राकृतिक झुर्रियों या जिन्हे मोड़[1] कह सकते है उनकी दिशा मे ही दिया जाय, उदाहरण के लिए माथे पर का छेदन खड़ा न होकर आड़ा होना चाहिए जब कि ग्रीवा पर का छेदन आड़ा न होकर खड़ा होना ठीक है। फिर शस्त्र-कर्म की प्रकृति के अनुसार यह सर्जन द्वारा ही तय किया जाना चाहिए।

तेज चाकू से चर्म छेदन के पश्चात् चर्माधः धातु का छेदन करके गम्भीर प्रावरणी[2] तक पहुँचा जाता है। इसका छेदन करने के पश्चात् पेशी को एक ओर हटा दिया जाता है अथवा पेशी-सूत्रों को अलग-अलग करके भी मार्ग बनाया जा सकता है। विशेष आवश्यकता पड़ने पर पेशी-सूत्रों को काटने में भी कोई आपत्ति नहीं और न इससे कोई हानि ही हो सकती है यदि पेशी-सूत्रों को बाद मे भली प्रकार सी दिया जाय। यथासम्भव तन्त्रिका सूत्रों विशेष कर प्रेरक को नहीं काटना चाहिए क्योंकि तन्त्रिका सूत्रों का कटने के पश्चात् फिर उत्पन्न हो जाना सम्भव नहीं। रक्त-नलिकाएँ भी यथा-सम्भव बचाई ही जाती है।

---

1. Natural Skin Crease 2. Deep Fascia.

या उसका सहायक सुई को चर्म के साथ मे उस समय तक पकडे रहे जब तक उसको निकालने का प्रबन्ध किया जाय क्योंकि सुई के अन्दर पेशी मे स्वतन्त्र हो जाने पर ढूँढना बहुत कठिन हो जाता है। कोकेक का इंजेक्शन देकर स्थान को संज्ञाहीन करके चर्म का छेदन किया जाता है। हो सकता है कि सुप्रकाश मे सुई को खोजने के लिए कुछ समय तक परिश्रम करना पडे किन्तु यह नितान्त आवश्यक है। निकाल चुकने के बाद चर्म मे टाँके लगा दिये जाते है।

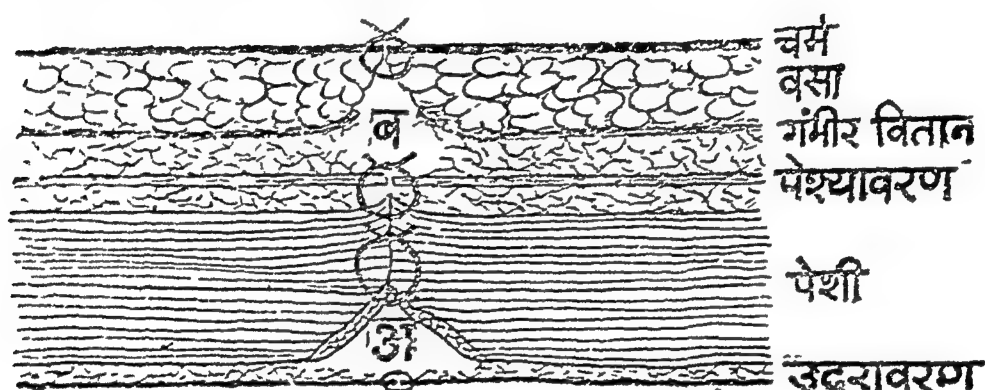
काँटे अथवा साधारण सुइयाँ—इस प्रकार की दुर्घटना प्रायः चिकित्सक के सामने आया करती है। सुई को बाहर अवश्य ही निकाल दिया जाना चाहिए।

यदि काँटे या सुई का थोड़ा भी भाग पकड़ने लायक बाहर है तो किसी भी व्यक्ति द्वारा उसको पकड़ कर बाहर खीचा जा सकता है किन्तु खीचते समय यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि उसको जिस दिशा मे प्रविष्ट हुई है उसी दिशा मे बाहर की ओर खीचना चाहिए अन्यथा अन्दर टूट जाने का भय है। अन्दर टूट जाने पर कोकेन के इन्जेक्शन से स्थान को संज्ञाहीन बनाने के पश्चात् चर्म का छेदन करके शल्य को ढूँढ़ कर बाहर निकाल दिया जाता है।

मछली का काँटा या नोक पर मुडे हुए दूसरे शल्य मुडे होने के कारण बाहर खीचकर नही निकाले जा सकते। इनके लिए यही करना पड़ता है कि यदि सम्भव हो तो आगे की ओर और भी इतना प्रविष्ट किया जाय कि वह दूसरे स्थान पर चर्म के बाहर निकल आवे या चर्म के ठीक नीचे तक आ जाय जब छेदन करके उसकी नोक को बाहर निकाल कर मुड़ा हुआ भाग काटकर अलग कर दिया जाता है तथा शल्य को पकड़कर बाहर खीच लिया जाता है।

काँच के टुकडे भी यदि चर्म के नीचे प्रविष्ट कर गये है तो छेदन करके निकाल दिये जाने चाहिए। आवश्यकता पड़ने पर-क्ष-किरण फोटो द्वारा

सम्पर्क में ले आना तथा उसी सम्पर्क में स्थिर रखना है ताकि वे जुड़ जायँ। जहाँ सम्पर्क ठीक नहीं रहता वहीं बाधा पड़ती है। गहराई पर लगाये जाने वाले कैटगट के टाँके शोषित हो जाते हैं उनको काट कर अलग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती जबकि चर्म पर बाहर लगाये जाने वाले रेशम के धागे के टाँके काटकर अलग किए जाते हैं।



चित्र नं० २९
भिन्न-भिन्न स्तरों के टाँके

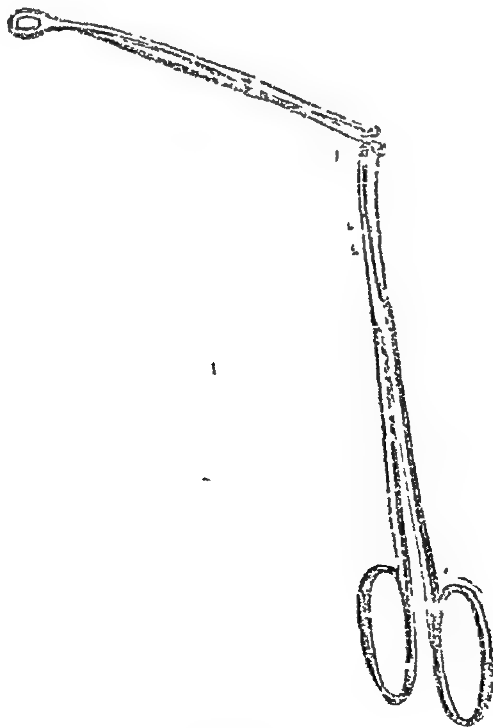
अ तथा ब अवकाश स्थान हैं जो छूटने नहीं चाहिए क्योंकि यहाँ सिरम आदि के एकत्रित हो जाने से उपसर्ग की सम्भावना है।

टाँके या सीवन—इसके लिए सिल्क वार्मगट, घोड़े का बाल, रेशम या रुई का धागा कुछ भी प्रयुक्त किया जा सकता है। टाँका लगाना प्रारम्भ करने से पहले व्रण के दोनों किनारों को आपस में मिलाकर देख लेना चाहिए कि वे ठीक तरह से मिल जायँ। टाँके लगाने के लिए साधारणतया अर्द्धवक्र सुई प्रयुक्त की जाती है: किन्तु शस्त्र-कर्म के स्थान के अनुसार पूर्ण वक्र या सीधी सुई भी ठीक ही है। शूची को दाएँ हाथ में पकड़ कर ही अथवा यदि वह वक्र है तो शूची ग्राहक[1] या धमनी संदंश की सहायता से पकड़ कर प्रयुक्त किया जाना चाहिए। सीवन कई प्रकार की हो सकती है यथा—

1. Needle Holder.

कर्णगत शल्य निकालने के लिए प्रयुक्त यन्त्रों का प्रयोग नासागत शल्य को निकालने के लिए भी किया जाता है। किन्तु शल्य निकालने का प्रयत्न करने से पूर्व अच्छा हो यदि ५–१० प्रतिशत शक्ति का प्रोकेन घोल नासा के छिद्र मे सीकर[1] के रूप मे पहुँचा दिया जाय अथवा घोल में भिगोकर एक फाहा उसमे रख दिया जाय। शल्य निकालने की विधि स्पष्ट है। यन्त्र शल्य तथा नासा की भित्ति के बीच मे होकर अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और जब वह शल्य के पीछे की ओर पहुँच जाता है तब यन्त्र को थोड़ा घुमाकर शल्य को उसके साथ-साथ बाहर खींच लिया जाता है। नासारन्ध्र मे सफाई करके उपसर्ग रोकने की दृष्टि से प्रोटार्गल बिन्दु डाले जा सकते है।

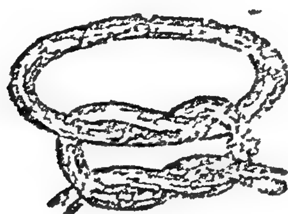
इसके अतिरिक्त एक विशेष प्रकार की चिमटी (चित्र ४५) से पकड़कर भी नासागत शल्य को निकालना सम्भव है। यदि शल्य गिरने के साथ ही



चित्र ४५
नासागत शल्य निकालने की संदंश

1. Spray.

शस्त्र-कर्म में सदैव रीफ गाँठ[1] ही लगाई जाती है ग्रेनी गाँठ[2] (चित्र २७) नहीं। जिस स्थल पर पहले लगाई गई आधी गाँठ के फिसल जाने का भय हो वहाँ शस्त्र कर्म [3] गाँठ (चित्र २८) लगाई जा सकती है।



चित्र २८—शस्त्र कर्मग्रन्थि

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है सूई व्रणोष्ठ से लगभग १/८–१/४ इंच की दूरी पर चर्म में प्रविष्ट की जाती है किन्तु यदि किसी स्थल विशेष पर अधिक तनाव पड़ने की सम्भावना हो तो धागा भी मोटा लेना चाहिए तथा सूई चर्म से १-११/२ इंच दूरी से प्रविष्ट करना चाहिए। ग्रन्थि लगाने के पश्चात् टाँकों को काट दिया जाता है किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिये कि बिलकुल ग्रन्थि के पास से न काटा जाय वल्कि थोड़ा धागा छोड़ दिया जाय ताकि टाँका काटते समय असुविधा न हो। ये टाँके आवश्यकतानुसार एक दूसरे से १/२-३/४ इच की दरी पर हो सकते हैं।

अविच्छिन्न सीवन—इस प्रकार के टाके एक दूसरे से अलग नहीं होते वल्कि निरन्तर रहते हैं। प्रथम वार सूई निकालने के पश्चात् पहला टाँका वाँध दिया जाता है। इसके पश्चात् सुई निरन्तर चर्म मे प्रविष्ट होती रहती तथा वाहर निकलती रहती है; अन्तिम वार सुई में पिरोये हुए धागे के स्वतन्त्र सिरे तथा सुई के छिद्र वाले दोनों धागों मे गाँठ लगा दी जाती है।

इस प्रकार के टाकों को लगाने मे शीघ्रता होती है तथा धागा भी कम

1. Reef-knot 2. Granny-knot 3. Surgeon's knot.

शलाका अन्दर ऊपर की ओर प्रविष्ट करके शल्य को मुख की ओर हटाकर निकाल लिया जाता है।

श्वासप्रणाली[1] का शल्य—

छोटी-छोटी वस्तुएँ स्वरयन्त्र से आगे बढकर श्वासप्रणाली मे पहुँच जा सकती है। श्वासावरोध के लक्षण शल्य के स्वर रज्जुओं के बीच मे अटक जाने पर ही श्वासमार्ग के पूर्ण अवरुद्ध हो जाने के कारण उत्पन्न होते है और जब शल्य श्वास प्रणाल मे पहुँच जाता है तब ये लक्षण इतने तीव्र नही रहते बल्कि उनकी तीव्रता शल्य के आकार पर निर्भर करती है। श्वासप्रणाल मे पडा शल्य वहाँ व्रणोत्पादन शोथ तथा पीडा का कारण होता है। इसमे तो कोई सन्देह ही नहीं। खाँसी के साथ थोड़ा रक्तमिश्रित कफ भी रोगी को आ सकता है।

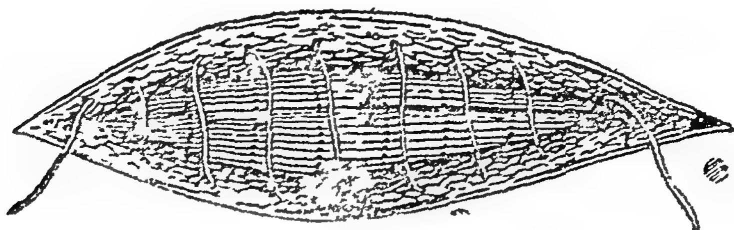
रोगी को उलटा लटकाकर शल्य निकालने का प्रयत्न नही करना चाहिए क्योंकि सम्भावना यह है कि शल्य ऊपर की ओर आकर स्वर रज्जुओं के मध्य मे अटक कर पूर्ण श्वासावरोध के लक्षण उत्पन्न कर सकता है। यदि श्वास-नलिका छिद्रकरण शल्य-कर्म किया जा चुका है तो इस प्रकार करने मे कोई आपत्ति नही। अच्छा तो यह है कि क्ष-किरण द्वारा शल्य की स्थिति का पूर्ण निश्चय करके विशेष विधि से ही उसको निकाला जाय और इसके लिए रोगी को सदैव विशेषज्ञ के पास ही भेज देना अच्छा है।

ग्रासनली का शल्य[2] —

कभी-कभी भोजन का कुछ भाग, अस्ति का टुकडा, सिक्का, बने हुए दाँत आदि ग्रासनली मे अटक जाते हैं तथा कष्टकर होते है। यदि कोई ऐसी वस्तु हो जो पचने लायक हो अथवा जिसकी यह संभावना हो कि आँतो का बिना हानि पहुँचाये मल के साथ निकल जा सकेगी तो उसको और भी नीचे की ओर ढकेल दिया जाना चाहिए। अन्यथा उसको निकाल देना आवश्यक

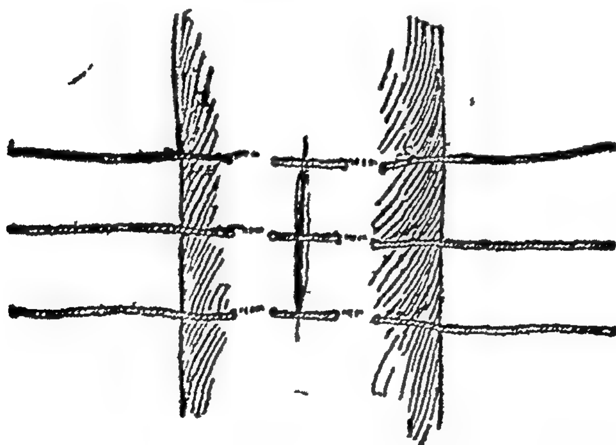
1. Trachea. 2. Oesophagoscope.

लैम्बर्ट सीवन[1]—इस प्रकार की सीवन आँतों अथवा आमाशय के छिद्रों को बन्द करने के लिए प्रयुक्त की जाती है। सीवन करते समय इस



चित्र ३०
उपचर्माधः सीवन

बात का ध्यान रखना चाहिए कि अंग की अन्तःकला[2] मे छिद्र न किया जाय। व्रणोष्ठ से लगभग १½ इंच की दूरी पर सूई अन्दर प्रविष्ट की जाती तथा व्रणोष्ठ से लगभग ⅙ इन्च की दूरी पर हो बाहर निकाल ली जाती है। इसके बाद सुई व्रण के ऊपर होकर जाती हुई व्रणोष्ठ से ⅙ इन्च की दूरी पर पुनः चर्म के नीचे प्रविष्ट की जाकर १½ इन्च की दूरी पर निकाल ली जाती है। अन्त में दोनों शिरों में गाँठ लगा दी जाती है। चित्र ३१।



चित्र ३१
लैम्बर्ट सीवन

1. Lemberts Suture. 2. Mucous Membrane.

के बाहरी छिद्र में होकर बाहर आ जाता है। (चित्र ४६) जहाँ से पकड़कर उसको आसानी से खींचा जा सकता है। एक साधारण सुई को भी इसी प्रकार निकाल सकते हैं किन्तु उसमे रुख बदलने की आवश्यकता नहीं—जैसे ही चर्म में नोक निकल आती है उसको पकड़कर बाहर खींच सकते हैं।

यदि अश्मरी मूत्रमार्ग मे आकर अटक जाती है तो रोगी को तत्क्षण अकस्मात् पीड़ा होती है और इसके साथ ही साथ मूत्र का आंशिक या पूर्ण अवरोध भी हो सकता है। ऊपर वर्णित विधियो मे से किसी भी एक के अनुसार जैसा भी सम्भव हो पथरी को निकालने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

कभी-कभी स्त्रियाँ मूत्र-मार्ग से बालों की पिन को मूत्राशय में प्रविष्ट कर लिया करती हैं—बाह्य मूत्र-मार्ग छोटा होने के कारण उसमे रुक जाने का प्रश्न ही नही उठता। रोगिणी को ईथर से बेहोश करके मूत्रमार्ग को विस्तृत किया जाता तथा उँगली डालकर पिन का रुख ठीक करके चिमटी की सहायता से पकड़ कर उसको बाहर निकाल दिया जाता है।

अन्य दुर्घटनाएँ

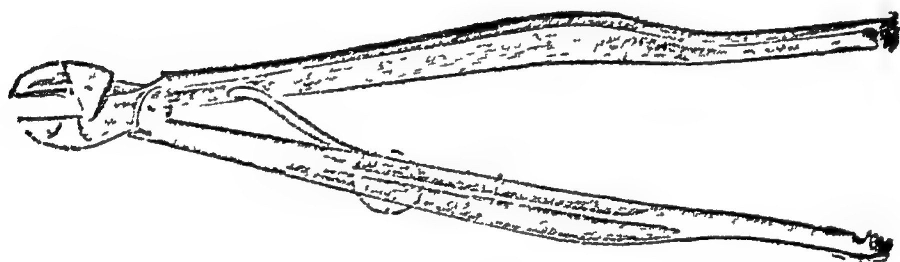
श्वासावरोध—

जीवन के लिए भोजन से भी कही अधिक आवश्यकता वायु की है और इसीलिए फुफ्फुसो में वायु के न पहुँच सकने के कारण रक्त को आक्सीजन नहीं मिलता तथा कार्बन-डाइ-आक्साइड का वहाँ से उत्सर्ग असम्भव हो जाने से जीवन संकट मे पड़ जाता है। शरीर के सभी अंगों को जीवनीशक्ति क्षीण होती जाती है तथा मृत्यु के लक्षण उत्पन्न होने लगते है। मस्तिष्क एवं तन्त्रिकातन्त्र पर उसके कोमल होने के कारण सबसे पहले प्रभाव पड़ता है तथा हृदय पर सबसे अन्त मे। अतः इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि फुफ्फुसो तक श्वास आने-जाने का प्रबन्ध किया जाय। इसी के लिए कृत्रिम श्वास क्रिया[1] की जाती है। किन्तु कृत्रिम रूप से

1. Artificial respiration.

पतले टुकडे होते हैं जिनके दोनो शिरों पर काटे लगे रहते हैं। ये काटे ही चर्म मे प्रविष्ट हो जाया करते हैं। एक विशेप प्रकार की चिमटी पर लगे हुए दो तारों मे ये क्लिप लगे रहते हैं जहाँ से एक विशेप प्रकार की दूसरी संदंश द्वारा उतारे जाते तथा व्रणोष्ठो को मिलाते हुए लगा किए जाते हैं, (चित्र ३२) चौथे पाँचवे दिन व्रणोष्ठों के जुड़ जाने के पश्चात् दूसरी विशेष संदंश (चित्र ३३) द्वारा उनको अलग किया जाता है।

निकास—निकास[1] का अर्थ व्रण मे एकत्रित तथा निरन्तर उत्पन्न होने वाले स्राव को वहाँ एकत्रित न होता रहने देकर ऐसा प्रबन्ध कर देना है जिससे स्राव वाहर निकल जाता रहे। पूययुक्त व्रणो मे तो इसकी नितान्त आवश्यकता है ही किन्तु जीवाणुहीन शल्य कर्मो[2] मे भी निम्न अवस्थाओं में निकास की आवश्यकता है।—



चित्र—३३
मायकल क्लिप हटाने की चिमटी

१. ग्रन्थि आदि काटकर अलग कर देने के कारण यदि वडा-सा अवकाश स्थान वन गया हो जिसमे रक्त रस के स्रवित होते रहने की सम्भावना हो जैसा कि ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियाँ निकालने पर सम्भव है।

२. जव रक्त के स्रवित होते रहने की सम्भावना हो जैसा कि स्तन पर किए जाने वाले शल्य-कर्मों के समय सम्भव है।

३. आस पास के अंगों को अधिक क्षति पहुँची हो।

1. Drainage. 2. Aseptic Surgery.

चिकित्सक की कठिनाई—इस विधि मे चिकित्सक की मुख्य कठिनाई अति संवातन क्षारमयता[1] है जो प्रायः उत्पन्न हो जाया करती है और जिसके कारण उसको चक्कर आने लगते तथा उँगलियों मे झनझनाहट पड़ने लगती है ऐसी हालत मे यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ समय तक वह शान्त रहे और प्राकृतावस्था को प्राप्त कर ले।

इसमे कोई सन्देह नही कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियो की सामर्थ्य भिन्न-भिन्न होती है और इसलिए कोई-कोई अधिक समय तक यह क्रिया करते रह सकते है। किन्तु यह भी ध्यान रखना है कि इस प्रकार की स्थिति का कारण अधिक फूक मारते रहना है। यह इसलिए भी हो सकता है कि युवा रोगी के मुख में प्रविष्ट अंगूके के इधर-उधर होकर फूकी हुई वायु निकल जाती हो और इसलिए अधिक फूक मारने की आवश्यकता पड़ती हो।

यदि ऐसा है तो साधारण-सी लगने वाली विधि यह है कि अँगूठा मुख मे से निकाल लिया जाय और रोगी की गर्दन के नीचे हाथ डालकर गर्दन को ऊपर की ओर तनी हुई रखा जाय। इसके अतिरिक्त दूसरे हाथ से नकुनो को पकड़ने के साथ ही साथ माथे को हथेली से दबाए रखा जाय। ऐसा करने से यह होगा कि रोगी की गर्दन अति प्रसार[2] की स्थिति मे रहेगी और वायु मार्ग मे रुकावट नही आने पायेगी।

कुछ भी हो यदि परिस्थितियाँ ऐसी हो कि मुख से मुख कृत्रिम श्वसन नही कराया जा सकता तो तत्क्षण दूसरी विधि अपना ली जानी चाहिए क्योकि रोगी की जीवन-रक्षा के लिए कृत्रिम श्वसन आवश्यक है।

शेफर की विधि[3]—यह विधि बच्चो के लिए, डूबने की अवस्था मे तथा विशेष कर उस अवस्था मे जब अन्य सहायक न हो, अधिक उपयुक्त पड़ती है। रोगी को पृथ्वी पर मुख नीचा रखते हुए लिटा दिया जाता है। चिकित्सक रोगी की बगल मे ही घुटनो के बल झुक जाता है तथा हाथो को रोगी के वक्ष के नीचे के भाग पर रख लेता है। अब वह अपने शरीर का भार हाथो पर

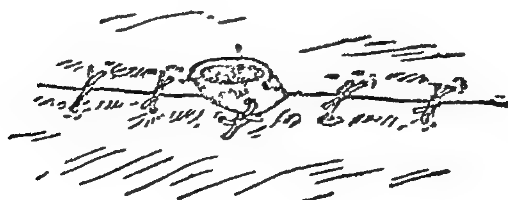
1. Hyperventilation Alkalosis 2. Hyperextension
3. Schafer's Method.

पूयोत्पादक जीवाणुओं के अन्दर पहुँच जाने से पूयोत्पत्ति की सम्भावना बनी रहती है।

यदि नली किसी स्थान विशेष की पूय को निकलता रखने के उद्देश्य से लगाई गई है तो उसको अधिक समय तक लगाये रहना आवश्यक है, किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि नली लगाते रहने का स्थान नाड़ीव्रण का रूप न धारण कर ले। यह हो सकता है कि नली की लम्बाई तथा मोटाई धीरे-धीरे कम की जाती रहे और बदल-बदल कर दूसरी नली लगाई जाती रहे।

सिल्क वर्मगट के ४-१० टुकड़े मिलाकर व्रण के अन्दर रख देने से यह सम्भव है कि उनके सहारे-सहारे स्राव बाहर निकलता रहे।

सिगरेट ड्रेन से तात्पर्य गौज की ह ' बनाई गई सिगरेट के आकार की वत्ती-से है जिसको व्रण मे रखा जा सकता है। सधारणतया गौज के टुकडे भी व्रण में लगाये रखे जा सकते हैं जिसकी सहायता से स्राव बाहर निकलता रहता है। गौज के प्रयोग के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बाधा यह है कि कभी-कभी व्रणोष्ठों से वह इतना चिपक जाता है कि फिर व्रणोष्ठों के बन्द हो जाने से स्राव का बाहर निकलना रुक जाता है। इससे बचने के लिए यह किया जा सकता है कि गौज को जलीय घोल मे न भिगोकर गर्म करके जीवाणुहीन शुद्ध कर ली गयी वैसलीन या लिक्विड पैराफिन मे भिगो लिया जाय अथवा एक्रीफ्लेविन इमल्शन का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार करने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि गौज फिर व्रण से चिपकता नही और फिर उसको व्रण मे कई



चित्र न० ३५
निकास नलिका को स्थिर करना

सकता है। इन सबके साथ ही प्रत्यलर्क वैक्सीन[1] के इन्जेक्शन आवश्यक हैं। यदि कुत्ता पागल नहीं है तथा क्षत भी ऐसा है कि उसमे से रक्त तक नहीं निकला तो यह सब व्यर्थ है। फिर भी कभी-कभी रोगी के सन्तोष के लिए जैसा भी सम्भव हो, करना चाहिए।

बीछी, ततैया, मधुमक्खी आदि द्वारा डंक मारने से बहुत पीड़ा होती है तथा कालान्तर मे अग शोथयुक्त भी हो जा सकता है। इन सबके लिए साधारण उपाय यही है कि दबाकर या सुई की सहायता से डंक निकाल दिया जाय तथा स्पिरिट अमोनिया, सोडाबाई कार्ब या पोटास परमेगनेट का घोल आदि जो भी पदार्थ मिल सके, मले जायॅ। बिच्छू के डक मारने पर कोकेन घोल का स्थानिक इन्जेक्शन तत्क्षण पीड़ा को शान्त करने मे बहुत सहायक होता है। कभी-कभी बहुत भयकर अवस्थाओ मे गश आना, वमन, अतिसार, चेहरे तथा हाथ-पैरो की सूजन, शीतपित्त आदि लक्षण प्रकट होते है जो यथार्थ मे एलर्जी[2] के प्रतीक है। अतः अन्य उत्तेजक पदार्थों के प्रयोग के साथ ही साथ इनमें एड्रीनैलीन का इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग लाभकर होता है। कुछ अन्य एण्टी हिस्टेमीन पदार्थ यथा एविल, फिनर्गन एण्टीस्टीन का प्रयोग आजकल अधिक प्रचलित है। कोर्टीकोस्टरायड योग मुख द्वारा अथवा डैकेड्रोन फास्फेट सदृश योग इन्जेक्शन द्वारा दिए जा सकते है।

सर्पदंश—

साँप द्वारा काटा जाना एक ऐसी अवस्था है जिसमे रोगी की जीवन-रक्षा के लिए तत्क्षण उचित चिकित्सा की आवश्यकता है। चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले आवश्यक यह है कि यह निर्णय कर लिया जाय कि सर्प सविष था या निर्विष क्योकि भारतवर्ष मे लगभग तीन सौ प्रकार के सर्प पाए जाते है जिनमे केवल चालीस ही सविष होते है और साधारण व्यक्ति किसी भी प्रकार के सॉप द्वारा काटे जाने को भयकर दुर्घटना समझता है। उसका अर्थ यह भी है कि सर्प सविष था या निर्विष इसके लिए साधारण व्यक्ति या स्वय रोगी द्वारा दी गई सूचना पर विश्वास नहीं किया जा सकता बल्कि लक्षणो के आधार

1. Antirabic Vaccine. 2. Allergy.

अशुद्ध व्रण अर्थात् विद्रधि आदि के लिए भी शस्त्र-कर्म करते समय जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। अशुद्ध व्रण युक्त रोगियों को प्रायः पृथक् रखा जाता है तथा शस्त्र-कर्म करते समय भी यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि जीवाणु-हीन शुद्ध शस्त्रकर्मों के[1] पश्चात् ही अशुद्ध शस्त्र-कर्म[2] किए जाये। शस्त्र-कर्म के पश्चात् प्रतिदिन या दिन मे दो बार व्रणोपचार आवश्यक है।

गले अथवा मुख के आन्तरिक व्रणो के पश्चात् चिकित्सा मे मुख की आन्तरिक स्वच्छता का विशेष ध्यान रखना चाहिए और इसके लिए सामान्य उपाय यही है कि हाइड्रोजन परआक्साइड आदि में भीगे प्लुत से बार-बार मुख की सफाई की जाती रहे। दिन भर मे तीन चार बार हाइड्रोजन परआ-क्साइड से कुल्ले कर लेना भी अच्छा ही है।

उदर प्रान्त के व्रणो का विस्फारित हो जाना—इस प्रकार की स्थिति टाँके काटने के पश्चात् या टाँके काटने से पूर्व ही उत्पन्न हो सकती है। इसके कई कारण हो सकते हैं यथा टाँको का ठीक प्रकार से न लगाया जा सकना, आध्मान, उपसर्ग, कास की तीव्रता आदि। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर रोगी को क्लोरोफार्म आदि सुँघाकर बेहोश कर दिया जाता है। बाहर निकले हुए आँतो के भाग को उष्ण शुद्ध लवण जल मे भीगे तौलिया से ढँककर रखते हुए अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तथा इसके पश्चात् नियमतः भिन्न-भिन्न स्तरों मे अलग-अलग टाँके लगा दिये जाते हैं। यदि इस प्रकार टाँके लगाना किसी कारणवश सम्भव न हो तो मजबूत टाँके सभी स्तरो को एक साथ लेते हुए आध-आध इन्च की दूरी पर लगा दिये जाते हैं। पहले सभी टाँके लगा लिये जाने तथा बाद मे क्रमशः बाँध दिये जाने चाहिए।

व्रण मे पूयोत्पादन—उपरोक्त चिकित्सा क्रम उस अवस्था का है जब व्रण शुद्ध ही हो—उपसर्ग के पहुँच जाने से उसमे पूयोत्पादन न हो पाया हो। यदि शुद्ध व्रण मे पूयोत्पादन होने लगता है तो व्रण के उस स्थान पर पीड़ा प्रारम्भ हो जाने के साथ ही साथ रोगी को ज्वर भी आने लगता है। व्रण की परीक्षा करने

1. Aseptic Surgery 2. Antiseptic Surgery.

निर्विषीकरण का मुख्य पहलू प्रतिविष का प्रयोग है और डाक्टर को कर्तव्य इसकी शीघ्र से शीघ्र व्यवस्था करना है। प्रतिविष—स्नेक एण्टीवीनम-शुष्क चूर्ण के रूप मे एम्पूल मे बन्द आता है। एक एम्पूल मे दश सी. सी. परिस्नुत जल मिलाकर उसको घोल लिया जाता है और इस प्रकार दो एम्पूल अर्थात् २० सी. सी. का इन्जेक्शन शिरा मे दिया जाता है। ½–२ घण्टे पश्चात् यही मात्रा फिर दुहराई जाती है। इसके पश्चात् आवश्यकतानुसार ६ घण्टे बाद पुनः-पुनः दिया जा सकता है।

प्रतिविष अश्व सीरम ही है अतः इसके द्वारा प्रतिक्रिया की उत्पत्ति सम्भव है जिसके लिए सावधान रहना चाहिए। प्रारम्भ मे प्रतिक्रिया के लिए परीक्षा भी की जा सकती है। किन्तु प्रतिविष का दिया जाना अनिवार्य है अतः प्रतिक्रिया के लिए सावधान रहते हुए तथा उसका प्रबन्ध करते हुए उसे दिया अवश्य जाना है।

प्रतिविष का दशस्थानिक प्रयोग भी लाभकर हो सकता है विशेष कर व्याल दश मे। यहाँ इसको चर्माधः दिया जाना है।

प्रतिविष के अलावा कोर्टीकोस्टरोयड का प्रयोग भी बहुत महत्व का है। इसको भी तत्क्षण डैकाड्रोन, बेटनेलन आदि के रूप मे शिरा मार्ग से देना है। प्रेडनीसोलोन १५ मिलीग्राम दिन मे ३-४ बार ५-६ दिन तक देने के बाद धीरे-धीरे बन्द कर दी जाती है। डैकाड्रोन ड्रिप के साथ देना अधिक उचित है।

लाक्षणिक चिकित्सा—ए. टी. एस. ½–१ सी. सी. दिया जाना आवश्यक है। रक्तसंवहन या श्वसनपात[1], अवसाद[2], रक्तस्राव आदि के लिए यथास्थान वर्णित चिकित्सा की ही जानी चाहिए ताकि रोगी की जीवन-रक्षा हो सके।

सर्प-विष के प्रभाव से रक्षा हो जाने के पश्चात् भी दशस्थानीय पूयोत्पत्ति एव कोथ के लिए शल्यकर्म एव प्रतिजीवी योगों का भरपूर प्रयोग अनिवार्यतः आवश्यक है।

———

1. Circu latory and Respiratory Failure. 2. Shock.

से स्राव निकलते रहने की सम्भावना हो तो चद्दरे के नीचे रबर शीट रख दी जानी चाहिए। अस्थि भग्न की अवस्था मे भग्न की प्रकृति के अनुसार विशेष प्रकार की शय्या का प्रबन्ध करना आवश्यक होता है। प्रत्येक अस्पताल में उपयुक्त आकार-प्रकार की शय्या उपलब्ध रहती है।

निद्रानाश—सामान्य उपायों द्वारा पीडा शान्त हो जाने पर निद्रा आ ही जानी चाहिए किन्तु यदि ऐसा नही होता अर्थात् निद्रानाश का कारण पीड़ा नहीं तो निद्रा लाने का पृथक् से प्रयत्न करना आवश्यक है ताकि रोगी को शान्ति मिलकर उसकी अवस्था मे सुधार हो। विरोनल, सल्फोनल या पैराल्डीहायड का प्रयोग किया जा सकता है। बार्बीट्यूरेट विभाग की औषधियाँ सिक्विल, लार्जेक्टिल आदि प्रशान्तक औषधियो का प्रयोग भी इस सम्बन्ध मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

प्यास—उदर के अतिरिक्त अन्य स्थानों के शस्त्र-कर्मों की अवस्था मे प्रचुर मात्रा में शुद्ध जल अथवा ग्लूकोज आदि मिलाकर देने से तृषा को शान्त रखा जा सकता है। किन्तु यदि उदर पर ही शस्त्र-कर्म किया गया है तो अधिक मात्रा मे पानी देने से आध्मान की उत्पत्ति हो सकती है, अतः गुदा द्वारा जल, लवण जल या शिरा द्वारा लवण जल देना अधिक अच्छा है।

मलावरोध—यदि शस्त्र-कर्म के दौरान मे मौर्फीन का प्रयोग किया गया है तो मलावरोध का उत्पन्न हो जाना निश्चित-सा है। इन अवस्थाओं मे जब शस्त्र-कर्म पचन-संस्थान अर्थात् आमाशय, पक्वाशय, आन्त्र या गुदा आदि से सम्बन्धित नहीं, ४८ घण्टे पश्चात् हलका विरेचन दे देना चाहिए। कास्कारा या सैना आदि पर्याप्त हैं किन्तु यदि इनसे काम नही चलता दिखाई दे तो वड़ों मे सायं १-२ ग्रेन कैलोमल तथा बच्चों मे ग्रे-पाउडर देकर प्रातः लवण विरेचक देना सम्भव है। यदि शस्त्र-कर्म आमाशय या आँतो पर किया गया है तो मुख द्वारा विरेचक औषधि का प्रयोग ठीक नहीं कहा जा सकता। ऐसी अवस्था में रोगी को कष्ट होने पर एनीमा की शरण ली जा सकती है।

एनीमा साबुन के पानी का, एक पाइण्ट साबुन के पानी में एक औंस तारपीन का तेल मिलाकर अथवा १-२ औंस ग्लीसरीन का हो सकता है। यदि

मुडने से रक्त मार्ग के बन्द होने के साथ ही साथ (३) रक्त का स्कन्दन[1] हो जाता है और इन सबके साथ ही (४) रक्तदाब गिरने से रक्त प्रवाह की तेजी कुछ कम हो जाती है तथा रक्त स्कन्दन में सहायता मिलती है (५) शिराओं से होनेवाले रक्तस्राव की अवस्था मे शिरा की भित्ति आपस मे मिलने तथा वहाँ रक्त स्कन्दन हो जाने से रक्तस्राव शीघ्र ही बन्द हो जाता है (६) केशिकाओं से होनेवाला रक्तस्राव प्रधान रूप से रक्तस्कन्दन के कारण ही बन्द होता है।

उपरोक्त प्रकार का रक्तावरोध एक प्रकार से अस्थाई स्वरूप का होता है किन्तु धीरे-धीरे रक्त स्कन्दन मे परिवर्तन होते और वह तन्तुऊतक[2] के रूप में बदल जाता है जिससे रक्तस्राव स्थाई रूप से बन्द हो जाता है।

उपरोक्त विधि से केवल अल्प मात्रा मे होने वाला रक्तस्राव ही बन्द हो सकता है। चिकित्सा द्वारा रक्तस्राव रोकने के रूप मे निम्न उपाय काम में लाने चाहिए—

१—**सीधा रक्तस्राव के स्थान पर दबाव**—रक्तस्राव को तत्क्षण रोकने की यह सर्वोत्तम सामान्य व सरल विधि है। जिस स्थल से रक्त निकल रहा है उस स्थान पर चिकित्सक शुद्ध गौज रखकर उँगली, अगूठा आदि से सीधा दबाव डालकर रक्त प्रवाह रोक सकता है। यह भी हो सकता है कि क्षत में एक्रीफ्लेविन या मरक्यूरोक्रोम के घोल से भीगा गौज या शुद्ध गौज रखकर उसके ऊपर जीवाणुहीन शुद्ध गौज रुई आदि की एक दो या तीन गद्दी लगाकर कड़ी पट्टी बॉध दी जाय। ऐसा करने से दबाव पडने के कारण तत्क्षण रक्तस्राव रुक जायगा और फिर प्रकृतितः रक्तमार्ग के अवरुद्ध होने से स्थाई रूप से रोक लग जायगी।

यदि आवश्यक तथा सम्भव हो तो कटी हुई रक्तनलिका को निकाल कर सीधा उसको अवरुद्ध किया जा सकता है। किन्तु उसके लिए क्षत को स्पष्ट करना एवं और चौड़ा करने की आवश्यकता पड सकती है अतः यह कार्य करने का उसी अवस्था मे प्रयत्न करना चाहिए जब पूरा प्रबन्ध हो।

---

1. Coagulation. 2. Fibrous Tissue.

पर कैथेटर का प्रयोग आवश्यक है। जो बहुत सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए।

वमन—सञ्ज्ञाहर पदार्थ क्लोरोफार्म आदि के पश्चात् होने वाला वमन प्रायः अपने आप ही बन्द हो जाता है। कभी-कभी यदि शस्त्र-कर्म से पूर्व रोगी ने कुछ भोजन लिया है तो यह वमन अधिक उग्र स्वरूप का हो सकता है किन्तु उससे भय की आवश्कता नहीं क्योंकि उसका अपने-आप बन्द हो जाना निश्चित है। कभी-कभी नासा, मुख या गले के शस्त्र-कर्म में रोगी द्वारा रक्त निगल जाने के कारण भी वमन की तीव्रता रहती है। यदि वमन अधिक समय तक रहता है तो रोगी को सोडाबाइकार्ब डालकर आधा या एक ग्लास पानी पीने को दे। इस पानी का वमन हो जावेगा। और इसके साथ में सञ्ज्ञाहर औषधि का गन्धयुक्त बहुत-सा श्लेष्मा भी निकलेगा इसके पश्चात् बहुत कुछ सम्भव है कि वमन बन्द हो जाय यदि नहीं होता तो वमन बन्द करने के लिए औषधियों का प्रयोग करना चाहिये।

थोड़ा-थोड़ा बरफ का पानी, चाय, काफी दी जा सकती है। आमाशय प्रदेश पर सेक करना भी लाभकर है। विस्ट्रिल, लार्जेक्टिल, सीक्विल आदि किसी प्रशान्तक[1] औषधि के प्रयोग से वमन तत्क्षण शान्त हो जाना चाहिए। अथवा—

सोडाबाई कार्ब	१५ ग्रेन
स्पिरिट अमोनिया एरोमेटिक	१० बूँद
एसिड हाइड्रोसायनिक डिल	५ बूँद
शर्बत ग्लूकोज	१ ड्राम
पानी मिलाकर	१ औंस

इस प्रकार की एक-एक खुराक प्रति चार घण्टे पश्चात् दी जानी चाहिए। यदि इन सामान्य उपायों से काम न चले तथा वमन विशेष कर पित्तयुक्त होता रहे तो आमाशय का प्रक्षालन किया जाना चाहिए। तीव्र वमन होते रहने पर

1. Tranquilizer.

अवस्था मे इस प्रकार कडी पट्टी बॉधना युक्तिसगत नहीं क्योंकि दबाव के कारण विद्रधि फटकर उसकी पूय इधर-उधर फैल जा सकती है। उँगली पर शस्त्र-कर्म करते समय धातु या रबर का उचित आकार का छल्ला उँगली पर शिरे की ओर से चढ़ाया जा सकता तथा मूल मे स्थिर किया जा सकता है इसके प्रयोग से भी उँगली मे रक्त का प्रवाह रुक जाता है।

इस स्थल पर यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अगोच्छेदन के समय थोड़े समय के लिए टूर्नीकेट के प्रयोग के अलावा प्रत्येक शस्त्र-कर्म मे टूर्नीकेट का प्रयोग उपयुक्त नहीं समझा जाता, क्योकि टूर्नीकेट अलग कर देने के पश्चात् शस्त्र-कर्म के स्थान पर और भी अधिक रक्तस्राव का भय रहता है तथा अग की जीवनीयशक्ति का भी कुछ ह्रास होता है।

सावधानियॉ – टूर्नीकेट के प्रयोग के समय निम्न बातों का अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए :—

१ शिराओ से होने वाले रक्तस्राव के लिए टूर्नीकेट का प्रयोग प्रशस्त नहीं।

२ टूर्नीकेट का प्रयोग जितने भी थोडे समय के लिए किया जाय, उतना ही अच्छा है। शस्त्र-कर्म के पश्चात् अथवा दुर्घटनाजन्य रक्तस्राव मे क्षत को सी देने व बॉध देने के पश्चात् भी टूर्नीकेट को लगी रहने देकर ही रोगी को चारपाई पर भेज देना भयकर गलती है जो कभी नही की जानी चाहिए।

टूर्नीकेट एक घण्टे से अधिक समय न लगी रह जाय इसके लिए निम्न सावधानियॉ रक्खी जा सकती हैं।

अ—यदि टूर्नीकेट बॅधी रखकर रोगी को अस्पताल भेजना है तो एक पत्र लिखकर उसमे टूर्नीकेट लगाने के समय आदि लिख देना चाहिए तथा साथ जाने वाले व्यक्ति को समझा देना चाहिए। इसके भी अलावा यह किया जा सकता है कि एक कागज पर लिखकर कागज रोगी के वस्त्रो के साथ उसके वक्ष पर पिन कर दिया जाय ताकि चिकित्सक का उसपर तत्क्षण ध्यान जा सके।

नासा द्वारा पोषण की आवश्यकता उसी अवस्था में पड़ती है जब रोगी किसी भी कारण वश मुख-द्वारा पोषण लेने में असमर्थ हो। नासा में होकर एक रबर की नली अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है और उसके द्वारा प्रथम २-३ औंस द्रव पोषण दिया जाता है। यह मात्रा रोगी के स्वास्थ्य एवं आयु के अनुसार पूर्ण युवा व्यक्तियों के लिए आधा पाइन्ट प्रति चार घण्टे तक बढ़ाई जा सकती है।

गुदा मार्ग से भी पोषण दिया जा सकता है यदि मुख मार्ग से दिया जाना बिलकुल असम्भव हो। इसके लिए ग्लुकोज सैलाइन ४-८ औंस की मात्रा में प्रति ४-६ घण्टे पश्चात् धीरे-धीरे गुदा द्वारा चढ़ा दिया जाता है। इसके अलावा ३-४ औंस पेप्टोनायज्ड दूध में एक अण्डा एवं २-४ ड्राम ब्राण्डी भी मिलाकर दी जा सकती है।

कुछ विशेष उपद्रव तथा उनका उपचार—

स्तब्धता—शरीर की जीवनीय शक्ति का एकदम ह्रास हो जाना ही स्तब्धता[1] है। स्तब्धता की स्थिति में रक्तप्रवाह में सचरित रक्त की मात्रा में एकदम कमी आ जाने से शरीर प्रकृति का प्रयत्न यह होता है कि मस्तिष्क, हृदय आदि मर्मांगों[2] को रक्तप्रवाह बनाए रखने के लिए चर्म, पेशी व आमाशयान्त्र आदि अंगों को उसकी मात्रा कम कर दी जाय। रक्त निवेशन[3] की कमी के कारण इन अङ्गों में भी इस प्रकार के चयापचयक[4] परिवर्तन होने लगते हैं जो मर्मांगों व सम्पूर्ण शरीर के लिए ही हानिकर होते हैं और इसीलिए स्तब्धता का शीघ्र ही उचित उपचार किया जाना चाहिए अन्यथा रोगी का जीवन संकट में पड़ सकता है।

कारण की दृष्टि से स्तब्धता के निम्न भेद दिये जा सकते हैं—

१. हीन रक्ता स्तब्धता[5]—रक्त या प्लाविका[6] की अत्यन्त हानि के कारण इसकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार की हानि बाह्य, आन्तरिक रक्तस्राव

1. Shock 2. Vital organs 3. Perfusion 4. Metabolic 5. [H]ypo[v]oligemic Shock 6. Plasma.

इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग बहुत आवश्यक है तथा फुपफुसों या आन्त्रामाशय से होनेवाले रक्तस्राव की अवस्था मे अवश्य किया जाना चाहिए ।

४ रोगी को उष्णता पहुँचाना भी नितान्त आवश्यक है और इसके लिए गर्म कम्बलो या उष्ण पानी की बोतलो का प्रयोग किया जा सकता है ।

५ उत्तेजक औषधियों, आक्सीजन, ग्लूकोज द्रव, प्लाज्मा या रक्ताधान की शरण उसी समय ली जानी चाहिए जब रक्तावरोध किया जा चुका है, अन्यथा इनके प्रयोग से रक्तस्राव को और भी अधिक उत्तेजना मिलती है । शस्त्र-कर्म के समय की दुर्वस्था को ध्यान मे रखते हुए शस्त्र कर्म से पूर्व आधान किया जा सकता है ।

६ आधान आधान[1] से तात्पर्य रक्तस्राव आदि के रूप के होनेवाले शारीरिक द्रवनाश की पूर्ति करना है । इसके लिए ग्लूकोज, लवणजल का मुख, गुदा, चर्माधः इन्जेक्शन या शिरा द्वारा प्रयोग उपयुक्त है ।

ग्लूकोज युक्त जल प्रचुर मात्रा मे रोगी को पीने के लिए दिया जाता है और अधिकाश अवस्थाओ मे यदि रोगी की अवस्था विशेष भयकर न हो तो यह पर्याप्त है ।

अवस्था अधिक भयकर होने पर १-२ पाइन्ट प्लाज्मा या रक्त शिरा द्वारा अन्दर प्रविष्ट किया जाना चाहिए ।

७. **पश्चात् चिकित्सा**—सब कुछ ठीक हो जाने पर रोगी के स्वास्थ्य को सुधारने की दृष्टि से पौष्टिक भोजन व स्वच्छ खुली वायु के अलावा यकृत सत्व, लौह के यौगिक, जीवतिक्त बी$_{12}$ आदि औषधियाँ दी जाती है ताकि रक्त का शीघ्र निर्माण हो ।

नोट – ग्लूकोज द्रव तथा रक्ताधान का वर्णन आगे किया जायगा ।

भिन्न-भिन्न प्रकार का रक्तस्राव

दुर्घटना जन्य—

कपाल से रक्तस्राव—इस स्थान से होने वाले रक्तस्राव को रोकने मे

1. Infusion.

(१) सामान्य स्तब्धता जो अधिक उग्र न हो तथा जिसे चिकित्सा द्वारा ठीक करना सभव हो तथा (२) अपरिवर्तनीय स्तब्धता[1] जिसमें इस प्रकार के चयापचयक परिवर्तन हो चुके हों जिनको ठीक करना सम्भव न हो।

इसके अतिरिक्त शल्यकर्म के समय स्तब्धता की उत्पत्ति रोकने के उद्देश्य से ध्यान रखना है कि मानसिक व शारीरिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति आसानी से स्तब्धता के शिकार हो जाते हैं। भयातुर चिन्तातुर जो आपरेशन के नाम से ही घबड़ा रहा हो स्तब्धता से पीड़ित हो जा सकता है। पोषण की कमी, किसी रोग से दुर्बल या हृदय, वृक्क आदि का रोगी भी इस दृष्टि से उपयुक्त नहीं। शल्य कर्म के समय पीड़ा, अधिक रक्तक्षय या शरीर धातुओं का नाश भी स्तब्धता की उत्पत्ति में सहायक होता है।

लक्षण—रोगी कुछ अचेत-सा होता है यद्यपि उसको पूर्ण मूर्छित नहीं कहा जा सकता क्योंकि थोड़ी बहुत कठिनाई के साथ उसको जगाया जा सकता तथा उससे उचित उत्तर प्राप्त किये जा सकते हैं। चेहरा एकदम सफेद-सा पड जाता है तथा ओठों पर कुछ नीलिमा भी रह सकती है। शरीर पर शीतल पसीना आता है, तथा हाथ पैर ठण्डे मालूम पड़ते है। नाड़ी क्षीण एव तेज होती है, श्वास उथला व तेज होता है, रक्तदाब गिर जाता तथा शरीर का तापमान भी कम होता है। रोगी बिल्कुल निश्चेष्ट तथा चुपचाप मालूम पडता है तथा शरीर की सभी पेशियाँ शिथिल-सी पड़ जाती हैं किन्तु प्रतिवर्त क्रियाएँ[2] उपस्थित रहती है। तारे[3] समान आकार के तथा प्रकाश के प्रति क्रियाशील होते हैं यद्यपि उनकी क्रियाशीलता में कुछ कमी अवश्य आ जाती है। प्रारम्भ के मल-मूत्र का त्याग अनजाने में हो जा सकता है। मूत्र कम और कभी-कभी मूत्राघात[4] की अवस्था भी उत्पन्न होती देखी गई है।

अधिक रक्तस्राव की अवस्था में प्यास एव बेचैनी अधिक होती है, चेहरा बिल्कुल सफेद पड़ जाता है, श्वास तेज तथा इस प्रकार का होता है जिससे

1. Irreversible 2. Reflexes. 3. Pupils. 4. Suppression of urine.

असफल बनाने का प्रयत्न करती हैं। क्षत की लम्बाई से स्थिति की भयकरता का अनुमान नही लगाया जा सकता क्योंकि एक कान से दूसरे कान तक पहुँचने वाला लम्बा क्षत केवल चर्मगत ही हो सकता है जिससे किसी भी प्रकार की हानि का भय नही, जब कि केवल दो इ च लबा गहरा होने के कारण घातक बन जा सकता है। क्योंकि ग्रीवा मे स्थित बडी-बड़ी रक्त-नलिकाओं मे से यदि कोई एक भी कट जाती है तो चिकित्सक को बुलाया जा सके या रोगी को चिकित्सक के पास ले जाया जा सके, इससे पूर्व ही रोगी की मृत्यु हो जाना स्वाभाविक है।

चिकित्सा क्षत की स्थिति गहराई आदि के अनुसार ही होनी चाहिए, सकेत तथा मार्गदर्शन के रूप मे निम्न बातो का ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि चाहे क्षत अधिक गहरा न हो फिर भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रोगी बहुत चिन्तित होता है, अत· उसको तथा घर-वालों को सान्त्वना दिलाना भी चिकित्सक का मुख्य कर्तव्य है।

यदि श्वास मार्ग को कोई क्षति नहीं पहुँची है तो कटी हुई रक्त नलिकाओ को कैटगट से बाँधकर या धमनी सदश से दबाकर रक्तस्राव बन्द कर दिया जाता है। पेशियों मे भी कैटगट से टाँके लगा दिये जाते है और इन सबके पश्चात् सल्फनोमायड पाउडर बुरक कर क्षत को सी दिया जाता है।

श्वास मार्ग की क्षति प्राय· अवटु ग्रन्थि[1] तथा कण्ठकास्थि[2] के मध्य मे होती है जब कि स्वरयन्त्र के ऊपर का भाग खुल जाता है। ऊर्ध्व अवटुकीय,[3] जिह्वीय[4] तथा मौखिकी[5] रक्तनलिकाओं के कट जाने से रक्तस्राव होता तथा साथ ही अधोजिह्वीय तन्त्रिका[6] के कट जाने से जिह्वा के पीडित ओर के भाग का घात हो जाता है। इस अवस्था मे रक्तस्राव को रोकने के पश्चात् तन्त्रिका सूत्रों को भी जहाँ तक सम्भव हो जोड दिया जाता है तथा साथ ही बहुत सावधानी के साथ अवटुका उपास्थि[7] एव कण्ठकास्थि के मध्य की झिल्ली को

---

1. Thyroid gland 2 Hyoid bone 3. Superior Thyroid. 4 Lingual 5. Facial 6. Hypoglossal nerve 7. Cartilage.

स्तब्धता की उत्पत्ति होने पर चिकित्सा--सामान्य प्रबन्ध

१. यह निश्चय कर लिया जाता है कि श्वास मार्ग में कोई रुकावट तो नहीं, श्वास का आवागमन ठीक हो रहा है तथा होता रहेगा। यदि श्वास नलिका मे नली प्रविष्ट करने या श्वास नलिकोच्छेदन[1] शल्य कर्म आवश्यक है तो उसका प्रबन्ध करना है।

यदि सम्भव व आवश्यक हो तो आक्सीजन दिए जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

२. रक्तस्राव तत्क्षण रोका जाना तथा क्षत का प्रबन्ध किया जाना आवश्यक है।

३. रोगी को स्वाभाविक तापमान ३७° सेंटीग्रेड अर्थात् ९८° फैरनहायट पर रखना है, अतः यदि शरीर ठण्डा है तो गर्म पानी की बोतले, गर्म कम्बल आदि आवश्यक है और यदि गर्म है जैसा कि जीवाणु विषजन्य स्तब्धता की स्थिति मे सम्भव है तो शीत प्रयोग करना चाहिए।

४. रोगी को प्राकृत आराम की स्थिति मे लिटाए रखना है। अब तक रोगी का सिर नीचा रखते हुए लिटाए रखना उचित माना जाता था किन्तु अब अधिकाश चिकित्सकों की राय है कि सिर एव पैर दोनों ही ३० अश तक की स्थिति मे उठाए रखना अच्छा है।

५. शिरा मार्ग से लवण जल, प्लाज्मा, डैक्स्ट्रान अथवा सम्पूर्ण रक्त रोगी की स्थिति के अनुसार जैसा भी आवश्यक हो दिए जाते है। इसका प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

६. प्रत्येक रोगी को ही प्रतिजीवी पदार्थ पैनीसलीन, स्ट्रप्टोमायसीन या दूसरे योग पूर्ण मात्रा मे दिये जाते हैं। दूरस्थ भागों मे रक्त एवं आक्सीजन की कमी के कारण जीवाणुओं की वृद्धि होने लगना आसान है इसीलिए इनका प्रयोग आवश्यक है।

---

1. Tracheotomy.

रक्तप्रवाह हो सकता है। अन्तर्स्तन धमनी से होने वाले रक्तस्राव को यदि तत्क्षण ही नहीं रोका जा सकता तो वह घातक हो सकता है। इस धमनी की स्थिति ऐसी होती है कि उस तक आसानी से पहुँच सकना कठिन होता है, अतः यदि आवश्यक हो तो उपास्थि को थोड़ा काटकर पर्शुकान्तरिक स्थान को चौड़ा करके धमनी को पकडकर दबाना या बाँधना चाहिए। अन्तरापर्शुक धमनी भी पर्शुका के बिलकुल नीचे रहती है और आसानी से पकड मे नही आ पाती, अतः बन्धन को पर्शुका के नीचे से निकाल कर पर्शुका के ऊपर बाँध देना चाहिए। इस प्रकार करने से धमनी दब जाती तथा रक्तस्राव बन्द हो जाता है। क्षत की शेष चिकित्सा अन्य क्षतों की तरह ही है।

- उदर वेध - यदि वेध उदर प्राचीर तक ही सीमित है तो रक्तस्राव को बन्द करके क्षत को सी दिया जाना चाहिए। यदि क्षत मे होकर आँते बाहर निकल पडी हैं तो प्रथम अच्छे प्रकाश मे उनकी परीक्षा की जाती है और यह निश्चय किया जाता है कि उनमे कोई छिद्र तो नही हो गया। यदि छिद्र नहीं हुआ तो ठीक ही है और यदि हो गया है तो उसको कैटगट से सी दिया जाना चाहिए। इसके पश्चात् आँतों को अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है और इसके लिए यदि आवश्यक हो तो उदर के क्षत को और बढा दिया जाना चाहिए ताकि आँतो को आसानी से अन्दर प्रविष्ट किया जा सके। इसके बाद पर्युदर्या, उदर प्राचीर की पेशियाँ और सबके पश्चात् चर्म मे टाँके लगा दिये जाते है चर्म के टाँके रेशम के धागे से तथा शेष सभी टाँके कैटगट के लगाए जाने चाहिए। यदि आँते बाहर तो नहीं निकली है किन्तु इस बात का निश्चित सन्देह है कि आँतों को या उदरस्थ अन्य अंग को क्षति पहुँच चुकी है तो मुख्य शल्य-चिकित्सक की सहायता लेना आवश्यक है क्योंकि इस स्थिति मे क्षत को और भी चौडा करके अन्दर भली प्रकार परीक्षा की जानी चाहिए और जैसा भी आवश्यक हो, प्रबन्ध किया जाना चाहिए। आँतो मे छिद्र हो जाने का सबसे बडा प्रमाण मल अथवा दुर्गन्धियुक्त गैस की उपस्थिति है।

लिखने की आवश्यकता नहीं कि क्षत की चिकित्सा के पश्चात् उपसर्ग से बचाए रखने के लिए पेनिसिलिन या दूसरे प्रतिजीवी पदार्थों का भरपूर मात्रा

२. कोर्टीकोयड–बीटामीथासोन डेकाड्रॉन आदि–शिरामार्ग से आधान के साथ ही आवश्यकता के अनुसार अवश्य प्रयुक्त किये जाते हैं। इनके प्रयोग से रक्त नलिकाओं का विस्फार होने से अंगों में रक्त निवेशन अधिक होता, चयापचयक अम्लमयता[1] में कमी आती तथा यकृत को उत्तेजना मिलने से रक्त में की लैक्टिक एसिड निष्क्रिय होती है।

ब–तन्त्रिता स्तब्धता—

१. रक्त आयतन आपूर्ति[2] आवश्यक नहीं क्योंकि इसमें रक्त या प्लाज्मा की हानि नहीं होती। फिर भी विस्फारित केशिकाओं में रक्त चले जाने के कारण साधारण लवण जल शिरामार्ग से दिया जाना लाभकर ही है।

२. रक्तवाहिनी संकोचक औषधियों का प्रयोग अनिवार्य रूप से आवश्यक है क्योंकि अन्तिम धमनियों व केशिकाओं के विस्फार के कारण ही तो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है। नियोसायनेफ्रीन[3] या मेथेड्रीन[4] सदृश अल्पकालिक[5] संकोचक औषधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए।

३. साधारण मूर्च्छा[6] की स्थिति में रोगी को अधलेटी स्थिति में लिटाने, चेहरे पर पानी के छींटे मारने साधारण उत्तेजक योग देने से ही स्थिति को सुधारा जा सकता है।

स–हृद्‌जन्य स्तब्धता—

यह अवश्य भीषण स्वरूप की स्थिति है जिसमें ८०-९० प्र. श. तक मृत्यु होते देखी जाती है। मुख्य उपयुक्त चिकित्सा हृदय विकृति की है जो विशेषज्ञ द्वारा ही ठीक पड सकती है।

द–जीवाणु विषजन्य स्तब्धता—

१. प्रथम आवश्यकता उपसर्ग को समाप्त करने की है और इसके लिए आदर्श मार्ग तो यह है कि व्रण स्राव व रक्त की परीक्षा की जाय केवल उत्पादक जीवाणु की पहचान के लिए ही नहीं अपितु वर्द्धन के पश्चात् यह भी

1. Acidemia. 2. Volume replacement. 3. Nec-Syn-phrine. 4. Methedrine 5. Short-acting 6. Syncope.

१४—यदि क्षत से अधिक रक्तस्राव होता है तथा उपरोक्त साधनों से सफलता नही मिलती तो प्रधान सर्जन की सहायता लेनी चाहिए क्योंकि ऐसी अवस्था मे और भी अधिक गहरे शल्य-कर्म की आवश्यकता पड सकती है।

शिराओं के क्षत—शिराओं से होने वाले रक्तस्राव को रोकने मे अधिक परिश्रम की आवश्यकता नही पडती क्योंकि साधारण दबाव से ही रक्तस्राव रुक जाता है। यदि शिरा अधिक बड़ी है तो बन्धन की आवश्यकता पड़ सकती है।

कुछ रक्तस्रावी रोग—

होमोफायलिया[1]—यह एक विचित्र प्रकार का रोग है जिसमे पिन चुभने सदृश बहुत ही साधारण कारण से रक्तस्राव होने लगता है और साधारण उपायों द्वारा उसको रोकना कठिन हो जाता है। यह रक्तस्राव कई दिन तक होता रहता है और यदि अधिक मात्रा मे है तो रोगी के जीवन को संकट मे डाल देता है। कभी-कभी बिना प्रत्यक्ष कारण के ही सन्धियों मे रक्तस्राव होने लगता है जो अधिक भर जाने पर बाहर मालूम पड़ने लगता है।

रोग की एक विशेषता यह है कि यह स्त्रियों को नही होता, केवल पुरुषो को ही होता है किन्तु आता स्त्रियो की ओर से ही है अर्थात् एक स्त्री के जितने भी बच्चे होगे उनमे केवल पुरुष बच्चे रोग के शिकार होगे किन्तु वे अपने बच्चों मे रोग का प्रसारण नही कर सकेगे जबकि स्त्री बच्चे स्वय तो रोग मुक्त रहेगे किन्तु अपने पुरुष बच्चों मे रोग का प्रसारण कर देगे। इस प्रकार स्त्रियों की ओर से यह रोग कई पीढियो तक चलता रहता है। रोग के लक्षण बाल्यकाल मे ही प्रकट होने लगते है।

रोगी व्यक्ति की रक्त-नलिकाओ या रक्त मे कोई खास विकृति नही पायी जाती बल्कि कहा जाता है कि रक्त प्लेटलेटो की विकृति के कारण रक्त मे

1. Haemophilia.

है और कभी-कभी इन्जेक्शन के पश्चात् भी रोगोत्पत्ति होते देखी गयी है। जीवाणु वृद्धि करते समय दो प्रकार के विष[1] का निर्माण करते हैं (१) टिटेनोस्पेज्मिन[2] जो तन्त्रिका विष[3] है तथा उद्वेष्टों के लिए उत्तरदायी है तथा टिटेनोलायसिन[4] जो रक्त कणों का नाश करता है।

लक्षण—रोग के लक्षण, प्रारम्भ तथा प्रगति में भिन्नरूपता देखी जाती है। साधारणतया आघात के ६–१५ दिन पश्चात् शिरःशूल, हनुपेशियों की जकड़ाहट, बेचैनी, जभाई व क्षत में पीड़ा आदि के रूप में रोग का पूर्व रूप दिखाई देता है। इसके १२-२४ घण्टे पश्चात् रोग का प्रारम्भ होता है तथा हनुस्तम्भ[5] चेहरे की पेशियों की अकड़न के कारण विकृत रूप, शरीर पेशियों की अकड़ाहट जिससे रोगी का दण्डवत पड़े रहना, पीड़ा व पेशी उद्वेष्ट के दौरे आदि लक्षण देखे जा सकते हैं। पेशियों के उद्वेष्ट या श्वास मार्ग में स्राव पहुँच जाने के कारण श्वासावरोध की उत्पत्ति हो सकती है। तीव्र ज्वर, पीड़ा, उद्वेष्ट, विषमयता तथा श्वासावरोध एवं मृत्यु अन्त समय के लक्षण हैं। सञ्चयकाल[6] जितना ही अल्प होता है अर्थात् आघात के जितना ही शीघ्र पश्चात् रोग का प्रारम्भ होता है उतना ही उसको भीषण समझना चाहिए। उद्वेष्ट के दौड़ नियन्त्रण में आ भी जायें तब भी यदि विषमयता अधिक है तो भिन्न-भिन्न मस्तिष्क केन्द्रों के घात के कारण मृत्यु हो सकती है। यदि रोगी एक सप्ताह तक बच जाता है तो उसके धीरे-धीरे ठीक हो जाने की आशा की जानी चाहिए।

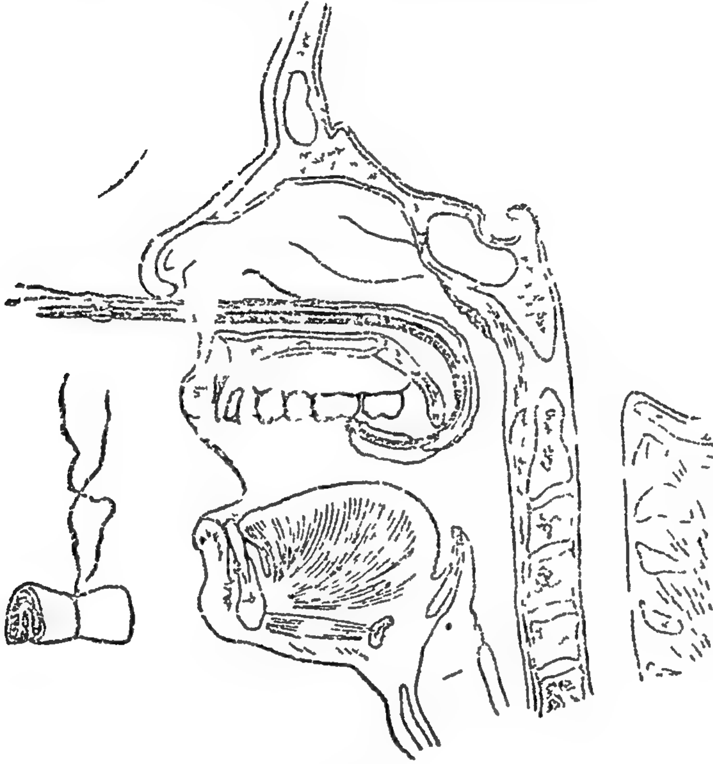
चिकित्सा—चिकित्सा के दो पहलू हैं (१) रोग निरोध[7] तथा (२) रोग मुक्ति[8]।

रोगनिरोध—१—ध्यान रखना चाहिए कि रोग से सुरक्षा पूर्णतः संभव है किन्तु निष्क्रिय क्षमतोत्पत्ति अर्थात् ए. टी. एस. का प्रयोग इस उद्देश्य

---

1. Toxin 2. Tetanospasmin 3. Neurotoxin 4. Tetanolysin 5. Trismus 6. Incubation period. 7. Prophylatic. 8. Curative.

अब मूत्र नलिका को बाहर की ओर से नासारन्ध्र में अन्दर गले की ओर प्रविष्ट किया जाता है (चित्र ५६)। फन्दे से दो इंच ऊपर की ओर एक गाँठ



चित्र ५६
बैलक साउण्ड की सहायता से नासा पश्चिम
छिद्र को अवरुद्ध करना

लगा दी जानी चाहिए ताकि डोरा कैथेटर मे पीछे की ओर न हट सके बल्कि गले मे लटकता रहे। जब डोरे का फन्दा भीतर की ओर गले मे दिखने लगता है तो उसको चिमटी से पकड कर बाहर मुख की ओर खीच लिया जाता है। स्पंज, गौज या लिण्ट की उचित आकार की छोटी गद्दी-सी डोरे के फन्दे मे बाँध दी जाती है तथा डोरे को नासा के बाहर की ओर खीचने के साथ ही साथ तर्जनी उँगली की सहायता से इस गद्दी को पीछे के नासारन्ध्र मे प्रविष्ट कर दिया जाता है। डोरे का फन्दा गले मे दिखाई पडने तथा चिमटी द्वारा पकड़ लिये जाने के बाद ही मूत्र नलिका तो नासा गुहा मे से निकाल ही ली जाती है। अब डोरे को खीच कर पश्चात् नासारन्ध्र से आने वाली गद्दी

रोग मुक्तिकर—ध्यान रखना चाहिए कि टिटेनस बहिर्विष का प्रभाव तन्त्रिका कोशिकाओं पर पड़ता है और मस्तिष्क कोशिकाओं के विष द्वारा प्रभावित होने से ही रोग के दौड़े आते हैं। टिटेनस प्रतिविष सीरम जो कुछ प्रभाव पड़ चुका है उसको समाप्त नहीं कर सकती अपितु रक्त-प्रवाह में संचरित विष को ही निष्क्रिय करती है, अतः रोग का जितना शीघ्र समुचित प्रबन्ध हो जाता है उतना ही अच्छा है। अतः रोगी के मिलते ही चिकित्सा प्रारम्भ होना चाहिए :—

१—ए. टी. एस. ५०,००० यूनिट शिरा में तथा ५०,००० यूनिट पेशी में इसके अतिरिक्त १०,००० यूनिट क्षत के आस-पास और दे देना है। इसके पश्चात् ५–१० हजार यूनिट प्रतिदिन और देना है। सीरम रोग के लिए सावधान रहना है और यदि उसकी उत्पत्ति होती है तो तत्क्षण प्रबन्ध करना है क्योंकि वह भी स्वतः में एक उग्र अवस्था है।

२—रोगी को शान्त अँधेरे कमरे में आराम से रखना है ताकि बाह्य उत्तेजना के अभाव में दौड़ों में कमी हो।

३—ए. टी. एस. दिये जाने के एक घण्टा पश्चात् क्षत की पूरी-पूरी सफाई तथा व्रणोपचार आवश्यक है।

४—पेनीसलीन अथवा पेनीसलीन के प्रति असह्यता होने पर टैट्रासाइक्लीन का भरपूर मात्रा में प्रयोग करना चाहिए।

५—रोगी को शान्त रखने के लिए पैराल्डीहायड ५–१० सी. सी. पेशी में ८–१२ घण्टे के अन्तर पर अथवा वार्बीट्यूरेट विभाग के योग का प्रयोग किया जाना चाहिए।

६—उद्वेष्ट शान्त करने के लिए मैप्रोबामेट या क्लोरप्रोमेजीन का इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग प्रशस्त है।

७—शिरामार्ग द्वारा पोषण देने की कुछ दिनों तक आवश्यकता हो सकती है और इसके लिए यदि हो सके तो शिरा में कैथेटर स्थिर कर दिया जा सकता है। यदि सम्भव हो तो नली द्वारा पोषण आमाशय में पहुँचाया जा सकता है।

अवश्य रहना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि जिस रक्तनलिका की दीवाल गल रही है चाहे वह बड़ी ही हो फिर भी प्रारम्भ मे थोड़ा ही रक्तस्राव होगा, अतः चेतावनी स्वरूप इस हलके रक्तस्राव को समझकर यदि उचित प्रबन्ध कर दिया जाता है तो घातकस्वरूप का रक्तस्राव नहीं हो सकता—किसी भी उपसर्गित क्षत मे से होने वाले आकस्मिक रक्तस्राव को भयंकर समझकर उसके लिए तत्क्षण उचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

जिस क्षत मे से भी इस प्रकार के रक्तस्राव होने का सन्देह हो उसके ऊपर वाले भारबिन्दु[1] पर चिह्न लगा देना चाहिए ताकि आवश्यकता पड़ने पर रोगी स्वतः अथवा परिचारक उस स्थल पर दबाव डाल कर रक्तस्राव को तत्क्षण बन्द कर सके। केवल इतना ही नहीं बल्कि क्षत के ऊपर अंग के चारों ओर एक टूर्नीकेट लपेटी रखी जा सकती है ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसको तत्क्षण कड़ा किया जा सके।

रक्तस्राव शुरू हो जाने पर प्रारम्भिक उपाय उस रक्तस्राव को अस्थायी रूप से तत्क्षण बन्द कर देना है और इसके लिए भारबिन्दु पर दबाव डाला जाता अथवा यन्त्रण रज्जु अर्थात् टूर्नीकेट लगा दी जाती है। रोगी को १।४-१।३ ग्रेन मौर्फीन का इन्जेक्शन दिया जा सकता है। क्षत को खोला जाता तथा उसकी भली प्रकार परीक्षा की जाती है। यदि आवश्यक हो तो रोगी को क्लोरोफार्म आदि सुंघा कर बेहोश कर दिया जाना चाहिए। ऊपर की ओर से यन्त्रण-रज्जु को थोडा ढीली करके या दबाव कम करके देखा जाता है कि रक्तस्राव कितनी मात्रा मे हो रहा है। यदि थोडी ही मात्रा मे है तो गौज भरकर पट्टी बॉधी जा सकती है।

यदि रक्तस्राव अधिक मात्रा मे है तो चिकित्सा के दो रूप है प्रथम तो धमनी संदंश से दबाकर या कैटगट से बन्धन लगातार रक्तस्राव को रोकना तथा दूसरा क्षत मे निकास की पूर्ण व्यवस्था कर देना ताकि फिर से इस उपद्रव का भय न रहे। दबाने या बन्धन बॉधने के लिए रक्तस्रावी बिंदु को खोजकर निकालना आवश्यक है और इसके लिए क्षत की खूब परीक्षा की जानी चाहिए। यदि किसी भी प्रकार रक्तस्रावी विन्दु मिल ही न सके तो क्षत से

1. Pressure point.

होती। पीडित अंग अपने साथी की अपेक्षा कुछ अधिक गर्म होता है। यह गर्मी २-३ सप्ताह में शान्त हो जाती है किन्तु शोफ धीरे-धीरे कम होता है।

चिकित्सा पूर्णतः लाक्षणिक है और साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना है कि किसी फुप्फुसीय धमनी में अन्तःशल्यता न उत्पन्न हो जाय जिसकी सम्भावना अंग को इधर-उधर हिलाने से अधिक रहा करती है। पैर को तकिए के आधार पर थोड़ा उठाकर ऊँचा कर दिया जाता, रेत की थैलियाँ आदि रखकर उसको स्थिर कर दिया जाता है तथा कम से कम चार सप्ताह तक स्थिर ही रखा जाता है। पेनिसिलीन एवं सल्फा औषधियों के प्रयोग का स्पष्ट निर्देश तो नहीं फिर भी इनके प्रयोग से लाभ की आशा अवश्य की जा सकती है तथा यदि किसी प्रकार के उपसर्ग का किंचित भी सन्देह हो तो इनका अवश्य ही प्रयोग किया जाना चाहिए। पीड़ित शिरा के ऊपर नर्म पर ग्लीसरीन लगाई जाती है तथा सेकाई भी की जा सकती है। सेकने के साथ-ही-साथ उस स्थान पर रुई बाँध दी जानी चाहिए। रोगी को कपड़े इस प्रकार उढाने चाहिए कि अंग पर उनका दबाव न पड़े।

रोग की तीव्रावस्था समाप्त हो जाने पर टाँग को कभी-कभी थोड़ा ऊपर उठाया जाता तथा पैर से ऊपर की ओर जाती हुई पट्टी बाँधी जाती है। पोटास आयोडाइड एवं सोडा सैलीसिलास मुख द्वारा या इन्जेक्शन द्वारा प्रयुक्त करना लाभकर सिद्ध हो सकता है। पीडित अंग में कुटिल शिराओं[1] की उत्पत्ति संभव है किन्तु इनको छेड़ना ठीक नहीं क्योंकि ये सहायक रक्त सचार[2] की सूचक हैं।

शिरान्तर्गत घनास्त्रता की उत्पत्ति रोकने के लिए शस्त्र-कर्म के समय सावधानी तथा मुलामियत से काम लिया जाना चाहिए। रक्तस्राव अधिक न होने देना आवश्यक है और यदि रक्तस्राव अधिक हो जाता है तो रक्ताधान[3] आदि द्वारा उसकी पूर्ति कर दी जानी चाहिए। शस्त्र-कर्म के पश्चात् टाँगों की मालिश लाभकर हो सकती है तथा पाँच दिन पश्चात् यदि सम्भव हो सके तो

1. Vericose Veins 2. Collateral Circulation.
3. Blood Transfusion.

किया जाना चाहिए। साधारणतया निम्न अवस्थाओं मे अंगोच्छेदन आवश्यक होता है—

१—जब अंग को इतनी क्षति पहुँच चुकी है कि यदि परिश्रम करके उसको बचा भी लिया जाय तो यह व्यर्थ है। यह क्षति तन्त्रिका, पेशी, अस्थि, रक्तनलिका आदि को पहुँच सकती है। यदि रक्त-नलिकाएँ इतनी कट चुकी हैं कि ठीक हो जाने पर भी आगे की ओर रक्त प्रवाह होते रहना सम्भव नही तो अंगोच्छेदन कर देना ही उपयुक्त है।

२—जब कोथ[1] की अवस्था उपस्थित हो अथवा उसके उत्पन्न हो जाने की निश्चित सम्भावना हो या—

३—समुचित व्यवस्था करने पर भी कोथ बढता जा रहा हो या—

४—शाखा का कुछ भाग मशीन आदि के नीचे इस प्रकार दब गया हो कि उसको काट कर अलग किए बिना रोगी को हटा सकना ही सम्भव न हो।

५—घातक अर्बुद की उपस्थिति—अग मे सारकोमा[2] अथवा कैंसर[3] होने पर अगोच्छेदन ही नितान्त आवश्यक है क्योंकि यदि यह नही किया जाता तो अर्बुद के बढते रहने से रोगी का जीवन ही खतरे मे पड सकता है।

६—जीर्ण अस्थिमज्जा शोथ[4] अथवा अस्थि के अन्य ऐसे ही रोग जो समुचित चिकित्सा से ठीक तो हो नही रहे तथा जिनके कारण अग व्यर्थ हो चुका है।

७—जब किन्ही अन्य रोगों के कारण अङ्ग अकर्मण्य हो चुका है अथवा किसी जन्मजात विकृति के कारण वह शरीर के लिए व्यर्थ तथा कष्टकर है तो अङ्गोच्छेदन कर देना ही ठीक है।

अङ्गोच्छेदन के सम्बन्ध मे उपरोक्त निर्देशों के अलावा निम्न बातो का भी ध्यान रखना चाहिए—

१—आर्थिक दृष्टि से निम्न शाखा की अपेक्षा उच्चशाखा का अङ्गोच्छेदन अधिक हानिकर है इसीलिए—

---

1. Necrosis 2. Sarcoma 3. Cancer 4. Osteomyelitis.

जीवनीय-शक्ति क्षीण हो चुकी होती है, अतः वह धीरे-धीरे व्यर्थ बातें बकता रहता है, कपड़ो को पकड़ कर अकारण ही इधर-उधर उठाता है तथा उसकी जिह्वा शुष्क एवं बादामी रंग की होती है।

मद्यपान-जन्य प्रलाप[1]—इस प्रकार की स्थिति प्रायः उन्ही व्यक्तियों में होती है जिनका तान्त्रिका तन्त्र मद्यपान के कारण दुर्बल हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्तियों मे शस्त्र-कर्म या आघात के दूसरे तीसरे दिन प्रलाप को अवस्था प्रारम्भ होती है यद्यपि निद्रानाश एव कम्प आदि लक्षण इससे पहले ही प्रारंभ हो जाते हैं। जोर से चिल्लाना, चारपाई से उठकर भागने का प्रयत्न करना आदि इसके प्रधान लक्षण हैं। रोगी का चर्म आर्द्र होता तथा प्रायः मलावरोध भी साथ मे रहता है। शीघ्र ही रोगी की जीवनीय शक्ति का ह्रास होकर सन्यास[2] की उत्पत्ति होने पर मृत्यु हो जा सकती है।

चिकित्सा—इस बात के लिए सतर्क रहना चाहिए कि यदि निद्रानाश की अवस्था का प्रारम्भ होता है तो उसका तत्क्षण प्रवन्ध किया जाय। यदि आवश्यक हो तो रोगी को विरेचन करा दिया जाना चाहिए तथा मुख, गुदा या शिरा द्वारा द्रव पदार्थों का दिया जाना भी आवश्यक है। एक अथवा अधिक उपचारकों को रोगी के पास सदैव रहकर उसे दबाए रखना चाहिए। पीड़ा शान्त करने के लिए नोवाल्जिन का प्रयोग आवश्यक हो सकता है। रोगी को शान्त करने तथा निद्रा के लिए प्रशान्तक[3] औषधियों का यथावश्यक प्रयोग करना चाहिए।

विषमयता जन्य प्रलाप के लिए रोगी की शक्ति को ग्लूकोज आदि देकर बढ़ाना, पेनिसिलिन आदि प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग तथा व्रण की पूर्ण सफाई नितान्त आवश्यक है।

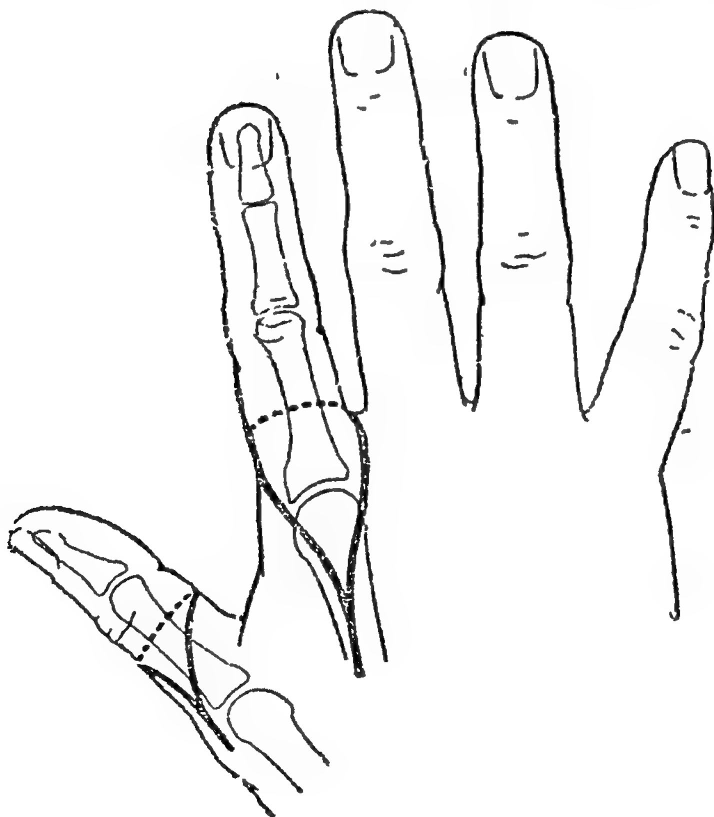
शय्याव्रण—शय्याव्रण[4] से तात्पर्य शरीर के उन भागो पर जो सततः शय्या के सम्पर्क में रहते हैं, व्रणों की उत्पत्ति हो जाना है। एक बार व्रण की

1. Alcoholic. 2. Coma. 3. Tranquilisers. 4. Bed Sore.

सहायता से अस्थि को काट कर उँगली को अलग कर देते हैं। प्रालम्बों को मिलाकर सी दिया जाता है—यदि प्रालम्ब ठीक प्रकार बनाये गये हैं तो यह सीवन एक सीधी रेखा मे होगी।

भिन्न-भिन्न उँगलियों को काटते समय छेदन की स्थिति मे थोड़ा अन्तर रखना अच्छा है ताकि व्रण चिन्ह ऐसे स्थान पर बने जहाँ पर कि वह दिखाई न पड़े। उदाहरण के लिए अगूठे के पास वाली निर्देशक उँगली[1] काटते समय छेदन जितना भी हो सके करभास्थि के बाहर की ओर तथा सबसे छोटी उँगली काटते समय अन्दर की ओर रहना चाहिए। मध्य की दोनों उँगलियों को काटते समय छेदन ठीक पीछे किया जाता है।

अँगूठे का प्रथम पोरवा काटकर अलग करते समय जहाँ तक सम्भव हो



(चित्र ५८)

अंगूठे एवं अंगुली के प्रथम पोरवे की छेदन रेखा

1. Incex Finger.

चाहिए ताकि जल शय्या के पानी का तापक्रम शरीर तापक्रम के बराबर बना रहे।

श्वसन संस्थान-सम्बन्धी उपद्रव—

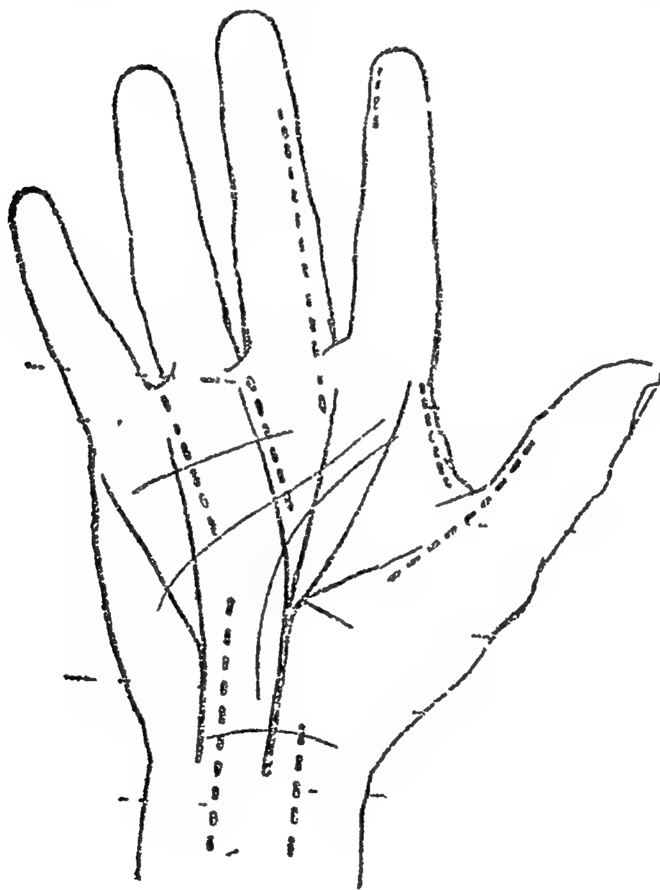
फुफ्फुसीय अन्तःशल्यता[1]—यह बहुत ही भीषण स्वरूप का उपद्रव है जिससे मृत्यु तक हो जाना सम्भव है। वस्ति प्रान्त के शस्त्र-कर्मों में जब वमन या रक्तस्राव के कारण शरीर का जलीयांश बहुत कम हो जाता है और उसके साथ ही यदि उपसर्ग भी हो गया हो तो इस प्रकार के उपद्रव की बहुत कुछ सम्भावना रहती है। उपद्रव का प्रधान रूप रक्त के थक्के का किसी फुफ्फुसीय धमनी में फँसकर आगे का रक्त-प्रवाह रोक देना है। प्रधान लक्षण वक्ष में पीड़ा तथा उसके साथ ही साथ रक्तष्ठीवन है। इसके लिए पेपावरीन या मॉर्फीन का प्रयोग, एण्टीफ्लोजिस्टीन प्लास्टर एवं उपसर्ग का सन्देह होने पर पेनिसिलिन दी जानी चाहिए। रुकावट जब प्रधान फुफ्फुसीय धमनी में होती है तब लक्षण इतने उग्र स्वरूप के होते हैं कि कुछ भी कर सकने से पहले मिनटों में ही मृत्यु हो जा सकती है। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर अधिक साधन-सम्पन्न अस्पतालों में शस्त्र-कर्म द्वारा रुकावट को दूर करने का प्रयत्न किया जा सकता है।

फुफ्फुस निपात[2]—इसकी उत्पत्ति श्लेष्मा आदि द्वारा किसी श्वास नलिका के रुक जाने के कारण हो जाया करती है। किसी भी प्रकार के संज्ञाहरण पदार्थ के प्रयोग के पश्चात् इस प्रकार की स्थिति का उत्पन्न हो जाना सम्भव है विशेष कर बच्चों तथा युवा व्यक्तियों में। हृदय पीड़ित ओर को अपसारित हो जाता अर्थात् हट जाता है एवं क्ष-किरण द्वारा फुफ्फुस के उस भाग को देखा भी जा सकता है। वक्ष के नीचे के भाग को पट्टियों से कस देने और मॉर्फीन तथा एट्रोपीन का शस्त्र-कर्म के शुरू-शुरू में प्रयोग करने से इस प्रकार की स्थिति के उत्पन्न होने में सहायता मिलती है। श्वास लेने में कष्ट, तापमान, नाड़ी व श्वसन की गति का बढ़ना तथा फुफ्फुस के उस भाग

1. Pulmonary Embolism. 2. Pulmonary Collapse.

उसमें तीव्र पीड़ा होती है जिसके कारण रोगी को अच्छी प्रकार नींद भी नहीं आ सकती। चिकित्सा मे देर करने या अनुपयुक्त रूप की चिकित्सा से अस्थि मे विकृति हो सकती अथवा कण्डरावरण विद्रधि का रूप बन जा सकता है। प्रारम्भ में शोथ के समय मांस कड़ा होता है किन्तु पूय की उत्पत्ति हो जाने पर वहाँ कुछ ढीलापन आ जाता है। फिर भी तनाव की अधिकता के कारण पूय की उपस्थिति का निर्णय कठिन होता है।

चिकित्सा—पेनिसिलिन आदि के प्रयोग से यदि शोथ शान्त नहीं होता तथा पूय की उत्पत्ति हो ही जाती है तो चीरा देना आवश्यक है। चीरा उँगली के अन्तिम पोरवे के पार्श्व में दिया जाता है (चित्र ५६) और यदि आवश्यक



चित्र ५६—हाथ की विद्रधि के लिए भिन्न छेदन रेखाएँ

हो तो दोनो ओर लगाया जा सकता है। कभी-कभी दोनों ओर के चीराओ को मिला भीदिया जाता है और इस प्रकार U आकार का चीरा बन जाता है।

चिकित्सा—उपरोक्त सभी फुफ्फुसीय उपद्रवों की चिकित्सा उपद्रव की प्रकृति के अनुसार शीघ्र ही की जानी चाहिए। इन उपद्रवों की उत्पत्ति रोकने की दृष्टि से निम्न बातों का ध्यान रखा जा सकता है।

१—रोगी को गर्मी पहुँचाने तथा शीत से उसकी रक्षा करना।

२—यदि सम्भव हो सके तो फुफ्फुस-सम्बन्धी रोगों की उपस्थितियों में शस्त्र-कर्म न करना। किन्तु यदि आवश्यक हुआ तो शस्त्र-कर्म करना ही पड़ेगा। उस समय विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए।

३—मुख, गला आदि ऊर्ध्व श्वास मार्ग की शस्त्र कर्म से पूर्व पूरी-पूरी स्वच्छता रखना।

४—इस बात का ध्यान रखना कि रोगी रक्तादि की अन्तःश्वसन न कर सके। यदि रोगी को वमन होते हों जैसा कि अन्त्रावरोध की अवस्था में बहुत कुछ सम्भव है तो शस्त्र-कर्म से पूर्व आमाशय का प्रक्षालन कर देना।

५—हृदय की दुर्बलता की अवस्था में हृदयोत्तेजक औषधियों का प्रयोग।

६—पचन-संस्थान की ओर ध्यान रखना ताकि आध्मान की उत्पत्ति न होने पावे।

७—रोगी विशेष कर वृद्ध व्यक्तियों को अधिक समय तक चारपाई में लिटाए न रख कर शीघ्र से शीघ्र उनको बैठने की अनुमति देना।

आवश्यकता होती है। यदि उपसर्ग बाहु तक पहुँच गया है तथा वहाँ भी पूयोत्पत्ति हो चुकी है तो वहाँ भी जैसा कि चित्र ६१ मे दिखाया गया है छेदन आवश्यक है किन्तु आधुनिक युग में इस प्रकार की आवश्यकता ही नही पड़ा करती—केवल उसी समय पड़ सकती है जब रोगी अत्यधिक लापरवाह हो और बहुत अधिक विलम्ब से ही चिकित्सक के पास आवे।

चीरा के पश्चात् निकास का उचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए तथा जैसा कि पीछे भी संकेत किया जा चुका है पेनिसिलीन एवं सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग भी आवश्यक है।

पश्चात् शुश्रूषा—प्रत्येक अवस्था मे हाथ के लिए पूर्ण आराम की आवश्यकता है। यदि शल्य-कर्म किया जाता है तब भी हाथ को आराम की स्थिति मे ही इस प्रकार रखना चाहिए कि निकास ठीक प्रकार से होता रहे। कण्डरावरण विद्रधि की अवस्था मे एल्यूमीनियम की खपच्चियों की सहायता से उँगलियों को थोड़े सकोच की अवस्था मे स्थिर रखना चाहिये। हथेली मे उपसर्ग होने की अवस्था मे पीछे की ओर प्लास्टर की खपच्ची लगाकर मणि-बन्ध पर हाथ को थोड़ा पीछे की ओर झुकाते हुए स्थिर रखा जा सकता है और साथ ही पीड़ित उँगली पर भी खपच्ची लगाई जा सकती है। इन सबके साथ ही ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि हाथ को स्थिर रखने के लिए खप-च्चियाँ उसी अवस्था मे लगाई जायँ जब उनसे रोगी को आराम मिलता हो, अन्यथा नही।

यदि चीरा ठीक प्रकार लगाया गया है तथा पूय के निकास का उचित प्रबन्ध कर दिया गया है तो जीवाणुनाशक औषधियों के स्थानिक प्रयोग का कोई महत्व नहीं और फिर क्षत को जितना कम खोला जाय उतना ही अच्छा है। पूयोत्पत्ति बन्द हो चुकने पर केवल मात्र शुद्ध पैराफिन से व्रणोपचार किया जा सकता है। प्रतिदिन अथवा प्रति दूसरे-तीसरे दिन उष्ण लवणजल मे हाथ को डुबा-डुबा कर सेकने से बहुत लाभ होता है।

कण्डरावरण विद्रधि की अवस्था मे चीरा के पश्चात् जब हालत मे सुधार होने लगे तब पाचवे दिन से उँगलियों मे रोगी स्वतः गति करने लगता है

के पश्चात् उत्पन्न शोथ मे यह अधिकांश मे होता है कि वहाँ जीवाणु भी उपस्थित हो।

शोथ के समय स्थान विशेष की रक्तनलिकाएँ फैल जाती हैं तथा उस स्थल पर रक्त प्रवाह अधिक हो जाता है। रक्त की श्वेत एवं लाल कोशिकाएँ नलिकाओं की दीवालो पर जमा हो जाती है। श्वेत कणो मे यह विशेषता होती है कि नलिकाओं की भित्तियां मे होकर बाहर जीवाणुओं के सीधे सम्पर्क मे आ जाते तथा उनको नष्ट करने का प्रयत्न करने लगते हैं। श्वेताणुओं मे जीवाणु भक्षण की विशेप शक्ति होती है और इसका स्पष्टीकरण पूय की परीक्षा द्वारा हो सकता है जव कि मृत श्वेताणुओं के शरीर मे जीवाणु भी सूक्ष्मदर्शक की सहायता से देखे जा सकते हैं। श्वेताणुओं एवं जीवाणुओं के इस संघर्ष मे यदि श्वेताणु विजयी हो जाते हैं तो जीवाणुओ के नाश के पश्चात् शोथ का भी शमन हो जाता है तथा शोथ के कारण उत्पन्न विकृत पदार्थ निर्विकार रूप से कुछ वहाँ पडे रहते तथा कुछ धीरे-धीरे उत्सर्गित हो जाते हैं।

यदि शोथ कुछ समय तक स्थिर रहता है तो पाक होकर पूयोत्पादन हो जाता है अर्थात् विद्रधि बन जाती है—पूय के एक स्थान पर एकत्रित हो जाने को ही विद्रधि कहते हैं यदि जीवाणु बहुत अधिक तीव्र स्वरूप के हैं अथवा शरीर की शक्तियाँ नष्टप्राय-सी हैं तो उस स्थान पर कोथ एव निर्जीवागत्व की उत्पत्ति सम्भव है।

शोथ के लक्षण —

शोथ-जन्य लक्षणों को दो भागो मे बाँटा जा सकता है, यथा स्थानिक एवं सार्वदैहिक लक्षण।

स्थानिक लक्षण-रक्तिमा—स्पष्ट है कि जब शोथ युक्त स्थान पर रक्त का प्रवाह बढता है तो वहाँ लालिमा हो। इस समय यदि शोथ युक्त स्थान पर उँगली से दवाव डाला जाय तो तत्क्षण रक्त के हट जाने से वहाँ सफेदी-सी उत्पन्न हो जाती है किन्तु उँगली हटाने के पश्चात् धीरे-धीरे फिर लालिमा की

पादांगुष्ठ स्तम्भ[1]—यह यथार्थ मे अगुष्ठ मूल सन्धि का अस्थि सन्धि शोथ[2] है जिसके कारण अङ्गुष्ठ मे गति करने पर उसमे पीड़ा होती है, फलतः उसे चलाया नही जा सकता। सन्धि शोथयुक्त होती तथा जूता पहनने पर उसमे पीड़ा होती है।

सम्बन्धित प्रपदिकास्थि शीर्ष के नीचे जूते मे कोई टुकडा रखने तथा साथ ही इस प्रकार का जूता पहनने से, जिसमे शोथयुक्त सन्धि के लिये पर्याप्त अवकाश स्थान हो और सन्धि के ऊपर वाला भाग मुलायम हो उसमे गद्दी लगी हो, विकृति को बहुत कुछ शात रखा जा सकता है। यदि इस प्रकार करने से लाभ न हो तो शस्त्र-कर्म द्वारा प्रपदिकास्थि शीर्ष को काटकर अलग किया जा सकता है। इस प्रकार के शस्त्र-कर्म से सन्धि अचल हो जाती है किन्तु साथ ही साथ पीड़ा भी सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। शस्त्र-कर्म के लगभग तीन सप्ताह बाद रोगी पूर्ववत् चलना-फिरना प्रारम्भ कर सकता है।

पादांगुष्ठ बहिर्नति[3]—इस विरूपता मे अंगुष्ठ पास वाली उँगली की ओर अपसारित हो जाता है तथा अंगुष्ठ मूल अथवा यह कहना चाहिए कि सम्बन्धित प्रपदिकास्थि का शीर्ष एकदम स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार की स्थिति मे सततः घर्षण के कारण उस स्थान पर ठेठ पड़ जाती तथा श्लेषपुटी[4] अर्थात् एक गद्दी-सी की उत्पत्ति हो जाती है जिसमे शोथ उत्पन्न हो सकता है। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि चिकित्सा की आवश्यकता उसी अवस्था मे है जब शोथ के कारण विरूपता कष्टकर हो अन्यथा उसको वैसे ही छोड़ देने मे भी कोई आपत्ति नही।

शोथ की उत्पत्ति होने पर पैर को कुछ दिन तक आराम से रखने तथा सामान्य उपचार करने से शोथ शान्त हो जाता है। इसके पश्चात् विरूपता के लिए शस्त्र कर्म की शरण ली जा सकती है।

---

1. Hallux Rigidus. 2. Osteo-arthritis. 3. Hallux algus. 4. Bursa.

अकार्यक्षमता—इसी को कर्महीनता कह सकते हैं। स्पष्ट है कि रोगी पीड़ित अंग से कार्य नहीं ले सकता अथवा कार्य लेने में उसको कष्ट होता है।

सार्वदैहिक लक्षण—इन लक्षणों में मुख्य ज्वर तथा उसके साथ के दूसरे लक्षण हैं। जीवाणु-जन्य विष का शरीर में व्याप्त हो जाना ही ज्वर का प्रधान कारण है। यह ज्वर कभी-कभी जाड़े के साथ प्रारम्भ होता है। श्वास एवं नाड़ी की तेजी, वमन, अरुचि, क्षुधानाश, कोष्ठबद्धता, बेचैनी, शरीर में पीड़ा, मूत्र का अल्प, गाढ़ा तथा गहरे रंग का होना आदि ज्वर के सभी साधारण लक्षण साथ में रहते हैं।

जीवाणु-जन्य शोथ के अतिरिक्त अन्य प्रकार के शोथ में ज्वर की सम्भावना कम रहती है।

निदान—उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त ध्यान रखना है कि किसी भी स्थान पर शोथ एवं पूयोत्पादन क्यों न हो उसके कारण रक्त-परीक्षा द्वारा रक्त में श्वेताणुओं की वृद्धि देखी जा सकती है। दूसरे शब्दों में इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि रक्त-परीक्षा द्वारा यदि रक्त में श्वेताणुओं की वृद्धि[1] मिलती है तो किसी भी स्थल पर शोथ एवं पूयोत्पादन का सन्देह किया जाना चाहिए।

चिकित्सा-सार्वदैहिक—आधुनिक युग में सल्फा विभाग की औषधियाँ तथा पेनिसिलिन आदि प्रतिजीवी पदार्थों के आविष्कार ने शोथ की चिकित्सा में एक क्रान्ति-सी उत्पन्न कर दी है। इनके आविष्कार से पूर्व सार्वदैहिक चिकित्सा का एक मात्र रूप रोगी की प्रतिकार शक्ति उत्तेजित करना, उसको आराम पहुँचाना तथा पौष्टिक औषधियों अथवा भोजनों द्वारा रोगी की शक्ति को बढ़ाना था और इस प्रकार रोग से मुक्ति दिलाने का सम्पूर्ण भार शरीर की प्राकृतिक शक्तियों पर था। यदि शरीर सबल हुआ तो धीरे-धीरे रोग से मुक्ति मिल जाती थी किन्तु यदि सबल नहीं हुआ तो हालत डवाँडोल रहती थी।

1. Leucocytosis.

श्वास-प्रणाल मे उपास्थि अर्थात् कार्टिलेज के लगभग १५-२० वलय[1] होते हैं जिनमे से लगभग ६-७ वक्षास्थि से ऊपर और शेष उसके पाछे रहते है। तीसरे व चौथे वलय को अवटुका ग्रन्थि का संयोजक भाग ढँके रहता है। इस संयोजक भाग[2] के ऊपर किए जाने वाले शस्त्र-कर्म को उच्चस्तरीय श्वास प्रणाल छिद्रकरण[3] तथा संयोजक भाग से नीचे की ओर किए जानेवाले शस्त्र-कर्म को निम्नस्तरीय श्वास प्रणाल छिद्रकरण[4] कहा जाता है। साधारणतया इसको क्रमशः उच्च या निम्न प्रणाल छिद्रकरण भी कह सकते हैं। प्रायः उच्च-नलिका वेधन ही ठीक पडता है और श्वास प्रणाल छिद्रकरण से यही समझा भी जाता है। निम्न प्रणाल छिद्रकरण शस्त्र-कर्म तो कुछ विशेष अवस्थाओं यथा अर्बुद या श्वास प्रणाल व श्वसनी मे पडे शल्य को निकालने के लिए ही किया जाता है।

श्वास प्रणाल नलिकाएँ—शस्त्र कर्म द्वारा छिद्र बना देने के पश्चात् वायु के आवागमन के लिए छिद्र मे होकर विशेष आकार-प्रकार की नलिकाओ को प्रविष्ट करना पडता है जिनको श्वास-प्रणाल नलिकाएँ[5] कहते है। ये रबर की या चाँदी की बनी हुई होती है। रबर की मुलायम होने के कारण अधिक आरामदेह रहती है किन्तु चाँदी की निर्मित नलिकाएँ ही अधिक उपयुक्त पडा करती है क्योंकि एक तो यह दब नहीं सकती और दूसरे वाह्य नलिका[6] तथा अन्तर्नलिका[7] अलग-अलग होने के कारण अन्तर्नलिका को चाहे जब निकालकर साफ किया जा सकता और पुनः प्रविष्ट कर दिया जा सकता है। स्वरयन्त्र नलिका[8] तथा श्वासप्रणाल वेधन नलिका[9] मे प्रधान अन्तर

---

1. Rings 2. Isthmus 3. High Tracheostomy. 4. Low Tracheostomy 5. Tracheostomy tubes 6. Outer and 7. Inner Tube 8. Laryngotomy tube. 9. Tracheostomy tube.

होता है। शोथ के सभी लक्षण बहुत धीमे तथा मृदु होते हैं तथा शोथ अधिक समय तक स्थायी रहता है—न तो उसका शमन ही होता है और न विद्रधि की उत्पत्ति ही। इस प्रकार का शोथ प्रायः फिरंग, क्षय, आम-वात के कारण ही देखा जाता है।

चिकित्सा—तीव्र शोथ के सम्बन्ध में वर्णित सभी स्थानिक चिकित्सा यहाँ भी की जानी चाहिए। पीडित अंग को आराम, उस स्थल पर रक्त प्रवाह बढ़ाना तथा गलित धातुएँ यदि कुछ भी हो तो उनको अलग कर देना चिकित्सा के मूलभूत सिद्धान्त हैं। आयोडेक्स, आयडोप्लास्ट आदि किसी आयोडीन के मलहम का मर्दन भी उपयुक्त है। रेड आयोडायड आफ मर्करी की मलहम भी बहुत लाभकर पाई गई है। कभी-कभी स्फोटोत्पादक[1] औषधियों का भी प्रयोग किया जाता है।

चिकित्सा में सर्वाधिक महत्व की चीज रोग के मूल कारण का पता लगाना तथा उसके अनुसार चिकित्सा करना है क्योंकि यदि रोग क्षय, फिरंग आदि के कारण उत्पन्न हुआ है तो जब तक इनकी चिकित्सा नहीं की जायगी तब तक लाभ की आशा नहीं की जा सकती।

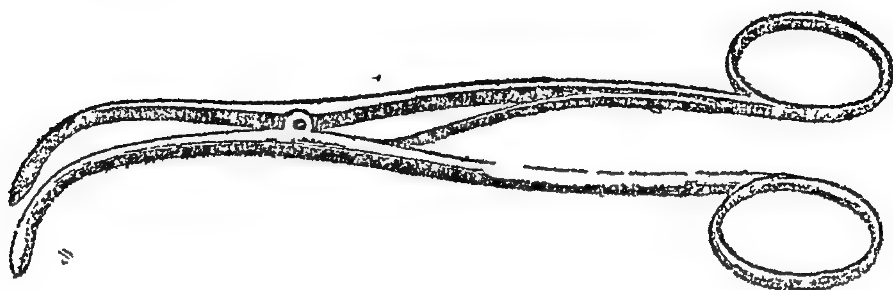
विद्रधि[2]—

जीवाणु-जन्य शोथ का यदि उपशम नहीं होता तो पूय[3] उत्पन्न होने लगती है। पूय के बनने की इस क्रिया को ही पूयीभवन[4] कहा जाता है।

पूयीभवन क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न गाढे द्रव पदार्थ का ही नाम पूय है जिसका रंग उत्पादक जीवाणु तथा रक्त की मिश्रित मात्रा के ऊपर निर्भर करता है। पूय में एक विशेष प्रकार की गन्ध रहती है किन्तु यह गन्ध भी पूयीभवन के स्थान तथा उत्पादक जीवाणु के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए अन्त्रियों के पास उत्पन्न पूय में मल सदृश गन्ध आना सम्भव है। पूय का आपेक्षिक घनत्व १०३० तथा प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

1. Blistering. 2. Abscess. 3. Pus. 4. Suppuration.

धमनी संदंश[1], तीन अंकुश[2] जिसमे दो साधारण तथा एक तेज शीर्ष[3] युक्त, श्वास प्रणाल नलिका, श्वास प्रणाल प्रसारक[4] (चित्र ६६) तथा सुई व रेशम के धागे आदि हैं।



चित्र ६६

श्वासनलिका प्रसारक

संज्ञाहरण के लिए सर्वांग संज्ञाहरण का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि औषधि का सुँघाना उसी समय प्रारम्भ किया जाय जब चिकित्सक हाथ मे वेधस पत्र लेकर शस्त्र-कर्म के लिए बिलकुल तैयार हो गया हो क्योंकि औषधि सुँघाते-सुँघाते ऐसी स्थिति आ सकती है जब श्वास प्रणाल मे तत्क्षण छिद्र कर देना पड़े। नोवोकेन २ प्रतिशत शक्ति के घोल के स्थानिक प्रयोग से भी काम चल सकता है और यथासम्भव चलाना चाहिए। नोवोकेन के घोल मे दो चार बूंद एड्रीनेलीन क्लोरायड की मिलाई जा सकती है।

रोगी को मेज पर चित् लिटा दिया जाता है तथा उसके कन्धो एव गर्दन के नीचे एक छोटा तकिया रख दिया जाता है ताकि ग्रीवा पीछे की ओर यथासभव अधिक से अधिक झुकी रहे। चिकित्सक रोगी के दाई ओर, उसका प्रधान सहायक सिर की तरफ तथा दूसरा सहायक चिकित्सक के दाई तरफ खडा होता है। संज्ञाहरक पदार्थ का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को रोगी के बायीं ओर खड़ा होना चाहिए।

---

1. Artery forceps 2. Hook 3. Sharp pointed 4. Tracheal Dilator.

चारों ओर भिन्न-भिन्न स्थिति में ऊतकों के प्रान्त यथार्थ में प्रकृति की रक्षा पंक्तियाँ हैं जो पूय को सीमित रखने के प्रयत्न में स्वयं निर्मित होती रहती हैं।

यह अवश्य सम्भव है कि जिधर को भी मार्ग मिले पूय उधर ही बढ़ने का प्रयत्न करे, यदि चर्म के नीचे है तो चर्म की ओर बढ़कर कुछ समय पश्चात् दुर्बल स्थान पर चर्म को गलाकर बाहर निकल आ सकती है। किन्तु यदि गहराई पर स्थित है और इसलिए चर्म तक नहीं आ सकती तो रक्त-नलिकाओं के सहारे-सहारे अथवा प्रावरणी के नीचे जिधर भी मार्ग मिलता है उधर फैलने लगती है। इस प्रकार पूय के इधर-उधर फैलने का कारण शुद्ध भौतिक है अर्थात जब स्थान विशेष पर पूय का दबाव बढ़ जाता है तो कम दबाव वाले स्थानों की ओर जैसे भी मार्ग मिलता है उसका बढ़ते जाना स्वाभाविक है। बढ़कर जहाँ भी वह पहुँचती है वहाँ उत्पात अवश्य करती है, यह बात दूसरी है। इसीलिए पूयोत्पादन हो चुकने के पश्चात् शीघ्र से शीघ्र छेदन करके उसको निकाल देना चाहिए।

निदान—प्रारम्भ में रक्तिमा, सूजन, पीडा, ताप की अधिकता आदि सभी शोथ के स्थानिक तथा ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण होते हैं। विद्रधि बन चुकने पर पीडा में कुछ कमी आ जा सकती है किन्तु यदि पूय ऐसे स्थान पर है जहाँ धातुओं की सघनता के कारण उसको इधर-उधर हटने का मार्ग नहीं मिलता बल्कि दबाव अधिक पड़ता है, जैसे अंगुलि विद्रधि तो असह्य पीडा होती है।

पूय बन चुकने पर यदि पूय चर्म के निकट ही है तो 'स्पर्श तरंग'[1] का अनुभव किया जा सकता है। इसके लिए विद्रधि के स्थान पर एक उंगली से हल्का दबाया जाता तथा दूसरी से अनुभव किया जाता है। जब द्रव पूय की लहर-सी मालूम पड़ सकती है। यथार्थ में इस स्थान पर यदि पूय बन चुकी है तो पके आम की तरह वहाँ कुछ ऐसी मृदुता-सी आ जाती है कि टटोल कर भी आसानी से अनुभव की जा सकती है। सन्देह होने पर या पूय निश्चित

1. Fluctuations.

हों। इस कैटली मे से निकलने वाली भाप कमरे के वायुमण्डल को उष्ण आर्द्र तथा साथ ही साथ शुद्ध भी रखेगी।

धातु निर्मित श्वास प्रणाल नलिकाओं को यथासम्भव शीघ्र ही हटाकर प्रणाल छिद्र को बन्द कर दिया जाना चाहिए किन्तु कब किया जाय इसके लिए निश्चित समय की सीमा नही दी जा सकती क्योंकि ये सब प्रत्येक रोगी की अलग-अलग अवस्था पर निर्भर करता है। उपयुक्त यह है कि श्वास प्रणाल नलिका के छिद्र को अंगुली से बन्द करके देखा जाय और यदि यह करने पर रोगी मुख या नाक से बिना कष्ट श्वास लेने लगे तो नलिका को हटाया जा सकता है।

तात्कालिक श्वास प्रणाल छिद्रीकरण—कभी-कभी विशेष कर ग्रामीण क्षेत्र में रोगी की जीवन रक्षा के लिए तत्क्षण फुफ्फुसों तक वायु पहुँचाने की आवश्यकता पड़ जाया करती है। ऐसे अवसर पर चिकित्सक के साहसपूर्ण कौशल से ही लगभग मृत्यु को प्राप्त रोगी की जीवन रक्षा सम्भव है। इस स्थिति मे बड़ों को स्वर यन्त्र छिद्र-करण शस्त्र-कर्म ठीक पड़ता है जबकि बच्चों मे श्वासप्रणाल छिद्रकरण ही उपयुक्त है।

बच्चे के शरीर को कुर्सी पर या चारपाई पर ही साध दिया जाता है और चिकित्सक उसके सिर को अपने बाएँ घुटने पर प्रसारण की स्थिति मे स्थिर कर लेता है। अब वह अपने बाएँ हाथ की मध्य अगुली (तर्जनी[1] नही) एव अगूठे की सहायता से उरः कर्ण मूलिका[2] पेशी को दोनो ओर हटाए रखता है ताकि मुख्य-मुख्य रक्तनलिकाएँ सुरक्षित तथा श्वास प्रणाल वलय[3] तनाव युक्त रहे। अब दाएँ हाथ से तेज चाकू द्वारा ठीक मध्य रेखा मे मुद्रिका[4] से नीचे अवटुका ग्रन्थि सयोजक भाग तक काट की जाती है जो श्वास प्रणाल तक पहुँचनी चाहिए। अब चिकित्सक के बायें हाथ की तर्जनी उँगली रक्तस्राव युक्त इस काट मे अन्दर प्रविष्ट की जाती तथा उससे श्वास प्रणाल को अनुभव किया जाता है और इस उँगली के सहारे ही अनु-

---

1. Index Finger 2. Sternomastoid 3. Rings 4. Cricoid.

एव निकलने के स्थान दोनो के बीच मे काट करते हुए वेधस पत्र के फल को बाहर निकाल लिया जाता है।

इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि विद्रधि को ऐसे स्थान पर काटा जाय जो नीचे की ओर हो और अंग के आराम की स्थिति में होने पर जो नीचे की ओर ही रहे। ऐसा होने पर ही यह सम्भव है कि पूय आदि स्राव स्वतः ही बाहर निकलते रह। काट सदैव मासपेशियों की दिशा मे ही होना चाहिए न कि उनके विरुद्ध दिशा मे और इसीलिए उच्च अथवा निम्न शाखाओ मे यह काट ऊपर से नीचे की ओर रहा करती है।

यह आवश्यक है कि पूय आसानी से पूर्णतः निकल जाय तथा आगे भी जब तक व्रण का रोपण नही हो जाय, निकलती रहे इसलिए इस बात का प्रयत्न नहीं होना चाहिए कि छेदन छोटा-सा ही किया जाय—छोटे की अपेक्षा लम्बा छेदन सदैव अच्छा रहता है। यदि विद्रधि के भीतर कई कोष्ठ बन गए हैं तो उँगली डालकर उनको तोड़ा जा सकता है ताकि सारा स्थान एक हो जाय। ऐसा करने से अन्दर का सम्पूर्ण स्थान एक हो जायगा तथा निकास मे आसानी होगी। यह आवश्यक है कि विद्रधि के भीतर जमी सभी पूय तथा गलित धातु बाहर निकल जाय क्योंकि जब तक व्रण पूर्णतः स्वच्छ नहीं रहता तब तक उसका विरोहण होना सम्भव नहीं। अस्थि की विद्रधि मे जब तक अस्थि का सम्पूर्ण गला हुआ भाग साधारणतया अथवा खुरचकर बाहर नहीं निकाल दिया जाता तब तक उसका विरोहण नही ही होता। साधारण विद्रधि में भी कभी-कभी जब उसके विरोहण मे अधिक विलम्ब लगता मालूम पड़ता है अन्दर से आखुरण शस्त्र[1] की सहायता से आखुरण[2] करने से रोपण मे बहुत सहायता मिलती है।

यदि पूय गहराई पर स्थित है तथा उपरोक्त विधि से साधारणतया छेदन करने से किसी रक्त नलिका या नाड़ी के कट जाने की आशंका है तो चर्म एव उसके नीचे की धातुओं का एक साधारण वेधस पत्र से ही छेदन करके

1. Sharp spoon 2. Scrapping.

झटके के साथ एकदम वह फुफ्फुसों मे प्रविष्ट हो जा सकता है। इसके अलावा यदि फुफ्फुसावरण संज्ञाहीन नही बना लिए गए तो आकस्मिक पीडा के कारण अवसाद तक की अवस्था उत्पन्न हो जाना सम्भव है।

द्रवचूषण[1]—ट्रोकार एवं केन्यूला या मोटे छिद्र की शूची अन्दर प्रविष्ट हो चुकने पर प्रश्न आता है द्रव्य के चूषण का। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि फुफ्फुसावरण के दोनो पर्तों के मध्य मे जहाँ पर कि तरल एकत्रित हो जाता है स्वस्थावस्था मे ७ मिलीमीटर पारद ऋणात्मक दबाव रहता है। अधिक मात्रा मे तरल के एकत्रित हो जाने से यह दबाव धनात्मक हो जाता है, अतः ट्रोकार बाहर निकाल लेने के पश्चात् यदि केन्यूला को किसी अवकाश-युक्त पात्र के साथ सबधित कर दिया जाता है तो द्रव निकलने लगेगा, इसमें कोई सन्देह नही। इसके अतिरिक्त द्रव के चूषण की एक सरल विधि यह है कि केन्यूला को एक बडी सिरिंज से सम्बन्धित कर दिया जाय। सिरिंज तथा केन्यूला के मिलने के स्थान पर त्रिमार्गीय पेच लगा रहता है जिसकी सहायता से इच्छानुसार सिरिंज का सम्बन्ध केन्यूला के साथ अथवा बाहर की ओर बनाया जा सकता है। पिस्टन को खींचने पर जब सिरिंज तथा केन्यूला का सम्बन्ध रहता है, द्रव्य केन्यूला के मार्ग से सिरिंज मे आ जाता है। बाद मे पिस्टन को दबाने पर जब सिरिंज का सम्बन्ध बाहर की ओर कर दिया होता है, द्रव बाहर किसी अन्य पात्र मे निकाल दिया जाता है। इस प्रकार बार-बार करने से इच्छानुसार चाहे जितना द्रव निकाल कर बाहर किया जा सकता है। इससे भी अच्छी विधि पोटेन के चूषित्र[2] का उपयोग है।

पोटेन का चूषित्र—यह यन्त्र चित्र ६७ मे दिखाया गया है जहाँ पर कि उसके साथ बोतल जो लगभग ३-४ पाइट की होनी चाहिए, नही दिखाई गई बल्कि उसमे लगने वाला कार्क दिखाया गया है। यह कार्क धातु का बना होता है जिस पर रबर लगी रहती है ताकि वह बोतल मे ठीक प्रकार से फिट हो जाय। इस डाट मे होकर दो नलियाँ जाती है जिनमे से एक अवकाश-पम्प तथा दूसरी रबर की नली की सहायता से केन्यूला के साथ सम्बन्धित है।

1. Aspiration of Fluid. 2. Aspirater.

प्रायः काम में लाया जाता है यही है कि किसी पूतिगंधी घोल से उस स्थान की भली प्रकार सफाई करके शुद्ध गौज की किसी जीवाणुनाशक औषधि एक्रीफ्लेविन, मरक्यूरोक्रोम आदि के घोल में भिगोई हुई वर्त्ती रख दी जाती है। वर्त्ती का आकार व्रण के आकार पर निर्भर करता है तथा उसको शलाका से अन्दर प्रविष्ट किया जा सकता है। छेदन के अनन्तर ही पूय निकल चुकने के पश्चात् इस प्रकार प्रथम बार वर्त्ती रखी जाती है। उसके २४ घण्टे पश्चात् फिर व्रण को खोलकर धोकर वर्त्ती रखी जा सकती है। किन्तु यदि रुधिर एवं पूय अधिक मात्रा में निकले तो इतने समय से पूर्व ही व्रण को खोलकर साफ करके व्रणोपचार वस्त्रों को बदल देना चाहिए।

गौज की वर्त्ती का सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि वह व्रण के ओष्ठों से चिपक जाती है जिससे फिर निकास में बाधा पड़ने लगती है। यदि व्रण पूरी तरह खुला हुआ है तो उससे वर्त्ती के चिपक जाने के कारण विरोहण में थोड़ी बाधा पड सकती है। इस दुर्गुण को दूर करने का बहुत ही सरल उपाय यह है कि एक्रीफ्लेविन के जलीय घोल के स्थान पर उसका तैलीय प्रलम्बन अर्थात् एक्रीफ्लेविन इमल्शन[1] का प्रयोग किया जाय।

बड़े-बड़े व्रणों में गौज की वर्त्ती के स्थान पर निकास कार्य के लिए रबर की नलियों का प्रयोग किया जाता है। व्रण के आकार के अनुसार पतले या मोटे रबड़ के एक टुकड़े में चारों ओर छिद्र कर दिए जाते हैं ताकि प्रत्येक ओर से पूय एवं स्राव उसमें प्रविष्ट होता रह सके। नली को उबाल कर शुद्ध करने के पश्चात् विद्रधि में अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है। उसका बाहरी शिरा विद्रधि के बाहर निकला रहना चाहिए, कभी-कभी व्रण के किनारों के साथ इसको सी भी देते हैं। लिखने की आवश्यकता नहीं कि इस नली का रुख इस प्रकार नीचे की ओर ही रहना चाहिए कि स्राव एवं पूय का व्रण से बाहर की ओर बहाव बना रहे। इस नली को २४-४८ घण्टे से अधिक समय के लिए व्रण में रखना ठीक नहीं क्योंकि उसकी उपस्थिति से विरोहण कार्य में बाधा पड़ती है।

१. निर्माण-विधि के लिए लेखक की 'एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका' देखें।

रवर की नली को रोगी के कन्धे पर होकर निकाल कर सामने लाया जाता है तथा शूची को फुफ्फुसावरण कोष मे चूषक केन्यूला से दो पर्शुकान्तरिक स्थान ऊपर मध्य कक्षीय रेखा मे ही अथवा सामने द्वितीय पर्शुकान्तरिक स्थान में हृदय एवं रक्तनलिकाओं को बचाते हुए अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। दाबमापक मे द्रव के तल का श्वसन के साथ ऊपर-नीचे होना इस बात का परिचायक है कि शूची ठीक फुफ्फुसावरण कोष मे ही है। चूषण प्रारम्भ करने के साथ ही साथ अब धनाकार कॉच नलिका के बोतलों की ओर वाले क्लिप को भी खोल दिया जाता है। तरल के बाहर निकलने के साथ ही साथ ऋणात्मक दबाव के कारण वायु स्वतः ही फुफ्फुसावरण कोष की ओर जायगी यह सम्भव है, किन्तु बाद मे उसके जाने की गति को बढाने के उद्देश्य से साधारण बोतल को भी धीरे-धीरे थोड़ा ऊपर उठाया जा सकता है। जब वायु वक्ष मे प्रवेश कर रही हो तब भी दाबमापक की ओर वाले क्लिप को खुला रखा जाता है ताकि उसमे से द्रव का ऊपर-नीचे होना यह दर्शित करता रहे कि फुफ्फुसावरण कोष के अन्दर का दबाव किस स्थिति मे है। तरल का चूषण तथा वायु का अन्दर की ओर प्रवेश साथ साथ[1] अथवा एक के बाद दूसरा[2] इस प्रकार चलते रह सकते हैं। दोनों की गति को फुफ्फुसावरण कोष के अन्दर का दबाव वा रोगी के लक्षणों के आधार पर नियन्त्रित रखना चाहिए। जब तक सम्पूर्ण द्रव बाहर न निकल आवे तब तक यह क्रिया जारी रखी जाती है। अन्त मे फुफ्फुसावरण कोष के अन्दर का दबाव १ या २ सेंटीमीटर जल के बराबर छोड दिया जाता है। रोगी भी आराम के साथ होना चाहिए। साधारणतया यह देखा जाता है कि जितना द्रव बाहर निकलता है उससे कुछ कम आयतन वायु ही अन्दर प्रविष्ट हो पाती है।

पूय वक्ष[3]—

पूय वक्ष का तात्पर्य फुफ्फुसावरण कोष मे पूय का एकत्रित हो जाना है। इसके लिए शस्त्र-कर्म करने से पहले ही यह भी ठीक प्रकार निश्चित कर

1. Concurrently or 2. Alternately 3. Empyema.

२. विद्रधि को यदि वह छोटी है तो शान्त छोड़ा जा सकता है क्योंकि कारणभूत मूल अवस्था में सुधार होने से यह भी बहुत कुछ सम्भव है कि उसका स्वतः ही शोषण हो जाय। किन्तु यदि वह आकार में बढ़ती है और उसके फूट जाने का भय है अथवा विद्रधि किसी साधारण प्रावरणी के ही नीचे है जैसे प्रत्यग्ग्रसनी या गलपश्चात् विद्रधि[1] में होता है तो पूय को निकाल देना आवश्यक है। एक २५ या ५० सी० सी० की सिरिंज में मोटे छिद्र की सुई लगाकर उसकी सहायता से पूय का चूषण[2] किया जा सकता है। पूर्ण चूषण करने के पश्चात् उस स्थान पर आयडोफार्म इमल्सन पहुँचाना भी लाभकर होता है। आवश्यकता पड़ने पर पूय का चूषण तथा आयडोफार्म इमल्सन का उस स्थान पर प्रवेश यह विधि दुहरानी चाहिए। अथवा—

३. विद्रधि में चीरा दिया जाता है तथा पूय निकाल देने के साथ ही साथ आखुरण शस्त्र द्वारा सावधानी के साथ खुरच कर अन्दर से पूययुक्त स्थान की दीवालों में भी साफ कर दिया जाता है। यदि अस्थि आदि के किसी टुकड़े के अन्दर पड़े रह जाने की सम्भावना है तो उसको भी निकाल दिया जाना चाहिये। रक्तस्राव बन्द कर देने तथा इसके साथ ही थोड़ा बिस्मथ आयडो-फार्म पेस्ट अन्दर मल देने के पश्चात् टांके लगाकर व्रण को सी दिया जाता तथा गॉज रुई आदि रखकर पट्टी बाँध दी जाती है। यदि विद्रधि के ऊपर का चर्म गल चुका है तो उसको काट कर अलग कर दिया जाना चाहिए और उसके बाद यदि टांके न लग सकें तो वैसलीन गॉज रखकर पट्टी बाँध दी जानी चाहिए।

कुछ विद्रधियों में गली हुई अस्थि को खुरचने या निकालने तथा क्षयजन्य लसीका ग्रन्थि को भी निकालने के पश्चात् उपरोक्त प्रकार टांके लगाये जाते अथवा आवश्यकतानुसार २४-४८ घण्टे तक निकास कार्य भी किया जाता है।

स्थान विशेष की भिन्न-भिन्न विद्रधियाँ—

ग्रीवा विद्रधि—इस प्रकार की विद्रधि से पीड़ित रोगी प्रायः मिला करते हैं

1. Retropharyngeal Abscess. 2. Aspiration.

अधिक होती है ये लक्षण भी उसी के अनुपात मे उग्र होते हैं। शरीर मे द्रव पहुँचाना अर्थात् द्रवाधान[1] ही इनकी मुख्य चिकित्सा है।

क्या द्रव पदार्थ दिए जायें—द्रवशोष की स्थिति उत्पन्न होने पर मुख्य आवश्यकता है उचित मात्रा मे द्रव पदार्थ शरीर मे पहुँचा देने की और इसके लिए निम्न घोल प्रयुक्त किए जा सकते हैं—

१. **डेक्स्ट्रोज सलायन**—इसमे ४·३ प्र० श० ग्लूकोज तथा ०·१८ प्र०श० लवण रहता है। इर प्रकार का घोल रक्त के समतानी[2] होता है।

२. **समतानी लवण जल**—अर्थात् ०·६ प्र० श० सोडियम क्लोराइड घोल। अत्यधिक वमन, स्वेद आदि की अवस्था मे इसका प्रयोग उपयुक्त है जो द्रव नाश के समान मात्रा मे प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

प्रत्येक अवस्था मे साधारण रूप से इन घोलो का प्रयोग सम्भव है। उनके अलावा—

३. **अतितानी लवण जल**[3]—जल विषमयता[4] या सोडियम का अधिक नाश हो जाने की अवस्था मे इसको बहुत धीरे-धीरे दिया जाता है।

४. **ग्लूकोज ५ प्रतिशत**—इसका बहुत कम प्रयोग किया जाता है। यदि रोगी की लवण की आवश्यकता की पूर्ति हो चुकी हो फिर भी और द्रव दिया जाना आवश्यक हो तो इसका प्रयोग उचित है।

५. **सोडियम लेक्टेट**—(१·८६ प्र० श०) अम्लरक्तता की अवस्था मे इसका प्रयोग सम्भव है।

६. **पोटेशियम घोल**—इसी को डैरोज घोल भी कहते हैं। इसकी एक लिटर जल में पोटेशियम एवं सोडियम क्लोरायड तथा सोडियम लेक्टेट क्रमशः २ ७, ४ तथा ६·२ ग्राम रहते है। जहाँ पोटेशियम क्लोरायड दिया जाना आवश्यक हो इसका प्रयोग किया जा सकता है किन्तु बहुत सावधानी के साथ करना चाहिए क्योंकि पौटेशियम क्लोरायड का फलो के रस आदि मे मिलाकर मुख मार्ग से प्रयोग ही अधिक सुविधा का है।

---

1. Infusion 2. Isotonic 3. Hypertonic saline 4. Water-intoxication.

की गति से चर्माधः मार्ग में द्रव दिया जा सकता है। तीव्र अवसाद, रक्त में प्रोटीन पदार्थों की अल्पता अथवा शिरावरोध की अवस्था मे इसका प्रयोग व्यर्थ है। यह भी ध्यान रहे कि इसके प्रयोग के साथ सदैव ग्लूकोज सलायन ही दिया जाय केवल ग्लूकोज घोल नहीं। किसी भी प्रकार के उपसर्ग के हायलूरोनायडेज के सम्पर्क मे आने से यह औषधि निष्क्रिय हो जाती है।

द्रवाधान का सर्वोपयुक्त आधुनिक साधन शिरा मार्ग ही है।

शिरामार्ग से द्रवाधान

(Intravenous Infusion)

आवश्यक उपकरण—आधान पात्र के रूप मे आधान द्रव ही निर्माताओं द्वारा बोतल में बन्द तैयार मिलते हैं जिनसे सीधा ही उनको प्रयुक्त किया जा सकता है। केवल मात्र बोतल मे वायु प्रवेश के लिए शूची, बोतल से शिरा तक के लिए रबर या प्लास्टिक की नली मे बीच मे लगाने के लिए बिन्दु नियन्त्रक[1], नली मे द्रव की गति को ठीक नियन्त्रित करने के लिए क्लिप तथा नली के अन्तिम सिरे पर लगाने के लिए एक पारदर्शक कॉच या प्लास्टिक की नली तथा शिरा मे प्रवेश के लिए उपयुक्त आकार प्रकार की शूची ये ही आवश्यक उपक्रम है। प्रायः दो चार शूची तैयार रहनी चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार चाहे जिसका प्रयोग किया जा सके। (चित्र ७०)

शिरा का चुनाव—किसी भी स्पष्ट दिखने वाली शिरा को जिसमे शूची को प्रविष्ट किया जा सके प्रयोग मे लिया जा सकता है। साधारणतया कुहनी पर सामने ही शिरा मे शूची प्रविष्ट करने की प्रथा-सी है और उपयुक्त ही है। इसके अलावा अग्रबाहु मे सामने की ओर रहने वाली बहिर्बाहु शिरा[2], हाथ मे पृष्ठ भाग पर रहने वाली कोई भी स्पष्ट शिरा, ऊर्ध्वबाहु मे सम्मुख पृष्ठ पर बहिर्बाहु शिरा, टखने मे सामने दिखने वाली अधः शाखा शिरा[3]

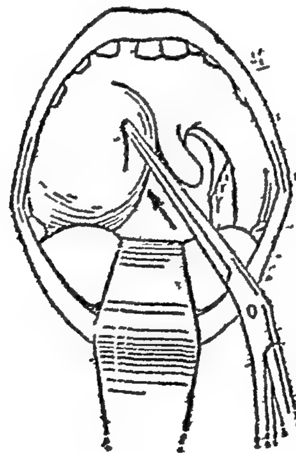
---

1. Drop regulator. 2. Cephalic vein. 3. Saphenous.

वेधस पत्र का केवल शिरा लगभग ⅓ इंच खुला रखकर शेष भाग को चिपकने वाले प्लास्टर लगे कपड़े से ढंक दिया जाता है। वेधस पत्र अथवा जिसे चाकू भी कह सकते हैं सावधानी के साथ अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तथा अन्दर एवं ऊपर की ओर चित्र ३७ में दिखाई गई रेखा में काट की जाती है।

वक्र नाडी संदंश को काकलक[1] तथा अन्तिम दांत के मध्य बिन्दु पर ऊपर तथा पीछे की ओर रुख रखते हुए अन्दर प्रविष्ट किया जाता है जैसा कि चित्र ३८ में दिखाया गया है। चाकू की अपेक्षा यह नाडी संदंश अधिक सुरक्षित है। नाडी संदंश अथवा चाकू चाहे किसी का भी प्रयोग क्यों न किया जाय स्थान को कोकेन के सांकर या १० प्रतिशत कोकेन घोल के प्रलेप द्वारा सुन्न किया जा सकता है। प्रलेप २-३ मिनट के अन्तर से तीन चार बार लगाना चाहिए।

चीरा देते समय अथवा देने के साथ ही साथ रोगी का मुख नीचे की ओर को कर दिया जाना चाहिए तथा पूय निकल जाने के बाद जीवाणुनाशक औषधि के घोल से कुल्ले कराकर मुख की सफाई कर दी जाती है। चीरा देने के बाद भी पेनिसिलिन का प्रयोग बहुत लाभकर है।



चित्र—३८
नाडी संदंश द्वारा गल ग्रन्थि विद्रधि को खोलना

1. Uvula.

फुफ्फुस, हृदय, वृक्क के रोगो से पीड़ित, अतिरक्तदाब[1] या कामला की अवस्था मे द्रवाधान करना उचित नही।

दुष्परिणाम और उनका प्रतिकार

प्रतिक्रिया—यदि अच्छी कम्पनी द्वारा निर्मित घोलो का ही प्रयोग किया जाता है तो प्रतिक्रिया की सम्भावना प्रायः नही ही रहती है। कभी-कभी एण्टीस्टीन या शिरामार्ग से प्रयोग के लिए उपयुक्त एलर्जीरोधी दूसरे योग या डैकेड्रोन फोस्फेट प्रारम्भ से ही घोल मे इस उद्देश्य से मिला दिये जाते हैं कि प्रतिक्रिया न होने पावे। फिर भी कॅपकॅपी के रूप मे प्रतिक्रिया होती हो मालूम पडे तो द्रवाधान तत्क्षण बन्द कर देना चाहिए, कॅपकॅपी शान्त हो जायगी। यदि कुछ मिनटों मे शान्त न हो तो एलर्जीरोधी योग एण्टीस्टीन, सायनेपिन, फिनर्गिन आदि मुख या इन्जेक्शन द्वारा दे या कोर्टीकोस्टरोयड प्रेडनीसोलोन, डैकेड्रोन आदि का इसी प्रकार प्रयोग प्रशस्त है। प्रेडनीसोलोन मुख द्वारा प्रारम्भ मे ही दे देने से प्रतिक्रिया उत्पन्न न होने देने मे सहायता मिलती है।

जल विषमयता[2]—जल विषमयता का अर्थ शरीर मे जल की अधिकता हो जाना है और इस प्रकार की स्थिति वृद्धो अथवा बच्चो मे अधिक होते देखी गयी है। इसका कारण अधिक तीव्र गति से द्रवाधान या ५ प्र० श० ड्रैक्ट्रोज घोल का दिये जाते रहना है जब कि शरीर मे लवण की आवश्यकता हो। लक्षण प्रायः ३६ घण्टे के अन्दर-अन्दर व्यक्त होते है।

प्रथम लक्षण जल्दी-जल्दी घर्घरयुक्त श्वास आना है इसके पश्चात् दौडे आ सकते है या रोगी घण्टो बेहोश पड़ा रह सकता है। चेहरे पर शोफ भी दिखाई पड़ सकता है। रोगी का भार भी बढ जा सकता है। यथार्थ मे रक्त के अधिक पतले हो जाने के कारण इसमे प्रोटीन एव सोडियम क्लोरायड आदि की मात्रा हलकी पड जाती है।

---

1. Hypertension 2. Water intoxication.

दन्तपार्श्ववर्ति दन्तविद्रधि दाँत एवं मसूढ़े के बीच में होकर बाहर निकलने लगती है अथवा मसूड़े को ऊपर उठाती हुई मालूम पड़ती है जब कि उसे प्रायः मसूड़ा विद्रधि[1] कहना चाहिए। कभी-कभी यह भी हो सकता है कि यह विद्रधि दाँतों से सहारे-सहारे आगे की ओर बढ़ती रहे तथा चिबुक से थोड़ा ऊपर चर्म के नीचे मालूम पड़ने लगे।

चिकित्सा—पूयोत्पादन के पश्चात् चीरा देकर पूय को निकाल देना ही प्रधान चिकित्सा है। विद्रधि का रूप यदि मसूड़ा विद्रधि है तो वक्र वेधस पत्र से अथवा एक विशेष प्रकार के चाकू से जिसे गम लेंसिट कहा जाता है, आसानी से चीरा दिया जा सकता है। यदि दाँत के मूल में विद्रधि है तो दाँत को उखाड़ देना चाहिए किन्तु यदि यह सम्भव न हो तथा दाँत को बचाना भी आवश्यक हो तो रोगी को दन्त चिकित्सक के पास भेज देना अच्छा है। यदि पूय का रुख बाहर की ओर है तथा वह चर्म के नीचे निकलती मालूम पड़ती है तो चर्म में चीरा लगाना श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता क्योंकि केवल यह करने से चिकित्सा पूर्ण नहीं हो जाती—पूय के उत्पत्ति स्थान को ठीक करना ही पड़ेगा अतः यदि हो सके तो यहाँ चीरा न देकर दन्तमूल को ही साफ करना चाहिए।

दन्त विद्रधि को बाहर से सेकना उपयुक्त नहीं माना जाता क्योंकि इससे पूय के बाहर चर्म की ओर बढ़ने की सम्भावना रहती है। गर्म पानी से कुल्ले अवश्य लाभकर हैं तथा मुख की सफाई रखने के लिए करने भी अवश्य चाहिए। रोग एवं रोगी की स्थिति देखते हुए पेनिसिलिन एवं सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग लाभकर ही है।

स्तन विद्रधि[2]—स्पष्ट है कि स्त्रियों में ही होती है और वह भी बहुधा उस अवस्था में जब वह बच्चे को दूध पिला रही हो किन्तु कभी-कभी बाल्य-काल या युवावस्था में स्त्री अथवा पुरुष दोनों में ही स्तन शोथ उत्पन्न हो सकता है। उपसर्ग का प्रवेश चूचुक[3] के पास के किसी साधारण व्रण, दरार[4]

1. Gum boil. 2. Mammary Abscess. 3. Nipple
4. Cracked nipple.

५—चिरकालीन स्वरूप के रक्तस्राव अथवा रक्त के अन्य रोगों में जब रक्त के किसी विशेष घटक की कमी होती है तो रक्ताधान द्वारा उस घटक की पूर्ति हो जा सकती है। उदाहरण के लिए रक्तस्रावी परप्यूरा[1], श्वेत-कणह्रास[2] तथा पैतृक रक्तस्राव प्रवृत्ति[3] आदि अवस्थाओं मे रक्ताधान से क्रमशः रक्तप्लेटलेट, श्वेत कण तथा फायब्रिन रक्त मे पहुँच जाती है।

६—सायनायड, कार्बन मोनो आक्साइड अथवा मैथ या सल्फ हीमोग्लोबीनिमिया आदि रक्त की विषमयता की अवस्थाओं मे जब रक्त को ऑक्सीजन ले जाने की शक्ति नष्ट हो जाती है, रक्ताधान जीवन रक्षक होता है।

७—रक्त की विषमयता की उन अवस्थाओं में भी जब रक्त मे घातक विष पदार्थ मिलकर भ्रमण कर रहे होते है, रक्ताधान लाभकर होता है किन्तु इस प्रकार की अवस्थाओं मे रक्ताधान के साथ ही साथ शिरा मोक्षण[4] द्वारा रक्त निकाल देना भी आवश्यक है। इस प्रकार दो तीन बार किया जा सकता है। होता यह है कि विषयुक्त रक्त निकाल कर शुद्ध रक्त अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और इस प्रकार विषो की मात्रा इस सीमा तक घटाने का प्रयत्न किया जाता है कि वह जीवन के लिए घातक न रह सके।

सम्पूर्ण मानवीय रक्त—स्वस्थ व्यक्ति के रक्त को जिसे गत ६ मास मे विषम ज्वर, कामला या आतशक नही हुआ है, लेकर सुरक्षित रखा जाता है। जिस पात्र मे रक्त एकत्रित करना है उसमे स्कन्दनरोधी[5] पदार्थ मिलाकर पात्र को रक्त लेने से पहले ही शुद्ध कर लेना चाहिए। स्कन्दन रोधी पदार्थ (१) सोडियम सायट्रेट १·६ ग्राम, सायट्रिक एसिड ०·५६ ग्राम तथा डेक्स्ट्रोज १·५ ग्राम ७५ सी० सी० शुद्ध जल मे घोलकर या (२) सोडियम एसिड सायट्रेट १·७-२ प्रतिशत तथा डेक्स्ट्रोज २·५ प्रतिशत हो सकता है। प्रथम के ७५ सी० सी०, ५०० सी० सी० रक्त के लिए तथा द्वितीय के १२० सी० सी०, ४२० सी० सी० रक्त के लिए पर्याप्त हैं। इस प्रकार एकत्र किए

1. Purpura heamorrhagica 2. Agranulocytosis 3. Haemophilia 4. Venesection 5. Anti coagulants.

होते-होते किया जाता है तो सम्भव है कि रोगी की अवस्था में सुधार होने लगे तथा पूयोत्पादन रुक जाय।

पूयोत्पत्ति हो चुकने पर एक मात्र चिकित्सा पूय को चीरा देकर निकाल देना है। यदि स्तनोपरि विद्रधि ही है तो चर्म में सामान्य छेदन पर्याप्त है; इतने से ही पूय निकल जाती है। यदि स्तनान्तर्गत विद्रधि है तो थोड़ी कठिनाई पड़ सकती है। चीरा सदैव स्तन मुख से अरायमाण[1] दिशा में लगाना चाहिए। चीरा लगाने के पश्चात् उँगली को अन्दर प्रविष्ट करके पूय को साफ करके निकाल दिया जाता है। यदि पूय कई स्थानों पर संचित है तो उनकी भित्तियों को उँगली से तोड़कर एक कर दिया जाता है। चीरा यथासम्भव ऐसे स्थान पर लगाना चाहिए जो नीचे की ओर हो तथा जहाँ होकर पूय आसानी से स्वतः बाहर निकलती रहे। निकास के लिए पूय का स्थान छोटा ही है तो एक्रीफ्लेविन आदि के घोल में भिगोकर गौज का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु यदि पूय अधिक स्थान में है तो रबर की नलिका का प्रयोग भी सम्भव है। रबर की नलिका में होकर व्रण का प्रक्षालन भी किया जा सकता है। ज्यों-ज्यों व्रण भरता जाय नलिका को छोटी करते जाना चाहिए।

स्तनाधर विद्रधि में स्तन के नीचे चर्म में छेदन किया जाता है तथा वहाँ होकर पूय निकाली जाती है। यह छेदन लम्बाकर खड़ा न होकर आड़ा हो सकता है। निकास के लिए रबर नलिका का प्रयोग भी आवश्यक है एवं सम्भव हो तो अवश्य करना चाहिए।

चिरकालीन स्वरूप ही स्तनाधर विद्रधि प्रायः सदैव ही क्षयजन्य हुआ करती है और किसी पर्शुका से सम्बन्धित रहती है, अतः उसकी चिकित्सा यथानुकूल की जानी चाहिए।

कक्षा विद्रधि—यह दो प्रकार की हो सकती है प्रथम बालों के मूल में उत्पन्न पूय तथा दूसरी गम्भीरस्थ लसीका ग्रन्थियों में उत्पन्न पूय। बालों की

1. Radially.

अधिक होता है। आधान के उपयुक्त २० औंस की बोतल मे इण्ट्राडेक्स[1] डेक्सट्रावन, पैरीस्येन, प्लाज्मोसन आदि योग इसी कोटि के हैं। २० मिलीग्राम प्रति सेर शरीर भार के हिसाब से शिरागत इन्जेक्शन द्वारा इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। रक्तरस के स्थानापन्न के रूप मे शिरागत आधान द्वारा दिया जाने पर रक्तरस का जलापकर्षक[2] भार यदि कम हो तो प्राकृत हो जाता है। प्राकृतिक रक्तरस की तरह इसमे पोषण[3] एव प्रतियोगी पदार्थ[4] सदृश गुण तो नहीं किन्तु सम्पूर्ण मानवीय रक्त से निर्मित रक्तरस के अभाव मे इसके प्रयोग से बहुत कुछ लाभ होता है। इसके अलावा इसके प्रयोग से रक्त रसीय कामला[5] अथवा सम्पूर्ण रक्त की तरह मलेरिया, आतशक आदि के उपसर्ग का भी भय नहीं। शिरागत प्रयोग से कभी-कभी प्रोटीन असह्यता सम्बन्धी उपद्रव उत्पन्न हो जाया करते है। जिनका समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

इसका प्रधान प्रयोग अग्निग्ध की चिकित्सा मे है जब कि प्रति दश प्रतिशत शरीर के जले होने पर १–१½ पाइंट के हिसाब से इसका शिरागत आधान किया जाना चाहिए। फिर भी २५००–३००० सी० सी० से अधिक डेक्सट्रान देना उपयुक्त नहीं।

विभाजन या वर्गीकरण[6]—रक्ताधान क्रिया जीवन रक्षक होते हुए भी इतनी सरल नही कि प्रत्येक चिकित्सक उसको कर सके और इसका एक मात्र कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का रक्त प्रत्येक व्यक्ति को नही दिया जा सकता। रक्ताधान करने के पूर्व दाता के रक्तकणो की ग्राहक की सीरम के साथ परीक्षा कर लेना आवश्यक होता है, यदि दाता के रक्तकण ग्राहक की सिरम द्वारा समूहित[7] हो जाते है तो वह रक्त देना उपयुक्त नही पड़ सकता। इस दृष्टि से सभी व्यक्ति चार भागो मे विभाजित कर दिए गए है। मौस के अनुसार इन विभागो को क्रमशः १, २, ३, व ४ कहते है तथा जैस्की

1. Intradex 2. Osmotic pressure 3. Nutrition 4. Immunological 5. Serum Jaundice 6. Blood grouping 7. Agglutinate.

ओर पृष्ठ तथा जंघा के उपसर्ग के फलस्वरूप हुआ करती है। वंक्षण में फूली हुई लसीका ग्रन्थियों को टटोला भी जा सकता है। अधिक उग्र शोथ तथा उसके पश्चात् पूयोत्पादन हो जाने पर शोथ के सभी साधारण स्थानिक एवं सार्वदैहिक लक्षण मिलते हैं।

यदि पूयोत्पादन अभी नहीं हुआ है तो अंग का उष्ण स्वेद आदि करके तथा पेनिसिलिन एवं सल्फा औषधियों के प्रयोग से स्थिति को शांत करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि पूयोत्पादन हो चुका है तो चीरा देकर पूय को निकाल दिया जाता है और इसके पश्चात् पेनिसिलिन आदि का प्रयोग किया जाता है। यदि उत्थानस्थ ग्रन्थियों मे पूयोत्पादन है तो चीरा आड़ा[1] और यदि गम्भीरस्थ ग्रन्थियो से पूयोत्पादन है तो चीरा लम्बाकार[2] खड़ा होना चाहिए जिससे निकास मे सुविधा रहे।

नाडी व्रण[3]—कभी-कभी विद्रधि को चीरने पर पता चलता है कि पूय का उद्गम स्थान गहराई पर स्थित है। यथार्थ मे होता यह है कि पूयोत्पादन गम्भीर ऊतकों मे होता है और वहाँ से पूय छोटा-सा मार्ग पाकर बाहर की ओर चर्म तक आ जाती है जहाँ वह चर्म को छेदकर बाहर निकल आती है अथवा चीरा देकर निकाली जाती है। यदि एक लम्बी सलाई को व्रण मे प्रविष्ट किया जाय तो वह एक नलिका मे होती हुई पाकस्थान तक पहुँच जाती है और यह पाकस्थान नलिका की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। पाकस्थान तथा चर्म के मध्य की इस नलिका को ही नाड़ी-व्रण कहते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाडी-व्रण का बाह्य मुख चर्म पर खुलता है जबकि उसका अन्तर्मुख पूय के स्थान की ओर बन्द रहता है। दो पाकस्थानो को चर्म के नीचे ही मिलाने वाले मार्ग को भी नाडी व्रण कहा जाता है।

जब गहराई पर स्थित ऊतकों मे पूयोत्पादन होता है तथा वहाँ से भली प्रकार पूय का निकास नही हो पाता अथवा पूयोत्पादन के स्थान पर अस्थि

1. Horizontal. 2. Vertical 3. Sinus.

टिप्पणी—उपरोक्त के अतिरिक्त कुछ अन्य महत्वपूर्ण विद्रधियों का वर्णन सामान्य शल्य-कर्म अध्याय मे भी किया जायगा।

आवश्यक यन्त्र एवं विधि—इस स्थल पर सायट्रेट युक्त रक्ताधान की बहुत ही सामान्य विधि का वर्णन है। भिन्न-भिन्न विधियों तथा विशेष वर्णन के लिए तत्सम्बन्धी विस्तृत साहित्य का अध्ययन किया जा सकता है। रक्ताधान की साधारण विधि दाता के रक्त का एकत्रित करना, उसको जमने न देना तथा ग्राहक मे शिरा द्वारा प्रविष्ट कर देना है।

दाता का रक्त कर्पूर सन्धि पर की शिरा से निकाला जाता है और इसके लिए चर्म का छेदन करना आवश्यक नहीं। ऊर्ध्वबाहु के चारो ओर टूर्नीकेट



चित्र—७३
फ्रेंच की अन्तःक्षेप शूची

बाँध कर शिरा को स्पष्ट कर लिया जाता है और इसके पश्चात् चर्म के नीचे थोड़ा कोकेन घोल प्रविष्ट करके स्थान को सज्ञाहीन भी बनाया जा सकता है। चर्म पर आयोडीन या स्पिरिट का प्रलेप करने के पश्चात् एक मोटे छिद्र को शूची शिरा मे प्रविष्ट की जाती है। इस उद्देश्य से फ्रेंच (चित्र ७३) या स्ट्रास की शूची उपयुक्त रहती है। स्ट्रास की शूची मे एक प्लेट इस प्रकार और लगी रहती है कि वह कर्पूर सन्धि पर आराम के साथ स्थिर रह सके।

रक्त साधारणतया स्वतः ही पात्र मे आता रहता है अथवा पात्र मे जैसा कि (चित्र ७४) मे दिखाया गया है, ऋणात्मक दबाव उत्पन्न करने का प्रबन्ध रखा जाता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि जिस पात्र मे रक्त एकत्रित करना है उसमे ३·५ शक्ति का लगभग ६० सी० सी० सोडासायट्रेट सोल्यूशन हो ताकि रक्त जम न जाय। लिखने की आवश्यकता नहीं कि यह घोल शुद्ध परिस्नुत जल मे तैयार किया गया हो तथा जीवाणुहीन शुद्ध हो। जिस पात्र मे रक्त एकत्रित किया जा रहा है उसमे चिह्न लगे होने चाहिए

विशेष लाभ की आशा की जा सकती है जब शोथ के लक्षण भी उपस्थित हों तथा रोगी उसके कारण ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षणों से भी पीड़ित हो।

कारबंकल[1]—साधारण पीडिकाएं प्रायः देखने को मिला करती हैं जिनकी प्रधान चिकित्सा पूयोत्पादन हो जाने पर पूय को निकाल देना और बाद में साधारण व्रण की तरह चिकित्सा करना है। कारबंकल एक बृहदाकार पिडका ही है जिसमें चर्माधः ऊतकों का शोथ, पाक तथा कोथ चारों ओर को अधिक विस्तृत होता है। मधुमेह से पीड़ित व्यक्तियों में इसके होने की अधिक सम्भावना रहा करती है और इसीलिए इसे कभी-कभी प्रमेह पिड़का नाम से सम्बोधित भी किया जाता है। यद्यपि अन्य कारणों से दुर्बल व्यक्ति भी इससे अधिक पीडित होते हैं।

लक्षण—चर्माधः ऊतकों में तीव्र स्वरूप का शोथ प्रारम्भ होता है और इस शोथ का क्षेत्र बहुत शीघ्रता के साथ विस्तृत होता जाता है। कारबंकल की उत्पत्ति शरीर के किसी भाग पर हो सकती है किन्तु प्रायः पीठ पर और वह भी ग्रीवा के पीछे अधिक होता देखा गया है। जब प्रारम्भ ग्रीवा पर होता है तो ऊपर वह सिर की ओर तथा नीचे पीठ की ओर बढता जा सकता है। इस शोथ के साथ ही साथ रोगी को असह्य पीडा होती है तथा शोथ के सार्वदैहिक ज्वर आदि लक्षण भी पूरी उग्रता के साथ उपस्थित रहते हैं। यदि प्रारम्भ में ही उचित चिकित्सा नहीं हो जाती तो शोथ का विनाश कार्य पूयोत्पादन एवं कोथ के रूप में आगे बढ़ता जाता है और शोथ के ऊपर के चर्म में कई छिद्र हो जाते हैं जिनमें होकर पूय तथा गली हुई धातु के चिथडे-से निकलने लगते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि शोथ के मूल कारण पूयोत्पादक जीवाणु प्रायः स्टेफिलोकाक्कस पायोजीनस होते हैं जो केश मूल या स्वेद ग्रन्थियों में होकर वहाँ पहुँचकर अपना विनाश कार्य शुरू कर देते हैं।

चिकित्सा—यदि शोथ प्रारम्भ होने की स्थिति में ही रोगी आ जाता है तो शोथ को शान्त करने का प्रयत्न किया जा सकता है। रोगी को विशेषकर

1. Carbuncle.

३—शीत[1]—एकाएक तीव्र शीत तथा कॅपकॅपी एक ऐसा उपद्रव है जो द्रवाधान या रक्ताधान के कारण उत्पन्न हो सकता है। इसका प्रधान कारण जीवाणु या बाह्य प्रोटीन का अन्दर पहुँच जाना है और इसको रोकने का सर्वोत्तम उपाय पूर्ण रूप से सफाई रखना है। जहाँ तक सम्भव हो सके इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि द्रव शरीर तापक्रम पर ही अन्दर पहुँचे। कभी-कभी एकदम तेजी के साथ आधान करने से भी इस प्रकार का उपद्रव उत्पन्न हो सकता है।

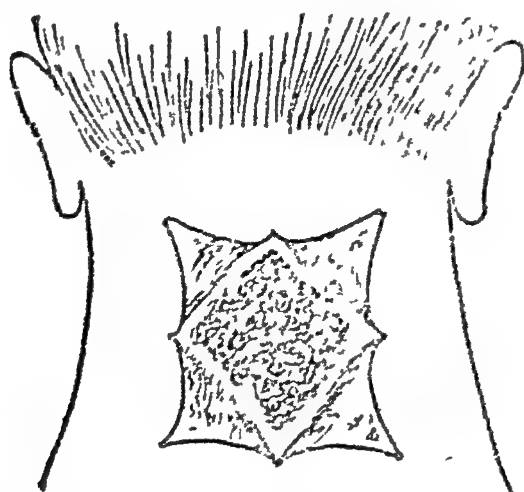
४—रक्ताधान का सर्वाधिक भयकर उपद्रव दाता अथवा ग्राहक रक्तकणों का समूहन या द्रवित हो जाना है। यह एक घातक स्वरूप का उपद्रव है किन्तु उत्पन्न केवल उसी अवस्था मे होता है जब अनुपयुक्त रक्त का आधान कर दिया गया हो और इसलिए इस प्रकार के उपद्रव का उत्पन्न होना रक्तो के पारस्परिक मेलन सम्बन्धी परीक्षा मे असावधानी का द्योतक है। इस उपद्रव के मुख्य लक्षण निम्न रूप के होते है—

अ—लक्षण ५०-१०० सी० सी० रक्त अन्दर पहुँच जाने पर ही उत्पन्न होने लगते हैं। सारे शरीर मे चुनचुनाहट, सिर मे भारीपन, हृत्प्रदेश मे हलकी पीड़ा-सी और इसके साथ ही उदर प्रान्त[2] मे तीव्र पीड़ा, चेहरा गहरे लाल या नीलिमा युक्त रग का मालूम पड़ता है, श्वास-उथली हो जाती है तथा नाडी गति धीमी २०-३० प्रति मिनट रहती है। सम्पूर्ण शरीर या केवल चेहरे पर शीतपित्त के चकत्ते निकल आते है। कभी-कभो रोगी वेहोश भी हो जाता है। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि शीत के साथ ज्वर आने के साथ ही साथ यदि पीठ मे तीव्र शूल भी होता है तो वह इस भयकर उपद्रव का ही परिचायक है जबकि शीत के साथ साधारण ज्वर का होना रक्ताधान करते समय सफाई को कमी का परिचायक हो सकता है।

ब—कुछ समय पश्चात् नाड़ी तेज किन्तु कमजोर हो जाती है, चर्म ठण्डा एव स्वेदयुक्त होता है तथा रोगी की हालत वहुत चिन्ताजनक होती

1. Rigor 2. Lumbar region.

क्षेत्र विस्तृत है तो इसके लिए सर्वांग विसंज्ञक के प्रयोग की आवश्यकता पड़ सकती है। चीरा धन के चिह्न के रूप में दिया जाता है (चित्र ४०) चर्म के चारों पर्तों को उलट करके नीचे की गली हुई धातु को अलग कर दिया जाता तथा भली प्रकार सफाई कर दी जाती है। इस शस्त्र-कर्म के समय होने वाले रक्तस्राव को धमनी सदंश अथवा यदि उपलब्ध हो तो डायाथर्मी के प्रयोग से रोका जा सकता है। सफाई कर चुकने के पश्चात् वैसलीन गौज अथवा एक्री-फ्लेविन इमल्शन में भिगोया गौज भरकर पट्टी बांध दी जाती है। साधारण एक्रीफ्लेविन घोल के स्थान पर वैसलीन गौज या एक्रीफ्लेविन इमल्शन के प्रयोग से लाभ यह है कि दूसरी बार व्रणोपचार करते समय गौज को हटाने में कुछ भी कठिनाई नहीं होती। यदि सफाई पूर्णतः हो चुकी होती है तो व्रणो-पचार वस्त्रों को तीसरे-चौथे दिन बदला जा सकता है।



चित्र ४० ब—कारबंकल के लिए चीरा-छेदन के पश्चात चर्म को पलट दिया गया है।

यदि और भी देर से आने के कारण व्रण अपने-आप ही खुल चुका है तो आखुरण शस्त्र से उसकी सफाई की जा सकती है अथवा यदि वह किसी प्रकार सम्भव न हो तो ग्लीसरीन ११ भाग मैगसल्फ (शुष्क) ३० भाग दोनों को मिलाकर पेस्ट-सा तैयार करके इसको व्रण पर लगाना चाहिए। इसको प्रतिदिन बदला जा सकता है और इस प्रकार दो-चार दिन के प्रयोग

है जो रात्रि के समय बढ़ जाती है। इस प्रकार के लक्षण उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा आवश्यक हो जाती है।

उपद्रव—१. अपस्फीत शिरीय व्रण[1]।

२. विचर्चिका या एक्जिमा—चर्मस्थ छोटी-छोटी शिराओं मे विकृति उत्पन्न होने पर इस प्रकार की स्थिति बनती है।

३. शिराशोथ[2]—यह प्रायः उत्थान धातुगत शिराओं मे आघात के कारण उत्पन्न हो जाता है। पीड़ा विशेष नही होती और न रोगी को अधिक समय तक आराम से डाले रखने की ही आवश्यकता है।

४. रक्तस्राव—अपस्फीत शिरा के कट जाने पर तीव्र स्वरूप का रक्तस्राव हो सकता है जो पीड़ित अंग को ऊपर की ओर उठाने तथा रक्तस्राव के स्थान पर दवाव डालने से ही रोका जा सकता है।

५. गम्भीरस्थ शिराओ मे विकृति होने पर पैर एवं टाग मे शोफ की उत्पत्ति सम्भव है।

चिकित्सा—चिकित्सा के तीन रूप है यथा (१) शामक[3] (२) सूर्चीवेध अर्थात् इन्जेक्शन (३) शस्त्र-कर्म। इसके दो रूप है—(१) वन्धन (२) शिराच्छेदन अर्थात् शिरा को काटकर ही वाहर निकाल देना। शस्त्र-कर्म विशेष कठिन है, अतः उसका यहाँ वर्णन नहीं किया जाता—तत्सम्वन्धी विशेप साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिए। शेष तीन विधियों का वर्णन यहाँ दिया जाता है।

शामक—इस प्रकार की चिकित्सा उस समय की जानी चाहिए जब अपस्फीत शिराओ की उत्पत्ति का कारण अस्थाई स्वरूप का हो जैसे गर्भावस्था या गम्भीरस्थ शिराओ मे घनास्रता[4] के कारण अवरोध। शिरा शोथ की अवस्था मे रोगी आपको इस प्रकार का इतिहास देगा कि पीड़ित पैर के शोथ एव पीड़ा युक्त रहने के कारण उसे कुछ दिनो तक चारपाई पर ही आराम करना पड़ा था। यह शिराशोथ की अवस्था थी जिसके कारण गम्भीरस्थ शिरा का मार्ग पूर्णतः या अंशतः अवरुद्ध हो चुका है। ऐसी स्थिति में

1. Varicose ulcer 2. Phlebitis 3. Palliatieve 4. Thrombosis.

संयोजक ऊति शोथ[1]—संयोजक ऊति शोथ से तात्पर्य प्रायः चर्म के नीचे अथवा अन्यत्र स्थित संयोजक ऊति के शोथ से है जिसका कारण प्रायः स्ट्रेप्टोकोक्कस पायोजीनस जीवाणु हुआ करते हैं जो किसी बहुत छोटे व्रण में होकर भी पहुँच जाते तथा विकृति प्रारम्भ कर देते हैं। अधिक तीव्र अवस्था में जीवाणु प्रवेश करने के दो घण्टे पश्चात् अथवा दो दिन बाद तक शोथ का प्रारम्भ होते देखा गया है।

पीछे वर्णित शोथ के सभी लक्षण तथा ज्वर जो कभी-कभी जाडे के साथ आता है, सिर में पीडा, बेचैनी, नाड़ी एवं श्वास की तेजी आदि पाए जाते हैं। पीड़ित स्थान रक्तवर्ण, फूला हुआ, गर्म तथा पीडा युक्त होता है। पीड़ित भाग से सम्बन्धित लसीका ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। रोगी के अधिक दुर्बल होने पर रोग की तीव्रता के कारण ज्वर बार-बार जाडा देकर आता है अथवा यदि विषमयता अधिक है तो शरीर का तापमान और भी कम हो सकता है।

चिकित्सा—शोथ के सम्बन्ध में वर्णित सभी चिकित्सा पूर्णतः की जानी चाहिए। रोगी को पूर्ण आराम, सुपाच्य पौष्टिक भोजन तथा हलकी रेचक मूत्रल एवं स्वेदल औषधियों के प्रयोग से शरीर से विषाक्त पदार्थों का उत्सर्ग आवश्यक है। पेनिसिलिन या दूसरे प्रतिजीवी पदार्थ एवं सल्फा औषधियों का प्रयोग पूर्ण मात्रा में अविलम्ब शुरू कर दिया जाना चाहिए तथा नियमतः जारी रखना चाहिए। रोगी को जल प्रचुर मात्रा में देता रहे। स्थानिक चिकित्सा भी शोथ की तरह ही है।

जब तक यह पूर्णतः निश्चित न हो जाय कि पूय का निर्माण हो चुका है, तब तक चीरा नहीं लगाना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से जीवाणुओं के प्रवेश करने के और भी मार्ग खुल जायेंगे। यदि पूय निर्माण हो चुका है तो पूय की स्थिति के अनुसार एक या अधिक चीरा रक्त नलिका एवं तन्त्रिकाओं के समानान्तर दिशा में लगाए जाते हैं और साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि निम्नतल पर लगाए जायँ ताकि पूय का भली प्रकार निकास होता

1. Cellulitis.

यह नितान्त आवश्यक है कि इन्जेक्शन शिरा के अन्दर ही लगे, औषधि इधर-उधर निकल न जाय अन्यथा उस स्थान पर क्षोभ, पीड़ा शोथ एवं व्रण की उत्पत्ति सम्भव है। यदि किसी प्रकार सुई शिरा के बाहर के स्थान में चली जाय और कुछ घोल बाहर निकल जाय तो तत्क्षण इजेक्शन बन्द करके पिस्टन को पीछे खींचकर जितना घोल वापस आ सके उतना वापस करके सिरिज को सुई से अलग कर लिया जाता है। इसके बाद यथासम्भव शीघ्र ही उसी या दूसरी सिरिज मे समबल लवण जल भरकर वहाँ २-३ सी० सी० पहुँचा दिया जाता है ताकि घोल हलका पड़ जाय, फलतः कम क्षोभक हो।



की ओर तथा सिर के पीछे दोनो ओर चीरा देना चाहिए। चीरा देने से पूर्व ही इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि चीरा के स्थान से पूय निकलने लगे। निकास के लिए पतली रबर नलिका के प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

इस शस्त्र-कर्म एव उपयुक्त स्थानिक चिकित्सा के साथ ही साथ सार्वदैहिक चिकित्सा प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग अनिवार्य है।

ग्रीवा संयोजक ऊति शोथ[1]—ग्रीवा अर्थात् गर्दन की सयोजक ऊति का शोथ. दाँत के उपसर्ग, ग्रीवा के क्षत, ग्रीवा की लसीका ग्रन्थियो के शोथ,[2] गल तुण्डिका शोथ[3] अधोहन्वस्थि शोथ आदि के उपद्रव स्वरूप उत्पन्न हो सकता है।

बादामी-से रग का शोथ उत्पन्न होता है तथा चर्म लाल तथा फूला हुआ-सा हो जाता है। असह्य पीडा, सिर का अचल होना, मुख खोलने, निगलने तथा श्वास लेने मे भी कष्ट तथा ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण पाये जाते है। स्वर यन्त्र शोफ, अथवा ग्रीवा मे गहराई तक उपसर्ग का फैलना और इस प्रकार मध्य स्थानिका[5] या हृदयावरण[6] का भी प्रभावित हो जाना, भयकर स्वरूप के उपद्रव है जिनके लिए सावधान रहना चाहिए।

चिकित्सा—यदि रोगी प्रारम्भ मे ही देखने को मिलता है तो पेनिसिलिन आदि के प्रयोग द्वारा शोथ को शान्त करने का प्रयत्न किया जा सकता है। यदि इस बात का सन्देह हो कि पूयोत्पादन हो चुका है अथवा नही तो उचित स्थान पर छेदन द्वारा अथवा सिरिंज एव मोटे छिद्र की सुई की सहायता से निश्चय कर लेना चाहिए। श्वासनलिकाच्छेदन[7] शस्त्र-कर्म का भी पूरा प्रबन्ध रहना चाहिए ताकि यदि आवश्यकता पडे तो यह कार्य किया जा सके।

---

1. Cellulitis of the neck. 2. Cervical lymphadenitis. 3. Tonsillitis. 4. Osteomyelitis of the mandible. 5. Mediastinum. 6. Pericardium. 7. Tracheotomy.

पश्चात् नली अन्न नलिका में प्रवेश करती और आमाशय मे पहुँचाई जा सकती है। प्रविष्ट करते समय नली को ठीक बीच मे रखना चाहिए। नली के मुख से अन्दर प्रविष्ट हो चुकने के पश्चात् यदि रोगी उसको निगलने का प्रयत्न करता है तो नली के ग्रासनली मे प्रविष्ट होने मे और भी सहायता मिलती है। कभी-कभी कण्ठच्छद[1] से आगे नली को प्रविष्ट करने मे कुछ कठिनाई-सी मालूम पडती है। ऐसा होने पर यह किया जा सकता है कि चिकित्सक अपने बाएँ हाथ की तर्जनी उँगली को नली के सहारे-सहारे ही अन्दर प्रविष्ट कर दे और उसकी सहायता से उपार्जाह्विका को साधे रहते हुए नली को आगे बढ़ा दे।

यदि सावधानी के साथ कार्य किया जाता है तो नली के ग्रासनली के स्थान पर श्वासनलिका मे प्रविष्ट हो जाने की कोई सम्भावना नहीं, किन्तु यदि किसी प्रकार का सन्देह हो तो उँगली को अन्दर प्रविष्ट करके निश्चित किया जा सकता है कि नली स्वरयन्त्र मे नहीं जा रही है। फिर सबसे बडी बात यह कि यदि नली श्वासनलिका मे चली जाती है तो श्वासावरोध के लक्षणों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा।

बीस इञ्च के लगभग अन्दर पहुँच जाने का अर्थ है कि नली आमाशय में पहुँच जाती है और जब आमाशय मे पहुँच चुके तो खुले सिरे मे फनल लगाकर उसको रोगी के सिरे से थोडा ऊपर रखते हुए फनल मे लगभग $\frac{1}{2}$ सेर प्रक्षालन द्रव डाला जाता है। प्रक्षालन द्रव पोटास परमेगनेट या बोरिक एसिड का हलकी शक्ति का विलयन हो सकता है। द्रव डाल चुकने के शीघ्र पश्चात् ही फनल को किसी अन्य पात्र मे रोगी के आमाशय से थोड़ा नीचे स्तर पर ही रखते हुए उलट देते हैं। ऐसा करने से फनल मे होकर आमाशय का द्रव बाहर निकलने लगता है। यह ध्यान रखना है कि जब फनल मे थोड़ा द्रव हो तभी उसको उलट दिया जाय क्योंकि सायफन क्रिया[2] के आधार पर ही आमाशय मे से द्रव निकलना है और इसके लिए यह आवश्यक है कि

1. Epiglottis. 2. Syphon.

शोथ[1] का उत्पन्न हो जाना भी सम्भव है। ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं।

चिकित्सा—रोगी के मिलते ही सार्वदैहिक चिकित्सा प्रारम्भ कर दी जानी चाहिए। यदि आवश्यक हो तो छेदन करने मे विलम्ब करना ठीक नहीं और यह छेदन ऐसे स्थान पर किया जाता है जहाँ सबसे अधिक उभार हो तथा पूय के निकल पड़ने की सम्भावना हो। छेदन पलक अथवा नेत्रश्लेष्मला तोरणिका[2] मे होकर हो सकता है। निकास के लिए अवस्था के अनुसार समुचित उपाय किया जाता है तथा नेत्र का उष्ण सेक भी लाभकर है। यदि सपूय सर्वनेत्र शोथ उत्पन्न हो चुका है तो इस समय नेत्र गोलक को निकालने का प्रयत्न करना ठीक नहीं क्योंकि मस्तिष्कावरण शोथ हो जाने का भय रहता है वल्कि स्वच्छ मण्डल क्षेत्र मे घनाकार छेदन करके नेत्र गोलक को रिक्त कर दिया जाना चाहिए। इन सबके साथ ही साथ प्रतिजीवी योगो का प्रयोग भी आवश्यक है।

विसर्प[3]—शस्त्र चिकित्सा से सीधा सम्बन्धित होने के कारण ही इसका इस स्थल पर वर्णन किया जाता है। विसर्प का अर्थ चर्म तथा चर्माधः ऊति का प्रसरणशील[4] शोथ है जिसका प्रधान कारण स्ट्रेप्टोकोकस पायोजीनस विभाग का एक विशिष्ट जीवाणु हुआ करता है। छोटे से ऐसे क्षत मे होकर जिसकी ओर ध्यान आकर्षित नहीं हो पाता जीवाणु अन्दर प्रविष्ट कर जाते और अपना कार्य शुरू कर देते हैं, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि क्षत का कोई सूत्र भी नहीं मिलता। रोगी का दुर्वल या किसी दुर्वलता उत्पन्न करनेवाली व्याधि से पीडित होना, अस्वास्थ्यकर वायुमण्डल मे रहना अथवा पौष्टिक भोजन न पाना रोग की उत्पत्ति मे सहायक होता है।

लक्षण—प्रारम्भ मे क्षत के पास का चर्म पीड़ा युक्त लाल-सा तथा शोथ-युक्त मालूम पड़ता है। कुछ घण्टों पश्चात् ही रोगी को ज्वर मालूम पड़ने

1. Meningitis 2. Conjunctival Fornix 3. Erysipelas
4. Spreading

हार्निया

हार्निया[1] का यथार्थ अर्थ किसी भी आन्तरिक अंग का बाहर की ओर निकल पडना है और इस प्रकार मस्तिष्क की हार्निया या फुफ्फुसो की भी हार्निया हो सकती है। किन्तु अधिकाश मे आँतों की ही हार्नियाँ पाई जाती है, अतः हार्निया शब्द से आँतों का उतरना ही समझा जाता है।

कारण –(१) **जन्मजात या सहज**––औदरिक पेशियों की दुर्बलता एवं कुछ प्राकृतिक छिद्रों का प्राकृत से अधिक बड़ा होना जैसा कि वक्षणीय छिद्रों के सम्बन्ध मे देखा जाता है कभी-कभी ये दोनों ही लक्षण विरासत के रूप मे माता-पिता से मिलते हुए देखे गए है और इसीलिए हार्निया की अवस्था मे वशानुक्रमण की प्रवृत्ति देखी जाती है। आन्त्रकला की अधिक लम्बाई तथा अण्डकोषों का देर से उतरना[2] भी हार्निया के सहायक कारण हैं। भ्रूणावस्था मे अण्डकोप उदर गुहा के अन्दर रहते हुए ही निर्मित होते है किन्तु जन्म के समय तक वे बाहर निकलकर अण्डकोष मे आ चुकते है। कभी-कभी जन्म के पश्चात् भी वे बाहर निकल कर अण्डकोषो मे उतरते है। इस प्रकार को अवस्था भी हार्निया की उत्पत्ति मे सहायक होती है।

(२) **जन्मोत्तर**––(अ) शस्त्र-कर्म, आघात, गर्भ, वृद्धावस्था अथवा दुर्बलता उत्पादक रोगों के कारण उत्पन्न औदरिक पेशियो की दुर्बलता। (ब) भारी बोझा उठाने आदि का व्यवसाय, चिरकालीन स्वरूप की खाँसी या मलावरोध, मूत्रमार्ग सकोच या पुरःस्थ की वृद्धि के कारण मूत्र त्याग के समय औदरिक पेशियो पर लगातार अन्दर की ओर से दबाव पड़ना तथा (स) मेदवृद्धि या अर्बुद की उत्पत्ति के कारण अन्तः औदरिक दबाव[3] की वृद्धि।

रचना उदर गुहा के अन्दर आन्त्रियाँ या अन्य सभी अग पर्युदर्या[4] नामक कला द्वारा आच्छादित रहते हैं। बाहर की ओर उतरते समय आँते कला के इस भाग को भी अपने साथ नीचे खीच लाती है और इस प्रकार कला का यह भाग बाहर की आँतो को ढके रहता है। बाहर आँतो को पूर्णतः

1. Hernia. 2. Late descent of Testes. 3. Intra-abdominal pressure. 4. Peritoneum.

व्रण की स्थानिक उपयुक्त चिकित्सा के अतिरिक्त पूर्ण सार्वदैहिक चिकित्सा की भी आवश्यकता है। रोगी के सामान्य स्वास्थ्य को सुधारने के लिए उसे स्वास्थ्य-प्रद वायुमण्डल में रखना तथा पौष्टिक भोजन एवं औषधियाँ देना चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रतिजीवी योग तथा सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग आवश्यक है। चिरकालीन स्वरूप की अथवा भ्रमणशील विसर्प की अवस्था होने पर कोलोजल मेंगर्जान के इंजक्शन लाभकर हो सकते हैं।

पीड़ित चर्म पर लगाने के लिए इक्थयोल मलहम (५ प्र० श०) अथवा इक्थयोल ग्लीसरीन (५-१० प्र० श०) का प्रयोग किया जाता है जिससे पीड़ा एवं शोथ में शान्ति मिलती है। व्रणोपचार के लिए मैगसल्फ के सतृत घोल[1] में भिगोया हुआ गौज उपयुक्त है।

1. Saturated Solution.

तथा नलिका को भित्तियों मे ससक्ति हो जाने पर अथवा कोष के अन्दर आँतों के ही कोष की भित्ति से संसक्त हो जाने अर्थात् जुड जाने पर निदान में कुछ कठिनाई अवश्य होती है। उस समय रोग के इतिहास से निश्चय किया जा सकता है।

स्थानिक अर्बुद, लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि, वक्षणी नलिका की जीर्ण विद्रधि, पूर्णत उतर कर अण्डकोषों तक न पहुँची हुई अण्डग्रन्थि[1], तथा वृषण रज्जु जलसंग्रह[2] से पार्थक्य करना आवश्यक है।

२—औौर्वी हार्निया[3]—जब अन्त्रियाँ उरुमूल मे औौर्वीनलिका[4] मे होकर बाहर की ओर निकले तो उसको औौर्वीहार्निया कहा जाता है। प्रकृतितः इस औौर्वीनलिका के तीन भाग होते है जिसमे बाहर की ओर औौर्वी धमनी, मध्य मे औौर्वी शिरा तथा अन्दर की ओर का तीसरा भाग रिक्त रहता है जो ऊपर को ओर वसामय धातु से तथा नीचे की ओर सच्छिद्र या चालनी प्रावरणी[5] से ढँका रहता है। जब भी हार्निया की उत्पत्ति होती है तो वह नलिका के इस भाग मे होकर होती है क्योंकि नलिका के शेष दोनो भाग भरे रहते है।

इस प्रकार की हार्निया स्त्रियों मे अधिक देखी जाती है क्योंकि वस्ति के अधिक चौडा होने के कारण उनमे नलिका की चौड़ाई भी अधिक होती है। जिन स्त्रियो को कई बच्चे हो चुकते है उनमें ही हार्निया की सम्भावना अधिक रहती है। उत्पत्ति बहुत धीरे-धीरे होती है तथा लक्षण भी तीव्र नही होते, फलतः कभी-कभी वर्षों तक रोग का ज्ञान नहीं हो पाता विशेष कर स्थूल काय स्त्रियो मे।

लक्षण स्पष्ट होते है तथा ऊपर दिये गये आधार पर आसानी से निदान किया जा सकता है। शोथयुक्त लसीका ग्रन्थि, विद्रधि, अर्बुद, प्रकुपित शिरा वक्षणी हार्निया आदि से पार्थक्य आवश्यक है।

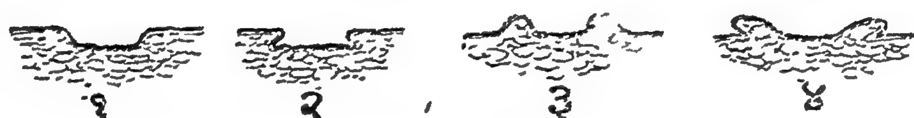
---

1. Undescended Testes 2. Hydrocele 3. Femoral erniaH 4. Femoral canal 5. Cribriform fascia.

३. आकार—व्रण के आकार का अनुमान उसकी आयु के हिसाब से लगता है। शोथजन्य व्रण का आकार बहुत ही शीघ्रता के साथ बढ़ता है जबकि कैंसर का आकार उतनी शीघ्रता से नहीं बढ़ता। रोडेण्ट व्रण[1] की वृद्धि उससे भी धीरे-धीरे होती है। मन्द व्रण की वृद्धि लगभग नहीं के बराबर होती है।

४. रूप—कुछ विशिष्ट व्रणों का आकार भी निश्चित-सा होता है। फिरंगार्बुद जन्य व्रण[2] का आकार गोल अथवा कई गोलाकार व्रणों के मिलने जैसा होता है।

५. व्रणोष्ठ—व्रण के किनारों का आकार, उनका उठा हुआ या दबा हुआ होना, उनके नीचे खोखलापन आदि बातें देखी जाती हैं। (चित्र-४१)



चित्र ४१—व्रणोष्ठों के भिन्न-भिन्न प्रकार

१. व्रण रोपण की स्थिति में

२. क्षय जन्य व्रण

३. रोडेण्ट व्रण

४. एपीथिलियोमा

६. धरातल—रंग, आकार विरोहण धातु-युक्त है या नहीं आदि बातें देखी जाती हैं।

७. आधार स्थल—आधार स्थल से तात्पर्य व्रण के नीचे की ऊतक से है। अपस्फीत व्रण अपने नीचे के तल से चिपका-सा रहता है।

८. निकटवर्ती स्थान—व्रण के चारों ओर की ऊतकों में शोथ, रक्तादि-वृद्धि अथवा अन्य प्रकार से उनकी स्वस्थता, अस्वस्थता की भी परीक्षा की जाती है।

९. व्रण स्राव—व्रण से होने वाले स्राव की भी परीक्षा की जाती है कि

1. Rodent ulcer 2. Gummatous ulcer.

उपद्रव—

हार्निया एक ऐसा रोग है जिसमें यदि उपद्रव न हों तो रोगी विना किसी आपत्ति के जीवन भर उसको सहता रह सकता है किन्तु कभी-कभी भयंकर स्वरूप के उपद्रव उत्पन्न होकर रोगी के जीवन को ही संकट में डाल देते हैं। इन उपद्रवों से बचे रहने के लिए ही यह आवश्यक है कि शस्त्र-कर्म द्वारा रोग से पूर्ण मुक्त कर दिया जाय। हार्निया सम्बन्धी उपद्रवों का निम्न रूप होता है—

१. शोथ—इस प्रकार की स्थिति किसी तरह चोट लगने या आँतों को अन्दर प्रविष्ट करते अर्थात् पुनरस्थापन करते समय आँतों को किसी प्रकार की क्षति पहुँच जाने से उत्पन्न होती है। हार्निया का स्थान तना हुआ, लाल वर्ण तथा उष्ण होता है और साथ ही दबाने से वहाँ पीडा होती है। मलावरोध होता है किन्तु पूर्ण नहीं क्योंकि थोडा-थोडा मल आता रहता है। ज्वर, जी मिचलाना, वमन आदि लक्षण साथ में रहते हैं। खाँसने पर उत्सेध में सरसराहट मालूम पडती है। कुछ लक्षण अवरुद्ध हार्निया से मिलते हैं किन्तु अवरोध की दशा में ज्वर नहीं होता बल्कि शरीर का तापमान और भी कम रहता है तथा वमन में मल मिला हो सकता है जब कि शोथ की अवस्था में वमन में मल वगैरह कभी भी मिला नहीं हो सकता, अवरुद्ध हार्निया में खाँसने पर सरसराहट भी प्रतीत नहीं हो सकती।

रोगी को विस्तर पर आराम से लिटाए रखना तथा एनीमा द्वारा कोष्ठ शुद्धि आवश्यक है। भोजन के लिए तरल पदार्थ दिये जाने चाहिए, पीडा के लिए शामक औषधियाँ यहाँ तक कि अफीम के किसी योग का भी प्रयोग किया जा सकता है। उत्सेध पर ऊष्म स्वेद दिया जाना चाहिए। पेनिसिलिन एवं स्ट्रेप्टोमायसीन को मिला कर इन्जेक्शन देना ही लाभकर है। टैट्रा-साइक्लीन का प्रयोग भी उचित है।

२.—अपुनरस्थाप्यता[1]—उस स्थिति का नाम है जब हार्निया के अवयवों को अन्दर प्रविष्ट न किया जा सके। कोष एवं कोष के अवयवों

---

1. Irreducibility.

स्वस्थ दिखाई पडता है। तीसरी अवस्था पूर्ण विरोहण की अवस्था होती है जब व्रण विरोहण ऊतक द्वारा पूर्णतः आच्छादित होता है और इस प्रकार धीरे-धीरे भरता जाता है।

यदि व्रण स्वाभाविक रूप से तीनों अवस्थाओं में मे गुजर कर स्वतः भरता जा रहा है तो किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं, पूयोत्पादक जीवाणुओं के उपसर्ग से बचाना तथा पीडित अग को आराम की स्थिति में रखना चाहिए। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि व्रण का रोपण स्वतः प्रकृति करती है, जीवाणु नाशक औषधियों का प्रयोग तो केवल इसीलिए किया जाता है कि जीवाणुओं की वृद्धि न होने पावे। इसीलिए स्वस्थ व्रण मे अधिक प्रवल जीवाणु नाशक औषधियों का प्रयोग करना लाभकर नहीं अपितु स्वस्थ विरोहण ऊतक को नष्ट करके हानिकर हो सकता है।

प्रथमावस्था मे जब आस-पास का स्थान शोथयुक्त हो, पेनिसिलीन एवं सल्फा विभाग की औषधियाँ प्रयोग मे लाई जा सकती हैं ताकि शोथ के जल्दी शान्त होने मे सहायता मिले। जब विरोहण ऊतक का भी निर्माण होने लगा हो तब व्रणोपचार के समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि कणिका ऊतक नष्ट न होने पावे। इसीलिए व्रण की प्रथम अथवा द्वितीय अवस्था में व्रणोपचार से लिए एक्रीफ्लेविन मर्क्यूरोक्रोम आदि के घोल का प्रयोग किया जाता है तो तृतीय अवस्था मे एक्रिफ्लेविन इमल्शन का प्रयोग अधिक प्रशस्त है क्योंकि यह व्रण से चिपकता नहीं, अतः व्रणोपचार के समय रोगी को कष्ट भी कम होता है तथा कणिका ऊतक भी नष्ट नहीं हो पाती। पेनिसिलिन मलहम एव सोवाजोल चूर्ण या मलहम का भी आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाना चाहिए। यथार्थ बात यह है कि प्रत्येक रोग की चिकित्सा रोग एवं रोगी की स्थिति के अनुसार की जाती है और यही बात व्रण-चिकित्सा के सम्बन्ध मे भी है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के व्रण--

मन्द अथवा दुष्ट व्रण[1]--यह चिरकालीन स्वरूप का व्रण है। जिसका

1. Callous or Indolent ulcer

है कि छः घण्टे से अधिक समय से विपाशित होने पर अनुचालन नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि इतने समय में कोथ की उत्पत्ति हो चुकी हो सकती है। फिर भी यह ध्यान रखना है कि छोटे आकार की हार्निया में यदि सकोच तीव्र है तो केवल चार घण्टे में ही कोथ की उत्पत्ति हो सकती है जब कि बड़े आकार की हार्निया में ग्रीवा के चौडे होने के कारण यदि सकोच अधिक नहीं तो अधिक समय तक भी आँतें स्वस्थ बनी रह सकती है।

२ - हार्निया का प्रकार--अधिकाश शस्त्र चिकित्सकों की राय यह है कि और्वी हार्निया में अनुचालन का प्रयत्न करना ठीक नही क्योंकि हार्निया का बाहर निकलने का रुख (क्रमशः नीचे, आगे तथा ऊपर की ओर) इस प्रकार का होता है कि उसी रुख में अनुचालन करना प्रायः सम्भव नहीं होता। नाभि की हार्निया में अपुनरस्थाप्यता की स्थिति प्राय. पहले से ही उपस्थित रहती है और इस प्रकार केवल वक्षणीय हार्निया के लिए ही अनुचालन उपयुक्त पड सकता है।

अनुचालन की विधि--रोगी को मेज पर उसका सिर थोडा ऊपर की ओर उठा रखते हुए लिटा लिया जाता है। उदर की पेशियों को शिथिल रखने के उद्देश्य से जंघाओं को ऊपर की ओर मोडे रखते हैं तथा टाग को थोडा अन्दर की ओर घुमाए रखा जाता है ताकि बाह्य वक्षणीय द्वार खुला रहे। चिकित्सा बाएँ हाथ से उत्सेध की ग्रीवा को पकड कर थोडा ऊपर की ओर हटाए रखते हुए दाएँ हाथ से उत्सेध को साध कर धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ अन्दर की ओर दबाए रखता है ताकि आँतें भीतर की ओर लौटने लगें। एकदम सभी समूह को अन्दर नही ढकेला जा सकता बल्कि जो भाग सबसे बाद में निकला है, उसको पहले अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और उसके पीछे ही शेष भाग भी धीरे-धीरे अन्दर जाता है। आँतों के अन्दर की ओर प्रविष्ट होते समय गडगडाहट की ध्वनि होती है और इस प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अन्दर प्रविष्ट हो रही है अथवा नहीं। यदि बिलकुल भी अन्दर को प्रविष्ट न हो तथा रोगी पीडा अनुभव करे तो विशेष प्रयत्न करना भी ठीक नहीं।

अपस्फीत व्रण[1] — इस प्रकार के व्रण भी रक्तसंचालन की कमी से ही होते हैं तथा टांगों के नीचे के भाग में सामने की ओर पाए जाते हैं। अन्य स्थानों की तरह यहाँ शिराओं की शाखाओं का उत्तम प्रबन्ध न होने के कारण किसी प्रकार थोड़ा भी दबाव पड़ने से रक्त के लौटने में बाधा पड़ती है तथा व्रणोत्पत्ति में सहायता मिलती है।

व्रण के साथ ही साथ अपस्फीत शिराओं के भी उपस्थित होने पर चर्म मोटा पड़ सकता है। शिरा के मोटे और कड़े होते जाने के कारण उसके ऊपर का चर्म पतला हो जाता है जिसके फट जाने से तीव्रस्वरूप का रक्तस्राव सम्भव है। अपस्फीत व्रण का रूप दुष्ट व्रण से मिलता जुलता है।

चिकित्सा — व्रण की स्पिरिट से सफाई की जाती है तथा आस-पास में चर्म को भी बाल बनाकर साफ कर दिया जाता है। इसके पश्चात् व्रण पर सामान्य व्रणोपचार वस्त्र रखकर पैर के अगूंठा से लेकर ऊपर घुटने तक चिपकने वाले प्लास्टर की कड़ी पट्टी बाँध दी जाती है। पट्टी को कितना कड़ा रखा जाय यह अनुभव पर निर्भर करता है। यदि शोफ भी उपस्थित है तो पट्टी को थोड़ा अधिक ही कड़ा रखना चाहिए ताकि दबाव के कारण जलीयांश के शोषण होने से शोफ के कम होने में सहायता मिले। यदि पट्टी के कड़े होने के कारण रोगी को कुछ कष्ट अनुभव होता है तो पैर को थोड़ा ऊपर की ओर उठाए रखना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से शीघ्र ही कष्ट कम हो जाता है। यदि पट्टी ढीली पड़ जाय अथवा व्रण से दुर्गन्ध युक्त स्राव अधिक निकल रहा हो तो उसे बदलना आवश्यक हो जाता है।

पट्टी के स्थान पर उन्ना का पेस्ट[2] प्रयुक्त किया जा सकता है। यह पेस्ट १० भाग जिंक आक्साइड, १५ भाग जिलेटिन, ३० भाग ग्लिसरीन तथा शेष ४५ भाग जल को मिलाकर गर्म करके तैयार किया जाता है। यह पेस्ट एक ब्रश से व्रण पर लगा दिया जाता है। इसके पश्चात् व्रण पर तथा आस-पास के स्थान पर गौज की पट्टी लगा दी जाती है, और इस पट्टी में भी पेस्ट भली

1. Varicose ulcer 2. Unna's Paste.

बाह्य छिद्र को ही बन्द किए रखना नही है अपितु हार्निया की सम्पूर्ण नलिका तथा आन्तरिक छिद्र को भी दबाए रखना है। अतः इस भाग की बनावट लम्बाई चौड़ाई वगैरह सब इस तरह की होनी चाहिए कि वह सम्पूर्ण स्थान पर सामान दबाव डाले रहे।

जब हार्निया दोनों ओर होती है तो उसमे इस प्रकार की ट्रस का प्रयोग किया जाता है जिसमे दोनो ओर गद्दी लगी हो। इस प्रकार की ट्रस मे कमानी बीच मे ही समाप्त नही होती बल्कि एक गद्दी से दूसरी गद्दी तक रहती है अथवा यह कहना चाहिए कि कमानी के दोनो सिरो पर गद्दियाँ लगी रहती है। दोनो गद्दियो को एक दूसरी के साथ कसी रखने के लिए फीता रहता है। स्पष्ट है कि नितम्ब के पीछे की ओर से आने वाले फीते भी दोनो ओर होने चाहिए।

भिन्न-भिन्न प्रकार की पेटियाँ—वक्षणी एव औवी हार्निया के लिए मुख्य प्रकार की ट्रसो का वर्णन किया है। बच्चों मे प्रायः वंक्षणी हार्निया ही देखी जाती है और इनमे रबर की ट्रस का प्रयोग किया जाता है जिसकी बनावट भी उपरोक्त प्रकार की होती है। बच्चो को दिन-रात हर समय ताकि जब तक एक को साफ किया जाय दूसरी को लगाए रखा जाय। ट्रस बदलते समय भी हार्निया के स्थान को अगुली या अंगूठे से दबाए रखना आवश्यक है।

बच्चों मे प्रयोग के लिए एक अन्य रबर की बनी विशेष प्रकार की ट्रस आती है जिसको अश्वपाद ट्रस[1] कहा जाता है क्योंकि इसमे सामने बीच मे लगी रहने वाली रबर की गद्दी का आकार घोडे के खुर की तरह होता है। इस गद्दी को हवा से फुलाया जा सकता है तथा यह दोनो ओर की वंक्षणी हार्निया के लिए अधिक उपयुक्त पड़ती है। (चित्र ८२) साधारणतया रबर की एक ट्रस को छः महीने तक चलाया जा सकता है किन्तु यदि सफाई के साथ नहीं रखा जाता तो वह शीघ्र खराब हो जा सकती है।

दो वर्ष पश्चात् भी यदि हार्निया उतरती रहती है तो शस्त्र-कर्म आवश्यक

1. Horse shoe truss.

दबाव पडता है वहाँ ठेक-सी पड जाया करती है। अंगूठ पर पड़ने वाली इस ठेक के नीचे धीरे-धीरे पूय की उत्पत्ति शुरू हो जाती है और यह पूय एक छोटे छिद्र में होकर बाहर भी निकलने लगती है। धीरे-धीरे पूयोत्पादन अधिक मात्रा में होने से सन्धि तथा अस्थि भी आक्रान्त हो जाते हैं। व्रण का मुख तो बाहर छोटा होता है किंतु अन्दर ही अन्दर व्रण चारों ओर फैलता रहता है। क्योंकि व्रण में पीडा नहीं होती, अतः रोगी भी उसकी ओर से लापरवाह-सा रहता है। उस स्थान की पोषक तन्त्रिकाओं के विकृत होने के कारण व्रण का रोपण शीघ्र ही नहीं हो पाता। व्रण भी ऐसे ही व्यक्तियों में अधिक पाया जाता है जो किसी भी प्रकार के प्रान्तिक तन्त्रिका शोथ से पीड़ित होते हैं। कभी-कभी मधुमेह से पीड़ित व्यक्तियों में भी इस प्रकार के व्रण की उत्पत्ति होते देखी जाती है।

चिकित्सा—यथासम्भव रोगी को बहुत ही कम चलने देना चाहिए ताकि व्रण पर अधिक दबाव न पडे। व्रण के ठीक हो जाने पर या शुरू से ही इस प्रकार के जूते पहनाये जा सकते हैं जिनसे व्रण के स्थान पर दबाव न पडने पाये। जूते के अन्दर फेल्ट का एक मोटा पतावा डाला जा सकता है जिसमें व्रण के स्थान पर एक चौडा छिद्र काट दिया जाना चाहिए।

चिकित्सा की दृष्टि से व्रण की पूर्ण सफाई और यदि आवश्यक हो तो आखुरण शस्त्र से उसको अन्दर से खुरचकर साफ कर दिया जाना चाहिए। यदि अस्थि या सन्धि का कुछ भाग गल गया है तो उसको काट कर अलग कर देना आवश्यक है - तभी लाभ की आशा की जा सकती है। व्रणोपचार के लिए विस्मथ आयडोफार्म पेस्ट का प्रयोग उत्तम है।

शय्याव्रण[1]—इस प्रकार के व्रण उन व्यक्तियों में जिनको रोग के कारण अधिक समय तक शैया पर पडे रहना पड़ता है और जो दुर्बलता के कारण करवट भी नहीं बदलते रह सकते, हो जाया करते हैं। व्रणों की उत्पत्ति उन स्थानों पर ही होती है जो शैया के सम्पर्क में बने रहकर रगड खाते रहते हैं

1. Bed Sore.

सकती है यद्यपि यह विशेष आवश्यक नही। साथ ही ट्रस बनाने वाले को यह भी सूचित करना है कि हार्निया और्वी है या वंक्षणी, दायीं या बायीं, अपूर्ण या पूर्ण एव अण्डकोषीय, वक्र या ऋजु, उसका आकार तथा रोगी की आयु एवं व्यवसाय।

ट्रस के आ जाने पर चिकित्सक का कर्तव्य है कि ट्रस को फिट करके रोगी की स्वतः परीक्षा कर ले क्योंकि अनुचित प्रकार की ट्रस से लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना रहती है। इसके लिए सर्वोत्तम उपाय यह है कि ट्रस लगाने के बाद रोगी को कुर्सी के किनारे पर बिठा दिया जाता है। उसकी टाँगे एक दूसरी से दूर तथा फैली रहती है। अब यदि रोगी के खूब जोर से खाँसने पर भी हार्निया के अवयव नही निकलते तो समझना चाहिए कि ट्रस ठीक है।

ट्रस के सम्बन्ध में रोगी के ध्यान रखने योग्य बाते—यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि युवा व्यक्तियों मे ट्रस के प्रयोग का उद्‌देश्य हार्निया को केवल साधे रखना है जबकि बच्चों मे इसके प्रयोग से पूर्ण लाभ की आशा की जा सकती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि बच्चे को हर समय ट्रस लगी रहे ताकि जब से ट्रस का प्रयोग आरम्भ किया जाता है फिर कभी आँतों को उतरने का अवसर न मिलने पावे। बच्चे के लिए दो ट्रस होनी चाहिए ताकि एक के कुछ खराब हो जाने पर तत्क्षण दूसरी लगाई जा सके। जब कि ट्रस बदली जा रही है, हार्निया के छिद्र को उँगली से बन्द किए रहना चाहिए और शीघ्र से शीघ्र स्थान को साफ करके डस्टिंग पाउडर लगाने के पश्चात् दूसरी ट्रस लगा दी जानी चाहिए।

युवा व्यक्तियों मे ट्रस को रात को उतार कर अलग रखा जा सकता है किन्तु ऐसे स्थान पर रखना चाहिए कि चारपाई पर से उतरने से पहले ही फिर से उसको लगा लिया जाय। किन्तु यदि रोगी खाँसी से भी पीड़ित है तो रात मे ट्रस को लगाए रखना आवश्यक है। बच्चो व युवा व्यक्तियों दोनो मे ही स्नान के समय भी ट्रस को लगाए रखना है और इसीलिए ट्रस पर ऐसा पदार्थ चढ़ा रहना चाहिए जो जल से खराब न हो सके यथा रबर आदि।

व्रणोत्पत्ति हो जाने पर साधारण अन्य व्रणों की तरह व्रण की स्थिति के अनुसार चिकित्सा की जाती है।

विशिष्ट व्रण —

क्षय जन्य व्रण—क्षय जन्य विद्रधि के फट जाने से उत्पन्न व्रण को ही क्षयज व्रण कहा जाता है। इस प्रकार के व्रण ग्रीवा, सन्धियो के पास, वक्षास्थि अथवा पर्शुकाओ पर ही अधिकाश मे पाए जाते हैं। व्रणों का आकार नियमित नही होता उनके किनारे रक्तहीन पीले और नीचे से खोखले होते हैं तथा तल भी रक्तहीन नरम मालूम पडता है जिसपर कणाकुर नाममात्र ही होते हैं। तल से पतला स्राव निकलता रहता है।

चिकित्सा—व्रण की स्थानिक चिकित्सा से पूर्व क्षय की सार्वदैहिक चिकित्सा की आवश्यकता है। शुद्ध वायु, सूर्य प्रकाश, पौष्टिक भोजन व औषधियो आदि के अलावा स्ट्रेप्टोमाइसीन, आयसोनिकोटिनिक एसिड आदि क्षयनाशक औषधियों का रोगी की स्थिति तथा आवश्यकता के अनुसार अवश्य प्रयोग किया जाना चाहिए।

यदि व्रण किसी अस्थि से सम्बन्धित मालूम पडता है तो एक्स-रे फोटो द्वारा अस्थि की निश्चित अवस्था का पता लगा लेना अच्छा है। व्रण की पूर्ण सफाई करना आवश्यक है और इसलिए यदि सम्भव एव आवश्यक हो तो रोगी को मूर्छित करके गली हुई धातुओ का काटकर अलग कर देना चाहिए। व्रणोपचार के लिए किसी समय बिस्मथ आयडोफोर्म पेस्ट ही सर्वोपयुक्त समझा जाता था किन्तु आजकल पी० ए० एस० घोल अथवा जेली का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त है।

फिरंगज व्रण[1]—इसी को साधारणतया गर्मी, आतशक, सिफलिस आदि नामों से पुकारा जाता है। इसके उत्पादक जीवाणु को ट्रीपोनीमा पैलिडा कहते हैं जो केवल प्रसग के समय पीडित स्त्री से स्वस्थ पुरुष को अथवा पीड़ित पुरुष से स्वस्थ स्त्री को सक्रमित हो जाया करता है। यही कारण है कि प्राथमिक

1. Syphilitic ulcer

बुराका जा सकता है। सबके पश्चात् क्षत के किनारों को रेशम के धागे से सीकर पट्टी बाँध दी जाती है।

शस्त्र-कर्म के पश्चात् पूयोत्पादन की सम्भावना को बिलकुल समाप्त करने के उद्देश्य से पेनिसिलिन का प्रयोग किया जा सकता है। लगभग एक सप्ताह एव युवा व्यक्ति को तीन सप्ताह तक चलने-फिरने की मनाही रहनी चाहिए। वृद्ध व्यक्तियों को जिनकी उदर भित्ति अधिक दुर्बल है इससे भी अधिक समय लग सकता है। लगभग तीन मास तक ऐसा कार्य करने की आज्ञा नही मिलनी चाहिए जिससे उदरान्तरिक दबाव एकदम बढ़ने की सम्भावना हो।

शस्त्र-कर्म के पश्चात् पेटी लगाने की साधारणतया कोई आवश्यकता नही किन्तु यदि किसी कारणवश यथा वृद्धावस्था, उदरपेशियों की दुर्बलता, पूयोत्पादन के कारण व्रणचिह्न का दुर्बल हो जाना अथवा व्यक्ति विशेष का ऐसा व्यवसाय जिसमे उदर की पेशियों पर जोर पड़ता है, यह आवश्यक ही हो तो कुछ समय तक पेटी का अवश्य प्रयोग किया जाना चाहिए।

विपाशित वंक्षणी हार्निया—उपरोक्त की अपेक्षा इसका शस्त्र-कर्म कठिन है, अतः किसी विशेष निपुण चिकित्सक द्वारा ही किया जाना चाहिये। कोष के स्पष्ट हो जाने पर उसे ग्रीवा तक बिलकुल स्पष्ट खोल दिया जाता है ताकि अवयवो की भली प्रकार परीक्षा की जा सके। एक हार्निया डायरेक्टर ग्रीवा मे होकर अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है एव ऊपर की ओर के रुख में काटा जाता है। इसी रुख मे काटना उपयुक्त है क्योंकि काट गम्भीर औदरिक धमनी के सामानान्तर दिशा मे रहने के कारण उसके कटने की सम्भावना कम रहती है। ग्रीवा के इस प्रकार काट दिये जाने पर अवरोध का कारण दूर हो जाता है। किन्तु यदि अवरोध का कारण दूसरा हो जैसा कि बच्चों मे सम्भव है तो उसको दूर करना चाहिए। अब कोष के अवयवो का उनको बाहर निकाल कर भली प्रकार निरीक्षण किया जाता है। यदि अभी कोथ की उत्पत्ति नही हुई हो तो अवयवो को अन्दर प्रविष्ट किया जा सकता है किन्तु यदि कोथ की उत्पत्ति हो चुकी है तो छोटी आँतो के

से रंग का पूययुक्त गमा दिखाई देने लगता है। पूय के पृथक् हो जाने पर गहरे व्रण बन जाते हैं जो गोल तथा स्पष्ट किनारों युक्त होते हैं। कभी-कभी दो या अधिक छोटे-छोटे व्रण मिलकर एक हो जा सकते हैं।

चिकित्सा—आधुनिक युग में सफल चिकित्सा की आसानी से उपलब्धि होने के कारण द्वितीय अथवा तृतीय अवस्था के व्रण बहुत ही कम देखने को मिलते हैं। व्रण की स्थानिक चिकित्सा कोई महत्व नहीं रखती साधारणतया सफाई एवं केलोमल मल्हम का प्रयोग करना चाहिए। किंतु फिरंग की सार्वदैहिक चिकित्सा[1] नितान्त आवश्यक है। इसके लिए प्रोकेन पेनिसिलिन के प्रतिदिन करके १०-१२ इन्जेक्शन दिए जाने चाहिए। चिकित्सा की समाप्ति के बाद भी रक्त की परीक्षा कराकर यह निश्चय कर लिया जाना चाहिए कि रोग निर्मूल हो चुका है अथवा नहीं क्योंकि सुप्तावस्था में रोग का पड़े रहने देना ठीक नहीं—भविष्य में उसके घातक रूप देखने को मिल सकते हैं।

उपदंश[2]—फिरंग की तरह यह भी मैथुनजन्य व्याधि है जिसका मूल उत्पादक जीवाणु ड्यू-क्रे का बेसीलस है। उत्पन्न व्रण सदैव शिश्न पर ही अग्रचर्म के नीचे मुण्डिका और उसके पीछे की खाई पर पाया जाता है। व्रण का स्राव जहाँ भी लग जाता है वहीं उसी के सदृश दूसरे व्रण की उत्पत्ति हो जाना सम्भव है। कभी-कभी यह भी होता है कि इसके साथ ही साथ फिरंग रोग का भी उपसर्ग हो और उसका व्रण भी साथ ही उत्पन्न हो जाय। फिरंगजन्य व्रण की परीक्षा करने पर उसमें स्पायरोकीटा पैलिडा-फिरंग के जीवाणु—देखे जा सकते हैं। व्रणोत्पत्ति के साथ ही उस प्रांत की लसीका ग्रन्थियाँ भी बढ़ जाती हैं।

चिकित्सा—यदि व्रण को साफ रखा जाय तो वह स्वतः ठीक हो जाता है। एसीटीलार्सन का एक दो इन्जेक्शन इसमें भी लाभकर है। यदि व्रण

१. लेखक की सफल औषधियाँ पुस्तक देखें।
2. Soft chancre.

परीक्षा—

गुद एवं मलाशय की परीक्षा नियमतः वैज्ञानिक क्रम से दर्शन, अंगुली द्वारा स्पर्शन, मलाशय दर्शी[2] तथा यदि आवश्यक हो तो अवग्रहान्त्रदर्शी[3] यन्त्र द्वारा की जानी चाहिए। गुद एवं मलाशय की परीक्षा के साथ ही साथ उदर की परीक्षा करना भी आवश्यक-सा है।

दर्शन—बाह्य गुद मार्ग तथा उसके आस-पास चर्म की स्थिति देखी जाती है। शोथयुक्त अर्श, गुद विदार, गुदकण्डू, भगन्दर का बाह्य छिद्र, गुद भ्रंश, गुद पार्श्ववर्ती विद्रधि आदि-आदि बातें आसानी से देखी जा सकती हैं।

अंगुली द्वारा परीक्षा—अंगुली द्वारा परीक्षा करते समय प्राकृत स्थिति कैसी होनी चाहिए इस बात का भी पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। रोगी को बाएँ पार्श्व पर लिटा दिया जाता है। उसके उरु पूरी तरह मुड़े होने चाहिए तथा नितम्ब मेज या चारपाई के किनारे पर होना चाहिए। अँगुली पर रबर का आच्छादन[4] तथा पूर्णतः वैसलीन लगाकर उसको गुदा में धीरे-धीरे प्रविष्ट किया जाता है। प्रविष्ट करते समय संकोचक पेशियों की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं तो अर्श के मस्से अँगुली द्वारा प्रायः अनुभव नहीं किए जा सकते। विदार की उपस्थिति का भी अनुमान अँगुली द्वारा परीक्षा करने पर लगाया जा सकता है। विशेष कर इस आधार पर भी कि विदार की उपस्थिति में अँगुली द्वारा परीक्षा करने पर रोगी को पीड़ा होना स्वाभाविक है।

केवल इतना ही नहीं अँगुली द्वारा गुद परीक्षा करते समय पुरःस्थ ग्रन्थि; मूत्राशय का कुछ भाग, योनिमार्ग, गर्भाशय ग्रीवा आदि अंगों की अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है यद्यपि ये अंग गुदा के बाहर रहते हैं। पश्चात्

---

1. Fibrous bands 2. Proctoscope 3. Sigmoidoscope 4. Finger Stall.

नवाँ-अध्याय

क्षत एवं अन्य दुर्घटनाएँ

आकस्मिक आघात अथवा शस्त्र कर्म द्वारा चर्म या श्लैष्मकला के भिन्न हो जाने को ही क्षत कहते हैं, यह हो सकता है कि चर्म के भिन्न होने के साथ ही साथ उसके नीचे की ऊतक भी भिन्न हो जायँ और इस प्रकार यह आवश्यक नही कि क्षत केवल चर्म या श्लैष्मकला तक ही सीमित रहे। क्षत शरीर के किसी भी अग पर उत्पन्न हो सकते है और इसके भी अलावा आघात की प्रकृति के अनुसार उसके कई भिन्न-भिन्न रूप होते है। यथा—

छिन्न क्षत[1]—तीव्र धार वाले शस्त्र जैसे चाकू, छुरी, तलवार, गडासा आदि से उत्पन्न क्षत को छिन्न क्षत कहते हैं। शस्त्र-कर्म के समय सदैव इसी प्रकार के क्षत उत्पन्न हुआ करते हैं। इस प्रकार के क्षतो से रक्तस्राव की अधिक सम्भावना रहती है क्योंकि रक्त नलिकाएँ सीधी कटा करती हैं। क्षत किनारो की अपेक्षा बीच मे अधिक चौड़ा मालूम पडता है क्योकि क्षत के दोनों ओष्ठ किनारो की अपेक्षा मध्य मे अधिक दूर-दूर होते है। इस प्रकार के क्षतो मे तीव्र रक्तस्राव के अलावा जो कभी-कभी घातक भी हो सकता है, दो अन्य बातो का भी भय रहता है--(१) किसी मुख्य तान्त्रिका का कट जाना जिसके कारण नीचे का भाग सज्ञाहीन तथा क्रियाहीन हो जाना है अथवा (२) किसी पेशी की कण्डरा का कट जाना जिससे अग की उस कण्डरा से सम्बन्धित क्रिया नष्ट हो जाती है।

---

1. Incised wound

तिरश्चीन ऋजुर्वापि यो व्रणोश्चायतो भवेत।
गात्रस्य पातन चापि छिन्नमितुपदिश्यते ॥

पहुँचाये अन्दर को ओर प्रविष्ट किया जाता रहना चाहिए। यन्त्र को बहुत ही धीरे-धीरे प्रविष्ट करना चाहिए तथा हवा भी जितनी हो सके थोड़ी ही भरनी चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण मलाशय तथा बृहद् आन्त्र का कुछ भाग प्रत्यक्ष देख लिया जा सकता है। मलाशय आदि की दीवालो को स्थल-स्थल पर परीक्षा यन्त्र को अन्दर प्रविष्ट करते तथा निकालते समय की जाती है।

परीक्षा करने के लिए किसी प्रकार के सज्ञाहरण की आवश्यकता नही यद्यपि रोगी को किसी साधारण शामक औषधि का सेवन कराया जा सकता है।

अर्श—

अर्श[1] या बवासीर का अर्थ गुदा अथवा मलाशय मे स्थित शिराओ की अपस्फीति[2] है। मलाशय की अन्तःकला के नीचे की शिराएँ जब अपस्फीत होती है तो आन्तरिक अर्श तथा जब गुदा मे स्थित चर्म के नीचे की शिराएँ अपस्फीत होती है तो बाह्य अर्श कहते है। दोनो की मिली-जुली अवस्था को अन्तः-बाह्य अर्श कहा जा सकता है।

कारण—अन्य स्थान की अपस्फीत शिराओ की तरह अर्श की उत्पत्ति का प्रधान कारण रक्त के ऊपर की ओर के बहाव मे रुकावट पड़ना है। इसमे कोई सन्देह नही कि इनकी उत्पत्ति मे पैतृक प्रभाव का भी हाथ रहता है। मल त्याग करते समय जोर लगाने के कारण मलाशय एवं गुद प्रदेश में स्थित शिराओ मे रक्ताधिक्य हो जाना स्वाभाविक है किन्तु मलत्याग के पश्चात् सब कुछ पूर्ववत् हो जाता है तथा केवल मात्र इतने से अर्श की उत्पत्ति का कोई प्रश्न नही रहता। अर्शोत्पत्ति के प्रधान कारण निम्न है—

१—चिरकालीन स्वरूप का मलावरोध क्योकि मलाशय मे स्थित मल का शिराओं पर अनुचित दबाव पड़ता रहता है।

२—मलत्याग के समय अधिक जोर लगाना

३—लवण विरेचको का बार-बार अधिक प्रयोग

1. Haemorrhoids or piles. 2. Varicosity.

पंजों से खुरचने के कारण उत्पन्न क्षत इसी कोटि के होते हैं। इन क्षतों का आकार क्रमहीन होता है और कभी-कभी मांस आदि के टुकड़े इधर-उधर लटकने से अथवा चर्म के पृथक् हो जाने से पेशी या कंडरा का कुछ भाग खुला-सा दिखाई पड़ने लगता है। आघात की प्रकृति के अनुसार इन क्षतों में धूल मिट्टी आदि के कण भी भर जा सकते हैं जिससे पूयोत्पादन की सम्भावना अधिक रहती है। रक्तस्राव अधिक नहीं होता।

पिच्चित क्षत[1]--पिच्चित का अर्थ है पिचलना अथवा कुचलना और इस प्रकार लाठी आदि के द्वारा आघात में इसी श्रेणी के क्षत उत्पन्न होते हैं। जब आघात सिर के ऊपर पड़ता है तो उत्पन्न क्षत लगभग छिन्न क्षत से मिलता-जुलता है। कभी-कभी यह सम्भव है कि यदि आघात तीव्र स्वरूप का है तो क्षत के उत्पन्न होने या न होने पर भी नीचे की अस्थि का भग्न हो जाय और कपाल प्रदेश के आघातों में इस प्रकार की बहुत सम्भावना रहती है।

चिकित्सा--भिन्न-भिन्न प्रकार के क्षतों की चिकित्सा में थोड़ी-बहुत विशेषता अवश्य हुआ करती है और व्रण की प्रकृति को देखकर इसका तत्क्षण स्वतः निर्णय किया जा सकता है। साधारणतया चिकित्सा का निम्न रूप होना चाहिए।

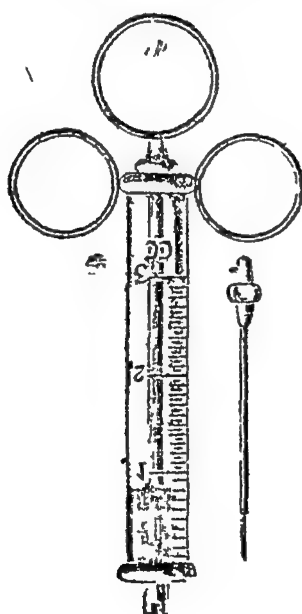
१--क्षत का अर्थ है जीवाणुओं के प्रवेश के लिए मार्ग तैयार हो जाना, अतः चिकित्सा का प्रथम मूलभूत सिद्धांत यह है कि डाक्टर व उसके सहायक के हाथ, क्षत के सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक पदार्थ गौज, रुई, औजार आदि जीवाणुहीन शुद्ध हों। रोगी के आते ही सर्वप्रथम क्षत के खुले भाग को गौज से ढँक कर आस-पास के भाग को ब्रश या रुई के फाए से साबुन लगा-लगाकर भली प्रकार धोकर सफाई कर दी जाती है, यदि बाल हों तो पहले बाल साफ कर दिए जाने चाहिए। ईथर लगाकर सुखाने के बाद टिंचर आयोडीन लगा दी जा सकती है।

1. Contused wound.

नहीं। इस प्रकार की स्थिति मे लाभ अपूर्ण तथा अस्थाई होता है। इन्जेक्शन चिकित्सा के लिए उपयुक्त रक्तस्रावी निरुपद्रव अर्शांकुर है।

इन्जेक्शन चिकित्सा का मुख्य सिद्धात श्लैष्मिक कला के नीचे क्षोभक पदार्थ के प्रवेश से तान्तव ऊतक की उत्पत्ति करना है जिससे रक्तनलिका का अवरोध हो जाय। इसके लिए बादाम तेल मे ५ प्रतिशत शक्ति का कार्बोलिक अम्ल प्रयुक्त किया जाता है।

जिस दिन इन्जेक्शन देना है उस दिन प्रातः एनीमा द्वारा कोष्ठ शुद्धि कर ली जाती है। रोगी को कुहनी घुटनो के आधार पर उलटा झुका दिया जाता है क्योंकि इस स्थिति मे मलाशय गुददर्शक के पास से अलग हट जाता है जबकि यदि रोगी को बाएँ करवट लिटाया जाता है तो मलाशय का कुछ भाग उसमे चला आ सकता है। अच्छा हो यदि गुददर्शक यन्त्र के आन्तरिक सिरे के पास प्रकाश का प्रबन्ध हो क्योंकि साधारण शीर्ष प्रकाश[1] के लगा लेने से उतनी सुविधा नहीं रहती यद्यपि काम चल जा सकता है।



चित्र—८६
अर्श की इन्जेक्शन पिचकारी

1. Head Light.

समुचित प्रवन्ध कर दिया जाना आवश्यक है। विद्ध क्षत मे आवश्यक और साथ ही सम्भव हो तो क्षत को और चौड़ा करके यह परीक्षा की जाती है।

छिन्न क्षत मे ही टाँके लगाना आसान होता है। विद्ध एवं पिच्चित क्षत मे भी टाँके लगाना सम्भव है किन्तु यह क्षत की प्रकृति को देखकर ही कहा जा सकता है। टाँके लगाते समय यह विशेष रूप से ध्यान रखना है कि क्षत के कटे हुए किनारे आपस मे मिल जायँ तथा चर्म अपनी पूर्व प्राकृत स्थिति मे आ जाय। टाँके लगाने से पूर्व क्षत-विक्षत टुकड़ो को अलग कर दिया जाना चाहिए। टाँके सदैव अलग-अलग लगाये जाते हैं। अविच्छिन्न सीवन ठीक नही क्योंकि यदि किसी प्रकार पूयोत्पादन हो जाता है तो आवश्यकतानुसार एक दो टाँका काटकर ही काम चलाया जा सकता है जबकि अविच्छिन्न सीवन[1] मे पूरे क्षत को खोलना पडेगा।

क्षत उत्पन्न होने के पश्चात् जितने शीघ्र टाँके लगा दिए जायँ उतना ही अच्छा है क्योंकि जितना विलम्ब होता जाता है उतनी ही प्राथमिक विरोहण की सम्भावना घटती जाती है। किन्तु यदि क्षत छः घण्टे से अधिक पुराना है अथवा उसमे उपसर्ग हो जाने की आशका है तो एक्रीफ्लेविन आदि मे भीगा गौज रखकर पट्टी बाध दी जाती है तथा २४-४८ घण्टे पश्चात् यदि आवश्यक एव सम्भव हुआ तो टाँके लगा दिए जाते हैं।

यदि पूयोत्पादन नही होता तो एक सप्ताह पश्चात् टाँके काटे जा सकते हैं चेहरे पर के क्षत से जल्दी ही काट देना अच्छा है ताकि व्रणचिह्न कम बनने पावे।

६ – सामान्य शुद्ध क्षतो मे निकास की आवश्यकता नही। किन्तु यदि पूयोत्पादन हो चुका हो, उसकी सम्भावना हो अथवा क्षत मे स्राव अधिक हो रहा हो तो क्षत के आकार एव प्रकृति के अनुसार निकास के लिए रबर-ट्यूब या रबर शीट के टुकडे का प्रयोग किया जा सकता है।

1. Continuous sutures.

पदार्थ ही मुखद्वारा दिये जाते हैं। ४८ घण्टे पश्चात् ही फिर व्रणोपचार करना है। रवर की नलिका में होकर ३–४ औंस शुद्ध थोड़ा गर्म जैतून तैल अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है और इसके कुछ मिनट पश्चात् ही रवर की नलिका को निकाल लेते हैं। साफ करने के वाद उसको पुनः पहले की तरह ही प्रविष्ट कर दिया जाता है। चार दिन के पश्चात् हलका विरेचन दिया जाता है और जैसे-जैसे आन्त्र नलिकाएँ नियमित होती हैं, भोजन की मात्रा वढाते जाते है। प्रत्येक बार मलत्याग के पश्चात् गुद नलिका को समवल लवण जल से प्रक्षालन कर देना चाहिए। पाँचवे दिन के पश्चात् प्रतिदिन उष्ण कटिस्नान[1] कराना लाभकर है तथा विरेचक के रूप मे लीक्विड पैराफीन दी जाती रहनी चाहिए।

शस्त्रकर्म के पश्चात् भी अर्शोत्पादक मुख्य कारणों से रोगी को बचाये रखना अच्छा ही है।

शस्त्रकर्म के पश्चात् कभी-कभी मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है जिसकी समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। आपरेशन के कुछ समय बाद यदि रक्तस्राव होने लगे तो रक्तस्रावी बिन्दु को पकड कर धमनी सदश से दबाया जा सकता अथवा बाँधा जा सकता है। किन्तु यदि यह सम्भव न हो तो रवर की नली के आस-पास चारो ओर गौज पैक कर दिया जाता है ताकि शस्त्रकर्म के स्थान पर दबाव पड़ कर रक्तस्राव बन्द हो सके।

आन्तरिक अर्श का भ्रंश[2], संकोच[3] अथवा रक्तस्थापन जन्य शिरा शोथ[4]—यदि अर्शांकुर बाहर निकल पडे है तो उंगलियो में वैसलीन लगाकर धीरे धीरे सावधानी के साथ उनको अन्दर प्रविष्ट करने का प्रवन्ध किया जाना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो तो रोगी को चारपाई पर पायताना ऊँचा करके आराम से लिटा दिया जाता तथा अर्शांकुरों के स्थान पर सेक की जाती है। मुख द्वारा केवल द्रव पदार्थ दिये जाते है तथा विरेचन के

1. Sitz Baths. 2. Prolapse. 3. Strangulation. 4. Thrombo-phlebitis.

चिकित्सा--चिकित्सा के मूल सिद्धात निम्न है।

१ निकास का पूर्ण प्रबन्ध—यदि टॉके लगाए जा चुके हैं तो एक-दो टॉके को काटकर अलग करना आवश्यक हो सकता है। रबर की नलिका अथवा गौज की बत्ती आदि से जैसा भी आवश्यक हो, निकास का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। यह भी हो सकता है कि यदि पूय एवं स्राव के अन्दर रुकावट है तो क्षत को खोल कर और भी चौडा करना पडे।

२. क्षत मे यदि कोई भी वाह्य-पदार्थ पडे हो तो उनको अवश्य अलग कर दिया जाना चाहिए।

३. पीड़ित अग को यथासम्भव पूर्ण आराम की स्थिति मे रखना आवश्यक है।

४. रोगी का साधारण स्वास्थ्य सुधारने का प्रयत्न किया जाना चाहिए किंतु उससे भी अधिक आवश्यक पेनिसिलिन, अन्य प्रतिजीवी पदार्थ एवं सल्फा विभाग की औषधियो का प्रयोग है ताकि पूयोत्पादन रुक सके।

पश्चात् उपद्रव एव उनकी चिकित्सा—इस सम्बन्धी सम्पूर्ण वर्णन शल्य-कर्म के पश्चात् उपद्रव एवं उनकी चिकित्सा की तरह ही है जिसका वर्णन पीछे दिया जा चुका है।

विशेष प्रकार के क्षत तथा उनका प्रबन्ध--

बन्दूक की गोली से उत्पन्न क्षत—इस कोटि के क्षतों मे विद्ध एवं पिच्चित क्षत दोनों की प्रकृति का मिलित रूप रहता है तथा इनकी सबसे बड़ी विशेषता जिसका ध्यान रखना है वह यह होती है कि चर्म मे वाह्य-क्षत छोटा होने पर भी सम्भव है कि अन्दर मासपेशी अस्थि अथवा किसी प्रधान आन्तरिक अंग को अधिक क्षति पहुँच चुकी हो। कभी-कभी प्रवेश[1] एवं निर्गम[2] क्षत अलग-अलग हुआ करते हैं, जब गोली लगने के पश्चात् बाहर निकल गई हो। प्रवेश क्षत आकार मे कुछ छोटा होता है तथा उसके ओष्ठ अन्दर की ओर को मुड़े होते हैं तथा निर्गम-क्षत का आकार अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा उसके ओष्ठ बाहर की ओर मुड़े होते हैं।

---

1. Wound of entery 2. Wound of exit.

में आता है जब पूय बिलकुल फटने के लिए हो जाती है। अन्यत्र क्षयजन्य विकृति के लक्षण देखे जा सकते हैं।

चिकित्सा—यदि रोगी बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में ही आ जाता है तो उष्ण स्वेद एवं पेनसिलिन तथा सल्फा औषधियों के प्रयोग से विद्रधि को शान्त किया जा सकता है। किन्तु यदि पूयोत्पादन हो चुका है तो एक मात्र चिकित्सा उचित स्थान पर चीरा देकर पूय को निकाल देना है और इसके पश्चात् व्रणोपचार एवं पेनिसिलिन का प्रयोग आता है। इस प्रान्त की विद्रधि की चिकित्सा में पेनिसिलिन के साथ स्ट्रेप्टोमायसीन को भी सम्मिलित कर लिया जाना चाहिए क्योंकि पूयोत्पादन में बी० कोलाई का हाथ भी रहने की बहुत कुछ सम्भावना रहती है।

गुद निकटवर्ती विद्रधि के लिए धनाकार छेदन किया जाता है तथा इस प्रकार के छेदन से निर्मित चर्म आवरणों[1] के कोने काट दिये जाते हैं ताकि व्रण बिलकुल स्पष्ट हो जाए तथा बिलकुल तल मे से उसका विरोहण हो सके। इसके अलावा व्रण को थोड़ा बाहर की ओर भी बढ़ाया जा सकता है जैसा कि गुद विदर की अवस्था मे किया जाता है। श्लैष्मकलाधः विद्रधि की भी गुद सकोचनी पेशी के विस्फार के पश्चात् इसी प्रकार चिकित्सा की जाती है।

मलाशय आसनास्थि विद्रधि को खोलते समय सर्वांग या सुषुम्नावरोध संज्ञाहरण आवश्यक है। इसमे भी धनाकार छेदन करने के पश्चात् चर्म आवरण के कोने काट दिये जाते है ताकि चौड़ा व्रण बन सके। उँगली डाल कर व्रण को पूरी तरह साफ कर दिया जाना चाहिए। व्रणोपचार के समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है कि व्रण का विरोहण बिलकुल तल में से हो और इधर-उधर नाड़ी व्रण की उत्पत्ति न हो जाय। प्रतिदिन व्रण को अन्दर से हायड्रोजन परऔक्सायड से साफ किया जा सकता है।

मलाशय अग्रवर्ती विद्रधि बहुत कम देखी जाती है और यदि मिले तो

1. Skin Flaps.

हो तो तदनुकूल उसका प्रबन्ध किया जाना चाहिए। वातवक्ष अथवा रक्तवक्ष के लिए शल्य-कर्म की आवश्यकता पड सकती है।

सछिद्र क्षत[1]--इस प्रकार के क्षत गोली अथवा भाले की नोक से उत्पन्न होने के कारण अधिकांश मे साघातिक ही होते हैं अतः लक्षणो की थोडी भी तीव्रता होने पर सदैव क्षत की प्रारम्भिक चिकित्सा शुद्ध गौज को जीवाणुनाशक घोल मे भिगोकर रखने के बाद पट्टी बाँधना तथा अवसाद के लिए प्रबन्ध करने के बाद रोगी को मुख्य सर्जन की देख-भाल मे पहुँचा देना चाहिए ताकि समय पर उसका समुचित प्रबन्ध हो सके।

यदि क्षत छोटा ही है तथा फुफ्फुसों को भी किसी विशेष प्रकार का आघात पहुँचने का सन्देह नहीं तो क्षत की प्रकृति के अनुसार प्रबन्ध किया जा सकता है।

उदर के क्षत--सामान्य--उदरप्रान्त के बिना छिद्र के सामान्य क्षतो मे भी इस बात की सम्भावना रहती है कि यकृत, प्लीहा, आमाशय, वृक्क, आँते या मूत्राशय आदि किसी का विकार हो गया हो। आघात के पश्चात् ही अवसाद, उदर मे शूल तथा वमन के रूप मे पर्युदर्या क्षोभ[2] के लक्षण व्यक्त होने लगते है और तत्क्षण यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि किसी आन्तरिक अंग का विदार हुआ है अथवा नहीं। इसलिए रोगी को तुरत आराम से लिटा दिया जाना तथा अवसाद की चिकित्सा की जानी चाहिए। अवसाद के शान्त होने पर लक्षणो मे सुधार हो जाता है किन्तु इसके शीघ्र ही पश्चात् यदि यकृत, वृक्क, प्लीहा आदि का विदार[3] हुआ है तो आन्तरिक रक्तस्राव के लक्षण व्यक्त होने लगते है और यदि आंतो का विदार हुआ है तो पर्युदर्या क्षोभ के लक्षण उत्पन्न हो जाते है तथा गैस भर जाने के कारण उदर फूल जाता है। इस प्रकार की प्रत्येक स्थिति मे जहां आन्तरिक अंग के विदार का सन्देह हो, रोगी को मुख्य सर्जन की देखभाल मे पहुँचा देना चाहिए क्योंकि शल्य-कर्म आवश्यक है।

1. Penetrating wound. 2. Peritonium. 3. Rupture.

कर स्पष्ट किया जाता है। अब शेष चिकित्सा ऊपर लिखे अनुसार ही रहती है।

अश्वपाद आकार भगन्दर का शस्त्र-कर्म भी इसी प्रकार किया जाता है। बाहरी छिद्र की ओर से ही पार्श्व की ओर की दोनों ही शाखाएँ भली प्रकार खोलकर स्पष्ट कर दी जाती है तथा बाह्य गुद सकोचनी पेशी के सूत्रों को लेते हुए ऊपर लिखे अनुसार ही रेशम के धागे से एक, दो या आवश्यकतानुसार अधिक स्थानों पर बन्धन बॉध दिये जाते है जिनको आठ-दस दिन पश्चात् काटा जाता है। बाह्य क्षत का, यदि वह पूर्णतः खोल दिया जाकर साफ कर दिया जाता है तो शीघ्र ही विरोहण हो जाता है।

शाखाओ-प्रशाखाओ युक्त सोपद्रव भगन्दर का शस्त्र-कर्म भी इसी सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है। दो-तीन बार मे सभी शाखाएँ-प्रशाखाएँ खोलकर साफ कर दी जाती हैं। बाद मे व्रणोपचार के समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विरोहण नीचे से होता आवे, खोखले स्थान नही रह जाने चाहिए। ऊँचाई पर स्थित मलाशय अग्रवर्ती विद्रधि से उत्पन्न भगन्दर जो गुद उन्नमनिका[1] पेशी मे होकर बाहर निकालता है, एकदम पूरी तरह नही खोला जा सकता क्योंकि अन्तः गुद सकोचनी पेशी के काटने से मलाशय के बाहरी मार्ग पर नियन्त्रण न रहने के कारण मल हर समय निकलता रहेगा, यह निश्चित है, अतः अन्तः गुद संकोचनी पेशी के सूत्रो को नही काटा जाता। भगन्दर के बाह्य छिद्र को चौडा करके नाड़ी व्रण के ऊपर गुद उन्नमनिका पेशो तक पूरी-पूरी सफाई कर दी जाती है। नाड़ी व्रण का ऊपरी भाग दहन[2] कर दिया जाता है।

गुदभ्रंश[3]—

गुदभ्रंश का तात्पर्य गुदा के आन्तरिक भाग का बाहर निकल पड़ना है; जब केवल श्लैष्मिक कला बाहर निकल पाती है तब गुदभ्रश अपूर्ण कहा जाता है किन्तु जब मलाशय की लगभग सम्पूर्ण मोटाई बाहर निकल पडती है तो उसे पूर्ण कहते हैं।

1. Levator Ani 2. Cauterise. 3. Prolapse of Anus.

उसको अलग कर दिया जाता है। इसके पश्चात यदि छिद्र छोटा ही है तो टाँके लगाने की आवश्यकता नही, साधारण व्रणोपचार करना पर्याप्त है। किंतु यदि छिद्र बडा है तथा विदार[1] के रूप का है तो क्षत को खूब साफ और स्पष्ट करके सन्ध्यावरणो मे कैटगट से अलग-अलग टाँके लगा देने चाहिए। इन टाँको के लगा देने के पश्चात् चर्म के किनारो को मिलाकर सिल्क के धागे से सी दिया जाता है। कभी-कभी क्षत के अधिक बडा होने पर सन्धि के प्रक्षालन की भी आवश्यकता होती है और ऐसी स्थिति मे साधारण जीवाणु रहित शुद्ध लवण जल से प्रक्षालन कर दिया जाना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो टाँके लगाने के पश्चात् अथवा टाँके न लगाकर निकास की समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

उपरोक्त उपचार के पश्चात कुशा[2] लगाकर सन्धि को स्थिर कर दिया जाता है और यदि उसको ऐसी स्थिति मे स्थिर किया जाय जिसमे सन्धिग्रह हो जाने पर भी कोई हानि न हो तो और भी अच्छा है।

पूयोत्पत्ति रोकने के लिए पेनिसिलिन या अन्य प्रतिजीवी योग एव सल्फा विभाग की ओषधियाँ अवश्य प्रयुक्त की जानी चाहिए। सन्धि-प्रक्षालन अथवा क्षत मे ही अन्दर प्रविष्ट करने के लिए भी पेनिसिलिन घोल का प्रयोग किया जा सकता है।

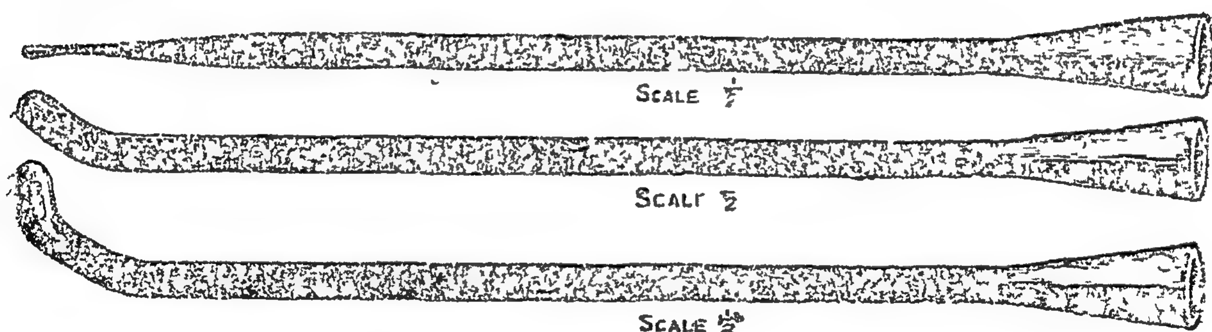
क्षत ठीक हो जाने के पश्चात् यदि सन्धि मे थोडी-बहुत जडता आ जाती है जैसा कि बहुत कुछ सम्भव है तो तैल मर्दन तथा नियमतः सन्धिचालन[3] द्वारा उसको सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए।

सिर के क्षत—सिर के क्षतो व आघातो की भयकरता इस बात मे निहित है कि कपालास्थियो के अन्दर सुरक्षित मस्तिष्क को क्षति पहुँच सकती है और इस प्रकार की क्षति सम्भव है कि रोगी की तत्क्षण या थोडे कालान्तर से मृत्यु का कारण हो अथवा उसे सदैव के लिए अपग बना दे। इसीलिए सिर के आघातो की चिकित्सा मे विशेष रूप से सावधान रहने की आवश्यकता है।

1 Rupture 2. Splints 3. Passive movements.

और दृढ होती हैं किन्तु उनको मोडा जा सकता है जबकि धातु निर्मित शलाकाएँ सिरे पर वक्र तथा कई भिन्न-भिन्न आकार की होती हैं।

कैथेटर व शलाकाओं पर नम्बर दिए होते हैं जो उनके आकार अर्थात् मोटाई के द्योतक होते हैं। अधिकाश में फ्रेंच तथा अंग्रेजी नम्बरों का प्रयोग किया जाता है। यथार्थ में फ्रेंच नम्बर अधिक उपयुक्त हैं क्योंकि विशिष्ट नम्बर का अर्थ उसका तृतीयांश मिलीमीटर नलिका का व्यास हुआ करता है जबकि अग्रेजी नम्बरों का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं बल्कि वे अभ्यास में आ गए हैं। फ्रेंच नम्बर १ से लेकर २५ तक होते हैं जबकि अंग्रेजी नम्बर ००,० और इसके बाद १ से लेकर १४ तक होते हैं। साधारणतया एक कैथेटर का अंग्रेजी नम्बर फ्रेंच का आधा होता है। एक बात और भी ध्यान देने की है और वह यह कि फ्रेंच नम्बरो के अनुसार निर्मित यन्त्रो की मोटाई धीरे-धीरे बढती है जब कि अंग्रेजी नम्बरो के अनुसार निर्मित यन्त्रों की अधिक तेजी के साथ और यही कारण है कि किसी मूत्र मार्गीय निकोचन को प्रसारित करने के लिए फ्रेंच नंबरों के अनुसार निर्मित शलाकाएँ अधिक ठीक पड़ती हैं।



चित्र ६१—गरम इलास्टिक कैथेटर।

प्राकृत पूर्ण युवा पुरुष के लिए १०-१४ अंग्रेजी या १८-२५ नम्बर फ्रेंच कैथेटर ठीक रहता है।

यन्त्रों का विशोधन—मूत्रमार्ग मे प्रविष्ट करने से पहले यन्त्रो को जीवाणुहीन शुद्ध कर लेना नितात आवश्यक है। सभी धातु निर्मित या रबर के यन्त्रों को उबालकर शुद्ध किया जा सकता है। इनको आक्सीसायनायड

तारे[1] सामान[2], सकुंचित[3], तथा प्रकाश के प्रति अल्प क्रियाशील[4] होते हैं तथा नेत्र श्लेष्मला की प्रतिवर्त क्रिया उपस्थित होनी है। (३) श्वसन उथला तथा धीमा होता है (४) नाड़ी तेज, दुर्बल तथा कभी-कभी अनियमित होती है। (५) पेशियाँ ढीली-सी पड़ जाती हैं तथा चर्म सफेद, ठंडा-सा तथा स्वेद युक्त होता है, (६) शरीर का ताप गिरा हुआ रहता है तथा भिन्न-भिन्न स्थानों की प्रतिवर्त क्रियाएँ[5] मन्द अथवा भयंकर अवस्था में बिल्कुल नष्ट हो जाती हैं (७) संकोचक पेशियों के शिथिल हो जाने से कभी-कभी मल-मूत्र का अनजाने में त्याग हो जाता है।

भविष्य—मस्तिष्क सवहन की उपरोक्त अवस्था धीरे-धीरे निम्न रूपों में से कोई-सा एक धारण कर सकती है, (१) प्रतिक्रिया अर्थात् रोगी की अवस्था में धीरे-धीरे सुधार होता है। इसका प्रारम्भ चेहरे के लाल पड़ने तथा वमन से होता है, कभी-कभी हाथ पैरों में ऐंठन भी आती है। रोगी करवट ले लेता है, नाड़ी धीरे-धीरे धीमी तथा पूर्ण होनी जाती है। होश भी आता है तथा प्रायः रोगी तीव्र शिरःशूल की शिकायत करता है और चिड़चिड़ा मालूम पड़ता है जो नहीं चाहता कि बार-बार उसको कोई छेड़े। कभी-कभी स्थायी स्वरूप की विकृतियाँ यथा-दृष्टि, स्मरण-शक्ति या श्रवण-शक्ति की कमी अथवा नाड़ी दौर्बल्य की अवस्था शेष रह जाती है। (२) मस्तिष्क क्षोभ[6] या मस्तिष्क सम्पीडन[7] के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं। (३) मृत्यु।

चिकित्सा—(१) रोगी को अंधेरे शान्त कमरे में आराम के साथ लिटा दिया जाना चाहिए और उसको बार-बार छेड़ना ठीक नहीं। सिर को थोड़ा नीचा रखा जाता है। (२) गर्म कम्बल, गर्म पानी की बोतलों आदि के द्वारा गर्मी पहुँचाई जाती है। (३) उत्तेजक पदार्थों का प्रयोग वर्जित है क्योंकि सम्भव है, मस्तिष्कगत रक्तस्राव भी उपस्थित हो। २० प्र० श० शक्ति का लवण जल अथवा ५० प्र० श० शक्ति का ग्लूकोज ५० सा० सी० की मात्रा में

1. Pupile 2. Equal 3. Contracted 4. Reacting sluggishly 5. Reflexes. 6. Cerebral Irritation 7. Compression.

भीगे हुये फाए से शिश्नमुण्ड एवं बाह्य छिद्र को भली प्रकार साफ करता है। कैथेटर को किसी शुद्ध चिकने पदार्थ यथा ग्लीसरीन, लीक्विड पैराफिन या जैतून के तेल मे भिगो लिया जाना आवश्यक है। कुछ चिकित्सक लगभग एक ड्राम जैतून का तेल या लिक्विड पैराफिन मूत्र मार्ग मे प्रविष्ट कर दिया करते है। अब चिकित्सक दाहिने हाथ से ही कैथेटर को पकड़ कर उसके शीर्ष को मूत्र मार्गीय छिद्र मे प्रविष्ट करता है तथा धीरे-धीरे अन्दर की ओर बढ़ाता जाता है। ध्यान रखना है कि कैथेटर जीवाणुहीन शुद्ध होना चाहिए तथा प्रवेश करते समय भी उसका कोई भाग अशुद्ध पदार्थों के सम्पर्क मे नहीं आना चाहिए। प्रविष्ट करते-करते अन्त मे कैथेटर के बाहरी सिरे से मूत्र निकलना प्रारम्भ हो जाता है जिसको पहले से रखे हुए किसी पात्र मे ले लिया जाना चाहिए। सम्पूर्ण मूत्र निकल जाने के पश्चात् कैथेटर को निकाल-कर साफ व शुद्ध करके रख दिया जाता है!

इस स्थल पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी कैथेटर लगभग मूत्राशय तक पहुँच जाने पर रुकता-सा मालूम पड़ता है और यह मूत्रमार्ग संकोच्चिनी पेशी के संकोच के कारण होता है। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर कुछ मिनट थोड़ा ठहर कर फिर कैथेटर हलका दबाव डालते हुए अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जाता है। ऐसा करने से पेशी का सकोच दूर होकर कैथेटर शीघ्र ही अन्दर प्रविष्ट हो जाता है।

धातु निर्मित कैथेटर अथवा शलाका को अन्दर प्रविष्ट करने मे अवश्य विशेष कौशल की आवश्यकता है तथा अनभ्यस्त व्यक्ति को यह करने से सदैव बचना चाहिए। उपरोक्त लिखे अनुसार ही सब तैयारी कर लेने के पश्चात् चिकित्सक रोगी के बायी ओर खड़ा होता है। बॉयी ओर खड़ा होने मे लाभ यह है कि दाएँ हाथ का प्रयोग सुविधा के साथ किया जा सकता है। किन्तु यथार्थ मे यह बात कि किस ओर खड़ा हुआ जाय, चिकित्सक की व्यक्तिगत सुविधा तथा अभ्यास पर निर्भर करती है।

चिकित्सक बाएँ हाथ की तर्जनी अंगुली तथा अगूठे से शिश्न को पकड़

में कुछ बाधा पड़ जाती है जिसका फल वहाँ रक्ताधिक्य होता है और इसके फलस्वरूप मस्तिष्क के सम्बन्धित स्थल की उत्तेजना बढ़ जाती है किन्तु इससे भी आगे शिराओं पर दबाव पड़ते रहने से रक्त के आगे न बढ़ते रह सकने के कारण शोफ[1] बढ़ता जाता है। बढ़ते-बढ़ते जब यह दबाव धमनी गत रक्त के दबाव के बराबर हो जाता है तो रक्त के आने में भी बाधा पड़ने लगती है जिसके कारण उस अंग की रक्ताल्पता उत्पन्न हो जाती है जिससे घात[2] की अवस्था प्रकट होने लगती है, इस प्रकार प्रथम उत्तेजना के बढ़ते हुए क्षेत्र में घात के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। सुषुम्ना-शीर्ष[3] में स्थित श्वसन[4] एवं रक्तसंवहन[5] के केन्द्र सबसे अन्त में प्रभावित होते हैं।

लक्षण— आघात के कारण उत्पन्न अवस्था में अधिकांशतः प्रारम्भ में मस्तिष्क संघट्टन के लक्षण उत्पन्न होते हैं जिनके सम्बन्ध में ऊपर ही संकेत किया जा चुका है। हो सकता है कि मस्तिष्क संघट्टन के लक्षणों के पश्चात् मस्तिष्क सम्पीडन के लक्षणों का प्रारम्भ धीरे-धीरे हो जाय अथवा दोनों के बीच में कुछ घण्टों का ऐसा अन्तर हो जब रोगी स्वस्थ मालूम पड़े।

मस्तिष्क सम्पीड़न के लक्षण–(१) मानसिक दशा–सिर में असह्य पीड़ा और उसके पश्चात् सुस्ती एवं सन्यास[6]। सन्यास का अर्थ रोगी की गहरी बेहोशी है जिससे उसको उठाया नहीं जा सकता। (२) शरीर का तापमान प्रारम्भ में कुछ कम होता है किंतु बाद में शीघ्र ही १००-१०३° फा० हो जाता है। इस तापमान की एक विशेषता यह और होती है कि स्वस्थ ओर की अपेक्षा पीड़ित ओर कम रहता है। ताप का और भी अधिक होना भयंकरता का द्योतक है। (३) प्रारम्भ में नाड़ी की गति घटती जाती है तथा रक्तचाप बढ़ा होता है। बाद में नाड़ी क्षीण अनियमित तथा तेज हो जाती है। (४) श्वसन धीमा तथा घर्घर युक्त होता है और एक विशेषता यह भी पाई जाती है कि श्वसन के समय कपोल व ओष्ठ फूलते और पिचकते हैं। अन्तिम

---

1. Cedema 2. Paralysis 3. Medulla oblonga a. 4. Respiratory 5. Cardiovascular 6. Coma

का पहुँच जाना है, अतः यदि जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है तो इसकी उत्पत्ति केवल उन व्यक्तियों को ही होती है जिनमे मूत्रनलिका या मूत्राशय मे पहले से ही उपसर्ग उपस्थित है। उपद्रव की तीव्रता दो बातों पर निर्भर करती है (१) जीवाणुओं की संख्या एवं प्रकृति (२) क्षति या आघात जो मूत्र मार्ग मे शस्त्र प्रवेश के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ हो। ज्वर की उत्पत्ति प्रायः दो-तीन घण्टे पश्चात् या दो-तीन दिन बाद तक हो सकती है तथा उसका प्रारम्भ सर्दी झुरझुरी के साथ होता है और साथ ही रोगी को बेचैनी मालूम पड़ती है। कभी-कभी यद्यपि बहुत कम पूयरक्तता की अवस्था की भी उत्पत्ति होते देखी जाती है।

उपद्रव के रोकने के दो प्रधान उपाय है—(१) शस्त्र-प्रवेश के समय सावधानी एव मृदुता ताकि मूत्रमार्ग को कम से कम क्षति पहुँचे तथा (२) मूत्र मार्गीय उपसर्ग का सन्देह होने पर शस्त्र-प्रवेश के पूर्व या पश्चात् मूत्राशय का प्रक्षालन। इनके अतिरिक्त (३) शस्त्र-प्रवेश के समय जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखना भी आवश्यक है।

रोगी को आराम से कम्बल आदि गर्म वस्त्रों से ढँक कर शय्या पर आराम से सुलाए रहे तथा द्रव पदार्थ पीने को दे। मूत्र मार्ग शोधक औषधियो का प्रयोग हितकर है। प्रायः दो घण्टे पश्चात् ज्वर उतर जाता है किन्तु यदि न उतरता मालूम पड़े तो ज्वर की प्रकृति के अनुसार पेनिसिलीन आदि औषधियो का प्रयोग किया जा सकता है।

रक्तस्राव—शस्त्र-प्रवेश के पश्चात् अधिकाश अवस्थाओ मे रक्त आता ही है किन्तु इसकी मात्रा बहुत अल्प होती है जिससे भय करने की कोई आवश्यकता नहीं। कभी-कभी विशेषकर उस अवस्था मे जब चिकित्सक ने बहुत लापरवाही तथा जल्दी मे काम किया हो, रक्त की मात्रा अधिक हो सकती है। पुरःस्थ-ग्रन्थि की वृद्धि की अवस्था मे भी रक्तस्राव अधिक हो सकता है।

आपरेशन की आवश्यकता पड सकती है किंतु यह किसी विशेषज्ञ द्वारा ही सम्भव है।

मस्तिष्क क्षोभ[1]—यह अवस्था प्रायः मस्तिष्क सघट्टन के पश्चात् उत्पन्न होती देखी जाती है जब कि मस्तिष्क सघट्टन के लक्षणों के पश्चात् ही उग्र स्वरूप के मानसिक क्षोभ के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

रोगी हाथों व टाँगों को मोडकर गठरी सा बना आँखें बन्द किए हुए चारपाई मे पडा रहता है तथा बेचैन भी मालूम पडता है। यद्यपि बेहोश नही होता किंतु आस-पास की चीजों की ओर कुछ ध्यान भी नहीं देता और यदि आँखो को खोलने या उसको जगाने का प्रयत्न किया जाता है तो वह गाली देकर चिल्लाकर अथवा हाथों को झटक कर उसका विरोध करता है। मल-मूत्र का त्याग भी शैया मे ही हो जाता है; आँखो के तारे सकुंचित होते हैं। धीरे-धीरे कुछ समय पश्चात् क्षोभ की अवस्था शात हो जाती है। किंतु क्षोभ की अवस्था शात होने के समय का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि मस्तिष्कगत विकृति के अनुसार प्रत्येक रोगी के लिए यह अलग-अलग होता है। हो सकता है कि अवस्था बिलकुल पूर्ववत् ठीक हो जाय अथवा कुछ मानसिक विकार शेष रह जाय। कभी-कभी चिरकालीन-स्वरूप का मस्तिष्कावरण शोथ उत्पन्न हो जाता है।

चिकित्सा—रोगी को शात आराम से लेटे रहने देना चाहिए, सिर के बाल बनाकर वहाँ बरफ या अन्य प्रकार से शीत का प्रयोग किया जा सकता है। भोजन सुपाच्य, तरल, स्वादिष्ट एव पौष्टिक होना चाहिए। दस्तावर एव ब्रोमायड व सशामक औषधियों का प्रयोग आवश्यक है। मस्तिष्क सुषुम्ना द्रव कटिवेध करके निकालने से भी लाभ होता है।

सन्यास[2]—इसी को अचैतन्यता अथवा बेहोशी कहा जाता है। चिकित्सक को प्रायः ऐसे रोगी देखने को मिला करते हैं जो अकस्मात् बेहोश हो गए हो, बेहोशी के निम्न कारण हो सकते हैं :—

1. Cerebral Irritation 2. Coma

यथार्थ बात यह है कि जिन विकृतियों के लिए मूत्रमार्ग दर्शन परीक्षा की जानी चाहिए उन विकृतियो के लक्षण ही इतने स्पष्ट होते हैं कि लक्षणों का ही ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से रोग की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है, अतः मूत्र-मार्ग दर्शन को आवश्यकता बहुत कम पड़ा करती है।

प्रक्षालन—

प्रक्षालन[1] का तात्पर्य पूर्व या पश्चात् मूत्राशय का धोना है। धोने के लिए सदैव किसी जीवाणुनाशक घोल, यथा १ : २०,००० से लेकर १ : ४००० शक्ति का पोटास परमैंगनेट घोल, १ : १०,००० से लेकर १ : ६००० शक्ति का मरकरी ओक्सीसायनाइड घोल अथवा उचित शक्ति के बोरिक द्रव या अन्य किसी जीवाणुनाशक घोल का प्रयोग किया जाता है।

प्रक्षालन के सम्बन्ध मे भी यथार्थ बात यह है कि पूयमेह जन्य मूत्र-मार्गीय शोथ[2] या अन्य प्रकार के मूत्रमार्गीय शोथ या मूत्राशय शोथ के लिए किसी समय मे प्रधान चिकित्सा जीवाणुनाशक घोलो द्वारा उनका प्रक्षालन करनी ही थी। किन्तु अब समय बदल चुका है और प्रत्येक प्रकार के शोथों में सल्फा औषधियो, पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमायसीन, पेनिसिलीन एवं स्ट्रेप्टो-मायसीन मिलित औरियोमायसीन आदि के प्रयोग से तत्क्षण लाभ होता है, अतः प्रक्षालन की शायद ही कभी आवश्यकता पडती है। फिर प्रक्षालन चिकित्सा को रामबाण सफल विधि भी नही जिससे निश्चितत: लाभ की आशा की जा सके। इसके विरुद्ध प्रक्षालन के लिए रोगी तथा चिकित्सक दोनो को व्यर्थ का झझट उठाना पड़ता है तथा प्रक्षालन से कभी-कभी हानि होने की भी आशंका रहती है।

मूत्रावधारण—

मूत्रावधारण[3] से तात्पर्य बाह्य मूत्रमार्ग मे किसी कारण रुकावट होने के कारण मूत्र त्याग न हो सकना है। इसका अर्थ यह है कि मूत्राशय मे मूत्र होता अवश्य है किन्तु वह बाहर नही निकल सकता और इसी कारण मूत्राशय

1. Irrigation 2. Gonorrhoeal urethritis. 3. Retention of urine.

३. मधुमेह जन्य संन्यास——अधिकांश में रोगी का शरीर क्षीण होता है उसकी श्वास में एसीटोन की गन्ध आती है तथा कैथेटर की सहायता में निकाले गए मूत्र की परीक्षा करने पर उसमें शर्करा पाई जा सकती है। मधुमेह अथवा इन्स्युलीन के प्रयोग का इतिहास मिल सकता है।

मूत्र-विषमयता जन्य सन्यास—सकुंचित तारे, जिह्वा की शुष्कता, मूत्र-नलिका द्वारा प्राप्त मूत्र में एल्ब्यूमिन की उपस्थिति और साथ ही बार-बार होने वाले हाथ-पैरों के ऐंठन के दौरे, मूत्र-विषमयता के परिचायक हैं। सोडियम सल्फेट के समतानी घोल के शिरा द्वारा प्रयोग से अवस्था में सुधार किया जा सकता है।

४. विष पदार्थ—मद्य—यदि मद्यपान का निश्चित इतिहास मिल जाता है तो निदान आसान है। रोगी की श्वास में एल्कोहल-मद्य की बदबू आती है, दोनों तारे विस्तारित एवं समान होते हैं। मूत्र-रक्त अथवा आमाशय से प्राप्त पदार्थों की एल्कोहल की उपस्थिति के लिए परीक्षा की जा सकती है।

इस स्थल पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी बेहोशी के पश्चात् भी रोगी के किसी मित्र द्वारा उसको ब्राण्डी दे दी जा सकती है जिसकी श्वास में बदबू आने लगे, अतः निश्चित निदान करने से पहले-पहले पूर्ण इतिहास जानने तथा अन्य परीक्षाओं के करने की आवश्यकता है। कभी-कभी मस्तिष्कगत रक्तस्राव की अवस्था में प्रारम्भ में मद्यपान के सदृश प्रलाप के लक्षण मिल सकते हैं किन्तु रक्तस्राव-जन्य प्रलाप वश में नहीं लाया जा सकता है तथा स्वतः ही बेहोशी के रूप में बदल जाता है।

अफीम—श्वास में अफीम की गन्ध आती हैं तथा तारे सकुंचित होते हैं। शरीर के सभी स्राव कम हो जाते हैं किन्तु स्वेद अधिक आता है। आमाशय का प्रक्षालन[1] करके द्रव की परीक्षा की जा सकती है और आमाशय प्रक्षालन चिकित्सा का एक मुख्य साधन है।

आतप घात[2]—स्पष्ट है कि इसमें शरीर का ताप बहुत बढ़ा होता है, मुख

1. Stomach wash 2. Heat stroke

ही रुक जाता है तथा (२) जीर्ण अथवा चिरकालीन[1] जिसमे अवरोध धीरे-धीरे उत्पन्न होता है। इसकी निश्चिती रोगी द्वारा दिए गए इतिहास से ही की जा सकती है। तीव्र अवरोध मे असह्य पीड़ा होती है जिसके कारण रोगी शीघ्र ही चिकित्सक के पास आ जाता है फलतः मूत्राशय की अधिक वृद्धि नही हो पाती जब कि चिरकालीन स्वरूप का अवरोध होने पर तीव्र पीडा नही होती तथा धीरे-धीरे मूत्राशय काफी बढ़ जाता है। कभी-कभी नाभि तक बढ़ा हुआ देखा गया है।

चिकित्सा—मूत्रावरोध का रोगी मिलते ही एकदम कैथेटर की सहायता से मूत्र त्याग करा देने की इच्छा होती है, रोगी भी यही चाहता है तथा चिकित्सक को यश भी इसी मे मिलता है, किन्तु बुद्धिमानी इसी मे है कि पहले कारण को समझकर तब आगे बढा जाय क्योकि कुछ अवस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनमे कैथेटर के प्रवेश से लाभ की आशा नही की जा सकती है। तीव्र मूत्रमार्गीय शोथ की अवस्था मे यदि कैथेटर अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तो कैथेटर के साथ ही साथ उपसर्ग भी आगे बढ जाता है जिससे मूत्राशय शोथ आदि की सम्भावना रहती है। कभी-कभी विशेषकर बच्चों मे यह देखा गया है कि मलावरोध के साथ ही साथ यदि मूत्रावरोध भी होता है तो गुदवर्ति या एनीमा द्वारा मलत्याग कराने के साथ ही साथ मूत्र त्याग भी हो जाता है।

तीव्र मूत्रमार्गीय शोथ की अवस्था में मूत्रावरोध का कारण मूत्र मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट नही बल्कि उसका आकस्मिक उद्वेष्ट[2] होता है। रोगी को कोई शामक औषधि सेरीडोन, कोडोपायरीन आदि दे दी जाती है जिससे पीडा शान्त हो जाती है। उसको उष्ण स्नान तथा इसके बाद कमर तक उष्ण जल मे १५-३० मिनट तक बिठाया जाता है। हो सकता है कि इस प्रकार करने से मूत्र त्याग हो जाय। कभी-कभी ½–१ औंस उष्ण ग्लीसरीन मूत्र मार्ग द्वारा अन्दर प्रविष्ट करने से भी मूत्र त्याग होते देखा गया है। मूत्र-मार्ग के आगे के भाग का १००–१०५° फेरन हाइट तक उष्ण १ : १०,००० शक्ति के पोटास परमैगनेट घोल से प्रक्षालन किया जाता है। प्रक्षालन के बाद

---

1. Chronic retention. 2. Spasm.

यदि रोगी देर से आता है अथवा उपसर्ग अन्दर पहुँच जाने की अधिक सम्भावना है तो परितारिका के निकले हुए भाग को काटकर अलग कर दिया जाना चाहिए। इसके लिए कोकेन डालने के पश्चात् वर्त्मनिवर्तित्र[१] लगाकर आँख को खोले रखा जाता है। इसके पश्चात् परितारिका सदंश[२] की सहायता से परितारिका को पकड़कर थोड़ा खींच कर क्षत के बिलकुल पास से परितारिका कर्तनी[३] की सहायता से काट दिया जाता है। इसके साथ ही साथ परितारिका संस्थापक[४] की सहायता से परितारिका को अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाना चाहिये ताकि क्षत के किनारों से वह संसक्त न हो जाय। इसके बाद एट्रोपीन नेत्रबिंदु डाले जाते तथा उपसर्ग के लिए पेनिसिलिन नेत्रबिंदु आदि का प्रयोग किया जाता है।

श्वेत पटल के क्षत और भी अधिक हानिकारक होते हैं। छिद्र होने की अवस्था में बारीक रेशम के धागे से क्षत को सी दिया जाना चाहिए।

आघात के अन्य भिन्न-भिन्न रूप

नील[५]–प्रायः लाठी आदि के आघात से चर्म फटकर क्षत की तो उत्पत्ति नहीं हो पाती किंतु चर्म के नीचे की ऊतक को क्षति पहुँच जाती है और कोशिकाओं के फट जाने से उस स्थल पर रक्तस्राव हो जाता है। पीड़ा तथा शोथ के अतिरिक्त रक्त की उपस्थिति के कारण रंग का नीला पड़ जाना ही प्रधान लक्षण है। रंग नीला पड़ जाने के कारण ही साधारण लोक भाषा में इसको नील कहा जाता है। ध्यान रखना चाहिए कि रक्तस्राव यदि अधिक गहराई पर हुआ है तो बाहर की ओर स्पष्ट होने में उसको कुछ समय लग सकता है। ढीले-ढाले स्थानों जैसे अंडकोष, नेत्र के पास या भग प्रदेश में रक्तस्राव अधिक होता तथा वह स्थान काला पड़ सकता है। यह नीला या काला रंग क्रमशः बादामी, हरा तथा पीला पड़कर धीरे-धीरे समाप्त होता है। रंग का यह परिवर्तन रक्त के लाल कणों में होनेवाले परिवर्तनों के कारण हुआ करता है।

1. Lid retractor 2. Iris Forceps 3. Iris scissors 4. Iris repositer 5. Bruise or Contusion.

छिद्र में होकर मूत्र रिसने लगे तथा उदरावरण शोथ आदि उपद्रव उत्पन्न हो जायें।

रक्तस्कंदन द्वारा मूत्रावरोध[1] - पुरःस्थग्रन्थि से या मूत्राशय से रक्तस्राव होने के कारण ही इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है जब रक्त का थक्का जमकर मूत्रावमार्ग को रोक कर मूत्रधारण का कारण बनता है। असावधानी के साथ कैथेटर प्रविष्ट करने से भी अत्यधिक रक्तस्राव होकर इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। एक कैथेटर अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तथा उसके बाहरी सिरे से एक सिरिंज संलग्न कर दी जाती है। सिरिंज की सहायता से एक या दो औंस घोल अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और खींचा जाता है तथा इस प्रकार रक्त के स्कन्द या थक्के को धोकर साफ कर देने का प्रयत्न किया जाता है। यदि रक्त का थक्का इस प्रकार नहीं हटाया जा सकता तो शस्त्र-कर्म द्वारा मूत्राशय को खोलकर निकाल देना आवश्यक है।

पुरःस्थ ग्रंथि विद्रधि—एक सामान्य कैथेटर द्वारा मूत्रत्याग कराने का प्रयत्न करना चाहिए और प्रायः यह आसानी से सम्भव हो जाता है कभी-कभी कैथेटर के प्रवेश करने से ही विद्रधि भी विदीर्ण हो जाती है और मूत्रमार्ग से पूय का निर्हरण हो जाता है।

किन्हीं अर्बुद आदि के द्वारा बाहर से दबाव पड़ने के कारण उत्पन्न मूत्रावधारण में भी कैथेटर की सहायता से मूत्रत्याग कराया जाता है और इसके पश्चात् कारण का निश्चय करके उसको दूर किया जाता है।

मूत्रावधारण जो यान्त्रिक अवरोध के कारण उत्पन्न न हो[2]—इस प्रकार की स्थिति कुछ विशिष्ट शस्त्र-कर्मों के पश्चात् उत्पन्न होती देखी जाती है जैसे अर्श, भगन्दर या गुदा के अन्य शस्त्र-कर्म, हार्निया या स्त्री प्रजनन अंगों सम्बन्धी शस्त्रकर्म। अनुमान यह लगाया जाता है कि इन अवस्थाओं में मूत्रावधारण का कारण प्रतिवर्त क्रियाजन्य[3] मूत्रमार्गीय पेशी का संकोच होता

1. Clot retention 2. Non obstructive retention
3. Reflex.

जाता है किन्तु यदि पीड़ा अधिक हो अथवा शोषण में देरी हो रही हो तो चीरा देकर या पिचकारी तथा मोटे छिद्र की सुई की सहायता से संचित रक्त को निकाल दिया जाना चाहिए। उपसर्ग के कारण पूयोत्पादन का सन्देह होने पर पेनिसिलीन अथवा सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग आवश्यक है।

विशिष्ट स्थानों का नील या रक्तसंचय—

कपालप्रदेशीय चर्माधः रक्त-संचय[1] - इसके प्रायः तीन रूप देखे जाते हैं यथा अवत्वक्, अवकण्डराकला तथा अस्थ्यावरणाधः।

अवत्वक्[2]—अर्थात् चर्म के नीचे ही रक्त का सञ्चय हो जाना अवत्वक् रक्त-सञ्चय कहलाता है। इस स्थल पर चर्म नीचे की पेशियों से अच्छे प्रकार चिपका हुआ है, अतः रक्त अधिक नहीं निकल पाता और इसीलिए उत्सेध भी बहुत छोटा-सा सीमित रहता है। किसी विशेष चिकित्सा की आवश्यकता नहीं।

अवकण्डरा कला[3]—अर्थात् कपाल प्रदेश की पेशियों के वितान कण्डराकला के नीचे रक्त का सञ्चय हो जाना अवकण्डरा कला रक्त-सञ्चय कहलाता है। कभी-कभी यह इतना विस्तृत होता है कि सभी कपाल प्रदेश पिलपिला तथा उभरा हुआ मालूम पड़ता है। यह रक्त-सञ्चय सामने आँखों के ऊपरी भाग तक पार्श्व में कर्णपाली के लगभग तथा पीछे गर्दन के ऊपरी भाग तक सीमित रहता है। आघात से अधिकांश में इसी प्रकार के रक्त-सञ्चय की उत्पत्ति होती है।

चिकित्सा—किञ्चित् भी सन्देह होने पर एक्स-रे परीक्षा द्वारा कपालप्रदेशीय भंग का निराकरण कर लेना चाहिये। अन्यथा सम्पूर्ण चिकित्सा ऊपर वर्णित साधारण चर्माधः रक्त-स्राव की तरह ही है।

पर्यस्थिकलाधः[4]—अर्थात् किसी भी कपालास्थि के आवरण के नीचे होने-

1. Haematoma of scalp. 2. Subcutaneous. 3. Subaponeurotic. 4. Subperiosteum.

पीडा भी बढ ही जाती है। बच्चों मे शय्या मूत्र की अवस्था अथवा मूत्र करते-करते चीखने लगना देखा जाता है।

अधिक समय तक उचित आवश्यक प्रबन्ध न करने से मूत्राशय शोथ के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, हर समय पीडा रहती है जो रात्रि के समय लेटने पर भी शान्त नहीं होती। मूत्रत्याग करते समय बल लगाते रहने के कारण कुछ समय पश्चात् गुदभ्रंश व अर्श तक की उत्पत्ति हो जा सकती है। मूत्राशय से शोथ गवीनी[1] मार्ग से वृक्कों[2] तक पहुँच सकता है यद्यपि इन बातों की सम्भावना बहुत कम है क्योंकि असह्य पीडा के कारण रोगी को शीघ्र ही चिकित्सक की शरण लेनी पडती है।

मूत्राशय में अश्मरी की स्थिति—अधिकाश मे मूत्राशय मे अश्मरी स्वतत्र रहती है तथा रोगी के आसन बदलते रहने के कारण उसका स्थान भी बदलता रहता है और विभिन्न लक्षणो का कारण भी यही होता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि मूत्राशय की श्लैष्मिक कला से आवेष्टित होकर अश्मरी एक स्थान पर स्थिर हो जाय। ऐसा होने पर लक्षण भी बहुत कुछ शान्त हो जा सकते है। इस प्रकार की अश्मरी को सम्पुटित[3] अश्मरी कह सकते है।

निदान—(१) रोग के लक्षण इतने स्पष्ट एव निर्णायक होते है कि उनके आधार पर सहज ही निदान किया जा सकता है।

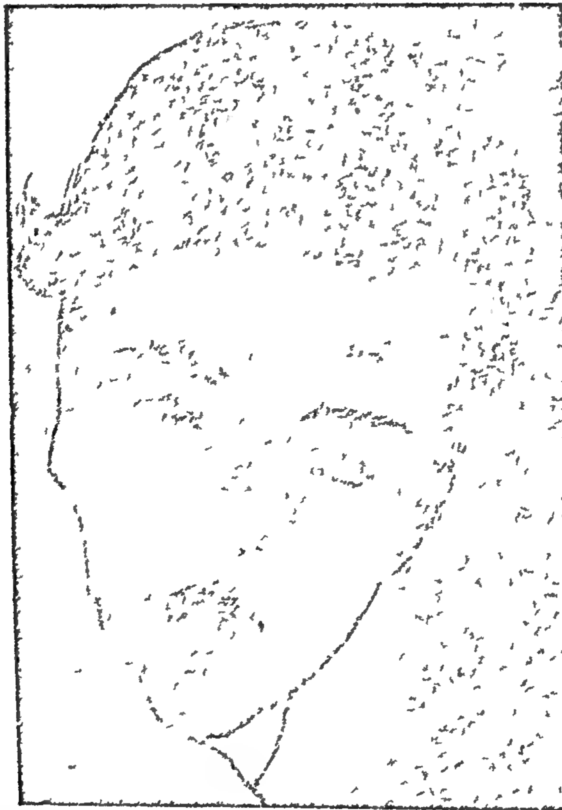
(२) गुदा मार्ग से ॲंगुली द्वारा परीक्षा करने पर बच्चो मे अश्मरी को अनुभव किया जा सकता है किन्तु युवा या वृद्ध व्यक्तियो मे यह सदैव सम्भव नही। यदि अश्मरी का आकार बहुत बड़ा हो तो गुद मार्ग या योनि मार्ग से ॲंगुली डालकर उसको अनुभव किया जाना अवश्य सम्भव है।

(३) शलाका की सहायता से भी अश्मरी की उपस्थिति का ज्ञान हो सकता है। रोगी को मेज पर लिटाकर मूत्र निकालने के पश्चात् सावधानी के साथ एक उपयुक्त शलाका अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है तथा मूत्राशय मे उसको इधर-उधर घुमाकर अश्मरी को अनुभव किया जाता है।

---

1. Ureters 2. Kidneys 3. Encapsuled.

ध्यान अवश्य रखना है कि इसका कारण करोट्याधार[1] के पूर्व खात[2] का भंग हो सकता है। इस सम्बन्ध में आघात की प्रकृति के दूसरे लक्षणों का ध्यान रखने के साथ ही साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि करोट्याधार भग्न के कारण उत्पन्न होनेवाला चर्माधः रक्तस्राव धीरे-धीरे २४-३६ घण्टे के अन्दर प्रकट हो पाता, नीचे के पलक तक ही सीमित रहता (चित्र ४२) तथा अवनेत्र-श्लेष्मलः रक्तस्राव त्रिकोणाकार होता है जिसका शीर्ष स्वच्छ मण्डल की ओर बढ़ता जाता है किन्तु आधार स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता।



चित्र—४२
करोट्याधार भग्न की अवस्था में नेत्रगुहा में रक्त का सञ्चय जो भग्न के १२ घण्टे बाद प्रकट हुआ।

1. Base of the skull. 2. Anterior Fossa.

और सम्भव है कि वही बढ़कर पूर्ण अश्मरी का रूप धारण कर ले। यदि अश्मरी अधिक बडी है अथवा कड़ी है तो यन्त्र द्वारा उसको नही तोड़ा जा सकता। इसके अलावा पुरःस्थ ग्रन्थि वृद्धि, मूत्रमार्गीय संकोच अथवा शोथ एव मूत्राशय का शोथ आदि अवस्थाओ मे यन्त्र को अन्दर प्रविष्ट कर सकना कठिन है।

इन सब बातों को देखते हुए अश्मरी को निकालने के लिए अधिजघन मूत्राशय छिद्रकरण ही सर्वोपयुक्त शस्त्रकर्म है जिसकी शरण ली जानी चाहिए। विशेषकर निम्न अवस्थाओं मे—

१—अश्मरी का आकार बड़ा हो।

२—मूत्राशय मे सम्पुटित हो गई हो जबकि सम्पुट को काट कर निकालना आवश्यक होगा।

३—पुरःस्थ-ग्रन्थि की वृद्धि या मूत्रमार्गीय निकोचन उपस्थित हो।

मूत्रमार्गीय निकोचन—

मूत्रमार्गीय निकोचन[1] का अर्थ मूत्र मार्ग मे किसी स्थान पर सकोच की उत्पत्ति हो जाना और इसका कारण प्राकृतिक श्लैष्मिक कला के स्थान पर व्रणचिह्न या तन्तु ऊतक की उत्पत्ति है। मूल उत्पादक कारण दो ही हो सकते है, उपसर्ग अथवा आघात। उपसर्ग अधिक व्यापक कारण है और यह अधिकाश मे पूयमेह के रूप मे होता है। रोग स्त्रियो को बहुत कम अथवा यह कहना चाहिए कि नहीं ही होता जबकि पुरुषों को और वह भी २०-२५ वर्ष की आयु मे अधिक होता देखा जाता है। निकोचन एक अथवा कई हो सकते हैं अथवा मूत्र नलिका अधिक लम्बाई मे प्रभावित हो सकती है। कुछ निकोचन जल्दी ही प्रसारित किये जा सकते हैं जबकि कुछ का घने तथा कडे होने के कारण प्रसारण सम्भव नहीं।

निदान—प्रधान लक्षण जिसकी रोगी शिकायत करता है मूत्र त्याग मे कष्ट अथवा कठिनाई है। मूत्र की धारा विशेष पतली हो सकती है। यह सदैव

1. Urethral Stricture.

किन्तु अधिक खींचा-तानी व मालिश करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि ऐसा करने से अवस्था के सुधार मे और देरी लगती है। यदि उपसर्ग पहुँचकर पूयोत्पादन का सन्देह हो तो पेनिसिलीन का प्रयोग श्रेयस्कर है।

पेशीयकण्डराओं का विदीर्ण होना—कभी-कभी अधिक तनाव पडने से पेशियाँ एकदम खिंच जाती और उनके थोडे-बहुत सूत्र टूट जाते हैं। इस प्रकार की अवस्था को पेशी विदीर्ण[1] कहा जा सकता है। आघात के स्थान पर पीडा, सूजन तथा पीडित अग का अपने कार्य करने मे असमर्थ हो जाना ही इसके प्रधान लक्षण हैं। पीडित अंग को कुछ दिनो तक आराम की स्थिति मे रखना चाहिए और ऐसा करने से ही अवस्था मे धीरे-धीरे सुधार हो जाता है।

इसके अतिरिक्त किसी सन्धि के अकस्मात् जोर के साथ मुड जाने से अस्थियो के सिरो से सम्बन्धित पेशी कण्डराओ[2] पर इतना अधिक तनाव पड जा सकता है कि वे टूट जायॅ। ऐसी स्थिति मे पीडा के अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि सन्धि अपना कार्य नहीं कर सकेगी। साथ ही यदि कण्डरा चर्म के पास ही है तो विदार को अनुभव भी किया जा सकता है।

चिकित्सा—सर्वोत्तम तो यह हो कि चर्म मे छेदन करके कण्डरा के दोनों सिरो को स्पष्ट कर लिया जाय तथा मिलाकर कैटगट के धागो से सी दिया जाय। इसके पश्चात् चर्म मे टाँके लगा दिये जाते तथा अग को ऐसी स्थिति मे स्थिर कर दिया जाता है जिसमे कण्डरा पर किञ्चित् भी तनाव नही पड़ता। जहाॅ पर यह सम्भव न हो वहाँ अग को ऐसी स्थिति मे ही स्थिर कर देना चाहिए जिसमे पीड़ित कण्डरा पर तनाव न पडे। स्थिर करने के लिए कुशा-अथवा प्लास्टर का उपयोग किया जा सकता है।

दग्ध

दग्ध[3] का अर्थ दाह अथवा जलना है। इसके कई भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं यथा अग्नि शिखा[4], तप्त धातु के टुकडे, उबलता हुआ दूध, जल, घृत

1. Rupture of a muscle 2. Tendons 3. Burn 4. Flame.

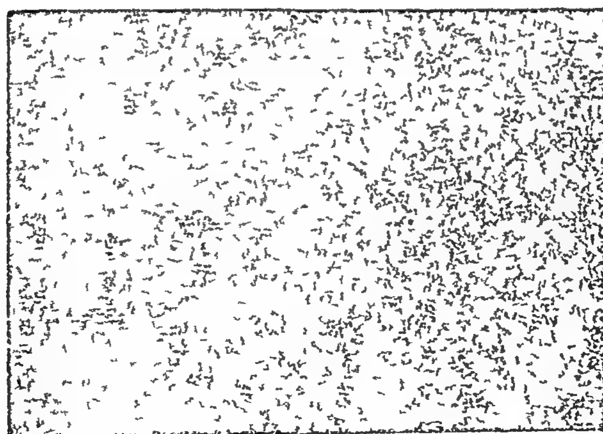
पुरःस्थ ग्रन्थि एवं वृक्क सम्बन्धी उपद्रव उपस्थित हों तो सामान्य रूप से चिकित्सा न करके शस्त्रकर्म की शरण ली जानी चाहिए।

शस्त्रकर्म का उद्देश्य मूत्रमार्ग को काटकर निकोचन को ठीक करना है। शस्त्रकर्म का वर्णन इस स्थान पर अभीष्ट नही क्योंकि यह विशेषज्ञ द्वारा ही किया जाना ठीक है।

मूत्रमार्गीय बाह्य द्वार का संकोच—

इस प्रकार की स्थिति प्रायः बच्चों मे ही पाई जाती है जब या तो यह जन्मजात होती है और या किसी आघात के कारण उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार का आघात सुन्नत[1] के समय उत्पन्न हो सकता है। युवा व्यक्तियों मे इस प्रकार की स्थिति देखने को नही मिलती और यदि देखने को मिलती है तो उसका कारण मूत्र मार्गीय शोथ अथवा मूत्र मार्ग का कैंसर होता है। चिकित्सा बहुत सरल है जबकि शस्त्रकर्म द्वारा छिद्र को बड़ा कर दिया जाता है यद्यपि छिद्र का झुकाव नीचे की ओर हो जाता है।

स्थानिक या सर्वांग सज्ञाहरण के पश्चात् छोटे छिद्र मे होकर एक विशेष प्रकार का चाकू अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तथा शिश्न मणि को मध्य रेखा मे नीचे की ओर आवश्यकतानुसार $\frac{1}{2}$–१ इच तक काट दिया जाता है। (चित्र ६८) इस प्रकार उत्पन्न किये गये क्षत के ओष्ठ इधर-उधर लौट दिए जाते तथा अलग-अलग सी दिए जाते है। बच्चों मे छिद्र को काच की नली



चित्र ६८—मूत्र मार्गीय बाह्यद्वार प्रसारण

1. Circumcision.

चतुर्थ श्रेणी के दग्ध—इस अवस्था के दाहों मे चर्म के पूर्ण नाश के साथ ही साथ कुछ चर्माधः ऊतक का भी नाश हो जाता है जिसके कारण दग्ध स्थान पर काले, शुष्क चेतनाहीन धब्बे-से पड जाते हैं जिनके चारों ओर शोथ के लक्षण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। तन्त्रिका सूत्रों के अग्रों के भी जलकर नष्ट हो जाने के कारण पीडा अधिक नहीं होती। पूयोत्पादन की सम्भावना अधिक रहती है तथा विरोहण बहुत धीरे-धीरे होता है। विरोहण के पश्चात् क्षतचिह्न धातु अधिक बनती है जिसके सिकुड़ने से अंग का आकार बिगड़ जा सकता है। चिकित्सा के समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए।

पचम श्रेणी के दग्ध—चर्म के नीचे पेशीसूत्र आदि भी जल जाते हैं।

छठवी श्रेणी के दग्ध—इस श्रेणी के दाहो मे सम्पूर्ण अंग जलकर नष्ट हो जाता है—अस्थि तक झुलस जाती है।

ध्यान रखना चाहिए कि एक ही अग पर भिन्न-भिन्न श्रेणी के दाह मिले हुए पाए जा सकते हैं। प्रायः द्वितीय श्रेणी के दाह बहुत देखे जाते हैं जिनमें दग्ध-स्थान पर विस्फोटों की उत्पत्ति हो जाया करती है।

दग्ध-व्रण की अवस्थाएँ—सामान्य व्रण की तरह दग्ध-व्रण की भी साधारणतया तीन अवस्थाएँ होती हैं यथा (१) **विनाश की अवस्था**—इस अवस्था मे दाह के कारण जितनी भी धातुओं का विनाश होना है, वह हो जाता है, (२) **शोथ एवं कोथ की अवस्था**—दग्ध-स्थान और उसके थोडा आस-पास शोथ रहता है और मृत ऊतक गल-गल कर अलग हो जाती हैं। इसका अन्त एक स्वच्छ कणिका ऊतकयुक्त व्रण के रूप मे होता है, (३) **विरोहण की अवस्था**—जब व्रण धीरे-धीरे ठीक हो जाता है।

रोगी की दशा—रोगी की दशा का भी क्रमशः तीन भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के रूप मे वर्णन किया जा सकता है जैसे—

१ - **प्रथम अवसाद की अवस्था**—जलन के साथ ही साथ प्रारम्भ होकर यह अवस्था ३६-४८ घण्टे तक रहती है। प्रारम्भ में अवसाद का कारण

सावधानी जो रखनी है वह यह है कि कैथेटर के साथ ही साथ उत्सर्ग अन्दर मूत्राशय की ओर न बढ़ जाय और इसीलिए कुछ विद्वानो की राय है कि इस स्थिति मे कैथेटर न प्रविष्ट किया जाय यही अच्छा है क्योकि इस व्रण मे होकर ही मूत्र आसानी से निकलता रह सकता है ।

इस मुख्य छेदन के अतिरिक्त और कई छेदन भी शोथ के स्थान पर किए जाते है जो शरीर के साथ लम्बाकार एक दूसरे के समानान्तर होने चाहिये तथा एक दूसरे छेदन के मध्य मे कम से कम दो इंच का अन्तर होना आवश्यक है । यदि शिश्न भी शोथयुक्त है तो उसमे छेदन न करके कई छिद्र किये जा सकते हैं क्योकि छेदन के स्थान पर बाद मे तन्तु ऊतक की उत्पत्ति होकर शिश्न के आकार को विकृत कर सकता है ।

निकास के लिये रबर नलिका आदि की आवश्यकता नही क्योंकि व्रण ही स्वतः इतने स्पष्ट रहते है कि उनसे निकास होता रहना निश्चित है । व्रणोपचार के उद्देश्य से शुद्ध गौज हायड्रोजन परऑक्साइड मे भिगोकर वहॉ रखा जा सकता है और इस प्रकार प्रतिदिन व्रणोपचार सम्भव है ।

यदि व्रणों मे पूति वस्तु अधिक बनती है तो रोग व्रणोपचार करते समय प्रतिदिन उष्ण बोरिक द्रव युक्त टब मे कमर तक बैठाया जाता है इससे व्रणों के शीघ्र विरोहण मे सहायता मिलती है । पूति वस्तु को इस समय ही कैंची से काटकर अलग किया जा सकता है ।

रोगी की सामान्य अवस्था की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है । उसे पौष्टिक आहार व औषधियां दी जाती रहनी चाहिए ।

आधुनिक युग मे प्रतिजीवी योग एव सल्फा औषधियो का प्रयोग नितान्त आवश्यक है क्योकि इनके प्रयोग से अवस्था शीघ्र ही वश मे आ जाती है । आवश्यकतानुसार पैनीसलीन औरयोमायसीन या टेरामायसीन आदि औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है ।

तीव्र अवस्था के ठीक हो जाने पर स्थिति के अनुसार मूत्र मार्ग को भी ठीक कर दिया जाना चाहिए ।

उपसर्ग होता है किन्तु आधुनिक युग में इसकी सम्भावना बहुत कम रह गई है। इस अवस्था मे आन्तरिक अङ्गों की विकृति भी कभी-कभी मृत्यु का कारण बन सकती है। ग्रीवा के जल जाने पर गले मे अन्दर शोफ उत्पन्न होकर श्वासावरोध से मृत्यु सम्भव है।

प्राग्ज्ञान—दग्ध का भविष्य निम्न बातों पर निर्भर करता है—

१. दग्ध क्षेत्र—शरीर का जितना ही अधिक क्षेत्र जलता है स्थिति को उतना ही अधिक भीषण समझना चाहिए। शरीर का कितने प्रतिशत क्षेत्र दग्ध है यह 'नौ के नियम[1]' के आधार पर आसानी से निर्णय किया जा सकता है। इसके अनुसार शरीर को ९,९ प्रतिशत के क्षेत्रो मे विभाजित मान लिया गया है। शिर एव ग्रीवा ९, वक्ष आगे-पीछे ९+९, उदर आगे-पीछे ९+९, दोनों ऊर्ध्व शाखाएं आगे-पीछे ९+९, दोनों ओर जानुसन्धि के ऊपर का भाग आगे-पीछे ९+९, तथा जानुसन्धि के नीचे का भाग आगे-पीछे ९+९ प्रतिशत। इस आधार पर शरीर का कौन-कौन भाग कितना जला है यह देखकर आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि कितना प्रतिशत क्षेत्र दग्ध है। यदि १०-२० प्रतिशत दग्ध है तो विशेष चिन्ता की बात नहीं तथा घर पर ही चिकित्सा सम्भव है। २०-५० प्रतिशत तक जले होने की स्थिति मे रोगी को अस्पताल भेज देना अच्छा है ताकि वहाँ चिकित्सा की समुचित व्यवस्था हो सके जो घर पर सम्भव नहीं। यदि ५० प्रतिशत या इससे अधिक भाग जल चुका है तो स्थिति भयंकर समझनी चाहिए।

२. दग्ध की गम्भीरता के सीधे अनुपात मे स्थिति की गम्भीरता होगी यह स्पष्ट है किन्तु प्रारम्भ मे ही गम्भीरता का अनुमान लगा लेना सरल नहीं। लक्षणों की तीव्रता से अवश्य कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

३. शाखाओं के दग्ध की अपेक्षा मध्य भाग और उससे भी अधिक चेहरे के दग्ध भयंकर होते है। इनके कारण कभी भी श्वासमार्गीय उपद्रव उत्पन्न होकर रोगी के जीवन को संकट मे डाल सकते है।

---

1. Rule of Nine.

लिया जाता है। ध्यान रखना है कि पकड़ते समय संदश बिलकुल सीधी नहीं होनी चाहिए बल्कि नीचे की ओर से ऊपर की ओर थोड़ा पीछे को झुकी रहनी चाहिए। और साथ ही यह भी ध्यान में रखना है कि शिश्नमुण्ड का तनिक भी भाग सदश की पकड़ मे न आ जाय। मुण्डच्छद के चिमटी से बाहर की ओर वाले भाग को एक तेज कैंची से काटकर अलग कर दिया जाता है। चर्म के कटे हुए किनारे पीछे की ओर हट जा सकते हैं और अब श्लैष्म कला को शिश्नमुण्ड से बिलकुल अलग कर लिया जाता है। यह आवश्यक हो सकता है कि श्लैष्म कला के कुछ थोड़े से और भाग को काटकर अलग किया जाय। चर्म एवं श्लैष्म कला के कटे हुए किनारे एक दूसरे के साथ बहुत बारीक ०००० नम्बर कैटगट के धागों से सी दिये जाते हैं। इनको रेशम के धागो से भी सिया जा सकता है किन्तु बाद मे इनको काटने मे कठिनाई होती है। अतः कैटगट का प्रयोग ही ठीक है क्योंकि शोषित हो जाने के कारण इनको काटने की आवश्यकता नहीं। टाके एक-एक नही बल्कि शतशः[1] लगाये जाने चाहिए। गौज की चौड़ी-सी बत्ती फ्रायर बल्जाम या एक्रीफ्लेविन लोशन मे भिगोकर क्षत पर रख दी जाती तथा रुई रखकर पट्टी बाँध दी जाती है। दो-तीन दिन पश्चात् भली प्रकार भिगोकर पट्टी हटाई जाती है।

युवा व्यक्ति का मुण्डच्छद छेदन—यह शस्त्रकर्म स्थानिक सज्ञाहरण द्वारा ही किया जा सकता है। नोवोकेन का एक प्रतिशत शक्ति का घोल वलयाकार रूप मे शिश्नमुण्ड की पीछे वाली परिखा[2] के बिलकुल पास ही पीछे की ओर चर्म के नीचे प्रविष्ट किया जाता है। अब मुण्डच्छद के सिरे पर चर्म एव श्लैष्म कला के संगम पर शूची अन्दर की ओर मध्यरेखा मे प्रविष्ट की जाती है और इस प्रकार प्रथम वलय तक चर्म के नीचे इस स्थल पर भी कोकेन का घोल प्रविष्ट कर दिया जाता है (चित्र ६६ अ)। अब इसी स्थल पर मुण्डच्छद तेज कैंची की सहायता से परिखा के $\frac{1}{2}$ इंच दूर तक काटा जाता है तथा कटे हुए किनारे दो संदंशो की सहायता से सहायक द्वारा ताने रखे जाकर उसी

1. Continuous 2. Corona.

किन्तु प्रथम २४ घंटे मे यह मात्रा १०,००० सी. सी. से अधिक कदापि नहीं होनी चाहिए।

२. प्रारम्भ मे रिंगर लेक्टेट घोल[1] ही दिया जाता है और ३०-३५ प्र श: दग्ध की चिकित्सा मे यही ठीक भी है। यदि उपलब्ध हो सके तो प्लाज्मा या डेक्स्ट्रान भी अवश्य दिया जाना है। प्रारम्भ मे रक्ताधान ठीक नहीं। ३-५ दिन पश्चात् रक्ताधान भी आवश्यक हो सकता है।

३. हिमेटोक्रिट, हीमोग्लोबिन, एलेक्ट्रोलायट आदि की दृष्टि से रक्त-परीक्षा भी आवश्यक है ताकि तदनुकूल द्रवाधान को नियमित रक्खा जा सके।

४. रोगी की अवस्था के अनुसार जैसी भी आवश्यकता हो अन्य औषधि पदार्थ भी द्रवाक्षेप के साथ दिये जा सकते हैं विशेष कर अवसाद की अवस्था मे कोर्टीकोस्टरोयड।

५. यदि रोगी मुख द्वारा द्रव पदार्थ ले सके तो ग्लूकोज, विटामिन सी, फलों का रस अवश्य दिया जाना चाहिए क्योंकि इस मार्ग से द्रव की क्षति पूर्ति अधिक प्राकृत है।

६. प्रायः २५ प्र. श. से अधिक दग्ध की अवस्था मे द्रवाक्षेप अनिवार्य होता है। द्रवाक्षेप करने समय रोगी के लक्षणो, रक्तचाप व मूत्र-त्याग के सम्बन्ध मे विशेष सतर्क रहना है ३०-५० सी. सी. प्रति घण्टे के हिसाब से मूत्र त्याग होता रहना आवश्यक है।

३. ए. टी. एस. का प्रयोग—प्रथम २४ घंटे मे ही ए. टी. एस. १५०० यूनिट की मात्रा मे अवश्य दे दिया जाना चाहिए।

४. उपसर्ग का प्रतिकार—दग्ध-चिकित्सा का एक महत्वपूर्ण पहलू उपसर्ग से रोगी की रक्षा व चिकित्सा करना है। इसके लिए—

अ—स्थानिक चिकित्सा के समय भी प्रारम्भ से ही सावधानी रखनी है जैसा कि आगे सकेत किया जा रहा है।

ब—आदर्श तो यह है कि स्थानिक चिकित्सा मे पूर्णतः जीवाणुहीनता का

1. Lactated Ringes's solution.

आगे की ओर मध्यरेखा मे अण्डकोषों के मूल मे होता है। इस स्थान पर गोलाकार या अण्डाकार शोथ देखा जाता है जो पीड़नाक्षम एवं उष्ण होता है। पूर्ण पाक हो जाने पर अॅगुली द्वारा पूय तरग अनुभव की जा सकती है।

चिकित्सा—यदि विद्रधि छोटी ही है तथा मूत्रमार्गीय शोथ के साथ-साथ है तो सेक आदि करने तथा पेनिसिलिन के प्रयोग से शान्त हो जा सकती है। यह भी सम्भव है कि मूत्र मार्ग मे हो फूट जाय किन्तु इस प्रकार की स्थिति न आने देना ही ठीक है अन्यथा मूत्र परिस्रवण के लक्षण उत्पन्न हो सकते है। पाक हो चुकने पर यदि विद्रधि छोटी ही है तो शूची द्वारा उसकी पूय को खींचा जा सकता है और इसके पश्चात् उपयुक्त चिकित्सा से विद्रधि शान्त की जा सकती है। यदि विद्रधि बड़ी है तो चीरा देकर पूय को निकाल दिया जाता है। सफाई करने के पश्चात् व्रणोपचार किया जाता है। पेनिसिलिन का प्रयोग आवश्यक है। उपद्रव अथवा अनुसगी रोगो की चिकित्सा की जानी चाहिए।

शिश्नमुण्ड शोथ—निरुद्ध प्रकर्श की अवस्था मे उपसर्ग होने पर अथवा आघात के कारण शिश्नमुण्ड मे शोथ की उत्पत्ति सभव है। यह भी सम्भव है कि शोथ के साथ ही साथ शिश्नमुण्ड पर किसी प्रकार के विशेष व्रण भी उपस्थित हो। स्थान का समबल लवण जल से प्रक्षालन, सेक तथा पेनिसिलिन का प्रयोग आवश्यक है। प्रक्षालन दिन मे तीन-चार बार किया जाना चाहिए तथा प्रक्षालन के पश्चात् अवधूलन चूर्ण बुरका जा सकता है। यदि मुण्डच्छद छिद्र बहुत छोटा हो तो मुण्डच्छद मे नीचे की ओर छेदन कर देना चाहिए ताकि निकास भली प्रकार होता रहे। साधारण प्रकार का शिश्नमुण्ड शोथ इस चिकित्सा से अवश्य ठीक हो जाना चाहिए किन्तु यदि एपीथिलियोमा आदि विशिष्ट व्रण उपस्थित हैं तो तदनुकूल चिकित्सा की जानी चाहिए।

शिश्न के चारो ओर डोरा बॉधना—इस प्रकार की स्थिति जिसके लक्षण परिवर्तिका से बहुत कुछ मिलते-जुलते है बच्चों मे बहुत देखी जाती है जबकि कोई बालक खेल-खेल मे या इस भय मे कि रात्रि मे शय्या पर मूत्र न

प्रयत्न करता है अथवा अन्य प्रकार से गर्म दूध या चाय निगल जाता है। स्पष्ट है कि मुख, तालु, गला अथवा स्वरयन्त्र का ऊपरी भाग क्षतिग्रस्त हो जा सकता है।

चिकित्सा—मुख की सुप्रकाश मे अच्छी तरह परीक्षा की जानी चाहिए ताकि यह अनुमान लगाया जा सके कि कितना भाग क्षतिग्रस्त हुआ है। स्थानिक प्रयोग के लिए ग्लीसरीन मे मिलाकर सल्फनोमायड पाउडर उपयुक्त है तथा उपसर्ग रोकने की दृष्टि से पेनिसिलीन का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार के दाह मे कष्टश्वास[1] तथा स्वर-यन्त्र का शोफ उत्पन्न होकर श्वासावरोध[2] का भय है जिसके लिए प्रतिक्षण सतर्क तथा तैयार रहना चाहिए। यदि श्वासावरोध होता मालूम पड़े तो तत्क्षण स्वरयन्त्र छिद्रीकरण[3] या श्वास-प्रणाली छिद्रीकरण[4] शस्त्रकर्म करना आवश्यक है।

बन्दूक की बारूद से क्षति—यदि चारो ओर से सीमित बन्द बारूद मे आग लगती है तो विस्फोट अर्थात् धड़ाका होता है किन्तु यदि खुली हुई बारूद मे आग लगती है तो एक विशेष प्रकार की अग्निशिखा जिसे भभक कहते हैं उत्पन्न हो जाती है। दोनो अवस्थाओ मे उत्पन्न शरीर-क्षति का रूप भी भिन्न-भिन्न होता है।

खुली बारूद की भभक से चर्म झुलस जाता, नेत्रों को क्षति पहुँचती तथा बाल जल जा सकते हैं। किन्तु इन सबके अतिरिक्त इसकी भी बहुत कुछ सम्भावना रहती है कि बारूद के कण चर्म मे जहाँ-तहाँ प्रविष्ट हो जायँ। आतिशबाजी सम्बन्धी दुर्घटना से उत्पन्न क्षति भी इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

चिकित्सा—सामान्य दग्ध व्रण की तरह ही की जाती है किन्तु इसके साथ ही बारूद के भी कण चर्म मे प्रविष्ट कर गये हैं, उनको थोड़ा बहुत परिश्रम उठाकर भी निकाल दिया जाना चाहिए अन्यथा यदि वे पड़े रह जाते है तो

1. Dyspnoea. 2. Asphyxia 3. Laryngotomy. 4. Tracheotomy.

१—आघात अर्थात् चोट लगना।

२—मूत्राशय या पुरःस्थ ग्रन्थि आदि से उपसर्ग का वृषण रज्जु के मार्ग से प्रसार—इस प्रकार शोथ का कारण पूयमेह, बी-कोलाई या अन्य पूयोत्पादक जीवाणु हो सकते हैं।

३—रक्तमार्ग से उपसर्ग का पहुँचना यथा टायफायड, सिफिलिस, कर्णमूल शोथ आदि। क्षय-जीवाणुजन्य शोथ अधिकाश मे चिरकालीन स्वरूप का होता है जबकि उपरोक्त अन्य तीव्र स्वरूप के होते है।

४—सन्धि वात के साथ उपस्थित वृषणशोथ—मूल रोग की प्रकृति से ही स्पष्ट है कि इस प्रकार का शोथ भी चिरकालीन स्वरूप का होगा।

लक्षण—तीव्र स्वरूप के शोथ मे सदैव ही तीव्र पीडा होती है और उसके साथ ही ज्वर, क्षुधानाश आदि अन्य सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं। रक्तिमा, उष्णता, पीड़ानाक्षमता आदि स्थानिक लक्षण भी अवश्य ही रहते हैं।

निदान—लक्षण इतने स्पष्ट होते हैं कि उनसे रोग का सहज ही निदान हो जाता है किन्तु निदान का उद्देश्य लक्षणो एवं इतिहास के द्वारा रोग के मूलभूत कारण का पता लगाना भो होना चाहिए क्योंकि केवल लाक्षणिक चिकित्सा से ही काम नहीं चल सकता बल्कि रोग के मूलभूत कारण का निराकरण आवश्यक है।

चिकित्सा—रोगी को आराम से बिस्तर पर लिटा दिया जाना चाहिए क्योंकि चलने-फिरने से वृषणों के हिलने के कारण रोगी को कष्ट होगा तथा रोग के शीघ्र ठीक होने मे भी बाधा पडती है। वृषणकोषों को लँगोटी के आकार की चौड़ी व ढीली पट्टी से बाँधा जा सकता है। वृषणकोषों पर ऊष्म स्वेद, गर्म पानी की बोतल अथवा एण्टीफ्लोजिस्टिन प्लास्टर आदि द्वारा गर्मी पहुँचाई जाती है। कुछ चिकित्सक प्रारम्भिक अवस्था मे शीतोपचार को अधिक उपयुक्त बनाते हैं। उष्ण स्वेद या शीतोपचार दोनों में से किसी से

चाहिए कि किसी भी स्थान के शल्य को निकालने के सम्बन्ध में निश्चित नियम नहीं दिये जा सकते क्योंकि सब कुछ शल्य की प्रकृति तथा चिकित्सक की तात्कालिक सूझ-बूझ पर निर्भर करता है।

साधारण स्थान का शल्य—

शल्य निकालना प्रारम्भ करने से पहले उसका स्थान तथा स्थिति को समझ लेना नितात आवश्यक है। इसके लिए शल्य का स्थान तथा इतिहास कि वह किस प्रकार अन्दर प्रविष्ट हुआ है समझ लेने के बाद टटोल कर देखना चाहिए। अधिकाश शल्यों की स्थिति इसी प्रकार निश्चित हो जाती है किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो एक्स-रे चित्र द्वारा शल्य का स्थान निश्चित कर लेना अच्छा है क्योंकि जब शल्य की ठीक-ठीक स्थिति भली प्रकार समझ मे आ जाय तभी उसको बाहर निकालने का प्रयत्न करना है। कभी-कभी जैसे बन्दूक के छर्रे लगने पर शल्य की सख्या भी ज्ञात नही होती। ऐसी अवस्था मे एक्स-रे की शरण लेना नितात आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शल्य प्रवेश के शीघ्र ही पश्चात् रोगी नही आता बल्कि देर से आता है। जबकि शल्य के स्थान पर शोथ की उत्पत्ति हो चुकी होती है। ऐसी अवस्था में दो-चार दिन तक रोगी को देखभाल मे रखकर शोथ की चिकित्सा की जाती तथा शोथ समाप्त होने पर शल्य का स्थान समझकर उसको निकाल दिया जाता है। साधारण स्थलों पर प्रायः निम्न प्रकार के शल्य प्रविष्ट हो जाया करते है।

इन्जेक्शन की सुइयाँ—चिकित्सक की असावधानी से कभी-कभी इंजेक्शन की सुई गर्दन के पास से जग लगी हुई होने के कारण टूट जाया करती है। इस सम्बन्ध मे यह सावधानी रखने के अतिरिक्त कि सुई जंग लगी न हो, यह सावधानी भी रखना आवश्यक है कि उसे पूरी ही प्रविष्ट न कर दिया जाय क्योंकि सुई सदैव गर्दन के पास से ही टूटती है। यदि सूई की थोड़ी भी नोंक बाहर निकली हुई है तो उसे पकड़ कर बाहर खींच लेना आसान है किंतु यदि वह अन्दर प्रविष्ट हो गई है तो सबसे अच्छा तो यह हो कि चिकित्सक स्वतः

(र) **अधिवृषणीय जलसंचय**[1]—जल का संचय उपाण्ड के चारों ओर ही होता है तथा वहीं तक सीमित रहता है। आकार अधिक नहीं बढ़ पाता। चिकित्सा आगे वर्णित आवेष्ठन जलातिवृद्धि की तरह है।

(ल) **अज्ञातकारण जन्य आवेष्टन जलवृषण**[2]—यथार्थ मे जल वृषण शब्द से यही अवस्था जानी जाती है। यह भो (१) तीव्र अथवा (२) चिरकालीन स्वरूप की हो सकती है। तीव्र स्वरूप की अवस्था बहुत कम देखी जाती है तथा सन्धिवात, ज्वर या निमोनिया के साथ-साथ मिलती है। चिरकालीन स्वरूप की अवस्था ही अधिकाश मे मिलती है। रोग का निश्चित कारण अभी तक ज्ञात नही हो सका है। सम्भव है पीने के जल अथवा खान-पान मे कोई विशेष तत्व निहित हो जिसका रोगोत्पादन मे प्रधान हाथ रहता हो क्योकि यह देखा गया है कि रोग कुछ विशेष स्थानों पर अधिक पाया जाता है। रोग की उत्पत्ति अधिकाश मे उष्ण प्रदेशों मे ही होती है। सम्भव है कि वृषणो के लक्षण रहित हलके शोथ के कारण उसके चारो ओर आवेष्ठन के नीचे जल का संचय होता रहता हो यद्यपि शोथ के कुछ भी लक्षण नहीं पाए जाते और न सचितजल की प्रकृति से ही इसका अनुमान लगाया जा सकता है। विशेष सम्भावना यही है कि किसी अज्ञात कारण से उस स्थल पर जल का धीरे धीरे निःस्सरण होता रहता है। प्रौढ़ व्यक्ति ही इससे अधिक पीडित होते है यद्यपि रोग बच्चो एव युवा पुरुषो को भी हो सकता है।

लक्षण—रोगी को किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं होती किन्तु द्रव के सततः एकत्रित होते रहने से वृषण का आकार बहुत बढ़ जाता है और इस बढे हुए आकार के कारण ही रोगी को कष्ट तथा असुविधा होती है शिश्न के उत्सेध मे दब जाने के कारण मूत्र त्याग मे भी कठिनाई पड़ने लगती है। वृषणकोष गोल अथवा अण्डाकार दिखता है, चर्म की सिकुड़नें जाती रहती है तथा उसका तनाव संचित द्रव की मात्रा पर निर्भर करता है। कोष के ऊपर की ओर वृषण रज्जु को अनुभव किया जा सकता है। अण्डग्रन्थियाँ कोष के

---

1. Hydrocele of the Epididymus 2. Idiopathic Vaginal Hydrocele.

इनकी उपस्थिति का भी निश्चय किया जा सकता है क्योकि साधारण कॉच मे प्रायः शीशे का इतना अश रहता है कि वह क्ष-किरण के लिए अपारदर्शक वन जाता है।

कर्णगत शल्य—

प्रायः बच्चे अपने या साथ खेलने वाले दूसरे बच्चो के कान मे ककड़-काँच या लोहे की छोटी-छोटी गोलियाँ, मटर, मक्का, चना वगैरह के दाने आदि डाल लिया करते है। यदि ये चीजे अधिक समय तक कान मे पडी रह जाती हैं तो पीड़ा की उत्पत्ति करने के साथ ही साथ शोथ भी उत्पन्न कर देती है और बालक का पीडित कान के द्वारा सुनने की शक्ति नष्ट हो जाती है तथा कान मे से स्राव आने लगता है। यदि कान पूरी तरह अवरुद्ध हो जाता है तो कर्ण क्ष्वेड़[1] एव वमन की भी उत्पत्ति हो जा सकती है। कभी-कभी बच्चो मे कान का सचित मल[2] भी इतना हो जाता है कि वह कर्णगत शल्य की तरह के लक्षण उत्पन्न कर देता है।

कर्णगत शल्य को तत्काल निकाल देना आवश्यक है किन्तु निकालना प्रारम्भ करने से पहले इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि अपने पास पूर्ण साधन उपलब्ध हो क्योकि अपूर्ण तथा अनुचित रूप के प्रयत्नो द्वारा यदि शल्य निकल नहीं पाता तो अपयश मिलने के साथ ही साथ रोगी को कष्ट भी होता है। एक चिमटी एव पिचकारी लेकर ही कर्ण शल्य निकालने का प्रयत्न करन लगना बुद्धिमानी नही कही जा सकती।

सर्वप्रथम सुप्रकाश में कर्णदर्शक यन्त्र से या साधारणतया ही कान की परीक्षा की जाती है तथा शल्य की स्थिति को समझा जाता है। परीक्षा करते समय कर्णपाली को थोडा ऊपर तथा पीछे की ओर खींचकर परीक्षा करनी चाहिए क्योकि प्रकृतितः कर्णगुहा थोड़ी वक्र होती है और ऐसा करने से वह सीधी हो जाती है। पिचकारी की सहायता से कान मे जल की धार पहुँचा कर कर्ण शल्य या मैल को निकालने का प्रयत्न किया जा सकता है किन्तु इस

1. Tinnitus. 2. Wax.

मध्यम या छोटे आकार का है तभी थोडी बहुत सफलता की आशा की जा सकती है।

इन्जेक्शन का प्रयोग जन्मजात या औपद्रविक हायड्रोसील की चिकित्सा मे कभी भी नही किया जाना चाहिए।

३—शस्त्र-कर्म—हायड्रोसील की सर्वोपयुक्त सफल चिकित्सा शस्त्र-कर्म ही है, अतः अधिकाश रोगियो मे जहाँ तक भो सम्भव हो शस्त्र-कर्म ही किया जाना चाहिए।

वृषणकोष तथा भग प्रान्त के बाल साफ किए जाते एव स्थान साबुन से धोकर पूर्णतः साफ कर दिया जाता है। शस्त्र-कर्म के लिए इस प्रान्त की चर्म को एक दिन पहले ही तैयार कर लिया जाता है किन्तु इतना ध्यान रखना है कि वृषणकोषों पर टिंचर आयोडीन लगाना ठीक नही। चर्म के चिकने न होने के कारण सफाई की कठिनाई तथा क्षतोष्ठों के ठीक प्रकार न मिल सकने के कारण यथासम्भव वृषणकोष के निचले भाग मे छेदन नही किया जाना चाहिए, वक्षणी नलिका के बाह्य छिद्र से नीचे एवं अन्दर शिश्न मूल की ओर आवश्यकतानुसार १½-२ इन्च लम्बा छेदन किया जाता है। छेदन को सावधानी के साथ अधिकाधिक गहरा करते जाते है यहाँ तक कि वृषण रज्जु तथा हायड्रोसील कोष का ऊपरी किनारा स्पष्ट हो जाता है। वृषणकोषो को नीचे की ओर से थोड़ा दबाने तथा साथ ही साथ हाड्रोसील कोष को थोड़ा खीचने से शुक्रग्रन्थियो सहित कोष क्षत के बाहर निकल आता है। कोष को बाहर की ओर निकालते समय यह आवश्यक है कि कोष को वृषणकोषों के साथ ससक्त करने वाले अवयवो को काटते चला जाय। रक्तस्रावी बिन्दुओ को धमनी सदंश से दबाकर या कैटगट के धागों से बाधकर बन्द कर दिया जाना चाहिए। कोष के बाहर निकल आने के पश्चात् कोप की दीवाल अर्थात् शुक्रग्रन्थि के आवेष्टन को चाकू से काट दिया जाता है तथा तेजी के साथ बाहर निकलने वाले द्रव को किसी पात्र मे लिया जाता है। कुछ चिकित्सक कोष को क्षत के बाहर निकालने से पहले ही चाकू से उसका वेधन कर देते हैं तथा द्रव निकाल दिए जाने के पश्चात् शुक्रग्रन्थि तथा कोप को बाहर

रक्त निकला है तो यह सफाई तथा जीवाणुनाशक औषधि का प्रयोग कर्णगुहा के क्षत के पूर्ण ठीक हो जाने तक आवश्यक है। कुछ चिकित्सक कर्णशल्य या मैल निकालने से पहले लिक्विड पैराफिन कान में डाल देते हैं।

यदि उपरोक्त उपायों से काम नहीं चलता तो पीछे की ओर छेदन करके कर्णपाली को सामने की ओर हटा दिया जाता है और फिर कर्ण गत शल्य को निकाल देते हैं। शल्य निकालने के पश्चात् कर्णपाली को यथास्थान करके टाँके लगा दिये जाते हैं।

नासागत शल्य—

इस प्रकार की दुर्घटना भी प्रायः बच्चों में ही देखी जाती है जब बच्चे खेल-खेल में गोली, बटन, अन्न के दाने आदि नाक में किसी एक ओर डाल लेते हैं। प्राय. बच्चे के कह देने या किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा देख लिये जाने पर दुर्घटना का तत्क्षण पता लग जाता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि तत्क्षण पता नहीं लगता। ऐसी स्थिति में शल्य पड़ा रहकर एक ओर के नथुने में शोथ की उत्पत्ति कर देता है जब उस ओर से स्राव आने लगता है। इस प्रकार एक ओर के नथुने से आनेवाले स्राव की अवस्था में उस ओर शल्य का सन्देह किया जाना चाहिए। सुप्रकाश में नासावीक्षक के बिना या उसके द्वारा नासा की परीक्षा करने पर स्थिति साफ हो जाती है।

कर्णगत शल्य की तरह नासागत शल्य को पीछे की ओर से शक्ति लगाकर ही बाहर निकालना चाहिए। इसके लिए कुछ चिकित्सक दूसरे ओर के नासारन्ध्र में पिचकारी द्वारा द्रव पहुँचा कर उसकी धारा से शल्य निकालने का प्रयत्न करते हैं किन्तु यह विधि ठीक नहीं कही जा सकती। प्रथम तो इस विधि से शल्य निकालना ही कठिन होता है दूसरे यदि नासारन्ध्र शल्य के कारण पूर्ण तरह रुक चुका है तो द्रव कर्ण कण्ठनालिका[1] यूस्टेशियन मार्ग से मध्यकर्ण में अथवा अस्थियों के नासाविवरों में पहुँच कर मार्ग से मध्यकर्ण में अथवा अस्थियों के नासाविवरों[2] मे पहुँचकर व्यर्थ का उपद्रव खड़ा कर सकता है।

---

1. Eustachian tube 2. Accessory nasal Sinuses.

अर्बुद के साथ-साथ भी होता देखा गया है इससे प्रायः युवा व्यक्ति ही पीड़ित होते हैं यद्यपि वृद्धावस्था मे भी हो सकता है।

प्रारम्भ मे रोगी को कोई विशेष लक्षण नही मालूम पडता एक भार-सा लटकता अनुभव होता है। परीक्षा करने पर वृषणकोष एक ऐसे थैले की तरह मालूम पड़ता है जिसमे केंचुए भरे हों। खाँसने पर हलकी सर-सराहट प्रतीत होती है। यदि रोगी लेट जाता है तो शिराओं मे रक्त ऊपर की ओर लौट जाता है किन्तु यदि रोगी खड़ा होता है तो रक्त फिर से भर आता है।

यथार्थ मे इसमे कोई सन्देह नहीं कि रोगी को कोई कष्टकर लक्षण नहीं होने चाहिए किन्तु कभी-कभी उसको यह सन्देह होने लगता है कि इसके कारण षण्ढता उत्पन्न हो सकती है यद्यपि इस प्रकार का सन्देह निराधार है।

रोग की एकमात्र सफल चिकित्सा शस्त्रकर्म ही है किन्तु प्रारम्भ मे कसकर लंगोट बाँधने तथा प्रतिदिन प्रातः-साय ठण्डे जल से वृषणकोष को धोते रहने आदि से रोग की अधिक वृद्धि रोकी जा सकती है। किन्तु यदि रोग अधिक बढ़ गया है तथा समझा-बुझाकर रोगी को शान्त नहीं किया जा सकता तो शस्त्र-कर्म अवश्य कर दिया जाना चाहिये।

शस्त्रकर्म—शस्त्रकर्म स्थल की जल सचय शस्त्रकर्म की तरह तैयारी कर ली जाती है। बहिर्वक्षणी छिद्र से नीचे तथा अन्दर की ओर एक-एक-डेढ़ इन्च लम्बा छेदन किया जाता है तथा वृषण रज्जु को स्पष्ट कर लिया जाता है। वंक्षणी नलिका को खोलने की आवश्यकता नही। वृषण रज्जु अपने स्थान से बाहर की ओर निकाल ली जाती है तथा उसको आच्छादित करनेवाली कला आदि को काट कर भिन्न-भिन्न अवयवों को स्पष्ट कर लिया जाता है। शुक्र वाहिनी को अँगूठे एवं अँगुली की सहायता से एक कड़ी रस्सी के रूप मे अनुभव किया जा सकता है। शुक्रवाहिनी, उसके साथ की धमनी तथा एक दो शिरा को अलग एक ओर कर दिया जाना चाहिए। ध्यान रखना है कि शुक्र-वाहिनी, उसके साथ की धमनी तथा एक-दो शिरा को अवश्य बचा देना है अन्यथा शुक्रग्रन्थि का क्षय या जल-सचय की उत्पत्ति की बहुत कुछ सम्भावना

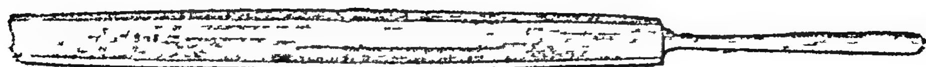
साथ रोगी चिकित्सक के पास आ जाता है तो बहुत ही साधारण उपाय जो काम मे लाया जा सकता है वह यह है कि दूसरी के ओर नासारन्ध्र मे पतली हलकी सलाई या कपडे व कागज की पतली लम्बी वत्ती अन्दर प्रविष्ट करके उससे छींक लिवाई जाती है। सम्भव है छींक के साथ मे ही शल्य बाहर निकल पडे।

कर्णगत शल्य निकालने के सम्बन्ध में वर्णित साधारण बातें यहाँ भी ध्यान मे रखनी है कि अपूर्ण प्रयत्न करना ठीक नही। शोथ की उत्पत्ति होने पर पेनिसिलीन का प्रयोग किया जा सकता है।

नेत्र शल्य—

नेत्र शरीर का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है, अतः इससे सम्बन्धित साधारण दुर्घटना भी रोगी तथा उसके सम्बन्धियों के लिए बहुत चिन्ता का कारण होती है। अतः चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह नेत्र शल्य को निकालते समय विशेष सावधानी तथा सतर्कता से काम ले। रोगी के आते ही कोकेन डालकर नेत्र को सज्ञाहीन कर दिया जाना अच्छा है ताकि उसकी भली प्रकार परीक्षा की जा सके अथवा यह भी ठीक ही है कि प्रथम सुप्रकाश मे नेत्र की परीक्षा कर ली जाय तव यदि आवश्यक हो तो कोकेन नेत्र विन्दु डाले जायँ अथवा नही। नेत्र शल्य को तत्क्षण निकाल देना ही अच्छा है।

रोगी को मेज पर लिटा लिया जाता है तथा प्रकाश उसके नेत्र पर रहता है। यदि शल्य नीचे के पलक पर है तो पलक को नीचे की ओर हटाकर सलाई पर लपेटी हुई रुई की छोटी-सी वत्ती से या व्रश से शल्य को हटा दिया जाता है। यदि ऊपर के पलक के नीचे मालूम पडता है तो पलक को पलटना आवश्यक होगा क्योंकि तभी शल्य निकाला जा सकेगा। यदि शल्य स्वच्छ-मडल मे थोडा प्रविष्ट होकर वहाँ चिपट गया है तो कोकेन नेत्र बिन्दु डालकर नेत्र सज्ञाहीन बनाना आवश्यक है! इसके पश्चात् वर्त्मनिवर्तित्र लगाकर नेत्र को खुला रखना चाहिए। शल्य को रुई की बत्ती, स्पड चित्र ४६ या चौडी



चित्र ४६—स्पड

सत्रहवाँ अध्याय

अवशिष्ट सामान्य शस्त्र-कर्म

भिन्न-भिन्न तन्त्रों से सम्बन्धित सामान्य शस्त्र-कर्मो का वर्णन पिछले अध्यायो मे किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त कुछ अवशिष्ट सामान्य शस्त्र-कर्मो का वर्णन इस अध्याय के अन्तर्गत करना है।

शूचिकाभरण

मुख द्वारा प्रयोग न करके सिरिज या पिचकारी एव एक पोली सुई की सहायता से औषधि को उपयुक्त स्थान पर शरीर धातुओ मे प्रविष्ट कर देना ही इजेक्शन, सुई लगाना, शूचिकाभरण, अन्तःक्षेपण या शूचीवेध चिकित्सा कहा जाता है। इस प्रकार प्रविष्ट की गई औषधि सीधे रक्त मे शोषित-होकर अपना प्रभाव व्यक्त करती है।

इन्जेक्शन के लिए निम्न मुख्य आदेश ध्यान मे रखने चाहिए—

१—जब बेहोशी आदि के कारण मुख द्वारा औषधि दिया जा सकना सम्भव न हो अथवा मुख द्वारा प्रयुक्त औषधि वमन के कारण आमाशय मे ठहर न पाती हो।

२—कुछ औषधियाँ मुख द्वारा नही दी जा सकती, इन्जेक्शन द्वारा ही दी जा सकती हैं क्योंकि मुख द्वारा दिए जाने से आमाशयिक रस से उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है यथा पेनिसिलिन। इसके अतिरिक्त कुछ औषधियाँ ऐसी है जो मुख द्वारा दी जाने पर रक्त मे शोषित ही नहीं होती, फलतः सार्वदैहिक प्रभाव नही हो पाता। इनका इन्जेक्शन द्वारा ही प्रयोग सम्भव है यथा स्ट्रेप्टोमायसीन। आन्त्रनलिका मे ही प्रभाव को सीमित रखने के लिए स्ट्रेप्टोमायसीन का आन्त्रामाशय शोथ मे तथा पेनिसिलिन के एक विशिष्ट योग का मुख द्वारा भी प्रयोग किया जाता है।

बिन्दु तथा एक्रीफ्लेविन इमल्शन के बिन्दु डालकर पट्टी बाँध दी जाती है। नेत्र की स्थिति के अनुसार पश्चात् चिकित्सा की जानी चाहिए *।

स्वरयन्त्र का शल्य—

भोजन का ग्रास, कृत्रिम दाँत या अन्य वस्तु स्वरयन्त्र में पहुँचकर यदि स्वर रज्जुओं[1] के बीच में अटक जाती है तो एक भयंकर अवस्था उत्पन्न हो जाती है क्योंकि श्वासमार्ग के रुक जाने से वायु फुफ्फुसों में नहीं पहुँच सकती। रोगी का मुँह नीला पड़ जाता है, स्तब्धता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और यदि तत्क्षण ही कोई प्रबन्ध नहीं किया जाता तो मृत्यु निश्चित है।

उपयुक्त तो यही दीखता है कि रोगी को अस्पताल भेजा जाय किन्तु ऐसी स्थिति में जीवन तत्क्षण संकट में होने के कारण साधारण चिकित्सक द्वारा प्रबन्ध करना आवश्यक है।

रोगी के आते ही चिकित्सक का कर्तव्य है कि गले में उँगली डालकर अटकी हुई वस्तु को यदि सम्भव हो सके तो निकाल दे। यदि न निकल सके तो श्वासावरोध के लक्षण तीव्र हों तो तत्क्षण स्वरयंत्र छिद्रकरण[2] शल्य-कर्म कर दिया जाना चाहिए ताकि वायु को फुफ्फुसों में प्रवेश का मार्ग मिले। उच्च स्तर पर श्वास नलिका छिद्रकरण[3] शल्य-कर्म तथा इसके पश्चात् ही यदि आवश्यक हो तो कृत्रिम श्वास का भी प्रबन्ध किया जा सकता है।

फुफ्फुसों में श्वास का आना-जाना प्रारम्भ हो जाने पर शल्य की स्थिति को समझकर उसको निकालने का प्रयत्न किया जाता है। बच्चे के पैरों को पकड़ कर उसको उल्टा लटका दिया जाता, पीठ को वेग के साथ थपथपाया जाता है और इस प्रकार सम्भव है कि शल्य मुँह में होकर बाहर निकल पड़े। यदि इस प्रकार नहीं निकलता तो छिद्र में होकर रबर कैथेटर अथवा कोई

*इस स्थल पर नेत्र शल्य सम्बन्धी वर्णन बहुत ही सूक्ष्म रूप से दिया है विशेष वर्णन के लिए लेखक की 'सचित्र नेत्र रोग विज्ञान' पुस्तक देखें।

1. Vocal chords 2. Laryngotomy 3. High Tracheotomy.

में पेनिसिलिन का स्थानिक प्रयोग। नेत्रश्लेष्मलाधः[1], हृत्पेश्यान्तर्गत[2] अथवा मस्तिष्क गुहागत[3] इन्जेक्शन भी स्थानिक कहे जा सकते हैं क्योंकि इनका उद्देश्य क्रमशः नेत्रगुहागत अवयवों, हृत्पेशी तथा मस्तिष्क को सीधा लाभ पहुँचाना होता है।

उपचर्माधः या अन्तस्त्वक्—जब औषधि चर्म के ऊपरी पर्त उपचर्म[4] के नीचे अर्थात् स्वतः चर्म के मध्य में पहुँचाई जाती है तो उसको अन्तस्त्वक[5] इन्जेक्शन कहना चाहिए। मसूरिका के लिए लगाया जाने वाला टीका अन्तस्त्वक् इन्जेक्शन ही है।

स्थानिक अथवा अन्तस्त्वक् इन्जेक्शन, इन्जेक्शन के असाधारण प्रकार हैं जो कभी-कभी काम में आते हैं। अधिकांश मे प्रयुक्त प्रकार निम्न हैं—

चर्माधः इन्जेक्शन—त्वचाधः या चर्माधः इन्जेक्शन[6] से तात्पर्य चर्म के नीचे औषधि पहुँचा देना है। एड्रीनेलीन, इन्स्युलीन, शामक एवं हृदयोत्तेजक औषधियाँ आदि इसी प्रकार दी जाती हैं। यह इन्जेक्शन बाहु, अग्रबाहु, उरु या उदर प्रान्त आदि किसी भी स्थान पर दिया जा सकता है, यदि औषधि की मात्रा अधिक है यथा प्रत्यलर्क वैक्सीन[7] तो इन्जेक्शन उदर प्रान्त मे दिया जाना है; यदि रोगी स्वतः अपने इन्जेक्शन देता है तो उरु प्रान्त का बाहरी पृष्ठ अधिक उपयुक्त पड़ता है।

औषधियुक्त सिरिंज दाहिने हाथ मे पकड़ी जाती है तथा बाएँ हाथ की तर्जनी अँगुली व अँगूठे की सहायता से चर्म को शुद्ध करने के बाद पकड़कर थोड़ा ऊपर उठाकर वहाँ सुई प्रविष्ट कर दी जाती तथा पिस्टन दबाकर औषधि अन्दर पहुँचा दी जाती है। प्रत्येक इन्जेक्शन देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि सुई को पूरा अन्दर प्रविष्ट न कर दिया जाय क्योंकि जोड़ पर से ही उसके टूट जाने की सम्भावना रहती है, अतः सदैव सुई की $\frac{2}{3}$ या $\frac{3}{4}$ लम्बाई

---

1. Subconjunctival 2. Intracardiac 3. Intraventricular 4. Epidermis 5. Intradermal 6. Subcutaneous Injection. 7. Anti rabbic Vaccine.

है क्योंकि अन्ननलिका में पडा हुआ शल्य पीड़ाकर होने के साथ ही साथ वहाँ व्रणोत्पादन करके हानिकर हो सकता है।

अन्ननलिका मे अटकी हुई वस्तु को वमन कराकर निकालने का प्रयत्न किया जा सकता है किन्तु यह सदैव सफल नही होता। यदि सफल न हो तो क्ष-किरण परीक्षा अथवा ग्रासनली दर्शी[1], की सहायता से शल्य की स्थिति स्पष्ट करने के पश्चात् ही उसको निकालने का प्रबन्ध किया जा सकता है जिसके लिए रोगी को मुख्य सर्जन अथवा विशेषज्ञ की देखभाल मे ही भेजना चाहिए।

मूत्र मार्ग का शल्य—

मूत्र मार्ग मे प्रविष्ट होने वाले शल्य तीन प्रकार के हो सकते हैं यथा—

१—रोगी द्वारा स्वतः प्रविष्ट किये गये पदार्थ जो कई भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं यथा पेंसिल, पिन, सुई, छोटी गोली आदि-आदि।

२—मूत्र शलाका[2] आदि के टुकडे जो चिकित्सक की असावधानी से टूटकर रह जायँ।

३—अश्मरी जो ऊपर से मूत्राशय की ओर से आकर मूत्र मार्ग में अटक जाय।

उपरोक्त कोटि के पदार्थों के मूत्र मार्ग मे अटक जाने से मूत्रावरोध, मूत्रमार्ग से रक्तस्राव, तीव्र पीड़ा तथा शिश्न शोथ की उत्पत्ति हो जा सकती है। यदि मूत्रावरोध पूर्ण होता है तथा कुछ समय तक बना रहता है तो मूत्र परिस्राव[3] के कारण सम्पूर्ण प्रदेश शोथयुक्त होकर रोगी के लिए तीव्र कष्ट का कारण बन जाता है, अतः मूत्रमार्ग के शल्य को शीघ्र से शीघ्र निकालने का प्रयत्न करना चाहिए—टालना और इस बात के लिए ठहरना कि अपने आप निकल जायगा, ठीक नहीं। प्रारम्भ मे शल्य को प्राकृतिक मार्ग से निकालना ठीक रहता है। यदि इस प्रकार न निकल सके तो मूत्रमार्गच्छेदन[4] शल्य कर्म आवश्यक है।

---

1. Oesophagoscope. 2. Catheter. 3. Extravasation of urine. 4. Urethrotomy.

जाने के पश्चात् पिस्टन को थोडा खीचकर इस बात का निश्चय कर लेना है कि सुई शिरा मे प्रविष्ट हुई अथवा नही और यह बात सिरिंज मे रक्त आ जाने से स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शिरा के स्थान पर सुई धमनी मे प्रविष्ट न हो जाय। इन्जेक्शन देने के लिए यदि शिरा को काट कर स्पष्ट करना पडता है तो लगभग एक इञ्च शिरा स्पष्ट की जानी चाहिए।

जीवाणुहीनता—प्रत्येक प्रकार के इन्जेक्शन विशेषकर शिरागत इन्जेक्शन के समय जीवाणुहीनता का ध्यान रखना नितात आवश्यक है, सिरिंज सूची आदि सभी उबालकर शुद्ध कर लिए जाने चाहिए, प्रयुक्त औषधि भी अवश्य ही शुद्ध होनी चाहिये। प्रायः सभी इन्जेक्शन एम्पूल मे तैयार ही मिलते है जो जीवाणु रहित शुद्ध होते है। उनके सम्बध मे निर्माणकर्ता द्वारा दिए गए सभी आदेशो को ध्यान मे रखना है और यह भी कि औषधि नियत तिथि के बाद काम मे न लाई जाय।

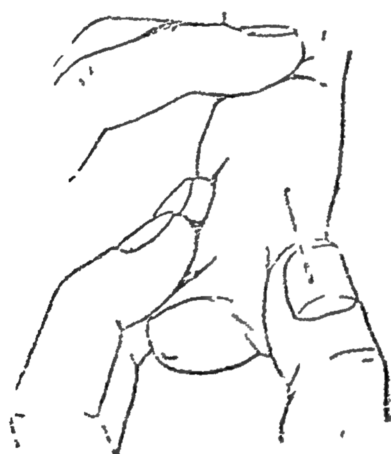
सूचीवेध करने से पहले जिस स्थान पर सूचीवेध करना है उस स्थान के चर्म को भी शुद्ध कर लेना है और इसके लिए चर्म को साबुन एव पानी से साफ करके टिंचर आयोडीन लगा दी जा सकती है, किंतु साधारणतया रेक्टीफायड या मेथीलेटेड स्पिरिट का प्रलेप ही पर्याप्त होता है। कभी-कभी ऐसा अवश्य होता है कि शिरा यदि बहुत सूक्ष्म है तो स्पिरिट के प्रलेप से स्थानिक धातुओं के सकोच के कारण वह और भी अदृश्य-सी हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उष्ण जल के फाए से स्थान को साफ करना ठीक पडता है।

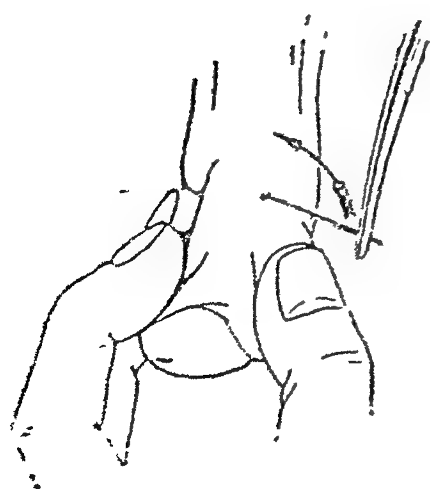
इन्जेक्शन की विधि—रोगी को पूर्णतः लेटी हुई या अधलेटी अवस्था मे रखा जाता तथा उसकी भुजा को बाहर की ओर फैलाकर किसी तकिए आदि पर स्थिर कर लिया जाता है। रोगी को बिठाकर तथा भुजा को सामने मेज पर फैलाकर भी इन्जेक्शन दिया जा सकता है किंतु उपयुक्त यही है कि उसको लिटाकर ही इन्जेक्शन दिया जाय।

ऊर्ध्व बाहु के चारो ओर टूर्नीकेट, रूमाल या अन्य मुलायम डोरी लपेट कर कसी जा सकती है किंतु इस बात का अवश्य ध्यान रखना है कि इनमे गॉठ

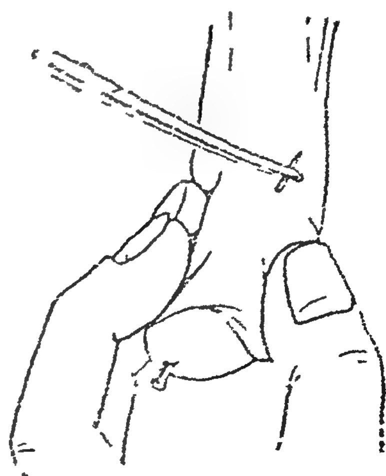
करके दबाए रखा जाता है तथा जिस स्थल पर पिन का शिरा मालूम पड़ता है उस स्थल पर शिश्न को दाये हाथ से थोडा झुकाते और पिन के शिरे को दबाकर उसकी नोक को बाहर निकाल देते हैं। (चित्र ४७) जब शिरे को छोड़कर सम्पूर्ण पिन बाहर निकल चुकती है तो एक दृढ चिमटी से उसको पकड़कर इस प्रकार घुमाया जाता है कि उसका रुख मूत्रनलिका के बाहर की ओर हो जाय। (चित्र ४८) अब दबाव डालने से पिन का शिरा मूत्रमार्ग

चित्र ४७





चित्र ४८



चित्र ४९

मूत्र मार्ग से पिन निकालना

७—इन्जेक्शन देते समय सततः रोगी के चेहरे तथा इन्जेक्शन के स्थान पर दृष्टि रखनी चाहिये। यदि रोगी के चेहरे से किसी विशिष्ट उपद्रव की आशंका हो अथवा औषधि शिरा के बाहर जाती मालूम पडे तो शूची को तत्क्षण निकाल लिया जाना आवश्यक है।

८—शिरा मे औपधि प्रविष्ट करते समय वायु के बुलबुले अन्दर प्रविष्ट न होने पावे यह अच्छा ही है और इसकी सावधानी भी रखनी ही चाहिए अन्यथा यह भी सत्य है कि किसी प्रकार वायु के अन्दर प्रविष्ट हो जाने से भी कोई उपद्रव उत्पन्न होते नही देखे गए।

९—यह एक असंदिग्ध सत्य है कि औषधि की मात्रा की अपेक्षा उसको प्रवेश करने की गति से उपद्रव उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है। अतः औषधि को सदैव धीरे-धीरे प्रविष्ट किया जाना चाहिए ताकि उपद्रव उत्पन्न होने की सम्भावना घट जाय और यही कारण है कि कभी-कभी बिन्दुशः अन्तःक्षेप[1] की विधि को अपनाना आवश्यक होता है।

यथार्थ बात तो यह है कि गति औषधि की प्रकृति, रोगी की हालत एवं घोल की शक्ति के बल पर निर्भर करती है। अति बल लवण जल[2] के अन्तःक्षेप की गति समबल लवणजल[3] के अन्तःक्षेप की गति से कम ही होनी चाहिए।

कुछ बाधाएं एव उनका प्रतिकार—औषधि शिरा के अन्दर ही प्रविष्ट की जाती है, अतः जबतक शिरा पूर्ण रूप से स्पष्ट न हो जाय सुई को प्रविष्ट करने का प्रयत्न करना ठीक नहीं। शिरा को स्पष्ट करने के लिए ऊर्ध्व बाहु को सहायक से दबवाया जा सकता या रूमाल, तौलिया, मुलायम रस्सी या टूर्निकेट से कसा जा सकता है; अग्रबाहु के पूर्व पृष्ठ को ऊपर की ओर मर्दन करने एव कुहनी को दो-चार बार मोड़ने से भी शिरा के स्पष्ट होने मे सहायता मिलती है।

1. Intravenous drip. 2. Hypertonic. 3. Isotonic.

श्वास लिवाना प्रारम्भ करने से पूर्व श्वासावरोध के कारण को अवश्य ही दूर कर देना चाहिए अर्थात् गले में यदि कोई रुकावट है तो उसको हटाना अथवा वक्ष पर के दवाव को दूर कर देना आवश्यक है। यदि रुकावट इस प्रकार की है कि उसको दूर नहीं किया जा सकता तो स्वरयन्त्र छिद्रकरण[1] या श्वास प्रणाली छिद्रकरण[2] शल्यकर्म कर दिया जाना चाहिए तथा इसके बाद भी कृत्रिम श्वास लिवाना प्रारम्भ करने से पूर्व उत्तेजक औषधियाँ इन्जेक्शन द्वारा दे दी जा सकती हैं।

कृत्रिम श्वास की निम्न विधियाँ है—

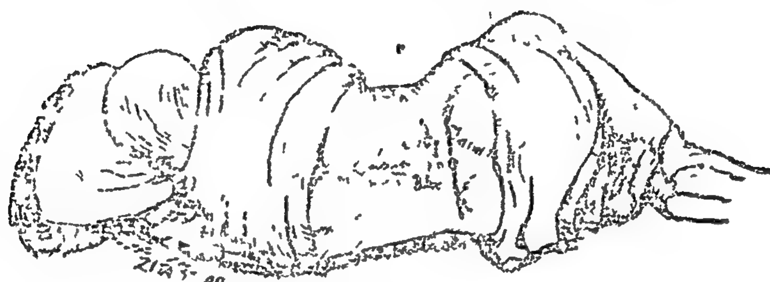
मुख से मुख—मुख से मुख कृत्रिम श्वसन का अर्थ चिकित्सक का अपने मुख द्वारा रोगी के मुख में होकर फूँक कर उसके फुफ्फुसों में वायु पहुँचाना है। आधुनिक युग में कृत्रिम श्वसन की यह सर्वोत्तम विधि समझी जाती है। आशंका यह उठाई जा सकती है कि चिकित्सक के बहिश्वसन की वायु में आक्सीजन की मात्रा कम होने से वह इतनी लाभकर नहीं हो सकती किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव से यह सिद्ध होता जा रहा है कि चार छः बार इस प्रकार वायु प्रवेश से ही रोगी के रक्त में काफी मात्रा में आक्सीजन पहुँच जाती है। विधि सरल तथा हर स्थल पर सम्भव है क्योंकि किसी सामान की आवश्यकता नहीं तथा सुविधापूर्ण है जिसमें तत्क्षण यह पता लग जाता है कि वायु रोगी के फुफ्फुसों में प्रवेश कर रही अथवा नहीं; यदि श्वास मार्ग में रुकावट है तो फूँक से हवा प्रविष्ट हो ही नहीं सकेगी।

मुख से मास्क में होकर या श्वास प्रणाल नलिका[3] में होकर वायु प्रवेश करना भी इसी के अन्तर्गत आता है।

बच्चों के लिए—चिकित्सक सुविधानुसार चित लेटे बालक के पास ही बैठ कर या खडे होकर अपने हाथों से निचले जबडे के दोनों कोणों पर दबाव डाल कर आगे की ओर दबाए रखता है ताकि जिह्वा पीछे की ओर हटकर

1. Laryngotomy 2. Tracheotomy 3. Tracheotomy Tube.

टिंचर आयोडीन का थोडा प्रलेप कर दिया जाता है। कटिवेधन शूची अथवा जिसे ट्रोकार एव केन्यूला भी कह सकते है उचित स्थल पर सामने की ओर किन्तु थोडा ऊपर की ओर रुख रखते हुए सतत: दृढता के साथ प्रविष्ट की जाती है। प्रविष्ट करते समय चर्म, कशेरुकान्तरिक बन्धन तथा थोडा-सा



चित्र १०६—कटिवेध के लिए रोगी का आसन

सुषुम्नावरण द्वारा प्रतिरोध-सा मालूम पडता है जो दृढता के साथ पार कर लिया जाना चाहिए। २½-३ इञ्च के लगभग अन्दर प्रविष्ट होने पर शूची सुषुम्ना मध्यनलिका मे पहुँच जाती है और उसका पहुँचना प्रतिरोध के हट जाने से अनुभव हो जाता है। ट्रोकार को निकाल लिया जाता है तथा स्वच्छ द्रव शूची मे होकर निकलने लगता है। यदि केवल द्रव निकालना है तो द्रव निकाल लिया जाता है तथा दाबमापक को सलग्न करके सुषुम्ना द्रव का दबाव भी नाप लिया जाता है। यदि सुषुम्ना नलिका मे औषधि भी प्रविष्ट करना है तो इसी शूची के साथ औषधि युक्त सिरिंज सबन्धित की जा सकती है अथवा बार्कर का कुण्ठितशीर्ष केन्यूला[1] प्रथम शूची से होकर ही प्रविष्ट कर दिया जाता है तथा उसकी सहायता से सिरिंज द्वारा औषधि अन्दर प्रविष्ट की जाती है। औषधि अन्दर प्रविष्ट करने से पूर्व थोडा द्रव खीच कर यह निश्चय कर लिया जाना चाहिए कि केन्यूला उचित स्थान पर है अथवा नहीं।

कटिवेधन के समय कुछ कठिनाइयाँ सामने आ सकती है। ट्रोकार अस्थि द्वारा रुक जाता है और इसका कारण ट्रोकार का रुख ठीक न होना, कशेरुक दण्ड का भली प्रकार झुका न होना अथवा अस्थि सन्धि शोथ[2] की उपस्थिति

1. Barker's Blunt Ended Canula 2. Osteo arthritis.

सीमा में आगे की ओर निकला रखा जाय तथा इसके साथ ही सिर को पीछे पीठ पर पूर्ण सीमा तक झुकाए रखा जाय। बच्चों की अपेक्षा बड़ों में यह और आवश्यक है क्योंकि मुख एवं नाक दोनों चिकित्सक के मुख द्वारा नहीं ढँके जा सकते इसलिए रोगी के नकुनों को चिकित्सक अपने एक हाथ की उँगली व अँगूठे से बन्द रखे।

किया यह जाता है कि चिकित्सक एक हाथ के अँगूठे को लपेट कर रोगी के मुख में प्रविष्ट कर देता है और इस प्रकार अन्दर की ओर अँगूठे तथा बाहर की ओर उँगलियों से चिबुक (ठोडी–Chin) को पकड़ कर आगे की ओर (लेटी हुई हालत में ऊपर की ओर) उठाये रखता है तथा दूसरे हाथ से नाक को बन्द करने के साथ ही साथ उसके सिर को पीछे पीठ की ओर झुकाये रखता है। चिकित्सक को यह भी ध्यान रखना है कि वह स्वयं अन्तः-श्वसन करने के बाद साँस को रोके नही रहे बल्कि तत्क्षण रोगी के फुफ्फुसों में प्रवेश करे। चिकित्सक को अपने ओठ रोगी के मुँह पर रखते समय यह भी करना पड़ेगा कि उसके स्वयं के अंगूठे के रोगी के मुख मे प्रविष्ट होते हुए भी उसके ओठो से और रोगी के मुख से इस प्रकार का सम्पर्क बना रहे कि वायु इधर-उधर न निकलने पावे बल्कि रोगी के फुफ्फुसो में ही प्रवेश करे।

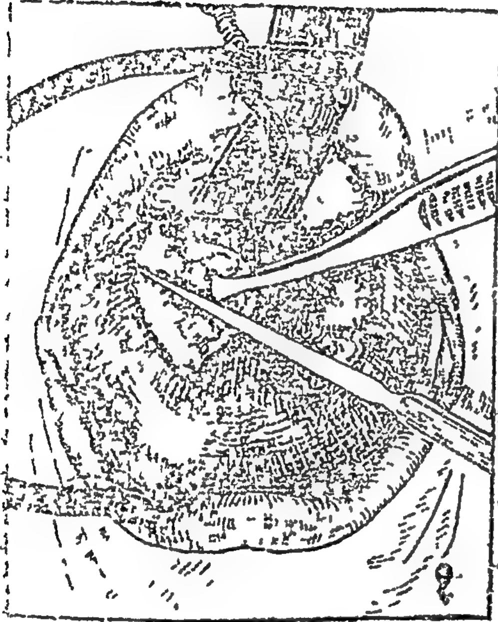
यहाँ एक बात की और आवश्यकता पड़ सकती है कि यदि रोगी फूलता मालूम पड़ता है तो उसको दबाने या दबाये रखने के लिए किसी अन्य व्यक्ति की सहायता ली जाय।

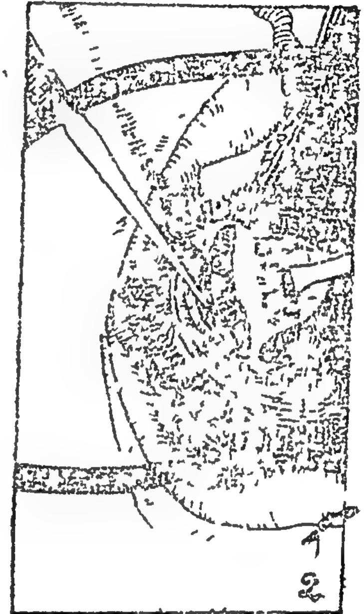
बड़ों मे श्वास अन्दर प्रविष्ट करने की क्रिया एक मिनट मे १५ बार की जानी चाहिए।

यदि इस प्रकार का मास्क मिल सके जिससे रोगी के मुख-नाक को आच्छादित रखा जा सके तो बहुत ही उत्तम है क्योंकि फिर मास्क मे होकर फूंकी जा सकती है। यदि श्वास प्रणाल वेधन शस्त्र-कर्म किया गया है तो प्रविष्ट की गई नलिका मे होकर वायु फूँकी जा सकती है।

कृत्रिम श्वास की इस विधि मे यह अवश्य ध्यान रखना है कि समुचित रूप से उचित शक्ति के साथ वायु अन्दर फूँकनी है तथा रोगी के श्वास मार्ग पर निगाह रखनी है कि उसमें कही रुकावट तो नहीं।

दूसरी ओर की गलतुण्डिका की ओर ध्यान दिया जाता है। दूसरी को भी उपरोक्त विधि से ही निकाला जाता तथा एड्रीनेलीन घोल मे भीगे गौज से भर दिया जाता है। कुछ ही क्षणो पश्चात् जब गौज हटाया जाता है तो दोनों पार्श्व शुष्क दृष्टिगोचर होते है। किंतु यदि किसी प्रकार उपरोक्त साधारण उपायों द्वारा रक्तस्राव बन्द न हो तो खात मे शुद्ध गौज भरकर उसके ऊपर





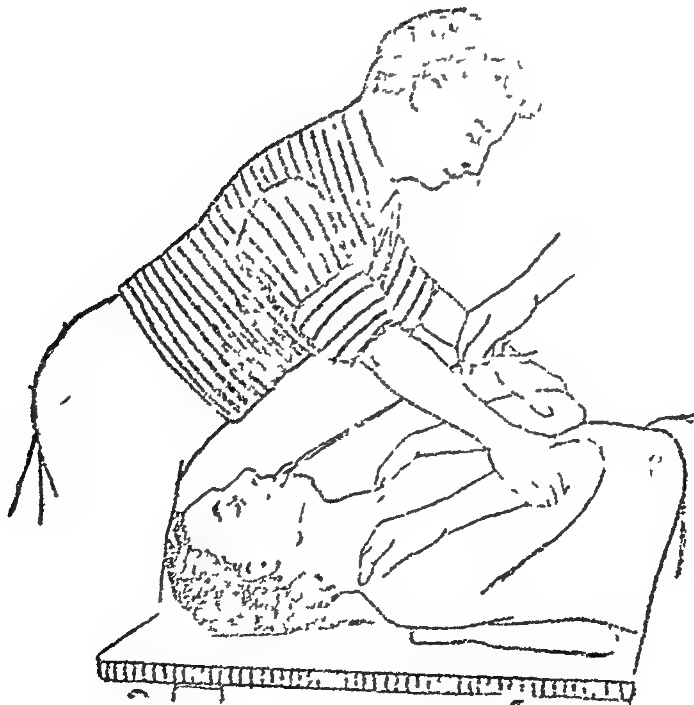




चित्र १०८—गलग्रन्थि छेदन शल्यकर्म

डालता है जिससे रोगी के वक्ष पर दबाव पड़ने से फुफ्फुसों में से वायु बाहर की ओर निकलती है। इस दबाव के हटाते ही वक्षप्रान्त के फैलने से फुफ्फुसों में वायु एवं रक्त का सञ्चार होता है इस प्रकार बार-बार करने से वायु एवं रक्त का सञ्चार होने लग सकता है।

सिल्वस्टर की विधि[1]—रोगी को मेज पर चित् लिटा लिया जाता है तथा उसके कन्धों को थोड़ा उठा रखा जाता है। जिह्वा को डोरे, चिमटी या सेफ्टीपिन से ही पकड़ कर बाहर खींचे रखना चाहिए ताकि वह पीछे की ओर लौटकर गले को अवरुद्ध न कर सके। चिकित्सक मेज के शिरे पर खड़ा होकर रोगी की भुजाओं को कुहनी के पास थोड़ा नीचे की ओर पकड़ता है। अग्रबाहुएँ मोड़ ली जाती हैं तथा बाहुओं को वक्ष के साथ मिलाकर दबाया जाता है। (चित्र ५०) जिससे वक्षप्रांत के दबाने से वायु फुफ्फुसों से



चित्र—५०
सिलवस्टर की विधि—बहिश्वंसन

1. Silvester's Method.

हैं। इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि यूस्टेशियन नलिका के पीछे वाले खात मे स्थित बढ़ी हुई धातु को काटकर अलग कर दिया जाय ताकि अवरोध के हटने से मध्यकर्ण की स्थिति सुधरने लगे। यह भी ध्यान रखना है कि सजाहरण बहुत गहरा होना आवश्यक नही केवल इतना हो कि कास प्रतिवर्त क्रिया नष्ट न होने पावे।

ग्रन्थि का दो-तीन बार मे पूर्ण छेदन हो चुकने पर रोगी को एक करवट करके मुख को नीचे की ओर किसी पात्र की ओर रुख करके लिटा दिया जाता है और साथ ही गले को शुद्ध रुई के प्लोत द्वारा साफ किया जा सकता है। बरफ के पानी से मुख पर छींटे भी दिये जाते हैं ताकि रक्तस्राव के रुकने मे सहायता मिले।

दन्तनिष्कर्षण

दन्तक्षरण, दाँत में पीड़ा, दाँत का हिलना आदि कई ऐसी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं जिनमे दाँत को अलग करने की[1] आवश्यकता पड़ जाया करती है। यह कार्य भी इतना सरल तथा साधारण है कि चिकित्सक ही नही अपितु साधारण व्यक्ति भी इसको करते रहते हैं। दाँत निकालने के लिए विशेष प्रकार की संदश प्रयुक्त की जाती है। यह भी स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के दन्तनिष्कर्षण के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की सदश का ही प्रयोग किया जाता है क्योंकि दाँत की बनावट तथा स्थिति के अनुसार इसमे उपयुक्त वक्रता रहती है। दन्त चिकित्सक के लिए इन सभी सदंशो का रखना आवश्यक है जबकि सामान्य चिकित्सक सभी दाँतो को उखाड़ने के लिए विशेप प्रकार की एक ही सदश रख सकता है।

रोगी को कुर्सी पर बिठा लिया जाता तथा प्रकाश का इस प्रकार प्रबन्ध किया जाता है कि उसके मुख मे अच्छी तरह प्रकाश पडता रहे। मुख खोलने के लिए मुख विस्फारक की सहायता ली जा सकती है किन्तु इसकी आवश्यकता

---

1. Tooth Extraction.

३—जब श्वास प्रकृतितः आती-जाती मालूम पडे तो वक्ष को उसी समय दबाना चाहिए जब वायु बाहर निकल रही हो तथा फैलाना उस समय चाहिए जब वायु अन्दर प्रविष्ट हो रही हो।

४—पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चों में मुँह मे फूँक मारकर फुफ्फुसों को फैलाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

५—प्रत्येक अवस्था में रोगी को गर्म कम्बलो या गर्म पानी की बोतलों की सहायता से गर्म रखा जाना चाहिए।

६—यदि श्वास का आवागमन होता मालूम पडे तो गुदा द्वारा ब्राडी दी जा सकती है, मुख द्वारा कोई भी उत्तेजक औषधि उस समय तक नहीं दी जानी चाहिए जब तक कि रोगी पूर्ण होश में न आ जाय अन्यथा उसके फुफ्फुसो में चले जाने का भय है। इन्जेक्शन द्वारा उत्तेजक औषधि दी जा सकती है।

७—क्लोरोफार्म या कार्बोनिक एसिड द्वारा विषाक्तता की अवस्था मे उपरोक्त विधि से कृत्रिम श्वास लिवाने के साथ ही हृत्प्रदेश पर सेक करना भी लाभकर है।

जीव-जन्तुओ द्वारा काटा जाना—

इस कोटि की दुर्घटनाएँ बहुत छोटे स्वरूप की है और इसीलिए इनका इस स्थल पर वर्णन अयुक्तिसंगत सा प्रतीत होता है फिर भी इस सम्बन्धी रोगी चिकित्सक के पास आते ही हैं, अतः तद्विषयक कुछ विशेष बातो का उल्लेख आवश्यक ही है।

किसी भी जानवर द्वारा काटे जाने पर उत्पन्न क्षत की चिकित्सा अन्य साधारण क्षत की तरह ही की जानी चाहिए किन्तु सफाई का विशेष ध्यान रखना आवश्यक ही है क्योंकि उपसर्ग निश्चित रूप से पहुँच ही जाता है। पागल कुत्ता या गीदड़ द्वारा काटे जाने की अवस्था में रोगी की जीवन रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध आवश्यक है। यदि रोगी काटे जाने के तत्क्षण पश्चात् ही आ जाता है तो क्षत को शीरकाम्ल, सिल्वर नाइट्रेट या कारबोलिक अम्ल द्वारा जला दिया जाना चाहिए। यदि सम्भव हो सके तो क्षत-विक्षत मास को काटकर अलग कर दिया जा सकता तथा व्रण को भी खुरच कर साफ किया जा

उत्पन्न करती तथा पीड़ा मे शान्ति पहुँचाती हैं। इनको स्थानीय पीड़ाहर[1] कहते हैं। इनमें से कुछ आमाशयिक क्षोभ को शान्त कर वमन रोकने के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। मेथोल, क्लोरोब्यूटोल, कैम्फर, हायड्रोसायनिक अम्ल आदि इसी कोटि के पदार्थ हैं।

यथार्थ स्थानीय सज्ञाहर[2] औषधियाँ वे हैं जो स्थानीय सवेदी तन्त्रिकाओं को अवसादित करके सज्ञाहरण करती हैं। इस दृष्टि से कोकेन तथा उसके भिन्न-भिन्न यौगिक प्रयुक्त किये जाते हैं। इनका प्रचार बढ़ गया है तथा इतनी महत्वपूर्ण औषधियाँ प्राप्त हो चुकी हैं कि आजकल बहुत-से शस्त्र-कर्म जो पहले क्लोरोफार्म की सहायता से ही किये जाते थे, अब स्थानीय सज्ञाहरण उत्पन्न करके किए जाने लगे हैं।

स्थानीय सज्ञाहरक पदार्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह शक्तिवान हो जिससे शीघ्र ही अपना प्रभाव डाल सके, क्षोभक न हो, स्थानिक धातुओं का नाश भी न करे जिससे व्रणरोपण में देरी न हो, सार्वदैहिक विषाक्तता भी उसके प्रयोग से उत्पन्न न हो तथा स्थायी हो जिसको उबाल कर शुद्ध किया जा सके। रक्तावरोधक पदार्थ घोल के साथ में मिलाया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न स्थानिक संज्ञाहरक औषधियाँ—

कई भिन्न-भिन्न योग मिलते हैं जिनमे से केवल निम्न दो मुख्य हैं—

प्रोकेन हायड्रोक्लोराइड[3]—इसी को ईथोकेन हायड्रोक्लोराइड, नोवोकेन[4] या केरोकेन[5] कहते हैं। यह रग एव गन्धरहित कणदार चूर्ण होता है जो स्वाद मे थोड़ा तिक्त तथा जिह्वा को सुन्न करने वाला है।

अधिकांश मे स्थानिक संज्ञाहरण के रूप में इसी का प्रयोग होता है। इसका २ प्रतिशत शक्ति का घोल अधिक से अधिक ५० सी० सी०, १ प्रतिशत शक्ति १०० सी० सी० अथवा ½ प्रतिशत घोल २०० सी० सी० तक एक बार मे प्रयुक्त किया जा सकता है अर्थात् कुल मात्रा १ ग्राम से अधिक नहीं होनी

1. Local Anodyne. 2. Anaesthetic 3. Procain Hydrochloride. 4. Novocaine 5. Kerocaine.

पर निर्णय करना होता है क्योंकि सर्प को देखना तो सम्भव ही नहीं। ध्यान रखना है कि यदि दंशित मनुष्य रोता-चिल्लाता हाय-हाय करता और मरने की स्थिति बनाता है तो निश्चित ही वह सविष सर्प द्वारा नहीं काटा गया क्योंकि ये लक्षण सविष सर्पदंश के बिलकुल विपरीत हैं। ये रोगी की मानसिक दुर्बलता, बेचैनी व भय के द्योतक हैं।

सविष सर्पदंश के लक्षण दो रूप मे देखे जा सकते हैं—
(१) स्थानिक एव (२) सार्वदैहिक

स्थानिक—स्थानिक लक्षणों से तात्पर्य दंशस्थान पर उत्पन्न विकृति तथा दूसरे लक्षण हैं। सर्वप्रथम दंश-चिह्न देखना चाहिए। (१) सविष सर्प में प्रायः दो और यदि बगल से काटा है तो एक गहरा छिद्र रूप में चिह्न मिलेगा। इसके विपरीत यदि बहुत-से दाँतों के छोटे-छोटे चिह्न चार पंक्तियों मे मिलते हैं तो निर्विष साप समझना चहिए। (२) चिह्नों के अलावा यदि काटने वाला साँप निर्विष है तो त्वचा के कट जाने से जो लक्षण होते हैं वे ही मिलेंगे किन्तु यदि सविष है तो विष के स्थानिक प्रभाव से उत्पन्न दूसरे लक्षण जलन, पीड़ा, रक्तस्राव, सूजन, सुन्नता तथा हरा-पीला रंग परिवर्तन भी देखने को मिल सकते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि व्याल (Viper) के दंश में इन स्थानिक लक्षणों की अधिकता रहती है जबकि नाग दंश (Colubrine) में सार्वदैहिक लक्षणों की उग्रता रहती है।

सार्वदैहिक—सार्वदैहिक से तात्पर्य शरीर पर विष का प्रभाव पड़ने से उत्पन्न लक्षणों से है। साधारणतया ज्वर, शरीर पर चकत्ते निकलना, खुजली, उत्क्लेश, वमन, सिर मे पीड़ा आदि सामान्य लक्षणो की उत्पत्ति हो सकती है। नाग विष प्रधान रूप से तन्त्रिकातन्त्र पर अपना प्रभाव व्यक्त करता है अतः वर्त्मपात[1], तिर्यक दृष्टि[2], द्विधा दृष्टि[3], भिन्न-भिन्न पेशियों का घात सुन्नता आक्षेप और अन्त मे श्वसनघात के कारण मृत्यु सम्भव है। रस-ज्ञान नष्ट होने से रोगी नीम की पत्ती, मिर्च, कड़वी दवा आदि का स्वाद नहीं अनुभव करता। रक्तचाप का कम होना, नाड़ी की तेजी, तेज घर्घरयुक्त श्वास, तथा अवसाद

1. Ptosis 2. Squint 3. Diplopia.

चर्मांधः इन्जेक्शन द्वारा उत्पन्न संज्ञाहीनता के मुकाबिले में तन्त्रिकावरोध जन्य संज्ञाहीनता की अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं जिसके कारण इसको अपेक्षाकृत अच्छा समझा जाता है यथा—

(१) तन्त्रिका सम्बन्धित सम्पूर्ण क्षेत्र अस्थि, मासपेशी, चर्म आदि संज्ञाहीन हो जाते हैं तथा प्रभाव उतने क्षेत्र तक ही सीमित रहता है।

(२) चर्मांधः इजेक्शन का प्रयोग किसी विद्रधि आदि के लिए सम्भव नहीं जबकि इस विधि का प्रयोग इसके लिए भी किया जा सकता है। केवल आवश्यकता इतनी है कि इंजेक्शन शोथ युक्त स्थान से कुछ दूरी पर दिया जाय।

चर्मांधः इजेक्शन से शस्त्रकर्म का स्थल फूल-सा जाता है, अतः शस्त्रकर्म करने मे थोड़ी बाधा पड़ती है इस प्रकार की स्थिति तंत्रिकावरोध करने पर उत्पन्न नही होती।

तन्त्रिकावरोध करते समय भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि घोल शिरा मे न प्रविष्ट हो जाय।

ध्यान रखना चाहिए कि स्थानिक संज्ञाहरण के साथ ही साथ यदि आवश्यकता पडे तो सार्वदैहिक संज्ञाहरण का भी प्रयोग किया जा सकता है।

स्थानिक सज्ञाहरण के उदाहरण—

स्थानिक संज्ञाहरण का उपयोग कई भिन्न-भिन्न स्थलों पर किया जा सकता है। किन्तु इस स्थल पर केवल ऐसे ही उदाहरण दिये जायेंगे जिनका साधारण चिकित्सक की दृष्टि से विशेष महत्व है। यथा—

चर्मांधः अर्बुद आदि का निकलना—अर्बुद के चारों ओर उससे थोडी दूर चार या अधिक बिन्दु चुने जाते हैं जहाँ पर ½ प्रतिशत शक्ति का घोल चर्म में प्रविष्ट करके विस्फोट[1]-से उत्पन्न कर लिये जाते हैं। यह बहुत ही बारीक १५-२० नम्बर की सुई से किया जाता है। सुई को चर्म के केवल बाहरी पर्त मे चुभाकर लगभग ½ सी० सी० घोल अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है।

1. Wheal.

रक्त-प्रवाह तथा लसीकाप्रवाह रुक जाय ताकि विष का शोषण ही न हो सके। प्रतिविष मिल जाने के बाद ही बन्धन खोला जाना उचित है।

ब–प्रक्षालन—बात छोटी-सी है किन्तु महत्व की कि दंशस्थान को पोटास परमेंगनेट घोल या शुद्ध गर्म-ठण्डे जल से धो दिया जाय ताकि विष के कण जो वहाँ चर्म पर गिरे हो सकते हैं हट जायँ अन्यथा भेदन के समय उनका रक्त में शोषण हो जा सकता है।

स–भेदन—दंशस्थान पर दाँतों के निशान पर ही आगे-पीछे की ओर चर्म की गहराई तक तेज चाकू से गहरी काट कर दी जाती है तथा वहाँ से रक्त प्रवाह को प्रोत्साहन दिया जाता है ताकि विष धुल कर अलग हो जाय। इस समय पोटास परमेंगनेट के घोल से भी सफाई की जा सकती है।

द–आचूषण—स्तन्यचूषक[1], तुमड़ी, सिंगी या किसी साहसी व्यक्ति द्वारा मुख से ही चूषण करके विष निकाला जाता है। मुख द्वारा चूषण के सम्बन्ध में ध्यान यह रखना है कि मुख में कोई घाव न हो, घृत, तैल से प्रथम कुल्ला कर लिया जाय तथा चूषण द्वारा आये रक्त को थूक दिया जाय। यह कार्य प्रति घण्टे १०-१५ मिनट १० घण्टे तक किया जा सकता है।

य–अभ्युच्छेदन—अँगुली आदि के दंश में यह किया जा सकता है कि उसको काटकर ही पृथक् कर दिया जाय।

र–शीत प्रयोग—दंशस्थान पर बरफ या बहुत ठंडे पानी का ही १२ घण्टे तक प्रयोग किया जा सकता है जिससे जलन व पीड़ा में थोड़ी कमी अति विष प्रभाव में भी बाधा पड़ती है।

चिकित्सा व्यवस्था—प्राथमिक चिकित्सा में कुछ भी समय न गँवाकर शीघ्र से शीघ्र रोगी को डाक्टर के पास ले आना है। चिकित्सा का उद्देश्य विषका शोषण रोकना, शोषित विष को निर्विष करना तथा लक्षण जैसे भी उत्पन्न हों उनका प्रबन्ध करना है।

शोषण रोकने के उद्देश्य से प्राथमिक चिकित्सा के रूप में उठाये गये कदमों पर दृष्टिपात कर लेना है और यदि कहीं कमी रह गई है तो उसकी पूर्ति करा देना है। यह भी हो सकता है कि प्राथमिक चिकित्सा के रूप में कुछ भी न किया गया हो, वहाँ डाक्टर को आवश्यकतानुसार सब कुछ व्यवस्था करनी है।

६—सार्वदैहिक लक्षण—ऊपर की ओर से विषाक्त पदार्थों के शरीर मे शोषित होते रहने के कारण प्रायः ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण भी मिलते हैं।

७—कोथ के मूल उत्पादक रोग के लक्षणों का मिलना भी निश्चित रूप से सम्भव है।

विकृति की प्रकृति के अनुसार कोथ के दो प्रकार है यथा—

शुष्क कोथ[1]—इस प्रकार की स्थिति उस अवस्था मे उत्पन्न होती है जब कोथ से पूर्व अग का द्रवाश किसी रोग के कारण नष्ट हो चुका हो। इसमें अग को आने वाली धमनी का मार्ग धीरे-धीरे अवरुद्ध होता जाता है। पीड़ित अग शुष्क हो जाता, चर्म मे सिकुड़न पड़ने लगती तथा उसका रग काला या गहरा बादामी हो जाता है। चर्म के अक्षत होने के कारण वहाँ जीवाणु प्रवेश नही पा सकते और यदि प्रविष्ट हो भी जायँ तो आर्द्रता के अभाव मे उनकी वृद्धि सम्भव नही। यही कारण है कि शुष्क कोथ की अवस्था मे ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण नहीं देखे जाते तथा कोथ के कारण रोगी का जीवन तत्काल सकट मे भी नहीं होता है। रोग की वृद्धि धीरे-धीरे होती है तथा पीड़ित अंग से दुर्गन्धि भी नही आती। कुछ समय पश्चात् मृतक तथा स्वस्थ भाग के मध्य में विरोहण ऊतक की उत्पत्ति होने लगती है और दोनों भागो के बीच का यह भाग स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

आर्द्र कोथ[2]—इसकी उत्पत्ति उस अवस्था मे होती है जब अग मे आर्द्रता रहती है, अतः आर्द्र कोथ की उत्पत्ति के मूल मे धमनी अवरोध के साथ ही साथ शिरा का भी अवरोध होता है। आर्द्र कोथ (१) जीवाणु रहित या (२) जीवाणु युक्त हो सकता है यद्यपि जीवाणु रहित कोथ बहुत ही कम देखा जाता है। जीवाणु रहित कोथ की अवस्था मे अग का आकार वही रहता है जो कोथ की उत्पत्ति से पूर्व था केवल उसका रग नीला, हरा या श्वेत पड़ने लगता है। जीवाणु युक्त कोथ की अवस्था मे अंग सूज जाता, स्थानिक

1. Dry Gangrene. 2. Moist Gangrene.

दशम-अध्याय

रक्तस्राव

रक्तस्राव एक ऐसी अवस्था है जिसकी चिकित्सा का प्रत्येक चिकित्सक को ही अवसर मिला करता है। यह बहुत ही क्षणिक तथा अल्प भी हो सकता है जबकि बिना विशेष चिकित्सा के ही ठीक हो जाय तथा बहुत समय तक और इतनी अधिक मात्रा मे भी हो सकता है कि रोगी के जीवन को ही संकट मे डाल दे। चर्म के कट जाने पर बाहर की ओर होने वाले रक्तस्राव को बाह्य रक्तस्राव[1] तथा शरीर के किसी अन्य स्थान पर होने वाले अदृश्य रक्तस्राव को आन्तरिक रक्तस्राव[2] कहा जाता है। शरीर की ऊतकों मे ही सञ्चित सीमित रक्तस्राव को रक्त परिस्रवण[3] कहते हैं जो यदि बहुत ही अल्प मात्रा मे बिन्दुओं के रूप मे चर्म या श्लेष्मलकला के ही नीचे होता है तो अवत्वक् या चर्माधः रुधिर चिह्न[4] कहलाता है। मुख मार्ग से वमन के साथ आमाशय से आने वाला रक्त रक्तवमन[5] तथा कफ के साथ फुफ्फुसो से आने वाले रक्त को रक्तष्ठीवन[6] कहते हैं। मूत्र के साथ मे आने वाले रक्तस्राव को रक्तमेह[7] तथा मल के साथ बदली हुई अवस्था मे आने वाले रक्त को रुधिरज कालामल[8] कहा जा सकता है।

स्पष्ट है कि रक्त रक्तनलिकाओं से ही उनमे किसी कारण छिद्र हो जाने पर निकल सकता है और इस प्रकार रक्त नलिका-धमनी, शिरा या केशिका—के अनुसार रक्तस्राव भी निम्न तीन प्रकार का होता है—

---

1. External Haemorrhage 2. Internal Haemorrhage 3. Extravasation 4. Petechial 5. Haematemesis 6. Haemoptysis 7. Haematuria 8. Melaena.

चिकित्सा—शीत द्वारा प्रभावित अंग को एकदम नही बल्कि धीरे-धीरे उष्णता प्राप्त करने देना चाहिए ताकि रक्त नलिकाएँ भी शक्ति प्राप्त करती जायँ। हलकी मालिश द्वारा शीत प्रभावित अग मे रक्तप्रभाव तथा चेतनाशक्ति लौटाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

यदि कोथ की उत्पत्ति हो चुकी है तो अग को जीवाणुहीन शुद्ध रखना चाहिए उस समय तक जब कि मृत भाग अलग होकर रोपण न हो जाय।

(४) तीव्रशोथ—तीव्र शोथ के कारण कोथ की उत्पत्ति उन अगों मे होती है जो अधिक दृढ़ तथा घने होते हैं तथा जहाँ पर शोथ जन्य द्रव इतना दबाव डालता है कि स्थानिक रक्त-नलिकाएँ तक रुक जाती है। इस प्रकार की स्थिति अगुलियों के कण्डरावण शोथ या अस्थिमज्जा शोथ की अवस्था मे होती है जब कि सम्बन्धित अस्थि गलने लगती है।

चिकित्सा—पैनिसिलिन, टैट्रासाइक्लीन आदि प्रतिजीवी योग एव सल्फा औषधियो आदि के प्रयोग के अलावा यह भी आवश्यक है कि शोथयुक्त भाग से दबाव कम करने के लिए गहरे लम्बे छेदन किए जायें। शेष चिकित्सा स्थिति के अनुसार की जानी चाहिए।

(५ व ६) दाहन रासायनिक पदार्थ क्ष-किरण या रेडियम के अनावश्यक रूप से अधिक समय तक सम्पर्क मे आने वाली ऊतकों की मृत्यु निश्चित है। मृत ऊतकों को काटकर अलग कर देना या शनैः शनैः स्वतः अलग हो जाने देना तथा जीवाणुहीनता का पूर्ण ध्यान रखते हुए उचित रूप से व्रणोपचार ही उचित चिकित्सा है।

अप्रत्यक्ष कोथ—

(१) सार्वदैहिक रोग जन्य कोथ—मधुमेह या इक्षुमेह—मधुमेही मे तीन प्रधान कारण होते है जिनसे कोथ की उत्पत्ति मे सहायता मिलती है। (१) रोगी की प्रतिरोध शक्ति का ह्रास (२) दूरस्थ तन्त्रिका शोथ[1] तथा (३) अन्तर्धमनी शोथ[2]। कोथ का प्रारम्भ सदैव किसी क्षत की उत्पत्ति के

1 Peripheral Neuritis. 2. Endarteritis.

ही है, अतः उसी स्थल पर इसकी ओर संकेत भी किया जायगा। आघात के कारण होने वाला प्रत्येक धमनी रक्तस्राव प्राथमिक ही होता है।

लक्षण—रक्तस्राव के कोई विशेष स्थानिक लक्षण नहीं तथा सार्वदैहिक लक्षणों की तीव्रता एवं भयकरता रक्तस्राव की मात्रा पर निर्भर करती है। ये सार्वदैहिक लक्षण निम्न रूप के होते हैं—

१—चेहरा पाण्डु वर्ण[1] हो जाता है विशेषकर श्लेष्मलकला।

२—नाडी अधिकाधिक क्षीण दुर्बल तथा तेज होती जाती है।

३—श्वसन तेजी के साथ निश्वास के रूप मे होता है जिससे रोगी की वायु क्षुधा[2] की अवस्था स्पष्ट विदित होती है।

४—तापमान कम होता है, बहुत पसीना आता है तथा शरीर ठडा पड़ जाता है।

५—रक्तदाव[3] सततः गिरता जाता है।

६—रोगी बेचैन होता है, मुख, गला, ओष्ठ शुष्क होते हैं तथा तीव्र प्यास होती है।

७—आँखों के सामने अन्धेरा मालूम पडता है तथा दृष्टि कम होती जाती है और इसके साथ ही कानो मे आवाज मालूम पड़ती है।

८—सक्षेप मे स्तब्धता के सभी लक्षण होते हैं और जब तक रक्तस्राव बन्द नहीं हो जाता रोगी की शक्तियाँ क्रमशः क्षीण होती जाकर मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—इसके प्रधानतः दो ही रूप हैं यथा-रक्तावरोध तथा सार्वदैहिक चिकित्सा[4]।

रक्तावरोध—प्राकृतिक—प्रकृति का स्वतः यह प्रयत्न रहता है कि रक्तस्राव बन्द होकर रोगी की जीवन रक्षा हो इसके लिए (१) धमनी का मध्य स्तर[5] सकुचित होता और (२) मध्य स्तर एव अन्तस्तर के पीछे की ओर

1. Pallor. 2. Air Hunger. 3. Blood-Pressure. 4. General treatment. 5. Middle Coat.

(ब) **रक्तनलिका अवरोध जन्य कोथ**—इस प्रकार के कोथ की उत्पत्ति रक्त नलिकाओ के भिन्न-भिन्न कारणों से अवरुद्ध हो जाने पर हो जाया करती है जैसे (अ) बन्धन, कडी पट्टी या अस्थि भग्न की अवस्था मे भग्न अस्थि के किनारो द्वारा रक्तनलिकाओं पर दबाव पडना अथवा (ब) रक्तनलिकाओ की दीवाल का फट जाना जैसा कि अस्थिच्युति के समय हो सकता है या (स) अन्तःशल्यता के कारण रक्तनालिका का रुक जाना। प्रथम दो अवस्थाओं मे धमनी के साथ ही साथ शिरा का मार्ग भी अवरुद्ध हो जा सकता है, अतः अग काला तथा शोथयुक्त हो जाता है। केवल धमनी का अवरोध होने पर जैसा कि तृतीय अवस्था मे सम्भव है, अग प्रथम श्वेत पीला-सा पडता है और बाद मे काला-सा पडता है। जब अन्तःशल्यता उत्पन्न होती है तो शल्य के स्थान पर तीव्र पीडा होती है तथा बाद मे शल्य के ऊपर की ओर धमनी मे रक्त जम जाता है। अन्तःशल्यता की उत्पत्ति प्रायः ऐसे स्थान पर होती है जहाँ धमनी दो शाखाओं मे विभाजित हो रही हो।

इन उपरोक्त सभी अवस्थाओ मे यदि समपार्श्वी रक्तसचालन[1] प्रारम्भ हो जाता है तो कोथ की उत्पत्ति रुक जा सकती है किन्तु अन्तःशल्यता की अवस्था मे प्रायः होता यह है कि हृदन्त शोथ[2] के कारण अन्तःशल्यता की उत्पत्ति होती है इसके अलावा मूल रोग के कारण रोगी बहुत दुर्बल हो चुका होता है, अतः प्रायः कोथ शीघ्र उत्पन्न हो जाता है कोथ ऊपर की ओर बढ़ता जाता है वहाँ तक जहाँ अग को जीवित रखने के लिए रक्तसञ्चार पर्याप्त मात्रा मे हो और ऐसा किसी सन्धि के पास होता है।

चिकित्सा—सामान्य चिकित्सा के अलावा अगोच्छेदन का प्रश्न आता है अगोच्छेदन। करने के पूर्व समपार्श्वी रक्तसचालन को उत्पन्न होने का अवसर दिया जाना चाहिए और इस बीच मे पूर्ण जीवाणुहीनता का ध्यान रखते हुए गर्म, आराम से तथा थोडा उठा हुआ रखा जाता है। यदि २४ घण्टे के अन्दर-अन्दर सुधार के लक्षण दृष्टिगोचर नही होते तो कोथ की प्रत्यक्ष

1. Collateral Circulation 2. Endocarditis

जब तक इस प्रकार प्रबन्ध किया जा रहा है किन्तु आशंका यह है कि इतने से रक्तस्राव रुक न सकेगा तो सहायक भारबिन्दु पर दबाव डालने या टूर्नीकेि[1] अर्थात् यन्त्रण रज्जु लगाने का प्रबन्ध करना है।

२—भारबिन्दु पर दबाव—भारबिन्दु[2] से तात्पर्य उन स्थलों से है जहाँ पर कि धमनी को उसके नीचे स्थित अस्थि के सहारे दबाया जा सके। यह स्पष्ट है कि धमनी के दबाने से आगे के भाग का रक्त प्रवाह रुक जायगा। कहने मे यह विधि बहुत ही सरल व सुन्दर प्रतीत होती है किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से यह बिल्कुल व्यर्थ सिद्ध हुई अतः इसका कोई महत्व नहीं रह गया। इसीलिए इसका विशद वर्णन भी यहाँ आवश्यक नहीं। केवल दो भारबिन्दु हैं जो कुछ महत्व के हैं; उनकी ओर ही यहाँ संकेत कर दिया जाना है।

ग्रीवा व सिर से होने वाला रक्तस्राव—इसके लिए कैरोटिड धमनी[3] को छठवे ग्रैवेयक कशेरुका के अनुप्रस्थ प्रवर्ध[4] के सहारे दबाया जाता है। यह स्थल ग्रीवा मे बाईं ओर उरोस्थि जत्रुक[5] सन्धि से लगभग १½ इंच (३·८ से० मी०) ऊपर है। दबाव अन्दर तथा पीछे की ओर डालना चाहिए।

निम्न शाखा से होने वाला रक्तस्राव—इसके लिए औदरिक महाधमनी[6] को दबाना पड़ता है। बच्चों तथा दुबले-पतले व्यक्तियों विशेषकर स्त्रियों मे नाभि के पास ही उदर को दबाने पर महाधमनी की धडकन को अनुभव किया जा सकता है। दबाव इसी स्थल पर उँगलियों या मुष्टिका की सहायता से डालना चाहिए।

३. यन्त्रण रज्जु अथवा टूर्नीकेट—से तात्पर्य उस बाँधे जाने वाली रस्सी आदि से है जो रक्तस्राव के स्थान से थोड़ा ऊपर हृदय की ओर बाँधी जाने पर रक्तस्राव को रोकने में सहायक होती है। टूर्नीकेट कई प्रकार की आती हैं किन्तु आवश्यकता के समय रूमाल, धोती की किनारी, टाइ आदि किसी का भी इस उद्देश्य से प्रयोग किया जा सकता है। धमनी के ऊपर रुई कपडे वगैरह की छोटी गद्दी बनाकर रख दी जाती है। इस गद्दी के ऊपर

1. Tourniquet 2. Pressure point 3. Common Carotid. 4. Transverse process 5. Sterno-clavicular. 6. Aorta.

धातुएँ अधिक क्षत-विक्षत हो गई हो तथा बाह्य पदार्थ कपडे आदि के टुकडे अन्दर प्रविष्ट कर गए हों।

लक्षणो को दृष्टि से सामान्यतः इसके तीन प्रकार किए जाते है यथा
(१) स्थानिक-जिनमे केवल स्थल विशेष की कुछ पेशियाँ प्रभावित होती है।
(२) विस्तृत[1] जिसमे अंग का पूरा भाग का भाग प्रभावित होता है तथा
(३) स्फूर्जक प्रकार[2]।

स्थानिक--अग शोथयुक्त तथा चर्मशुष्क एवं मटमैले रग का होता है। गैस को उपस्थिति के कारण आस-पास की धातुओं को दबाने से कर-कर ध्वनि होती है। चर्म की अपेक्षा पेशियो मे अधिक तेजी से परिवर्तन होता है। पहले वे शुष्क तथा मटमैले लाल रंग की होती है किन्तु बाद मे काले रग की आर्द्र तथा दुर्गन्धियुक्त हो जाती है। चर्म पर काले-काले से विस्फोट उत्पन्न हो सकते हैं जिनमे दुर्गन्धियुक्त द्रव भरा रहता है।

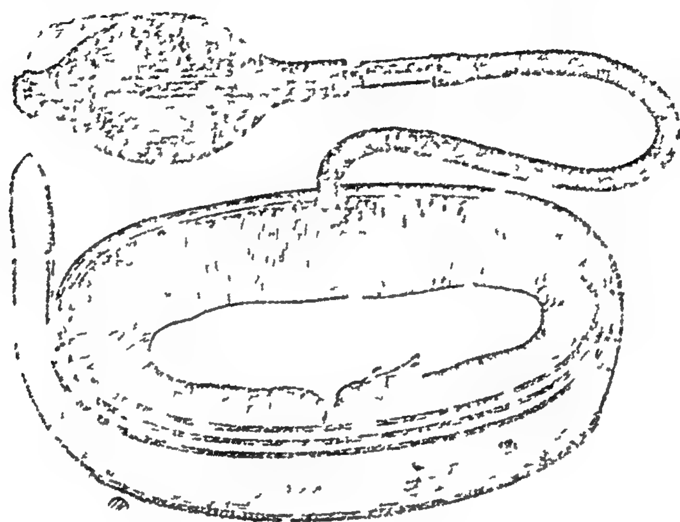
विस्तृत--अग की प्रधान रक्तनलिकाओं को भी आघात पहुँच जाता है तथा कोथ के सामान्य लक्षणो के अतिरिक्त अग फूला हुआ-सा एव डिमडिमध्वनियुक्त[3] होता है।

स्फूर्जक प्रकार--अगच्छेद करने पर भी रोग मे बढने की प्रवृत्ति रहती है तथा रोगी के सामान्य लक्षण अधिक तीव्र होते है। प्राय• मृत्यु हो जाती है।

प्रतिषेध--किसी भी ऐसे आघात के पश्चात् जिससे अग को अधिक क्षति पहुँची हो तथा गन्दगी के प्रवेश का भय हो, निम्न बातो का ध्यान रखना है (१) क्षत-विक्षत धातुओ को काट कर अलग कर देना (२) निकास का समुचित प्रबन्ध (३) एण्टीगैस गैंग्रीन सिरस[4] का चर्माधः या पेश्यन्तर्गत इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग (४) प्रतिषेध के रूप मे ही सल्फा ओषधियो एव पेनिसिलिन आदि का भी प्रयोग।

1. Diffuse Type 2. Fulminating Type 3. Crepitate. Tympanitic. 4. Anti gasgangrene Serum.

वायु युक्त टूर्नीकिट (चित्र ५५) लगाने में सरल तथा मुलायम होने के कारण अधिक उपयुक्त पड़ती है तथा इसके द्वारा पड़ने वाला दबाव सभी क्षेत्र पर समान रूप से पड़ता है। इसको लगाते समय इस बात का अवश्य



चित्र ५५

वायु युक्त टूर्नीकिट

ध्यान रखना चाहिए कि शीघ्रता के साथ एकदम फुला दिया जाय क्योंकि यदि धीरे-धीरे फुलाया जाता है तो प्रथम शिराओं पर दबाव पड़ने से रक्तस्राव अधिक हो सकता है।

शस्त्र-कर्म में टूर्नीकिट का प्रयोग—शाखाओं पर शस्त्र-कर्म करते समय शस्त्र कर्म के क्षेत्र को रक्तहीन बनाए रखने के लिए टूर्नीकिट का प्रयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से एसमार्क की विधि अधिक उपयुक्त पड़ती है। जिस अंग पर शस्त्र-कर्म किया जाना है उसपर उँगलियों से लेकर शस्त्र-कर्म के स्थान से थोड़ा ऊपर तक रबर की पट्टी लपेटी जाती है। ऊपर के सिरे पर इस पट्टी के एक के ऊपर एक इस प्रकार दो-तीन लपेट लगा दिये जाते हैं तथा पट्टी को स्थिर कर दिया जाता है। इसके पश्चात् नीचे की ओर से शस्त्र-कर्म के स्थान तक की पट्टी हटा दी जाती है। पट्टी हटाने पर अंग रक्तहीन मालूम पड़ता है तथा शस्त्र-कर्म किया जा सकता है। विद्रधि होने की

(६) विक्षेपण[1] की सम्भावना नही पाई जाती अर्थात् अर्बुद जिस स्थान पर है वही बढता रह सकता है, यह सम्भव नही कि दूरस्थ अगो मे भी उसका प्रारम्भ हो जाय।

(७) लसीकावाहिनियों पर कोई प्रभाव नहीं पडता।

(८) इनकी सूक्ष्म रचना शरीर की निकटस्थ प्राकृतिक धातुओ की रचना से मिलती-जुलती है।

(९) व्रणोत्पत्ति या रक्तस्राव की सम्भावना नही। दबाव या अतिशय वृद्धि के कारण यदि चर्म क्षत हो जाय तो व्रणोत्पत्ति अवश्य सम्भव है।

दुर्दम अर्बुद—उपरोक्त के विरुद्ध इनकी निम्न विशेपताएँ देखी जाती है—

(१) प्रधान अर्बुद प्रायः एक हा होता है। अधिक समय तक चिकित्सा न करने से विक्षेपण द्वारा अन्य अगो मे भी उत्पत्ति सम्भव है।

(२) विशिष्ट कोष द्वारा परिवेष्ठित नही होते तथा आस-पास की धातुओ को आक्रान्त करते है।

(३) वृद्धि बडी तेजी के साथ होती है।

(४) छेदन के पश्चात् पुनरुत्पत्ति की प्रायः सम्भावना रहती है।

(५) प्रत्यक्ष अर्बुद द्वारा जीवन को खतरा है-इनमे एक विशेष प्रकार का विष उत्पन्न होकर शरीर मे व्याप्त होता रहता है जिससे रोगी कृश, रक्ताल्प होता है और इस प्रकार यदि दुर्दम अर्बुद को नही ठीक किया जाता तो मृत्यु अनिवार्य है।

(६) विक्षेपण की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है।

(७) निकटस्थ लसीका ग्रन्थियों पर इनका प्रभाव पड़ता है।

(८) इनकी सूक्ष्म रचना शरीर की निकटस्थ प्राकृतिक ऊतको की रचना से बिलकुल भिन्न होती है।

---

1. Metastasis.

यदि मार्ग लम्बा हो तो साथ जाने वालों को यह भी समझा देना है कि वे समय पर टूर्नीकेट ढीली करके देख लें कि रक्तस्राव तो नहीं हो रहा है यदि नहीं होता हो तो टूर्नीकेट को हटा दें अन्यथा फिर उसको ठीक प्रकार कड़ी कर दें।

व - शस्त्र कर्म के पश्चात् टूर्नीकेट हटाने की जिम्मेदारी उसी पर रहती है जिसने उसको लगाया है फिर भी टूर्नीकेट को लगाने के साथ ही साथ आपरेशन टेबिल से बाँधा जा सकता है ताकि रोगी को वहाँ से हटाते समय उसकी ओर ध्यान पहुँच जाय।

३. रक्तस्राव के स्थान पर सीधा अथवा भारबिन्दु पर उँगलियों से दबाव डालकर या यन्त्रण रज्जु के प्रयोग से रक्तस्राव को रोकना रक्तावरोध की अस्थाई विधि है। यह है कि इस प्रकार थोड़े समय के लिए रक्तावरोध होने के साथ ही रक्त स्राव के स्थान पर रक्तस्कन्दन होकर स्थाई रूप से रक्तावरोध हो जाय किन्तु इस प्रकार की सदैव ही आशा करना ठीक नहीं। इसलिए आवश्यक यह है कि रक्तस्राव के स्थान की पूर्ण परीक्षा कर ली जाय और यदि कोई धमनी कट गई मालूम पड़े तो धमनी को दशा में उसको दबाकर, मरोड़कर या कैटगट का बन्धन लगाकर स्थाई रूप से रक्तावरोध कर दिया जाना चाहिए। क्षत पर पट्टी बाँधने से पहले ही यन्त्रण रज्जु को हटाकर देख लेना चाहिए, कि क्षत में से रक्तस्राव तो नहीं हो रहा है। यदि हो रहा हो तो उसका उचित प्रबन्ध किया जाना आवश्यक है।

४. अपस्फीत शिराओं में होनेवाले रक्तस्राव के लिए क्षत के ऊपर अथवा नीचे दोनों ओर यन्त्रण रज्जु का प्रयोग किया जा सकता है।

५. निम्न शाखा में जानुसन्धि से नीचे तथा उच्चशाखा में अग्रबाहु पर टूर्नीकेट लगाना व्यर्थ है क्योंकि इस स्थल पर धमनियाँ दोनों अस्थियों के बीच में रहती हैं।

४. **शिराओं से होनेवाला रक्तस्राव**—सर्वप्रथम क्षत स्थान तथा हृदय के बीच में यदि कोई बन्धन हो तो उसको दूर कर लिया जाना चाहिए। अगर

चिकित्सा—शस्त्रकर्म द्वारा कोष सहित अर्बुद को निकाल देना ही प्रधान चिकित्सा है। कोष के स्पष्ट न होने के कारण यदि यह सम्भव न हो तो आस-पास की अस्थि के कुछ भाग को भी छील कर साफ किया जाना चाहिए। अँगुलियों मे कई अर्बुद होने पर इस सन्देह की अवस्था मे कि कहीं वे दुर्दम रूप न धारण कर लें, अगच्छेद किया जा सकता है।

अस्थ्यर्बुद[1]—अस्थि द्वारा निर्मित अर्बुद अस्थि से सम्बन्धित ही उत्पन्न होते हैं तथा दो प्रकार के होते हैं (१) सुषिर[2] एवं (२) संहत[3]। प्रथम प्रकार का अस्थि-अर्बुद लम्बी अस्थियों विशेष कर ऊर्वस्थि एवं बहि प्रकोष्ठास्थि[4] के सिरों पर पाया जाता है जहाँ पर कि वह एक उत्सेध के रूप मे निकला रहता है। अर्बुद के ऊपर स्वच्छकार्टिलेज[5] का स्तर चढ़ा रहता है तथा कभी-कभी इसका आकार बहुत चढ जाता है। वृद्धि धीरे-धीरे होती है तथा उसी समय तक होती है जब तक कि उपस्थिति एव वृद्धि बाल्यकाल एवं प्रारंभिक युवावस्था मे ही संभव है। किसी प्रकार की पीड़ा नही होती किन्तु तन्त्रिका पर दबाव पड़ने से पीड़ा अवश्य सम्भव है।

सहत प्रकार का अस्थ्यर्बुद बहुत घनी अस्थि का बना होता है तथा प्रायः नेत्रगुहा[6], कर्णपश्चादास्थि[7], बाह्य कर्णकुहर[8], ललाट विवर[9], अधोहन्वस्थि[10] का कोण आदि स्थानों पर पाया जाता है। जिस स्थान पर भी अर्बुद स्थित होता है उस स्थल पर दबाव पड़ने के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के लक्षण उत्पन्न होने लगना स्वाभाविक है।

अस्थ्यर्बुद की एक मात्र चिकित्सा छेदन द्वारा उसको काटकर अलग कर देना है।

मज्जार्बुद[11]—इसकी उत्पत्ति का प्रारम्भ अस्थिमज्जा से होता है तथा

---

1. Osteoma 2. Cancellous 3. Compact or Ivory 4. Radius. 5. Hyaline Cartilage 6. Orbit 7. Mastoid 8. External meatus 9. Frontal sinus 10. Mandible 11. Myeloma.

३—सर्पविष—इस दृष्टि से व्याल सर्प[1] का विष प्रयुक्त किया जाता है। विष लवणजल में घोलकर लगाया जाता है। हीमोफार्यालिया[2] नामक रोग में इसका प्रयोग महत्व का है। लिखने की आवश्यकता नहीं है कि मात्रा बहुत अल्प होनी चाहिए अन्यथा विष का रक्त में शोषण होकर सर्पदंश के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

हीमोप्लास्टिन, हॉर्स सीरम, कैल्शियम, कागोरैड, विटामिन के०, क्लौडिन आदि का भी हर प्रकार के रक्तस्राव में इंजेक्शन द्वारा प्रयोग किया जाता है और उससे बहुत लाभ होता है।

रक्तस्राव की सार्वदैहिक चिकित्सा—

ऊपर रक्तस्राव की अवस्था में रक्तावरोधक के लिए आवश्यक चिकित्सा का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही साथ रक्तस्राव जन्य दुर्वस्था के लिए सार्वदैहिक चिकित्सा की भी नितान्त आवश्यकता है। आन्तरिक रक्तस्राव होने पर जहाँ स्थानिक चिकित्सा सम्भव नहीं, इन्हीं उपायों का अवलम्बन किया जाना चाहिए। सार्वदैहिक चिकित्सा का निम्न रूप हो सकता है।

१ रोगी को पूर्ण आराम की स्थिति में लिटा दें और यदि रक्तस्राव अधिक मात्रा में हुआ या हो रहा है तो चारपाई का सिर की ओर का भाग नीचा कर दिया जाना चाहिए ताकि मस्तिष्क की ओर रक्त का प्रवाह पूर्ण मात्रा में होता रहे। उच्च तथा निम्न शाखाओं पर उँगलियों की ओर से ऊपर को पट्टियाँ बाँधी जा सकती हैं।

२. यदि रोगी भयभीत तथा चिन्तित है तो प्रभावपूर्ण शब्दों से उसको शान्ति दी जानी चाहिए। यह केवल इसलिए नहीं कि मानसिक दृष्टि से रोगी को शान्ति मिले बल्कि ध्यान रखना है कि भय एवं चिन्ता के कारण रक्तस्राव को उत्तेजना न मिल सके।

३ रोगी को शान्त करने की दृष्टि से मोर्फीन का $\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ ग्रेन की मात्रा में

---

1. Viper 2 Haemophilia.

मात्रा बहुत अधिक रहती है जिसके कारण कभी-कभी इनमे स्पन्दन भी अनुभव होता है। किन्तु रक्त-सचार के लिए अर्बुद के अन्तर्गत विशिष्ट रक्त नलिकाये नही होती बल्कि अर्बुद के अन्दर खुले हुए स्थान रहते हैं जो केवल अन्तर्कला से वेष्ठित होते है। आस-पास की धमनी एव शिराये भी विस्फारित हो सकती है। रक्त-सचार की अधिकता के कारण इस कोटि के अर्बुदो से रक्तस्राव की बहुत सम्भावना रहती है। रक्त के लिए इन अवकाश स्थानो का सीधा सम्बन्ध शिराओ से रहता है और यही कारण है कि दुर्दम अर्बुद कोशिकाओ का रक्तमार्ग से विपेक्षण आसानी से हो सकता है अर्थात् कोशिकाये या छोटे छोटे भाग अबुर्द से अलग होकर रक्तमार्ग से दूरस्थ अगो मे पहुँच कर वहाँ गौण वृद्धियाँ प्रारम्भ कर देते है। इस प्रकार की वृद्धियाँ फुफ्फुसों मे ही प्रायः अधिक पाई जाती है किन्तु यदि मूल अर्बुद उदरस्थ रक्तसचार[1] से सीधा सम्बन्धित है, तो गौण वृद्धि का प्रथम प्रारम्भ यकृत मे ही होता है। अबुर्द का कभी कभी लसीका वाहिनियो द्वारा भी प्रसरण होते देखा गया है।

अबुर्द का रग रक्तसचार की न्यूनाधिकता के अनुसार हलके भूरे से लेकर गहरा लाल तक हो सकता है। रक्त सचार जितना ही अधिक होगा अर्बुद उतना ही अधिक दुर्दम तथा विक्षेपणशील समझा जाना चाहिए और इस प्रकार दुर्दमता एव विपेक्षण की शक्ति के अनुसार इनमे बहुत कुछ भिन्नता पाई जाती है। जिन अबुर्दो मे तन्तुऊतक अथवा कोशिकान्तरिक वस्तु की अधिकता होती है वे प्रायः कठिन होते तथा उनकी वृद्धि धीमी एव दुर्दमता भी कम होती है। इसके विरुद्ध कोमल प्रकार के अबुर्द शीघ्र बढते, उनमे विस्तार अर्थात् विपेक्षण की शक्ति अधिक होती है, अतः उनको अधिक दुर्दम समझा जाता है।

अबुर्द की उत्पत्ति जन्म से ही हो सकती है अथवा यह किसी भी आयु मे पाया जा सकता है। साधारणतया इसकी उत्पत्ति युवावस्था मे अधिक होती देखी गई है।

---

1. Portal circulation.

थोडी बाधा यह पड़ती है कि रक्तनलिकाओं को अलग से निकाल कर नहीं बाँधा जा सकता क्योंकि वे चर्म से सलग्न होती हैं। क्षत को १ : २० शक्ति के कार्बोलिक घोल अथवा १ : १००० शक्ति के एक्रीफ्लेविन घोल में धोकर साफ किया जाता तथा यदि आवश्यक हो तो उस स्थल के बाल भी उस्तरे से साफ कर दिए जाते हैं। यह आवश्यक है कि स्थल की सफाई पूर्ण रूप से हो जाय और इसके लिए यदि आवश्यक हो तो रगड-रगड कर धोने के लिए ब्रश एवं साबुन का प्रयोग किया जाता है। क्षत के दोनों किनारों को मिला-कर टाँके लगा दिये जाते हैं तथा एक्रोफ्लेविन घोल में भीगा गोज व रुई रखकर कडी पट्टी बाँध दी जाती है। यदि आवश्यक हो तो पट्टी को चिबुक के नीचे से ले जाया जा सकता है ताकि क्षत स्थान पर दबाव पडता रहे। लिखने की आवश्यकता नहीं कि टाँके लगाने से पहले सफाई करने के साथ ही साथ क्षत की पूर्ण परीक्षा कर ली जानी चाहिए और यदि किसी रक्तनलिका के कट जाने के कारण रक्त अधिक मात्रा में आ रहा हो तो उस रक्तनलिका को धमनी सदंश से पकडकर कुछ क्षणों के लिए दबाए रखा जाता है। इतना करने से ही रक्त-नलिका बन्द हो जाती है।

कपाल प्रदेश के क्षतों में सबसे बडा भय इस बात का है कि क्षत के साथ ही साथ कपाल का भग्न भी सम्मिलित न हो। लक्षणों को देखने से यदि इस प्रकार का थोडा भी सन्देह हो तो रोगी को प्रधान चिकित्सक की देख-भाल में पहुँचा देना चाहिए।

कर्ण से रक्तस्राव - कर्णपाली पर बाहर से तीव्र स्वरूप का आघात पहुँचने पर बाह्यकर्ण[1] की दीवाल में क्षत होने या कर्णपट[2] के ही विदीर्ण हो जाने से रक्तस्राव होने लग सकता है। यद्यपि करोट्याधार के भग्न में भी कर्ण से रक्त-स्राव की सम्भावना है तद्यपि आघात की प्रकृति तथा करोट्याधार भग्न के अन्य लक्षणों को समझे, देखे बिना इस प्रकार की धारणा बना लेना युक्तिसंगत नहीं। कर्ण का प्रक्षालन ठीक नहीं, रुई के फाए से सफाई की जा सकती है। किसी जीवाणुनाशक औषधि के घोल में भिगोकर रुई अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है।

1. External ear 2. Tympanic membrane

उपकला से आच्छादित किसी भी स्थान पर कैंसर की उत्पत्ति सम्भव है किन्तु यह देखा गया है कि कुछ विशेष स्थानो पर इसकी उत्पत्ति की अधिक सम्भावना रहती है। स्त्रियों मे गर्भाशय प्रधानतया गर्भाशय ग्रीवा तथा स्तन का कैंसर अन्य स्थानों के कैसर की अपेक्षा बहुत अधिक उत्पन्न होते देखा जाता है। पुरुषों मे आमाशय का कैंसर अधिक होता है; मुख, जिह्वा एव आन्त्र मे इसकी उत्पत्ति अधिक होती है। पित्ताशय, पुरःस्थ ग्रन्थि, स्वरयन्त्र, अवटुका ग्रन्थि, चर्म, एव जननेन्द्रिय पर भी इसकी उत्पत्ति होते देखी गई है, यद्यपि बहुत कम। गौण वृद्धियॉ यकृत, फुफ्फुस तथा अस्थिमज्जा मे अधिक उत्पन्न होते देखी जाती है।

अर्बुद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक विशेषता और भी देखी जाती है और वह यह कि जब किसी अग विशेष का कार्यकाल समाप्त हो रहा होता है तभी इसकी उत्पत्ति होती है—गर्भाशय मे उत्पन्न होने वाला कैंसर प्रायः रजोनिवृत्ति काल अर्थात् ४०-५० वर्ष की आयु मे ही उत्पन्न होता है। इसमे भी कोई सन्देह नही कि इस नियम के अपवाद भी पाये जाते हैं।

कैंसर की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अभी तक कोई निश्चित मत नही—अन्य अर्बुदो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वर्णित कारण ही कैसर की उत्पत्ति से भी सम्बन्धित हो सकते है। एक व्यक्ति की ऊतकों से लिये गये कैंसर कोशिकाओ को दूसरे जीव की ऊतको मे स्थापित करके कैसर की सक्रामता को सिद्ध करने की कोशिश की गई है किन्तु सफलता नही मिली, अतः कैसर को संक्रामक नही कहा जा सकता।

चर्म या श्लैष्मिक कला मे कैंसर का प्रारम्भ एक छोटे अकुर, छोटी-सी कठिन ग्रन्थि या केवल विस्तृत शोथ के रूप मे होता है। शोथ के रूप मे प्रारम्भ होने वाले कैंसर मे चर्म मोटा अवश्य पड़ जाता है किन्तु वह ताप एव पीड़ा रहित होता है। जो भी वृद्धि होती है उसकी सीमा परिमित नहीं होती और न उसके चारो ओर कोई कोष ही होता है। यही कारण है कि अर्बुद का छेदन करते समय स्वस्थ ऊतको का भी छेदन करना आवश्यक है ताकि कैंसर कोशिकाये पूर्णतः अलग की जा सके।

ओठ से रक्तस्राव—जिह्वा के क्षत की तरह ओठ के क्षत से भी बहुत तीव्र स्वरूप का रक्तस्राव होता है किन्तु क्षत के स्थान पर उंगली तथा अँगूठा रखकर या दबाकर ओठ को पकड़ने से रक्तस्राव को आसानी से रोका जा सकता है। यदि आवश्यक हो तो [illegible] दबाया जा सकता अथवा कैटगट के धागे से बाँधा जा सकता [illegible] दिया जाता है। पहला टाँका चर्म [illegible] श्लैष्मिक [illegible] लगाया जाता है। इसके पश्चात् चर्म पर के क्षत को भी [illegible]। चर्म पर के टाँकों वाले धागे को [illegible] लम्बा छोड़ दिया जाता [illegible] उनको पकड़ कर खींचकर ओठ को पलटा जा सके तथा [illegible] टाँके लगाए जा सकें।

जिह्वा या ओठ पर के क्षतों के [illegible] का प्रश्न ही नहीं [illegible] इन स्थानों पर पट्टी बाँधना असम्भव है। इन पर लगाने के लिए [illegible] सल्फनीलामाइड या सीबाजोल पाउडर है जिनको उस स्थान पर [illegible] बुरका जा सकता अथवा ग्लीसरीन में मिलाकर लगाया जा सकता है।

मुखमण्डल से रक्तस्राव—मुख पर उत्पन्न क्षतों से भी तीव्र स्वरूप का ही रक्तस्राव होता है किन्तु उसको सामान्य उपायों द्वारा ही रोका जा सकता है, कोई विशेष बात नहीं। मुखमण्डल के क्षतों के टाँके लगाते समय इस बात की विशेष सावधानी रखना है कि टाँके सफाई के साथ लगाए जाएँ जिससे व्रण चिह्न अधिक असुन्दर न हो। इसके लिए प्रायः अश्वकेश का ही प्रयोग अच्छा है। टाँके तीसरे या चौथे दिन काटकर अलग कर दिए जाने चाहिए।

गला कटना—इस प्रकार की अवस्था अधिकांश में दुर्घटनाजन्य नहीं अपितु किसी तेज धार वाले शस्त्र के प्रयोग से ही उत्पन्न होती है जिसका प्रयोग आत्महत्या या परहत्या के लिए किया जाता है। आत्महत्या के लिए किए जाने वाले प्रयोग में क्षत प्रायः ग्रीवा के ऊपरी प्रदेश में ही होता है तथा अधिक गहरा भी नहीं हो पाता क्योंकि आत्महत्या की इच्छा होने पर भी कुछ आन्तरिक प्रवृत्तियाँ ऐसी होती हैं जो अनजान में ही इस प्रकार के कार्य को

दिया जाय उतनी ही जीवन रक्षा की सम्भावना अधिक है। यकृत फुफ्फुस आदि अंगों तक विक्षेपण हो जाने के पश्चात् जीवन रक्षा की कोई आशा नही रह जाती। अतः प्रारम्भ में ही रोग का सन्देह होने पर पूर्ण परीक्षा एव चिकित्सा के लिए प्रबन्ध करने का परामर्श रोगी को दे दिया जाना चाहिए। शस्त्र-कर्म द्वारा स्वस्थ धातुओं का बहुत कुछ भाग लेते हुए स्तनच्छेदन एवं रेडियम का प्रयोग ही स्तन कैंसर की प्रधान चिकित्सा है।

गर्भाशय का कैंन्सर—स्त्रियो मे गर्भाशय का कैसर प्रायः रजोनिवृत्ति काल के आसपास ही प्रारम्भ होता है। इसका प्रारम्भ गर्भाशय ग्रीवा अथवा गात्र मे हो सकता है यद्यपि यह देखा गया है कि प्रथम ग्रीवा ही आक्रात होती है उसके पश्चात् रोग का प्रसार गात्र तक भी हो जा सकता है।

प्रारम्भ मे ग्रीवा पर योनि की ओर छोटे कडे दाने अथवा अंकुर की उत्पत्ति होती है। यह भी सम्भव है कि ग्रीवा के भीतर अर्बुद का कई छोटी-छोटी ग्रन्थियों के रूप मे प्रारम्भ हो। यह वृद्धि शीघ्र ही योनि या गर्भाशय की ओर बढने लगती है। व्रणोत्पत्ति होने तथा व्रणों के शीघ्र ही बढते जाने से योनि की सम्पूर्ण भित्ति गल जा सकती है। केवल इतना ही नही कभी-कभी मूत्राशय तक की भित्ति आक्रात हो जाती है। व्रणो मे पूयोत्पादक जीवाणुओ का उपसर्ग हो जाने पर दुर्गन्धि युक्त रक्त एव श्लेष्मा मिश्रित स्राव निकलने लगता है। प्रारम्भ मे पीड़ा नहीं होती किन्तु व्रणोत्पत्ति एवं पूयोत्पादक जीवाणुओ के उपसर्ग के पश्चात् असह्य पीडा होने लगती है जिसके कारण रोगी को चैन नही पडता तथा मॉर्फीन के प्रयोग तक की आवश्यकता पड़ सकती है। रोग का प्रारम्भ गात्र मे होने पर प्रथम लसीका ग्रन्थियाँ अथवा श्लैष्मिक कला आक्रात होती है परन्तु शीघ्र ही रोग सारे अग मे फैल जाने पर गर्भाशय व्रणो का छत्ता-सा बन जाता है जिसको अँगुली डाल कर अनुभव किया जा सकता है। यहाँ से अर्बुद का अन्य अगो तक विक्षेपण हो जा सकता है।

रोग का प्रधान लक्षण योनि से पूय एवं रक्त मिश्रित दुर्गन्धि युक्त स्राव का निकलना तथा पीड़ा का होना है। पीड़ा व्रणोत्पत्ति होने पर ही होती है

भी बारीक कैटगट से सी दिया जाता है। यदि क्षत अधिक विस्तृत होने के कारण अवटुका उपास्थि आगे की ओर निकल पड़ी है तो मजबूत टाँके लगाकर उसको कण्ठकास्थि के साथ साथ सिया जाना चाहिए। निकास के लिए रबर की पतली नली रखने की आवश्यकता पड़ सकती है। कटी हुई पेशियों को जोड़ने के पश्चात् क्षत की भली प्रकार परीक्षा कर ली जाती और उसके बाद टाँके लगाए जाते हैं।

यदि श्वासनलिका भी कट जाती है तो अवस्था और भी भयङ्कर समझी जानी चाहिए क्योंकि कई मुख्य-मुख्य रक्तनलिकाओं तथा नाड़ियों को क्षति पहुँच जाना सम्भव है। ऐसी अवस्था में मृत्यु रक्तस्राव के अतिरिक्त श्वासावरोध के कारण भी हो सकती है क्योंकि यह बहुत कुछ सम्भव है कि रक्त श्वासनलिका में प्रविष्ट हो जाय और जमकर श्वास मार्ग को ही रोक दे। चिकित्सा उपरोक्त विधि से ही की जाती है अर्थात् रक्तस्राव बन्द किया जाना, प्रत्येक कटे हुए अंग में अलग-अलग टाँके लगाए जाने तथा क्षत की पूर्ण परीक्षा करने के पश्चात् ही चर्म को सीया जाता है। किन्तु इन सबके साथ ही यह अवश्य ध्यान रखना है कि श्वासनलिका के कटे हुए भाग में होकर ही श्वासच्छेदननलिका[1] प्रविष्ट कर दी जाय और यदि आवश्यक हो तो श्वासनलिका को इस धातु निर्मित नलिका के चारों ओर सी दिया जाय। यदि यह उचित न दीख पड़े तो क्षत से थोड़ा नीचे स्वतन्त्र रूप से अलग श्वासनलिकाछिद्रीकरण[2] शल्य-कर्म किया जा सकता है।

यदि अवटुका उपास्थि कट जाती है तो उपास्थि का तथा स्वरयन्त्र की श्लेष्मल कला को सीने के अलावा चिकित्सा का सम्पूर्ण क्रम उपरोक्त ही है। किन्तु इन सबके साथ ही इतना अवश्य ध्यान रखना है कि यदि क्षत में उपसर्ग पहुँच चुका है अथवा रोगी आघात के कुछ घंटों पश्चात् चिकित्सक के पास आया है तो उच्च स्तर पर श्वास प्रणाल छिद्रीकरण शल्यकर्म अवश्य कर दिया जाना चाहिए ताकि स्वरयन्त्र का शोफ उत्पन्न होने पर भी श्वासावरोध न होने पावे।

---

1 Tracheotomy tube 2. Tracheotomy.

बीसवाँ अध्याय

अस्थिभंग एवं सन्धिच्युति

सामान्य वर्णन

अस्थियाँ—

संयोजक ऊतक द्वारा निर्मित अस्थि शरीर की सबसे अधिक कठोर एवं दृढ़ रचना है जिसमे थोड़ी बहुत नम्यता भी अवश्य रहती है। बालक की अस्थियाँ विशेष रूप से नम्य होती हैं। रचना की दृष्टि से इसको दो भागों में बाँटा जा सकता है। यथा (१) बाह्य स्तर जो अधिक संहत[1] तथा दृढ़ होता है तथा (२) आन्तरिक स्तर जो स्पंज सदृश सुषिर[2] तथा भंजनशील होता है। अस्थि के चारो ओर एक विशेष प्रकार का आवरण चढा रहता है जिसको पर्यस्थिकला या अस्थ्यावरण[3] नाम से सम्बोधित किया जाता है। लम्बी अस्थियों के मध्य मे अवकाश स्थान रहता है जिसको अस्थिगुहा[4] कहते हैं। इस गुहा के अन्दर तथा आन्तरिक स्तर के छिद्रो मे भी मज्जा[5] व्याप्त रहती है। इस मज्जा का प्रधान कार्य रक्त निर्माण करना है।

आकार की दृष्टि से अस्थियाँ चार प्रकार की होती है यथा—

१—**दीर्घ अस्थियाँ**—ये शरीर की मुख्य अस्थियाँ है जिनके दो शीर्ष तथा मध्य का भाग होता है। शीर्षों की अपेक्षा मध्य का भाग जिसे गात्र कहते हैं, पतला होता है ताकि पेशियों को स्थान मिल सके। साथ ही अंग को दृढ़ता देने के उद्देश्य से इसमे कुछ वक्रता भी रहती है। ऊर्वस्थि, बहिर्जंघास्थि आदि लम्बी या दीर्घ अस्थियो के उदाहरण हैं। दीर्घ अस्थियाँ शाखाओं में ही

---

1. Compact 2. Spongy 3. Periosteum. 4. Cavity 5. Bone marrow.

जिनके अनुसार कि गला कटने पर चिकित्सा की जाती है अर्थात् क्षत की पूर्ण सफाई करने तथा रक्तस्राव बन्द करने के पश्चात् चर्म में टाँके लगा देना।

विशेष आवश्यकता उस अवस्था में पड़ती है जब श्वासनलिका में तो छिद्र हो किन्तु चर्म का छिद्र छोटा होने अथवा श्वासनलिका के छिद्र की बिल्कुल सीध में न होने के कारण वायु का आवागमन उसमें होकर बाहर की ओर न हो सकता हो। ऐसी अवस्था में यह सम्भव है कि फुफ्फुसों में से निकलने वाली वायु चर्म के नीचे एकत्रित होती जाय। ऐसी स्थिति में यदि श्वासनलिका छिद्र छोटा ही है तो क्षत पर गॉज रख कर पट्टी बाँधने से ही वायु का निकलना रोका जा सकता है। वायु निकलना रुकने के साथ ही साथ छिद्र भी स्वयमेव धीरे-धीरे बन्द हो जाता है। यदि छिद्र के बड़े होने का सन्देह है तो चर्म के छिद्र को और बड़ा करके श्वासनलिका के छिद्र तक पहुँचा जाता है तथा उसकी भली प्रकार परीक्षा करके कैटगट के दो-चार टाँके लगा दिये जाते हैं।

वक्ष का वेध—यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें क्षत का पूर्ण अनुमान लगा सकना बिलकुल कठिन है क्योंकि वेध कितना गहरा है तथा वक्ष में स्थित फुफ्फुस, हृदय एवं मुख्य मुख्य रक्तनलिकाएँ कितनी विद्ध हुईं अथवा नहीं हुईं यह नहीं जाना जा सकता। यह स्पष्ट है कि यदि क्षति अधिक है तो रोगी का जीवन तत्क्षण भीषण संकट में है। अतः लक्षणों से अवस्था अधिक उग्र मालूम पड़ने पर घर वालों को स्थिति की भयंकरता समझाने के साथ ही साथ प्रधान शल्य चिकित्सक को बुला भेजना चाहिए। तब तक मार्फीन $\frac{1}{4}$ ग्रेन का इन्जेक्शन देकर रोगी को वहीं बहुत धीरे से लिटा दिया जाता है। यह इंजेक्शन ७-८ घण्टे पश्चात् फिर दुहराया जा सकता है। बीच के समय में रोगी को बिलकुल भी छेड़ना नहीं चाहिए क्योंकि छेड़ने या हिला-डुली करने से रक्तस्राव और तेजी के साथ हो सकता है।

यदि वेध इतना गहरा नहीं है तो विशेष चिन्ता की आवश्यकता नहीं। ऐसी स्थिति में अन्तर्स्तन[1] अथवा अन्तरापर्शुक[2] धमनियों के कट जाने से

1. Internal Mammary 2. Intercostal Artery.

किसी आन्तरिक मर्मांग को क्षति पहुँच जाती है। ध्यान रखना चाहिए कि भंग स्वतः कभी भी घातक नहीं हो सकता किन्तु तज्जन्य उपद्रव अवश्य ही



चित्र—११३ विवृत भंग

भयंकर स्वरूप का हो सकता है। कपालास्थि अथवा पर्शुकाओं के भंग इसीलिए भयंकर माने जाते हैं क्योंकि उनके द्वारा मस्तिष्क अथवा फुफ्फुस, हृदय आदि को ऐसी हानि पहुँच जा सकती है जो स्वतः जीवन के लिए घातक बन जाय।

भग पूर्ण अथवा अपूर्ण हो सकते है। अपूर्ण (चित्र ११४) भंग से तात्पर्य है कि अस्थि के टूटे हुए टुकड़े एक दूसरे से पूर्णतः पृथक नहीं हो जाते अर्थात् अस्थि पूरी नही टूट पाती। अपूर्ण भंग का प्रत्यक्ष उदाहरण ग्रीन स्टिक भंग[1] है जो प्रायः बच्चों में होता है। बच्चों की अस्थियाँ अधिक नम्य[2] होने के करण एकदम टूट नही जातीं बल्कि मुड़ जाती है। युवा

1. Green Stick Fracture. 2. Elastic

मे प्रयोग किया जाना चाहिए। यदि आँतों मे छिद्र हो चुका है तो भोजन के सम्बन्ध मे भी सावधान रहना आवश्यक है। रोगी को आराम के साथ चित् लिटाए रखा जाता है तथा यदि उसको खाँसी की शिकायत है तो कासशामक मिश्रण भी दिया जाता है।

आघात जन्य एन्यूरिज्म[1]—इस प्रकार की अवस्था कभी-कभी मणिबन्ध की धमनियो मे देखने को मिलती है। काँच के टुकड़े अथवा चाकू से धमनी को क्षति तो पहुँच जाती है किन्तु रक्तस्राव तीव्र नहीं होता तथा साधारणतया गौज रखकर पट्टी बाँधने से बन्द हो जाता है। किन्तु होता यह है कि उस स्थान पर चर्म के नीचे थोडा रक्त निकलकर वह एकत्रित हो जाता है। यह रक्तस्राव बाहर की ओर जमकर तन्तुऊतक के रूप मे परिणित हो जाता है किन्तु मध्य मे ऐसी दीवार रहती है जो धमनी से सम्बन्धित होती है। फल यह होता है कि जब पट्टी को खोला जाता है तो स्पन्दन युक्त[2] गुमडी-सी मालूम पडती है। इसको यथार्थत. एन्यूरिज्म तो नही कहना चाहिए क्योंकि सम्बन्धित धमनी की दीवाले विस्फारित नहीं होती। किन्तु केवल बाह्य लक्षणो के आधार पर एन्यूरिज्म कहने लगते है।

इसकी एक मात्र चिकित्सा शल्य-कर्म है। शल्य-कर्म के समय मे टूर्नीकेट की सहायता से रक्तस्राव को रोके रखा जाता है। छेदन करके रक्तस्पन्दन[3] साफ करके धमनी को स्पष्ट कर लेते है। यदि सम्भव हो छिद्र को बन्द कर दिया जाता है अथवा उस स्थल पर धमनी को काटकर ही बाँध दिया जाता है।

धमनियो के क्षत—उनकी चिकित्सा धमनी के आकार तथा क्षत की प्रकृति पर निर्भर करती है। दुर्घटनाजन्य क्षत प्राय. शाखाओ मे ही उत्पन्न होते है और सौभाग्य से इनकी चिकित्सा आसान है। ऊपर चिकित्सा का जो कुछ भी वर्णन किया गया है उससे सब कुछ स्पष्ट हो जाना चाहिए फिर

1. Traumatic Aneurysm 2. Pulsating 3. Blood clot.

अ—ऊर्ध्व शाखा की लम्बाई—रोगी की लेटी हुई स्थिति में दोनों भुजाओं को उसके शरीर के साथ मिलाकर तथा कुहनी पर समान रूप से प्रसारित कर लिया जाता है।

१—पूरी शाखा की लम्बाई असंकूट शीर्ष[1] से बहिःप्रकोष्ठिका के स्टाइलोयड उभार तक[2]।

२—ऊर्ध्व बाहु की लम्बाई एक्रोमियन शीर्ष से बहिप्रकोष्टिका एव प्रगण्डास्थि सन्धि तक तथा

३—अग्रबाहु की लम्बाई उपरोक्त सन्धि से बहिःप्रकोष्ठिका के स्टाइलोयड उभार तक।

(ब) निम्न शाखा की लम्बाई भी रोगी की लेटी हुई स्थिति में टाँगों को समान रूप से एक दूसरे की ओर झुकाकर मिलाते हुए फैला कर ली जाती है।

१—पूरी शाखा की लम्बाई—नितम्बास्थि के पूरोर्ध्वकूट[4] से अन्तर्गुल्फ[5] के शीर्ष तक।

२—उरु की लम्बाई—नितम्बास्थि के पूरोर्ध्वकूट से जानुसन्धि की मध्यरेखा तक अन्दर की ओर तथा

३—जंघा की लम्बाई जानु सन्धि की मध्यरेखा के अन्दर की ओर से अन्तर्गुल्फ के शीर्ष तक।

भौतिक परीक्षा मे भग से सीधी सम्बन्धित उपरोक्त परीक्षाओं के अलावा रक्तनलिका, तन्त्रिका सूत्र, मासपेशो आदि तथा सन्धि को यदि कोई क्षति पहुँची है तो उसका भी निश्चित अनुमान लगाना आवश्यक-सा है। भग्न से दूर की ओर धमनी का स्पन्दन अनुभव करना चाहिए और साथ ही साथ अग की स्पर्शन शक्ति का भी अनुमान लगाना चाहिये ताकि यह निश्चय हो

---

1. Tip of Acromian 2. Styloid Process of Radius 3. Radio Humeral joint. 4. Anterior Superior Spine 5. Medial Malleolus

८—रक्तस्राव के बिना पूर्णतः बन्द किए ही चर्म मे टॉके लगा दिये जाते तथा गौज एव रुई रखकर कड़ी पट्टी बाँध दी जाती है। इस प्रकार करने से बहुत कुछ आशा इस बात की की जा सकती है कि रक्तस्राव स्वतः बन्द हो जायगा। अथवा—

६—क्षत मे एक्रीफ्लेविन मे भींगा गौज भरकर रुई रखकर कड़ी पट्टी बॉध दी जाती है और उसको तीन दिन तक बॅधा रहने दिया जाता है। इस प्रकार करने से सबसे बड़ी हानि यह है कि व्रण का विरोहण तल मे से प्रारम्भ होता है, अतः उसमे विलम्ब लगता है तथा व्रणचिह्न भी बहुत बड़ा बनता है इसके लिए यह किया जा सकता है कि—

१०—रक्तस्राव के बन्द हो जाने तथा कणिका ऊतक की उत्पत्ति होने लगने पर जब दूसरे तीसरे दिन पट्टी खोली जाय तब भी व्रण के दोनो किनारो को मिलाकर टॉके लगा दिए जायॅ।

११—हर अवस्था मे टाके व्रण रोपण हो चुकने पर ४–६ दिन पश्चात् काटे जाते है किन्तु यदि पूयोत्पादन मालूम पडे तो आवश्यकतानुसार एक दो टॉका काटकर ही निकास का समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

१२—टॉका काटने के लिए गॉठ पर धागे के एक सिरे को चिमटी से पकड़कर खीचा जाता है तथा नुकीली कैंची से उसको गॉठ से क्षत की ओर चर्म के बिलकुल पास से काट दिया जाता तथा बाहर खीच लिया जाता है। इस प्रकार धागे की सम्पूर्ण गॉठ बाहर निकल आती है।

१३—इन सबके साथ ही यह स्वयं स्पष्ट होना चाहिए कि पेनिसिलिन या पूतिरोधी अन्य औषधियों का अवश्य ही प्रयोग किया जाय ताकि पूयोत्पादन न होने पावे। यदि आवश्यक हो तो टिटेनस एण्टीटोक्सीन का इन्जेक्शन देना भी उचित ही है। रोगी के पोषण आदि तथा अन्य बातो के सम्बन्ध में भी ध्यान रखना चाहिए। क्षत स्थान को ऐसी स्थिति मे रखना चाहिए कि वह आराम से रहे तथा हृदय से कुछ ऊॅचा रहे ताकि रक्तस्राव रुके रहने में सहायता मिले।

ब—अस्थि के कुछ भाग के नष्ट हो जाने या अन्य कारण से दोनों सिरों का दूर-दूर होना।

३—भंग शिरों का ठीक-ठीक प्रकार से न मिलना अर्थात् अनुपयुक्त अस्थि सन्धान[1]—

४—रक्त संचालन की कमी—इस प्रकार की स्थिति उसी अवस्था में उत्पन्न होती है जबकि भंग सिरों के मध्य मे अस्थि का कोई टुकड़ा ऐसा पड़ा हो जहाँ तक रक्त सचार हो ही नही सकता। यदि रक्त सचार नहीं हो सकता तो अस्थि निर्माणक कोषाणु अपना कार्य नही कर सकते।

५—अनुपयुक्त चिकित्सा—

अ—अंग का अचल न किया जा सकना

ब—पीड़ित अग को समय से पूर्व ही चलाने लगना आदि।

६—उपसर्ग—भंग के स्थान पर पूयोत्पादक जीवाणुओं के किसी प्रकार पहुँच जाने पर अस्थि निर्माण कार्य मे बाधा पड़ती है विशेष कर उस अवस्था में जब अस्थि मे कोथ प्रारम्भ हो जाय।

भंग चिकित्सा के सामान्य सिद्धांत—

उपरोक्त बातों को समझ लेने के पश्चात् भंग चिकित्सा के यथार्थ क्रम के सम्बन्ध मे विचार किया जा सकता है जो निम्न प्रकार का होना चाहिए—

१—प्राथमिक सहायता[2]—भंग की चिकित्सा दुर्घटना के स्थान से ही प्रारम्भ हो जाती है। दुर्घटना के स्थान से रोगी को हटाने से पूर्व ही इस प्रकार का प्रबन्ध कर देना आवश्यक होता है कि अंग को जो कुछ क्षति पहुँच चुकी है वह उतनी ही रहे और न बढ़ने पावे। यथार्थ मे यह कार्य उन सामान्य व्यक्तियो का है जो दुर्घटना के स्थल पर ही रोगी के आस-पास होते हैं। किन्तु अधिकांश मे यह भार निकटस्थ चिकित्सक के ऊपर पढ़ जाया करता है जिसके पास रोगी को प्रायः ले आया जाता है।

---

1. Setting of fracture 2. First Aid.

स्कन्दन की शक्ति का अभाव होता है अर्थात् रक्त जम नहीं पाता और इसीलिए एकवार उसको निकलने का मार्ग मिलने पर वह सततः निकलता रहता है।

निदान एकदम रक्तस्राव देखकर करना असम्भव है बल्कि इसी प्रकार की अवस्था का पूर्व इतिहास मिलने पर ही किया जा सकता है।

चिकित्सा - मानवीय अथवा घोडे की सिरम का इन्जेक्शन ही इस रोग की मुख्य चिकित्सा है। हीमोप्लास्टिन[1] २-४ सी० सी० या सिरम ३० सी० सी० की मात्रा में चर्माधः इन्जेक्शन द्वारा अथवा १५ सी० सी० की मात्रा मे शिरा द्वारा दिन में दो-तीन बार तक दी जा सकती है और जब तक रक्तस्राव बन्द न हो जाय तब तक दी जाती रहनी चाहिए। यदि ताजा शुद्ध सिरम न मिले तो डिफ्थीरिया या टिटेनस एण्टीसिरम का प्रयोग किया जा सकता है। रक्ताधान और भी अधिक लाभकर है। मुख द्वारा सेवन के लिए ओषधि रूप मे कैल्शियम लेक्टेट या क्लोरायड तथा थायरॉयड ग्रन्थि की वटिका दी जा सकती है। स्थानिक प्रयोग के लिए दबाव, शीत, टिंचर फेरी-परक्लोर आदि रक्तस्थापक औषधियाँ अथवा एड्रीनेलीन या सिरम मे भीगा ही गोज रखना है।

स्पष्ट है कि इस रोग से पीडित व्यक्तियो मे शल्य-कर्म एक समस्या बन जायगी क्योंकि शल्यकर्म के समय रक्तस्राव होना निश्चित है और उसको रोकना बहुत कठिन हो जायगा। यदि शल्य-कर्म नितान्त आवश्यक हो तो रोगी को पहले से सिरम के इंजेक्शन दे-देकर उसके लिए तैयार कर लिया जाता है तथा शल्यकर्म के समय रक्ताधान का पूर्ण प्रबन्ध रखा जाता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर तत्क्षण रक्त दिया जा सके।

स्थानिक रोग—किसी भी घातक अर्बुद[2] या रक्तनलिका प्रधान अर्बुद[3] से जो शरीर के बाह्यतल पर स्थित है क्षणिक कारण से ही रक्तस्राव अधिक

1. Haemoplastin 2. Malignant tumour 3. Vascular Growth.

निदान—उपरोक्त लक्षणों से निदान आसान है फिर भी यदि सम्भव हो सके तो क्ष-किरण फोटो ले लिया जा सकता है क्योंकि उससे सन्धि की यथार्थ स्थिति मालूम होने के साथ ही साथ यह भी निश्चित हो जाता है कि अस्थि भग तो नही। साधान के बाद भी एक बार पुनः क्ष-किरण फोटो ले लेना अच्छा है।

चिकित्सा—शीघ्र से शीघ्र अस्थिसन्धान करना अर्थात् स्थान से हटी हुई अस्थियों को ठीक स्थान पर ले आना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए—

अ—हस्त व्यापार—चतुराई के साथ जिस मार्ग से च्युत अस्थि का शिरा अलग हुआ है उसी मार्ग से उसको अपने स्थान पर बिठा देना चाहिए। इसके लिए सर्वाङ्ग सज्ञाहरण की प्रायः आवश्यकता नहीं पड़ा करती। अस्थि सधान प्रारम्भ करने से पहले रोगी का $\frac{1}{4}$ ग्रेन मौर्फिया का इन्जेक्शन दिया जा सकता है। ध्यान रखना चाहिए कि इस कार्य के लिए शक्ति की आवश्यकता नहीं अपितु कौशल की आवश्यकता है।

ब—प्रसारण - कभी-कभी सम्बन्धित पेशियो के प्रसारण की आवश्यकता पड़ जाया करती है और यह कार्य पेशियो को सततः खीचने से सम्भव हो जा सकता है। क्लोरोफार्म द्वारा सज्ञाहरण करने से भी पेशियो की शिथिलता उत्पन्न होती है।

सन्धान के पश्चात् कुशाएँ लगाकर १०, १५ दिन तक सन्धि को स्थिर रखा जाता है ताकि इस समय में टूटे हुए बन्धन आदि ठीक हो जायॅ। इसके पश्चात् सन्धि की जड़ता को रोकने के लिए रोगी को स्वतः सन्धि मे गति करनी चाहिए।

स-शस्त्र कर्म—उपरोक्त विधि से काम न चल सके अथवा रक्त नलिकाओं एव तन्त्रिका सूत्रो को भी हानि पहुँच चुकी है अथवा भग भी साथ मे है तो शस्त्र-कर्म आवश्यक हो सकता है।

आतरिक रक्तावरोधक औषधियों यथा कैल्शियम, क्लाउडिन आदि का प्रयोग भी आवश्यक हो सकता है। बार-बार होने वाले रक्तस्राव में रक्तस्राव के मूल कारण को दूर करना तथा रोगी का सामान्य स्वास्थ्य सुधारना चाहिए—रक्ताल्पता के लिए लौह, यकृत सत्व, जीवतिक्त बी$_{12}$ का प्रयोग आवश्यक है तथा जीवतिक्त सी० एव कैल्शियम के प्रयोग से सीधे रक्तावरोध मे सहायता मिलती है।

नासागुहा को अवरुद्ध करना—यह कार्य प्रारम्भ करने से पहले इस बात का निश्चय कर लिया जाना चाहिए कि किस ओर के नासारन्ध्र से रक्तस्राव हो रहा है क्योंकि एक ओर के नासारन्ध्र को अवरुद्ध करने से ही काम चल जाता है अतः दोनों नासा गुहाओं को वन्द करना युक्तिसगत नही। नासागुहा मे भीतर प्रवेश करने के लिए शुद्ध शुष्क गौज काम मे लाया जा सकता है अथवा गौज को उबाल कर शुद्ध किए गए लिक्विड पैराफिन मे भिगोया जा सकता है जो शुष्क गौज की अपेक्षा अधिक अच्छा रहता है। यदि सामने के नासा छिद्र मे होकर ही गौज के टुकडे सलाई से जितना भी सम्भव हो, पीछे की ओर धीरे-धीरे प्रविष्ट किए जायँ और इस प्रकार सम्पूर्ण नासागुहा को वन्द कर दिया जाता है तो पश्चात् नासा छिद्र की ओर से गुहा को वन्द करने की आवश्यकता नही—पश्चात् छिद्र की ओर से नासागुहा को अवरुद्ध करना थोड़ा कठिन कार्य है।

यदि आगे की ओर से गौज भरकर काम न चल सके तो पीछे की ओर से भरना भी आवश्यक हो जाता है। इसके लिए एक विशेष प्रकार के यन्त्र–बेलक का साउण्ड[1]—की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु इसके अभाव मे ४ या ५ नम्बर की मूत्रनलिका से काम निकाला जा सकता है। अच्छा हो यदि मूत्र–नलिका का नुकीला शिरा काटकर अलग कर दिया जाय यद्यपि विना काटे भी काम निकल सकता है। मूत्रनलिका मे होकर एक दुहेरा डोरा प्रविष्ट कर दिया जाता है जो उसके अन्दर की ओर के छिद्र मे होकर निकल आता है तथा फन्दा भी यही रहता है।

1. Bellock's Sound.

लक्षण—सभी प्रकार की स्थितियों में लक्षण लगभग समान होते हैं। अंसकंटक चर्म के नीचे उभरा हुआ तथा उसके नीचे गड्ढा-सा मालूम पड़ता है। रोगी को बिठाकर यदि दोनों स्कन्धों को सामने से तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो पीड़ित स्कन्ध की स्वाभाविक गोलाई नष्ट हुई मालूम पड़ती है (चित्र २११) पीड़ित ओर अंसकटक अग्रभाग तथा प्रगण्डिकास्थि का बाह्यार्बुद दोनों एक सीध मे आ जाते हैं। स्कन्ध में तीव्र पीड़ा होती तथा कुहनी वक्ष से बाहर की ओर हटी रहती है।

अन्सगर्ताध च्युति मे प्रगाण्डिकास्थि के शीर्ष को कक्षा मे प्रतीत किया जा सकता है तथा बाहु अधिक लम्बी मालूम पडती है।

अन्सतुण्डाधः च्युति मे जो अन्य की अपेक्षा अधिक होता है प्रगण्डिकास्थि का शीर्षअन्सतुण्ड के नीचे पहुँच जाता है तथा उसकी ग्रीवा अन्सपीठ ऊपर अटक जाती है।



चित्र नं० २११—दाईं ओर स्कन्ध की स्वाभाविक गोलाई नष्ट

जत्रु काधः च्युति कम होती है। इसमें शीर्प कभी-कभी दूसरी-तीसरी पर्शुका तक पहुँच जाता है तथा बाहु की लम्बाई कम मालूम पडने लगती है।

को भली प्रकार खींच कर स्थिर कर लिया जाता है ताकि नासागुहा के पीछे के भाग को वह भली प्रकार अवरुद्ध किए रहे। सामने की ओर भी डोरे को स्थिर करने के लिए उसके साथ दूसरी गद्दी बांध दी जाती है जो सामने से नासारन्ध्र में उसको अवरुद्ध किए हुए प्रविष्ट रहती है। रक्तस्राव के बन्द हो जाने के पश्चात् दोनों ही गद्दियों को आसानी से निकाला जा सकता है।

गुदा से रक्तस्राव—युवावस्था में गुदा से रक्तस्राव का कारण प्रायः अर्श हुआ करता है तथा मलाशयवीक्षक[1] द्वारा परीक्षा करने पर इसका निश्चय भी किया जा सकता है किन्तु मलाशय के कार्सिनोमा के कारण भी गुदा से रक्त-स्राव सम्भव है, अतः भली प्रकार परीक्षा की जानी चाहिए। कभी-कभी गुदा के साधारण विदार भी रक्तस्राव के कारण हो सकते हैं किंतु इनसे होनेवाला रक्तस्राव अधिक मात्रा में नहीं होता। बच्चों की गुदा में स्थित पोलीपस[2] भी रक्तस्राव के कारण हो सकते हैं।

चिकित्सा कारण के अनुसार की जाती है। साधारणतया मृदु स्तम्भक[3] औषधियों जैसे हैमामेलिस[4] आदि के प्रयोग से भी थोड़ा लाभ होता है।

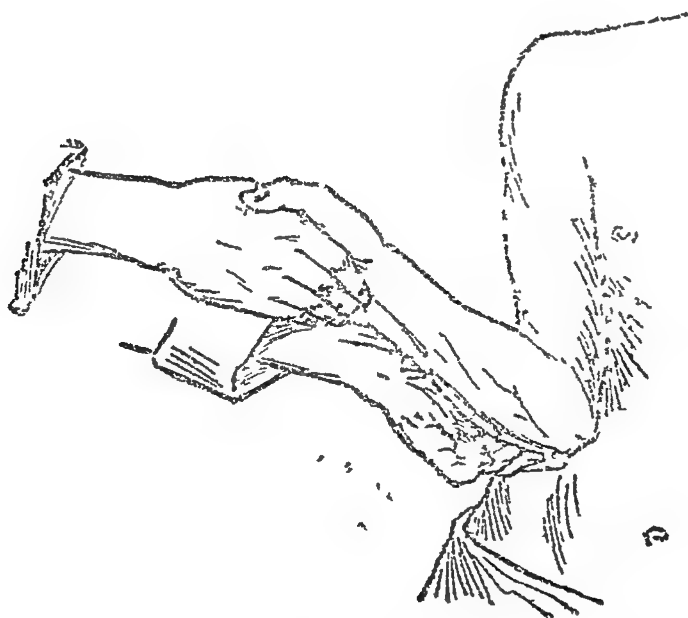
रक्तमेह—वृक्कों से लेकर बाह्य मूत्र द्वार तक कहीं भी विकृति होने पर मूत्र के साथ में रक्त आ सकता है। वृक्कों से आनेवाला रक्त मूत्र के साथ में पूरी तरह मिला होता है और रक्त की मात्रा के अनुसार मूत्र का रंग हलके धूमिल से लेकर गहरा लाल तक हो सकता है। यदि रक्त मूत्राशय से आता है तब भी ऐसा ही होता है अथवा यह भी सम्भव है कि यदि मूत्र मूत्राशय के तल में एकत्रित हो जाय तो पहले शुद्ध मूत्र निकले तथा बाद में रक्त तथा उसमें रक्त के थक्के भी सम्मिलित हों। पुरःस्थ से निकलने वाला रक्त सदैव मूत्र करते समय मूत्र के साथ ही उससे पहले निकलता है यह अवश्य हो सकता है कि मूत्र त्याग के पश्चात् भी दो चार बूँदें रक्त की आवे। बाह्य मूत्र मार्ग से आने वाला रक्त सदैव मूत्र त्याग के समय मूत्र आने से पहले ही बूँद-बूंद टपकता है। यदि मूत्राशय में अधिक रक्त एकत्रित हो जाता है तो यह भी सम्भव है कि

1. Rectal Speculum 2. Polypus 3. Mild Astringent 4. Hamamalis.

कर तथा दूसरे से ऊर्ध्वबाहु को सीधे रखकर अग्रबाहु को खीचता तथा अपने घुटने के सहारे मोड़ता है। इस प्रकार करने से अस्थि अपने स्थान पर पहुँच जाती है। यदि बहिःप्रकोष्टिका बाहर की ओर हटी हुई हो तो इसी समय उसको भी दबाकर ठीक कर दिया जाना चाहिये।

२. प्रथम कूर्पर सन्धि का अति विस्तार किया जाता तथा फिर उसको मोड़ दिया जाता है। मोड़ते समय अग्रबाहु को खिंचा रखना चाहिये। इतना अवश्य है कि अति विस्तार करने से कूर्पर सन्धि के सामने की धातुओं को और भी क्षति पहुँचती है।

रोगी को कुर्सी पर बिठाए रखकर भी उपरोक्त दोनो विधियों मे से ही किसी के द्वारा अस्थिसन्धान सम्भव है—सिद्धान्त यही है कि कूर्पर सन्धि पर ऊर्ध्व बाहु एव अग्रबाहु की सन्धियो को एक दूसरे से पृथक् खीचते हुए सन्धि को मोड़ दिया जाय ताकि चञ्चुपवर्द्धन अपने ठीक स्थान पर पहुँच जाय।



चित्र २१४—कूचर की विधि से अस्थि सन्धान

सन्धान के पश्चात् अग्रबाहु को बाहु पर पूरी तरह मोड़ दिया जात तथा इसी स्थिति मे ४८ घण्टे तक पट्टी बाँधकर स्थिर कर दिया जाता है।

अनिवार्य आवश्यकता हो तथा रोगी को पहले से ही सीरम का इन्जेक्शन देकर तैयार कर लिया गया हो। इसके साथ ही आवश्यकता पड़ने पर रक्ताधान के पूरे साधन तैयार रखे जाने चाहिए।

प्रतिक्रिया जन्य रक्तस्राव[1]—शस्त्र-कर्म के पश्चात् अवसाद की अवस्था दूर होने पर रक्तदाब बढ़ने से कुछ रक्तनलिकाओं में से जो शस्त्र-कर्म के समय कट तो गई हैं किन्तु जिनको भली प्रकार बन्द नहीं किया गया, रक्त निकलने लगता है। इसी को प्रतिक्रिया जन्य रक्तस्राव कहा जाता है। इस प्रकार का रक्तस्राव जब अधिक मात्रा में होता है तो व्रणोपचार वस्त्र रक्त से भींग जाते हैं तथा रक्त टपकने लगता है। इस प्रकार की स्थिति यदि अंगोच्छेदन शल्य-कर्म के पश्चात् होती है तो तत्क्षण पट्टी को खोला जाता है। यदि रक्तस्राव इतनी अधिक मात्रा में हो रहा हो कि कड़ी पट्टी बाँधने से उसके रुकने की आशा न हो तो टाँके भी काटकर अलग कर दिए जाते हैं इसके पश्चात् क्षत की भली प्रकार परीक्षा की जाती है तथा जिस रक्तनलिका में से रक्त निकल रहा है उसको निकाल कर कैटगट का बन्धन लगा दिया जाता है। यदि रक्त अल्प मात्रा में है अथवा शल्यकर्म ऐसी प्रकृति का है कि क्षत खोला नहीं जा सकता तो व्रणोपचार वस्त्र बदल कर कड़ी पट्टी बाँध दी जानी चाहिए। किन्तु फिर भी सतर्क रहना चाहिए कि रक्तस्राव अधिक तो नहीं होता। यदि रक्तस्राव अधिक होता है तो प्रधान सर्जन को सूचना देना तथा प्रबंध करना आवश्यक है।

द्वितीयक रक्तस्राव[2]—शल्यकर्म के पश्चात् उपसर्ग होने पर रक्तनलिका की दीवाल के गल जाने से उत्पन्न रक्तस्राव को द्वितीयक रक्तस्राव कहा जाता है। आधुनिक युग में इस प्रकार का रक्तस्राव नहीं देखा जाता क्योंकि शल्य-कर्म के पश्चात ही उपसर्ग का प्रतिषेध करने की दृष्टि से पेनिसिलिन आदि का प्रयोग किया जाने लगता है तब उपसर्ग की सम्भावना ही नहीं रह जाती फिर भी यदि उपसर्ग पहले से उपस्थित हो अथवा किन्हीं भी कारणों से उपसर्ग पहुँच जाने की सम्भावना हो तो इस प्रकार के रक्तस्राव के लिए सावधान

1. Reactionary Haemorrhage. 2. Secondary Haemorrhage.

चिकित्सा—रोगी को आराम से कुर्सी पर बिठा लिया जाता अथवा लिटा लिया जाता है। चिकित्सक सामने खड़ा होकर पीड़ित हाथ को पकड़ कर दृढ़ता के साथ खींचता है। इस समय यह भी आवश्यक है कि कोई सहायक कुहनी को पकड़कर पीछे की ओर खींचे रहे। हाथ को सामने की ओर खींचने के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि हस्त व्यापार द्वारा उभरी हुई अस्थियों को अपने स्थान पर बिठा दिया जाय। तत्पश्चात् हाथ को कुछ समय तक आगे की ओर मोड़कर रखा जाता है। एक सप्ताह पश्चात् उद्वर्तन एवं चालन क्रियायें की जानी चाहिए।

दूरस्थ अन्तःप्रकोष्ठिकास्थि एवं बहिःप्रकोष्ठिकास्थि सन्धि च्युति—इस स्थिति में अस्थि सन्धान हाथ को पूर्ण उत्तानन[1] की स्थिति में लाने से किया जा सकता है। अंग को लगभग दो मास तक कुहनी को समकोण पर मुड़ी रखते हुए तथा हाथ को पूर्ण ऊर्ध्व-नयन की स्थिति में रखकर पैरिस प्लास्टर लगाकर स्थिर रखा जाता है।

मणिबन्ध प्रान्त की छोटी-छोटी अस्थियों का स्थान च्युति—इस स्थल पर छोटी-छोटी आठ अस्थियाँ हैं जो आपस में एक दूसरी के साथ तथा प्रकोष्ठिकाओं के साथ दृढबन्धनों द्वारा जुड़ी हुई हैं। इस प्रकार इस स्थल पर कई सन्धियाँ बन जाती हैं जिनके आगे पीछे संकोचक एवं प्रसारक पेशियों की कण्डराएँ रहती हैं।

आघात लगने से ये अस्थियाँ भी कभी-कभी अपने स्थान से च्युत हो जाती हैं जबकि चर्म के नीचे उभरी हुई उनको अनुभव किया जा सकता है।

हस्त व्यापार द्वारा अस्थि को दबाकर अपने स्थान पर बिठा देना ही यथार्थ चिकित्सा है। इसके पश्चात् कुछ समय तक अंग को स्थिर रखना चाहिए ताकि अस्थि अपने स्थान से फिर न हट जाय। यदि हस्त व्यापार द्वारा अस्थि को ठीक नहीं किया जा सकता तो शस्त्र-कर्म की आवश्यकता पड़ सकती है। किन्तु यदि शस्त्र-कर्म द्वारा भी अस्थि को अपने स्थान पर न

1. Supination.

थोडा ऊपर मुख्य रक्तनलिका को निकालकर वहाँ बन्धन बाँध देना चाहिए। किन्तु यह करते समय ध्यान रखना है कि क्षत मे प्रयुक्त किए गए हाथो के दस्ताने व औजार आदि सभी बदल दिये जायें ताकि उपसर्ग का भय न रहे।

द्वितीयक रक्तस्राव एक घातक स्वरूप का उपद्रव है जिसका पूर्ण अवरोध आवश्यक है। यदि उपरोक्त साधारण उपायो से यह सम्भव न हो तो क्षत से थोड़ा ऊपर हटकर अगच्छेद किया जा सकता है।

रक्तस्राव बन्द हो जाने पर सुविधा एव आवश्यकतानुसार रक्ताधान या शिरा द्वारा द्रव प्रवेश किया जाना चाहिए। उपसर्ग के प्रतिकार के लिए पेनिसिलिन आदि का प्रयोग तो आवश्यक है ही।

आमाशय पर शस्त्रकर्म के पश्चात् रक्तस्राव—आशिक आमाशयोच्छेदन[1] अथवा अन्य प्रकार के शस्त्र-कर्म के पश्चात् आमाशय से रक्तस्राव हो जा सकता है जिसका बाह्य लक्षण नाडी की गति वढ़ना तथा रक्तयुक्त वमन है। शस्त्र-कर्म के पश्चात् यह आवश्यक है कि आमाशय को खाली रखा जाय और इसके लिए रायल की नलिका[2] को आमाशय मे डाले रखा जाता तथा एक सिरिंज की सहायता से उसके द्वारा आमाशय में के द्रव को बाहर निकालते रहते है। रक्तस्राव होने पर चूसने के लिए बरफ, मुख द्वारा एड्रीनेलीन बिन्दु, इन्जेक्शन द्वारा हीमोस्टेटिक सिरम या अन्य रक्तस्थापक योग, मौर्फीन ¼, ⅓ ग्रेन की मात्रा मे इंजेक्शन द्वारा तथा यदि आवश्यक हो रक्ताधान करना चाहिए।

जिह्वा पर शस्त्र-कर्म के पश्चात् रक्तस्राव—यह जब होता है, तो प्रायः तीव्र स्वरूप का हुआ करता है क्योंकि दोनो ही जिह्वा धमनियाँ विकृत होती है। जब जिह्वा के कटे हुए तल से रक्तस्रवता मात्र मालूम पडे तो शुद्ध गौज का टुकडा वहाँ रखकर उसको कुछ मिनटों तक दबाए रखा जाता है और इसके बाद वहीं छोड़ देते हैं जब तक कि अन्त मे वह स्वतः अलग न हो जाय। जब रक्त अधिक मात्रा मे किसी बिन्दु विशेष से निकलता मालूम पडे तो उस स्थल पर रक्तनलिका को धमनी सदश से दबाना या बन्धन बाधना आवश्यक है। चिकित्सक अपनी तर्जनी उँगली रोगी के मुख मे कण्ठच्छद[3]

1. Partial Gastrectomy. 2. Ryle's Tube. 3. Epiglottis.

ओर झुकी रहती है किन्तु पीड़ित ओर के पैर का अंगूठा दूसरे स्वस्थ पैर के अगूठे तक नही पहुँचता बल्कि कुछ पीछे ही रह जाता है। शिखरक निलेटन रेखा के ऊपर पहुँच जाता है जहाँ शोथ की उत्पत्ति न होने तक उसको अनुभव भी किया जा सकता है। नितम्ब के नीचे का गढा नष्ट हो जाता है।

गृध्रसी विश्लेष[1] गृध्रसी विश्लेष भी पश्चात् च्युति का ही प्रकार है तथा इसकी उत्पत्ति भी उसी तरह ही होती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि गृध्रसी विश्लेष मे अस्थि का सिर गृध्रसी द्वार तक ही रह जाता है क्योंकि आभ्यन्तर गवाक्षिका की कण्डरा सिरे के नीचे ग्रीवा पर आ जाती है तथा उसको ऊपर की ओर नही बढने देती। फलतः अग की लम्बाई भी उतनी कम नही हो पाती यद्यपि अंग की स्थिति उसी प्रकार की होती है।

चिकित्सा—दोनों अवस्थाओ की चिकित्सा सामान है। रोगी को फर्श पर ही चटाई या गद्दा बिछाकर लिटाने के बाद क्लोरोफार्म सुंघाकर बेहोश कर लिया जाता है। चिकित्सक जघा को घुटने पर उरु की ओर तथा उरु को उदर की ओर मोड़ता है और ये मोड समकोण तक आ जाने चाहिए। अब दोनो अग्रबाहुओ को चिकित्सक रोगी के घुटने के नीचे लगाकर रोगी को फर्श के ऊपर उठाने का प्रयत्न करता है किन्तु सहायक द्वारा रोगी को नीचे की ओर साधे रक्खा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उरु को उदर की ओर मुड़ी तथा बाहर की ओर खिची रखने के साथ ही साथ उसे अपने ही अक्ष पर बाहर की ओर घुमाया जाता[2] है। इस क्रिया से ऊर्वस्थि का सिर सन्धि-कोष के छिद्र पर आ जाता है तथा सन्धि की पेशियाँ भी ढीली पड जाती हैं। इसी समय शीघ्रता के साथ चिकित्सक अग को सामने की ओर लाकर दूसरे अग के समानान्तर कर देता है ताकि ऊर्वस्थि का सिर उलूखल के अन्दर चला जाय। ये सभी क्रियाएँ एक साथ क्रमशः की जानी चाहिए।

पूर्व एव पश्चात् दोनो ही प्रकार की च्युति मे सन्धान के पश्चात् रोगी को तीन सप्ताह तक चारपाई मे आराम करने देना चाहिए। पीड़ित शाखा को

1. Sciatic Dislocation 2. Externally Circumducted.

एकादश-अध्याय

सामान्य शस्त्र-कर्म

(शाखायें)

शस्त्र-कर्म किसे कहते हैं यह व्याख्या पीछे की जा चुकी है। सामान्य शस्त्र-कर्म[1] से तात्पर्य उन छोटे-छोटे शस्त्र-कर्मों से है जो सामान्य चिकित्सक द्वारा ही सम्भव है तथा हाउस सर्जन द्वारा बिना मुख्य सर्जन की सहायता के किए जा सकते हैं। विशेष शस्त्र-कर्म[2] उनको कहना चाहिए जो मुख्य सर्जन द्वारा ही किए जाने चाहिए। किन्तु इन विशेष एवं सामान्य शस्त्र-कर्म के मध्य निश्चित रेखा खींचकर दोनों को स्पष्टतः पृथक्-पृथक् नहीं किया जा सकता। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि जिन शस्त्र-कर्मों में भी तात्कालिक जीवन मरण का प्रश्न हो तथा जिनके करने के लिए विशेष कौशल की आवश्यकता हो वे प्रधान सर्जन द्वारा ही विशेष साधन सम्पन्न अस्पतालों में किए जाने चाहिए। इनको ही विशेष शस्त्र-कर्म कहा जा सकता है।

इस स्थल पर यथासम्भव सभी सामान्य शस्त्र-कर्मों का वर्णन किया जायगा।

अंगोच्छेदन—

अंगोच्छेदन[3] से तात्पर्य शरीर के किसी अवयव विशेष यथा कर्णपाली, स्तन, हाथ-पैर की उंगलियाँ या अधिक भाग को काटकर अलग कर देना है। आधुनिक युग में चर्मनिरोप[4], अस्थिनिरोप[5] तथा चिकित्सा के अन्य साधन इतनी उन्नति कर चुके हैं कि अंगोच्छेदन की कम आवश्यकता पड़ा करती है। जब किसी भी प्रकार अंग की रक्षा न की जा सके तभी अंगोच्छेदन

---

1. Minor operations 2. Major operations 3. Amputations 4. Skin grafiting 5. Bone grafting.

विषय	पृष्ठ संख्या
च वर्ग	
छिन्न क्षत (Incised wound)	२०४
जल वृषण (Hydrocele)	४६३
जत्रुकास्थि की च्युति	५६७
जीवाणु विज्ञान (Bacterology)	२७
जीवाणुओं से रक्षा	४६
जीवाणु नाशन (Antisepsis)	४७
ट वर्ग	
टाँके या सीवन	१२०
त वर्ग	
तन्त्रिका विकार जन्य व्रण	१६७
दन्त निष्कर्षण (Tooth Extraction)	५३१
दाह (Burn)	२३०
दुष्ट व्रण (Indolent ulcers)	१६४
निर्जीवाणुकरण (Sterilization)	६८
निकास (Drainage)	१२६
फुफ्फुस निपात (collapse)	१५२

विषय	पृष्ठ संख्या
प वर्ग	
परिदर्शन (Inspection)	१६
परिस्पर्शन (Falpation)	१८
परिताडन (Percussicn)	२४
परिस्रवण (Auscultation)	२५
पट्टियाँ (Bandages)	८४
पिच्चित क्षत (Contused wound)	२०६
प्रतिजीवी पदार्थ (Antibiotic)	५८
मूत्र एव प्रजनन तन्त्र के रोग	४४०
फिरंगज व्रण (Syphilitic ulcer)	२००
वन्ध्यत्वकर शस्त्रकर्म (Vasectomy or sterilizaticn operation)	५०४
भगन्दर (Fistu'a)	४३४
भिन्न-भिन्न प्रकार का रक्तस्राव	२७६
भेदक व्रण (Perforating-ulcer)	१६७
मस्तिष्क सपीडन (Cerebral compersssion)	२१७
मस्तिष्क क्षोभ	२२०
मणिबन्ध का विश्लेष	६०६

२—उच्चशाखा[1] का अङ्गोच्छेदन करते समय यह आवश्यक है कि जितना भी अधिक अङ्ग बचाया जा सके उतना ही अच्छा है क्योंकि कृत्रिम हाथ उपयोग की दृष्टि से बिलकुल व्यर्थ है जबकि—

३—निम्नशाखा[2] का विच्छेदन करते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि ठुंठ इतना दृढ तथा समुचित आकार का बने कि उसके आधार पर कृत्रिम पैर लगाकर रोगी आसानी से चल-फिर सके।

४—अङ्गोच्छेदन करते समय चर्म का कुछ भाग अधिक रखना पडता है जिससे ठूँठ को ढँका जा सके। चर्म के इस भाग को प्रालम्ब[3] कहते हैं। प्रालम्ब के सम्बन्ध मे निम्न बातें और भी ध्यान में रखने की हैं।—

(अ) उसमें रक्तप्रवाह अच्छी प्रकार होता रहे।

(ब) अस्थि के कटे हुए शिर को उससे भली प्रकार ढँका जा सके, न तो छोटे होने के कारण तनाव ही पड़े और न बडा होने के कारण ढीलापन हो रहे—इसीलिए प्रालम्ब के दोनों पर्तों को मिलाकर अङ्ग के व्यास का लगभग १¼ गुना रखा जाता है।

(स) टाँके ऐसे स्थल पर लगाए जायँ कि व्रणचिह्न बनने पर वहाँ कृत्रिम अंग के लगाने से घर्षण न हो।

(द) प्रालम्ब मे चर्म, चर्माधः वसा[4] तथा गम्भीर प्रावरणी[5] रहती है। इसके अलावा—

(य) यदि अग को अधिक ऊँचाई से काटा जा रहा है तो मांसपेशियों तथा अस्थ्यावरण[6] के अलग से प्रालम्ब बनाए जाते हैं जिनको कि अलग से कैटगट के धागों से सी दिया जाता है। चर्म का प्रालम्ब सबके बाद रेशम के धागों से सी दिया जाता है।

५—तन्त्रिका सूत्रों को जितना भी हो सके ऊँचे से काटना चाहिए।

---

1. Upper limb 2. Lower limb 3. Flap 4. Fat 5. Deep fascia 6. Periosteum.

डॉ० शिवदयाल गुप्त, ए० एम० एस० द्वारा लिखित पुस्तकें—

५—**एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका**—हिन्दी और देशी भाषाओं मे सर्वप्रथम प्रामाणिक पुस्तक। सुदीर्घ पाँच खण्डो मे एलोपैथी का सारा विज्ञान पढ़िये। पृ० सख्या ११५२। ६—**कम्पाउण्डरी शिक्षा एव चिकित्सा प्रवेश**।

७—**सचित्र-नेत्र-रोग विज्ञान (एलोपैथिक)**—प्रस्तुत पुस्तक मे नेत्र-रचना, उसकी कार्यक्षमता आदि विषयों पर सुन्दर विवेचन किया गया है। उ० प्र० सरकार से पुरस्कृत।

८—**एलोपैथिक सफल औषधियाँ**—इस पुस्तक मे सल्फा ग्रूप की सभी औषधियों, कालाजारनाशक, मलेरियानाशक, कुष्ठनाशक, कृमिनाशक आदि औषधियो का प्रयोग तथा पी० ए० एस० वेसीट्रेसीन, आयलोटायसिन और अब तक की निकली हुई जीवाणुरोधक औषधियो का वृहद् वर्णन सरल ढङ्ग से दिया गया है।

९—**मल-मूत्र रक्तादि परीक्षा (एलोपैथिक)**—मल-मूत्र, स्राव, प्रलेप, थूक, वीर्य आदि परीक्षाओ की विधि सरल ढङ्ग से दी गयी है।

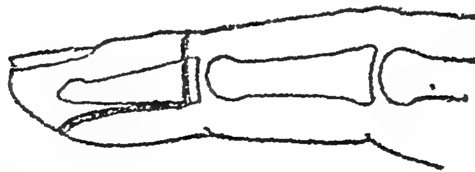
१०—**धात्री विज्ञान**—इस पुस्तक के लेखक चिकित्सा जगत मे चिरपरिचित एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका के प्रणेता डॉ० शिवदयाल गुप्त ए. एम. एस. हैं। कहने की आवश्यकता नही कि धात्री विज्ञान विषय पर सम्पूर्ण चिकित्सा के अनुसार अधिकृत रूप मे अभी तक कोई पुस्तक नही मिलती थी। डॉ० गुप्त ने इस विषय को अधिकृत रूप मे सामने रखकर गृहस्थ समाज के एक अभाव की पूर्ति की है। विशेषतः ग्रामीण जनता के लिए यह अति अलभ्य पुस्तक है। पृष्ठ-संख्या लगभग २०६।

११—**सामान्य शल्य चिकित्सा (सर्जरी)**—हिन्दी मे सर्जरी की यह पुस्तक सर्वोत्तम है। सैकड़ो चित्र, कपडे की जिल्द।

१२—**एलोपैथिक पेटेण्ट मेडिसिन्स** ले०—डॉ० अ० ना० पाण्डेय—इस पुस्तक मे एलोपैथी की प्रायः सभी दवाओ का वर्णन, उनका मिश्रण, प्रयोग विधि, मात्रा, किन-किन रोगो मे उनके प्रयोग से लाभ होता है, किन कम्पनियों द्वारा तैयार की गयी है आदि बाते सरल ढङ्ग से बतलायी गयी हैं।

चाहिए क्योंकि संकोचक[1] एवं प्रसारक[2] कण्डराओं का निवेश[3] द्वितीय पोरवे की अस्थि में ही होता है, प्रथम पोरवे की अस्थि में कोई संकोचक या प्रसारक कण्डरा नहीं लगती, अतः प्रथम पोरवे को झुकाया अथवा फैलाया नहीं जा सकता और ऐसी स्थिति में केवल प्रथम पोरवे को ही छोड़ देना भद्दा-सा मालूम पड़ेगा, इसलिए यह आवश्यक है कि पश्च प्रालम्ब छोटा एवं अग्र प्रालम्ब अपेक्षाकृत कुछ बड़ा बनाते हुए अस्थि को मध्य से आरी की सहायता से काटकर अलग किया जाय। यदि यह किन्हीं विशेष कारणों से सम्भव न हो तो संकोचक एवं प्रसारक पेशियों की कण्डरा को प्रालंबों के साथ या प्रथम पोरवे की अस्थि के शिरे पर लाकर एक दूसरे के साथ कैटगट के धागे से सी दिया जाता है। इस प्रकार करने से सम्भव है कि प्रथम पोरवे में भी कुछ गति बनी रह सके।

प्रथम पोरवे का अंगोच्छेदन—यदि यह आवश्यक न हो कि हाथ की पकड़ भी दृढ़ बनी रहे तो सम्बन्धित करभास्थि का शीर्ष भी काटकर अलग कर दिया जाना चाहिए क्योंकि अंगोच्छेदन के पश्चात् हाथ की सुन्दरता इसी में है। इस प्रकार अंगोच्छेदन के लिए जैसा कि चित्र ५८ में दिखाया गया है सम्बन्धित करभास्थि के पीछे की ओर लगभग मध्य में से सीधी रेखा में सन्धि तक छेदन करते हैं और फिर सन्धि के चारों ओर एक अण्डाकार छेदन कर दिया जाता है और इस प्रकार छेदन का आकार रेकिट के सदृश बन जाता है, प्रालम्बों को काटकर थोड़ा पीछे की ओर हटा दिया जाता है, सन्धि को स्पष्ट नहीं किया जाता किन्तु करभास्थि का शीर्ष और उसके पीछे ही गात्र का थोड़ा भाग भी साफ कर लिया जाता है जहाँ आरी या अस्थि संदश[4] की



(चित्र ५७) अन्तिम पोरवे का अंगोच्छेदन

1. Flexor and 2. Extensor Tendon 3. Insertion 4. Bone forceps.

५—स्त्री रोग चिकित्सा (सचित्र)—इस पुस्तक में तमाम स्त्री अवयवों का वर्णन, उनको होने वाले रोगों के कारण, परिचय, निदान एव उनकी समुचित चिकित्सा विधि होमियोपैथिक दवाओ द्वारा दी गई है।

६—होमियो पारिवारिक चिकित्सा—इस पुस्तक मे चिकित्सा सवधो आवश्यकीय सभी बातों, प्रत्येक रोगों के मुख्य-मुख्य लक्षणों, परिचय, निदान और परीक्षित होमियोपैथिक दवाओं द्वारा उनकी चिकित्सा-विधि दी गई है।

७—होमियो भेषज सार। ८—रोगी की सेवा और पथ्य। ९—होमियो इन्जेक्शन चिकित्सा। १०—भारतीय औषधावली तथा होमियो पेटेण्ट मेडिसिन। ११—होमियो पाकेट गाइड। १२—बायोकेमिक पाकेट गाइड। १३—होमियो गृह चिकित्सा। १४—जल चिकित्सा विज्ञान। १५—होमियो पशु चिकित्सा। १६—बायोकेमिक रहस्य। १७—पुरानी बीमारियाँ। १८—नैश रोजनल लोडर्स। १९—होमियो टायफायड चिकित्सा। २०—होमियो न्यूमोनिया चिकित्सा। २१—होमियो थाइसिस चिकित्सा। २२—थर्मामीटर। २३—एनीमा और कैथेटर। २४—रोग लक्षण संग्रह। २५—होमियो लेबुल बुक। २६—एलेन्स की नोट्स। २७—लोडर्स इन होमियोपैथिक थेराप्युटिक्स। २८—मेडिकल सर्टिफिकेट हिन्दी-अंग्रेजी।

२९—पीयर्स की कम्परेटिव मेटेरिया मेडिका—प्रसिद्ध होमियोपैथ डॉ० पीयर्स द्वारा लिखित यह मेटेरिया मेडिका अनेक अर्थों में अन्य मेटेरिया मेडिकाओं से विशिष्ट है। लेखक की पुस्तक "टान आन मेटेरिया मेडिका विथ कम्पैरिजन" का अविकल हिन्दी अनुवाद है। यह पुस्तक होमियोपैथ चिकित्सको के चिकित्सा कार्य मे अत्यन्त सहायक होगी। ३०—होमियो मेटेरिया मेडिका। ३१—होमियोपैथिक रिपर्टरी। ३२—बायो० रिपर्टरी। ३३—होमियो भेषज सम्बन्ध एवं क्रिया स्थिति काल। ३४—तुलनात्मक होमियो औषधि चुनाव एवं डायलुशन। ३५—आर फोर्टीइयर प्रैक्टिस।

सके करभास्थि के शीर्ष को न हटाया जाय क्योंकि अँगूठे के जितने भी भाग की रक्षा की जा सके उतना ही अच्छा है। इसीलिए जैसा कि चित्र ५८ में दिखाया गया है, छेदन यथासम्भव आगे की ओर ही होना चाहिए तथा उसको अण्डाकार नहीं बल्कि वृत्ताकार ही रखा जाता है ताकि करभास्थि के बड़े शीर्ष को ढकने के लिए बड़ा प्रालम्ब ही मिल सके। अगुलियों में भी यदि करभास्थि के शीर्ष को बचाना हो तो छेदन थोड़ा आगे बढ़ाकर ही किया जाता है।

पैर की उँगलियों का अंगोच्छेदन—इस सम्बन्ध में ध्यान रखना है कि जहाँ तक सम्भव हो सके प्रपदिकास्थि[1] काटना ठीक नहीं और न प्रपदिकास्थि तथा अगुल्यास्थि के बीच की सन्धि को ही खोलना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से पैर में दुर्बलता आ जाती है, प्रथम पोरवे की अस्थि को ही लगभग मध्य से या जहाँ भी ठीक हो अस्थिसंदंश की सहायता से काट दिया जाता है। यदि प्रपदिकास्थि तथा अंगुल्यास्थि के बीच की सन्धि को खोलना ही आवश्यक हो तो ध्यान रखना चाहिए कि यह सन्धि पैर में काफी गहराई तक पहुँचने पर ही मिल सकती है।

पैर के अगूठे को प्रपदिकास्थि एवं अंगुल्यास्थि की सन्धि पर से काटते समय ध्यान रखना है कि प्रालम्ब बड़ा बने ताकि प्रपदिकास्थि के शीर्ष को जो काफी बड़ा होता है, भली प्रकार ढका जा सके। इसके लिए छेदन सन्धि के अन्तः[2] पार्श्व से शुरू करके सीधा आगे की ओर प्रथम पोरवे के शीर्ष तक आता है। वहाँ से अँगूठे के नीचे होता हुआ अंगूठे एवं उँगली के बीच की घाई[3] में पहुँच जाता है। यहाँ से ऊपर की ओर तक पहुँच कर एक सीधी रेखा में ही जहाँ से ऊपर की ओर तक पहुँच कर एक सीधी रेखा में ही जहाँ से प्रारम्भ हुआ था, वहाँ पहुँच जाता है। साफ करने के पश्चात् अगूठे को काटकर अलग कर देते हैं। अंगूठे के अन्दर की ओर वाला प्रालम्ब वाह्य पश्चात्[4] ओर के सीवे प्रालम्ब के साथ सी दिया जाता है।

---

1. Metatarsal bone. 2. Medial 3. Cleft. 4. Outer and dorsal.

हस्त एवं अंगुली विद्रधि—

पैरों की अपेक्षा हाथों की उँगलियों मे ही विद्रधि बहुधा उत्पन्न होते देखी जाती है तथा इसकी चिकित्सा मे भी विशेप सावधानी की आवश्यकता है। अगुली विद्रधि मे पीड़ा अवश्य अधिक होती है। किन्तु जीवन के लिए कोई खतरा नहीं, फिर भी चिकित्सा में विशेष सावधानी की आवश्यकता इस-लिए है कि यदि उचित प्रकार से चिकित्सा नही की जाती तो हाथ मे स्थायी स्वरूप की विकृति आ जा सकती है जो कार्य करने की सामर्थ्य मे वाधा डाले। छेदन का उचित समय, छेदन का स्थान एवं विस्तार तथा छेदन के बाद पश्चात् शुश्रूषा सभी बाते महत्व की है।

उपसर्ग प्रायः स्ट्रेप्टोकोक्कस पायोजीनस या स्टैफिलोकोक्कस ओरियस के द्वारा ही होता है तनिक-सी खरोच, सुई का चुभना आदि के द्वारा ही अन्दर पहुँच कर विद्रधि की उत्पत्ति कर देते है। प्रारम्भ मे शोथ की ही उत्पत्ति होती है और जब तक पूय एक स्थान विशेष पर सीमित न हो जाय, छेदन करना युक्तिसंगत नही क्योंकि ऐसी स्थिति मे उपसर्ग का और भी अधिक प्रसार हो सकता है। अतः उचित है कि प्रारम्भ मे पेनिसिलिन का इंजेक्शन द्वारा प्रयोग किया जाय। प्रोकेन पेनिसिलीन के दो-तीन दिन तक प्रतिदिन इजेक्शन देने से शोथ की समाप्ति हो सकती है अथवा पूय एक स्थान पर सीमित हो जाती है; जहाँ से कि उसको चीरा देकर निकाला जा सकता है। सल्फनोमायड विभाग की औषधियों का मुख द्वारा प्रयोग भी हितकर है। पीड़ा शान्ति के लिए पीड़ाशामक औषधियो का प्रयोग ही किया जा सकता है।

जब यह निश्चित हो जाय कि पूय किसी स्थल विशेप पर सीमित हो चुकी है तो वहाँ चीरा लगाया जा सकता है। चीरा यथावश्यक रूप से गहरा तथा लम्बा होना चाहिए ताकि पूय को बाहर निकलने का मार्ग मिल सके और साथ ही जिस स्थल पर चीरा लगाना है वहाँ की रचना विशेष[1] का भी ध्यान रखना है।

---

1. Anatomical Relations.

चीरा के द्वारा एक बार पूय निकल जाने के पश्चात् भी निकास होते रहना आवश्यक है और इसके लिए प्रथम साधारण बात तो यह ध्यान मे रखनी है कि जहाँ चीरा लगाया गया है वह स्थान नीचे की ओर रखा जाय ताकि द्रव का बहाव उसी ओर को बना रहने के कारण पूय स्वयमेव निकलती रहे। इसके अलावा व्रणोष्ठों के मध्य मे रबर के दस्ताने का टुकडा रखा जा सकता है ताकि वे खुले रहे और पूय निकलती रहे। इसको भी ३६-४८ घण्टे तक ही रखना पर्याप्त है। निकास के लिए रबर ट्यूब का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए। पेनिसिलीन एवं सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग शल्य-कर्म के बाद भी आवश्यक है। इन सबके अतिरिक्त उष्ण स्वेद भी बहुत लाभकर होता है और इस दृष्टि से गर्म जल मे हाथ डुबा-डुबा कर सेकना युक्तिसगत कहा जा सकता है।

चीरा देते समय सर्वांग संज्ञाहरण की आवश्यकता पड़ सकती है किन्तु यदि केवल उॅगली मे ही चीरा देना है तो अगुली मूल मे कोकेन के इंजेक्शन से काम चलाया जा सकता है। ईथायल क्लोरायड आदि का प्रयोग ठीक नहीं क्योंकि उससे स्थानिक धातुओ को क्षति पहुँचती है।

पूय की स्थिति के अनुसार अगुली विद्रधि[1] या चिप्प चर्मगत[2], अवत्वक्[3] पर्यास्थिकलाधः[4] अथवा कडरावरण विद्रधि[5] हो सकती है—

चर्मगत—इसमे पूय चर्म के ऊपरी पर्त उपचर्म के नीचे ही अर्थात् चर्म के दोनो पर्तों के मध्य मे स्थित होती है। अवस्था उग्रस्वरूप की नही तथा पीड़ा भी थोडी ही होती है। चर्म के ऊपरी पर्त को काटकर पूय को निकाल दिया जाता है तथा साधारण उपचार से ही व्रण शीघ्र भर जाता है। चर्म के नीचे से पूय आती मालूम पडे तो तदनुकूल व्यवस्था की जानी चाहिए।

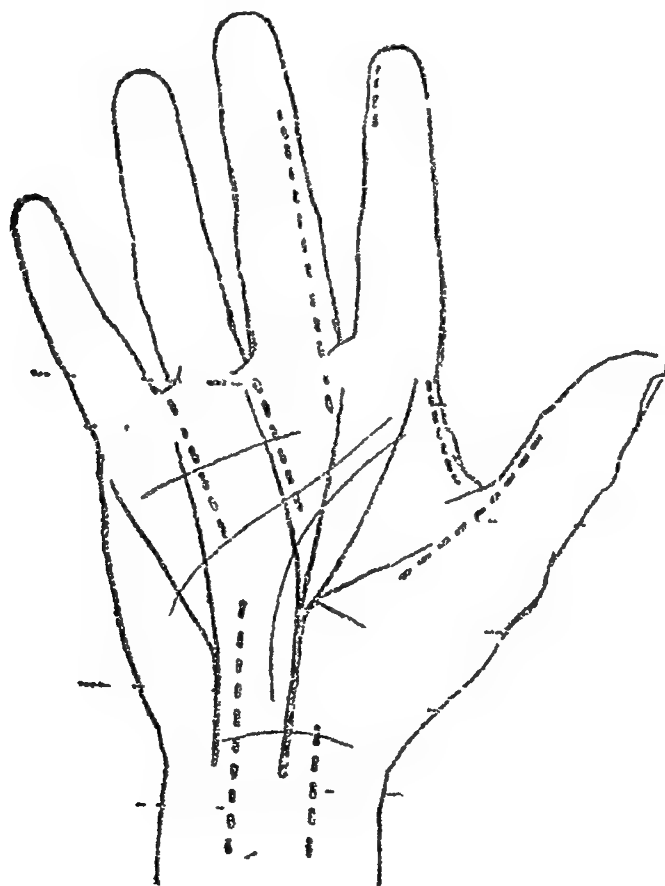
अवत्वक्—यह यथार्थ मे उॅगली के चर्म के नोचे की मास की विद्रधि है। तनाव बढने से अगुली कडी, रक्तवर्ण तथा शोथयुक्त हो जाती है और

---

1. Whitlow. 2. Subcuticular. 3. Subcutaneous. 4. Periosteal. 5. Thecal.

उसमें तीव्र पीड़ा होती है जिसके कारण रोगी को अच्छी प्रकार नींद भी नहीं आ सकती। चिकित्सा मे देर करने या अनुपयुक्त रूप की चिकित्सा से अस्थि मे विकृति हो सकती अथवा कण्डरावरण विद्रधि का रूप बन जा सकता है। प्रारम्भ में शोथ के समय मांस कड़ा होता है किन्तु पूय की उत्पत्ति हो जाने पर वहाँ कुछ ढीलापन आ जाता है। फिर भी तनाव की अधिकता के कारण पूय की उपस्थिति का निर्णय कठिन होता है।

चिकित्सा—पेनिसिलिन आदि के प्रयोग से यदि शोथ शान्त नहीं होता तथा पूय की उत्पत्ति हो ही जाती है तो चीरा देना आवश्यक है। चीरा उँगली के अन्तिम पोरवे के पार्श्व में दिया जाता है (चित्र ५६) और यदि आवश्यक



चित्र ५६—हाथ की विद्रधि के लिए भिन्न छेदन रेखाएँ

हो तो दोनो ओर लगाया जा सकता है। कभी-कभी दोनों ओर के चीराओ को मिला भीदिया जाता है और इस प्रकार U आकार का चीरा बन जाता है।

किन्तु जहाँ तक भी सम्भव हो सके इस प्रकार मिलाना नहीं चाहिए क्योंकि ऐसा करने से अन्तिम पोरवा संकुचित तथा अकार्यक्षम-सा हो जाता है। चीरा के पश्चात् पेनिसिलिन का प्रयोग तथा साधारणतया व्रणोपचार किया जाता है।

नखमांस विद्रधि[1]—चर्माधः अंगुली विद्रधि का ही एक विशेष रूप नखमांस विद्रधि है। इस प्रकार की स्थिति नख के आस-पास क्षत हो जाने से उत्पन्न हो जाती है जब कि पूय की उत्पत्ति नख के आस-पास या उसके नीचे होती है। यदि नख के नीचे पूय उपस्थित होती है तो नख ऊपर की ओर को उठ जाता है। पीडा असह्य होती है तथा रोगी को ज्वर भी आने लग सकता है।

चिकित्सा—नख के कोनों से एक अथवा दोनों तरफ ऊपर की ओर चर्माधः धातु में छेदन किया जाता है। इस प्रकार करने से नखमूल में एक छोटा सा प्रालम्ब[2] बन जाता है जिसके नीचे रबर के दस्ताने का टुकड़ा प्रतिदिन रखा जाता है ताकि पूय का निर्हरण होता रहे। यदि नख का केवल एक ओर का आधा भाग ही विकृत हो तो एक नोकदार कर्तनी का एक फल नख के नीचे प्रविष्ट करके नख को काट दिया जाता तथा विकृत आधे नख को ही अलग कर दिया जाता है। यदि नख के केवल ऊपरी भाग के नीचे ही पूय उपस्थित हो तो ऊपरी आधे भाग को ही काटकर अलग कर दिया जाना चाहिए। संक्षेप में पूय की स्थिति के अनुसार चीरा देना तथा चीरा के पश्चात् सामान्य विधि से व्रणोपचार करना है।

पर्यस्थिस्राव:—इस प्रकार की स्थिति बहुत कम देखने को मिलती है जिसमें कि उपसर्ग के अंगुल्यास्थि के आवरण के नीचे पहुँचने पर वहाँ पूय बनने तथा अस्थि गलने लगती है। शोथ के सभी लक्षण समाप्त हो जाने पर भी पूय का निकलना बन्द नहीं होता। चर्म में व्रण बन जाते हैं जिसमें होकर पूय निकलती रहती है। व्रण में सलाई डालकर गली हुई अस्थि को अनुभव

1. Paronychia, 2. Flap.

किया जा सकता है। इस अवस्था मे भी शोथ हथेली या अग्रबाहु तक फैल सकता है यद्यपि इसकी सम्भावना कम रहती है। सन्धियां के विकृत हो जाने से सन्धि ग्रह[1] की अवस्था उत्पन्न हो जा सकती है।

चिकित्सा—शस्त्र-कर्म आवश्यक है। व्रण को खोलकर अस्थि को स्पष्ट किया जाना चाहिए। अस्थि का टुकड़ा यदि गलकर अलग हो चुका है तो उसको निकाल दिया जाता अथवा गले हुए भाग को केवल खुरच कर काम चलाया जा सकता है। विशेष विकृति होने पर गले हुए पोरवे को काटकर अलग किया जा सकता है।

कण्डरावरण विद्रधि—नाम से ही स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्थिति मे कण्डरावरण मे पूय पड जाती है। प्रारम्भ मे शोथ उत्पन्न होता है जिसकी यदि उचित चिकित्सा नहीं की जाती तो पूयोत्पत्ति हो जाती है। हथेली की ओर स्थित संकोचक पेशियों के कण्डरावरणो मे शोथ का प्रारम्भ होता है। हाथ मे इन कण्डरावरणो की स्थिति जैसा कि चित्र ६० से स्पष्ट है, इस प्रकार है कि बीच की तीन उँगुलियो से उपसर्ग का प्रसार ऊपर हथेली या बाहु की ओर नहीं हो सकता जब कि अंगुष्ठ या कनिष्ठा से ऐसा हो सकता है। इस प्रकार उपसर्ग के ऊपर की ओर फैलने के अलावा यह भी सम्भव है कि कण्डरावरणो के गल जाने से पूय के चारो ओर फैल जाने पर सम्पूर्ण हाथ मे अवत्वक् शोथ की उत्पत्ति हो जाय।

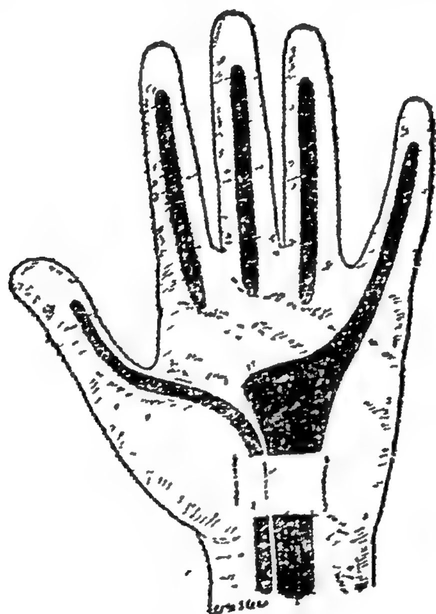
शोथ का प्रारम्भ प्रायः उँगुली से ही होता है और जिस उँगुली से शोथ का प्रारम्भ होता है उसमे तीव्र पीड़ा होती तथा उँगुली शोथ व तनावयुक्त लाल होती है। कण्डरावरणो में शोथ होने के कारण रोगी उँगुली को मोड़ नही सकता।

जब शोथ उँगुली से आगे ऊपर हथेली, मणि बन्ध[2] या अग्रबाहु की ओर बढ़ता है तो ये स्थान भी रक्तवर्ण, शोथ, तनाव एवं पीड़ा युक्त हो जाते हैं। इन सबके साथ ही ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण भी उग्र हो जाते है तथा रोगी पीड़ा और ज्वरादि के कारण बहुत बेचैन रहता है।

---

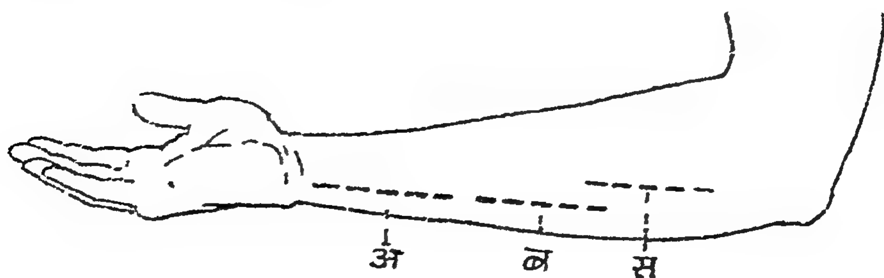
1. Ankylosis 2. Wrist.

चिकित्सा—प्रारम्भ मे शोथ युक्त स्थान का ऊष्म स्वेद तथा पेनिसिलिन, अन्य प्रतिजीवी योग एवं सल्फा विभाग की औषधियों के प्रयोग द्वारा शोथ को शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। जव तक पूयोत्पत्ति का पूर्ण निश्चय न हो, चीरा देना ठीक नहीं। पूयोत्पत्ति हो जाने पर लम्वे तथा गहरे चीरे देना आवश्यक है। पूय की स्थिति के अनुसार चीराओ का स्थान चित्र ५६ मे दिखाए अनुसार होना चाहिए। ध्यान रखना चाहिए कि छोटे एवं उथले



चित्र ६०—हाथ मे कण्डरावरणों की विद्रधि

चीरा ठीक नहीं। कभी-कभी अंगुली के अग्र से उंगुली के मूल तक छेदन करना आवश्यक होता है और अंगुष्ठ तथा कनिष्ठा मे इस प्रकार की और भी विशेष



चित्र ६१—वाहु के लिए छेदन रेखाएँ

आवश्यकता होती है। यदि उपसर्ग बाहु तक पहुँच गया है तथा वहाँ भी पूयोत्पत्ति हो चुकी है तो वहाँ भी जैसा कि चित्र ६१ मे दिखाया गया है छेदन आवश्यक है किन्तु आधुनिक युग में इस प्रकार की आवश्यकता ही नही पड़ा करती—केवल उसी समय पड़ सकती है जब रोगी अत्यधिक लापरवाह हो और बहुत अधिक विलम्ब से ही चिकित्सक के पास आवे।

चीरा के पश्चात् निकास का उचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए तथा जैसा कि पीछे भी संकेत किया जा चुका है पेनिसिलीन एवं सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग भी आवश्यक है।

पश्चात् शुश्रूषा—प्रत्येक अवस्था मे हाथ के लिए पूर्ण आराम की आवश्यकता है। यदि शल्य-कर्म किया जाता है तब भी हाथ को आराम की स्थिति मे ही इस प्रकार रखना चाहिए कि निकास ठीक प्रकार से होता रहे। कण्डरावरण विद्रधि की अवस्था मे एल्यूमीनियम की खपच्चियों की सहायता से उँगलियों को थोड़े सकोच की अवस्था मे स्थिर रखना चाहिये। हथेली मे उपसर्ग होने की अवस्था मे पीछे की ओर प्लास्टर की खपच्ची लगाकर मणिबन्ध पर हाथ को थोड़ा पीछे की ओर झुकाते हुए स्थिर रखा जा सकता है और साथ ही पीड़ित उँगली पर भी खपच्ची लगाई जा सकती है। इन सबके साथ ही ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि हाथ को स्थिर रखने के लिए खपच्चियाँ उसी अवस्था मे लगाई जायँ जब उनसे रोगी को आराम मिलता हो, अन्यथा नही।

यदि चीरा ठीक प्रकार लगाया गया है तथा पूय के निकास का उचित प्रबन्ध कर दिया गया है तो जीवाणुनाशक औषधियों के स्थानिक प्रयोग का कोई महत्व नहीं और फिर क्षत को जितना कम खोला जाय उतना ही अच्छा है। पूयोत्पत्ति बन्द हो चुकने पर केवल मात्र शुद्ध पैराफिन से व्रणोपचार किया जा सकता है। प्रतिदिन अथवा प्रति दूसरे-तीसरे दिन उष्ण लवणजल मे हाथ को डुबा-डुबा कर सेकने से बहुत लाभ होता है।

कण्डरावरण विद्रधि की अवस्था मे चीरा के पश्चात् जब हालत मे सुधार होने लगे तब पाचवे दिन से उँगलियों मे रोगी स्वतः गति करने लगता है

अथवा सातवे दिन से परिचारक द्वारा उँगलियों को मोड़ा तथा प्रसारित किया जाता है। यदि उँगलियाँ अधिक संकुचित हो गई हो तो यह आवश्यक है कि सर्वांग सज्ञाहरण के पश्चात् उनको प्रसारित किया जाय तथा उसमें गति लाई जाय।

यदि कण्डरा गलने लगता है तो व्रण के विरोहण में बहुत विलम्ब लगता है अथवा नाडी व्रण की उत्पत्ति हो जाती है, ऐसी स्थिति मे कण्डरा को काट कर अलग करना पड़ सकता है। कण्डरा के काट कर अलग कर देने पर अंगुली व्यर्थ हो जायगी यह निश्चित है, अतः यदि वह रोगी को कष्टकर हो तो अगोच्छेदन कर देना चाहिए।

ध्यान रखना चाहिए कि शल्य-कर्म के पूर्व या पश्चात् पेनिसिलिन एवं सल्फा विभाग की औषधियो का प्रयोग बहुत ही महत्वपूर्ण है।

अन्य विकृतियाँ—

करतल प्रावरणी आकुञ्चन[1]—हथेली की प्रावरणी[2] मे सकोच के कारण उत्पन्न हाथ की यह एक विशेष प्रकार की विरूपता[3] है जिसमे हाथ संकुचित रहता है। प्रारम्भ कनिष्ठा[4] के पास वाली अगुली भी विकृत् हो जाती है यद्यपि बाद मे मध्या[5] तथा उसके पास वाली अंगुली भी विकृत् हो जाती है। अँगुली की प्रथम एव द्वितीय सन्धि अचल किन्तु अन्तिम सन्धि चल रहती है। इसकी एक मात्र चिकित्सा शल्य-कर्म द्वारा विकृति को ठीक करना है यद्यपि शल्य-कर्म के पश्चात् विकृति के शीघ्र ही पुनः उत्पन्न हो जाने की भी बहुत कुछ सम्भावना रहती है। ऐसे स्थल पर जहाँ चर्म एवं प्रावरणी एक दूसरे के साथ ससक्त नहीं होते, कण्डराकर्तक[6] चर्म के नीचे प्रविष्ट किया जाता है तथा आगे से पीछे की ओर चाकू चलाते हुए सकुचित प्रावरणी को काट दिया जाता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चाकू अधिक गहराई पर नही चला जाय अन्यथा कण्डरा के कट जाने से सम्बन्धित अँगुली व्यर्थ हो जा सकती है। अँगुली को एकदम अधिक सीधा करना ठीक नही

---

1. Dupuytren's contracture 2. Fascia 3. Deformity 4. Small Finger 5. Middle Finger 6. Tenotome.

क्योंकि ऐसा करने से ऊपर चर्म फट जा सकता है। यह हो सकता है कि प्रावरणी को एक स्थल पर न काटकर दो-चार स्थानों पर काटा जाय। शस्त्र-कर्म स्थानिक सज्ञाहरण या सर्वांग संज्ञाहरण की सहायता लेते हुए ही किया जा सकता है और इसके बाद कम से कम एक सप्ताह तक अँगुलियो को सीधा रखते हुए खपच्ची बाँधी जाती है। इसके बाद खपच्चियों का प्रयोग केवल रात मे ही किया जाता है, दिन मे व्यायाम के रूप मे अँगुलियाँ चलाते रह सकते हैं। कभी-कभी सफल शस्त्र-कर्म के बहुत समय पश्चात् तक पुनरावर्तन होते देखे जा सकते है। यदि हाथ का सकोच बहुत अधिक है तो और भी उग्र स्वरूप के शस्त्र-कर्म की आवश्यकता पड़ सकती है जिसमे व्रण वस्तु को काटकर बिलकुल अलग करके अँगुलियो को सीधा कर दिया जाता तथा काटकर अलग किए गए स्थान पर त्वक् निरोप कर दिया जाता है।

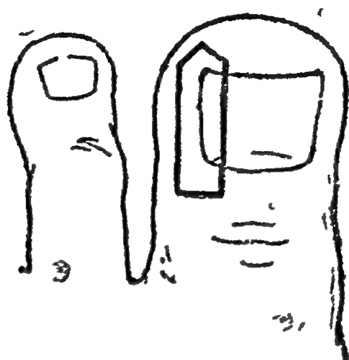
अन्तः वृद्धि युक्त नख[1]—इसका तात्पर्य बढ़ते हुए नख का रुख अन्दर की ओर हो जाना है जो कि बहुत पीड़ाकर होता है। विकृति प्रायः पादागुष्ठ के बाहर की ओर ही पाई जाती है और अधिकाश मे उसका कारण तग जूते पहनना होता है।

ठीक प्रकार के जूते पहनने तथा नख की भली प्रकार देखभाल करते रहने से विकृति को ठीक किया जा सकता है। नाखून काटते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसको किनारों पर अधिक न काट दिया जाय बल्कि थोडा बाहर की ओर निकला रहने दिया जाय। बाहर निकले हुए किनारों के नीचे थोड़ी रुई लगाई जा सकती है ताकि नख का दबाव नीचे की ओर को न पडे।

जब इस प्रकार की साधारण चिकित्सा से काम न चले तो नख की विकृति की ओर से छोटी पट्टी-सी काटकर अलग की जा सकती है, एक दृढ़ कर्तनी का नोकदार फल नख के नीचे अन्दर प्रविष्ट करके नख को मूल तक काट दिया जाता है। तथा पट्टी को चिमटी से पकड़कर अलग कर देते है। यदि विकृति का पुनरावर्तन या दीर्घकालीन विकृति होने पर नख एवं आस-

1. Ingrowing Toe-nail.

पास की शोथ युक्त धातुओं को लेते हुए फाने[1] के आकार का टुकड़ा (चित्र ६२) काटकर अलग कर दिया जाता है। काटकर अलग करने के



(चित्र ६२)

अन्तः वृद्धि युक्त नख के लिए शल्य-कर्म

पश्चात् टांके नहीं लगाए जाते बल्कि कणिका ऊतक[2] की उत्पत्ति द्वारा व्रण का रोपण होने दिया जाता है।

जब नख के दोनों ओर के किनारे ही अन्दर की ओर वृद्धि कर रहे हों तो सम्पूर्ण नख को सावधानी के साथ अलग कर दिया जाना चाहिये तथा बाद मे साधारण व्रणोपचार करके व्रण को ठीक किया जा सकता है।

नखाधः अस्थिवृद्धि[3]—कभी-कभी नख के नीचे अर्बुद के रूप मे अस्थि की वृद्धि होने लगती है जिसके कारण नख ऊपर को उठ जाता है तथा रोगी को असह्य पीड़ा होती है। इसको एकमात्र चिकित्सा नख को काटकर अलग कर देने के बाद वृद्धि को सावधानी के साथ हटा देना है। ध्यान रखना चाहिए कि वृद्धि का समूल नाश आवश्यक है, अन्यथा उसके पुनः उत्पन्न हो जाने की आशंका बनी रहेगी।

इस प्रकार की विकृति भी प्रायः पादांगुष्ठ मे ही उत्पन्न होती देखी जाती है।

1. Wedge shaped 2. Granulation Tissue. 3. Subungual Exostosis.

पादांगुष्ठ स्तम्भ[1]—यह यथार्थ मे अगुष्ठ मूल सन्धि का अस्थि सन्धि शोथ[2] है जिसके कारण अङ्गुष्ठ मे गति करने पर उसमे पीड़ा होती है, फलतः उसे चलाया नही जा सकता। सन्धि शोथयुक्त होती तथा जूता पहनने पर उसमे पीड़ा होती है।

सम्बन्धित प्रपदिकास्थि शीर्ष के नीचे जूते मे कोई टुकड़ा रखने तथा साथ ही इस प्रकार का जूता पहनने से, जिसमे शोथयुक्त सन्धि के लिये पर्याप्त अबकाश स्थान हो और सन्धि के ऊपर वाला भाग मुलायम हो उसमे गद्दी लगी हो, विकृति को बहुत कुछ शात रखा जा सकता है। यदि इस प्रकार करने से लाभ न हो तो शस्त्र-कर्म द्वारा प्रपदिकास्थि शीर्ष को काटकर अलग किया जा सकता है। इस प्रकार के शस्त्र-कर्म से सन्धि अचल हो जाती है किन्तु साथ ही साथ पीड़ा भी सदैव के लिए समाप्त हो जाती है। शस्त्र-कर्म के लगभग तीन सप्ताह बाद रोगी पूर्ववत् चलना-फिरना प्रारम्भ कर सकता है।

पादांगुष्ठ बहिर्नति[3]—इस विरूपता मे अंगुष्ठ पास वाली उँगली की ओर अपसारित हो जाता है तथा अंगुष्ठ मूल अथवा यह कहना चाहिए कि सम्बन्धित प्रपदिकास्थि का शीर्ष एकदम स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार की स्थिति मे सततः घर्षण के कारण उस स्थान पर ठेठ पड़ जाती तथा श्लेषपुटी[4] अर्थात् एक गद्दी-सी की उत्पत्ति हो जाती है जिसमे शोथ उत्पन्न हो सकता है। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि चिकित्सा की आवश्यकता उसी अवस्था मे है जब शोथ के कारण विरूपता कष्टकर हो अन्यथा उसको वैसे ही छोड़ देने मे भी कोई आपत्ति नही।

शोथ की उत्पत्ति होने पर पैर को कुछ दिन तक आराम से रखने तथा सामान्य उपचार करने से शोथ शान्त हो जाता है। इसके पश्चात् विरूपता के लिए शस्त्र कर्म की शरण ली जा सकती है।

---

1. Hallux Rigidus. 2. Osteo-arthritis. 3. Hallux algus. 4. Bursa.

जानुसन्धि के ऊपर टूर्नीकेट बाँधने के पश्चात् अङ्गुष्ठ मूल के पार्श्व में भीतर की ओर छेदन किया जाता तथा अंगुष्ठ मूल सन्धि को स्पष्ट करके उसके बन्धन काट दिए जाते हैं। अंगुल्यास्थि के शीर्ष को स्वतन्त्र करके अन्दर की ओर हटा दिया जाता है और यदि आवश्यक हो तो उसको काटकर अलग भी किया जा सकता है। प्रपदिकास्थि शीर्ष को भी यदि वह बहुत बढ़ गया हो तो काटकर अलग करने की आवश्यकता उसी अवस्था में है जब विरूपता बहुत बढ़ गई हो तथा अंगुष्ठ मूल सन्धि अचल हो। अन्यथा अस्थि के बढ़े हुए भाग को ही आरी की सहायता से काटकर अलग किया जा सकता है। चर्म के अधिक भाग को काटकर अलग कर दिया जाता तथा टाँके लगाकर क्षत को बन्द कर देते हैं। अंगुष्ठ को सीधा रखते हुए कड़ी पट्टी बाँध दी जाती है और यदि आवश्यक हो, खपच्ची का प्रयोग कर सकते हैं।

पादांगुलि वक्रता—[1]इस प्रकार की विरूपांगता प्रायः अंगूठे के पास वाली उँगली में ही पाई जाती है और अधिकांश में पादांगुष्ठ बहिर्नति के साथ ही देखी जाती है। अँगुली धनुषाकार वक्र हो जाती है तथा उसकी उत्तलता ऊपर को ओर रहती है। अँगुली का आकार हथौडे के सदृश हो जाने के कारण ही अंग्रेजी में इसको हैमर-टो कहा जाता है। प्रारम्भतः विकृति का कारण अनुचित आकार के जूते होते हैं जिनमें पैर की अँगुलियाँ एकदम सिकुड़ी हुई रहती हैं। अंगुली के पार्श्व तथा नीचे के बन्धनों के संकोच के कारण विकृति बढ़ती जाती है, नीचे का चर्म भी संकुचित हो जाता है। अँगुली के ऊपर ठेठ पड़ जा सकती। कभी-कभी यह अवस्था जन्मजात विकृति के रूप में भी देखी जाती है।

प्रारम्भ में अंगुली को खपच्ची के आधार पर सीधी बाँधकर अथवा प्लास्टर लगाकर सीधी करके ठीक किया जा सकता है। जूते भी ठीक प्रकार के पहनाए जाने चाहिए। दीर्घकालीन विकृति में शस्त्र-कर्म की आवश्यकता

1. Hammar Toe.

पड़ सकती है। किन्तु शस्त्र-कर्म उसी समय किया जाना चाहिए जब स्थानिक शोथ शान्त हो चुका हो। विकृत अंगुली का अंगोच्छेदन किया जाना कभी भी ठीक नहीं क्योंकि इससे पादागुष्ठ बहिर्नति बढ़ने मे सहायता मिलेगी।

अंगुली में ऊपर ओर ठूठ को सम्मिलित करते हुए एक अण्डाकार छेदन किया जाता है। इस अण्डाकार छेदन की लम्बी धुरी अँगुली की लम्बाई की दिशा मे न होकर उसके विरुद्ध दिशा मे रहती है। द्वितीय अगुल्यस्थि मध्य सन्धि[1] को स्पष्ट करके प्रथम अंगुल्यस्थि[2] का शीर्ष एवं ग्रीवा काटकर अलग कर दी जाती है। इसके पश्चात् अँगुली को सीधा करते हुए चर्म मे टांके लगाकर क्षत को बन्द कर किया जाता है तथा खपच्ची के आधार पर अंगुली को सीधा रखते हुए पट्टी बाँध दी जाती है। जब तक क्षत पूर्णतः रोपण न हो जाय, खपच्ची बाधे रखना चाहिए।



1. Inter phalangeal joint 2. First phalanx.

बारहवाँ-अध्याय

सामान्य शल्य-कर्म

(श्वसन-तन्त्र)

श्वास-प्रणाल छिद्रकरण[1]—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस शस्त्र-कर्म का अर्थ वायु के आवागमन के लिए कृत्रिम मार्ग बनाने के उद्देश्य से श्वास-प्रणाल मे छिद्र करना है। इस प्रकार की आवश्यकता केवल दो ही अवस्थाओ मे पड जाया करती है। यथा—(१) किसी रोग जैसे रोहिणी[2], बाह्य शल्य के गले मे अटकने, आघात अथवा गले पर बाह्य दबाव के कारण ऊपरी श्वास मार्ग मे रुकावट आने या (२) मुख कुहर, नासा या गले में कोई शस्त्र-कर्म करते समय रक्त या पूय आदि के श्वास-नलिका मे चले जाने को रोकने के उद्देश्य से श्वास-प्रणाल छिद्रीकरण शस्त्र-कर्म के पश्चात् गले को गौज आदि भर कर बन्द कर देने के लिए।

रोगी की जीवन-रक्षा के लिए यह शस्त्र-कर्म बहुत ही महत्व का है जिसकी आवश्यकता अकस्मात् ही पड जाया करती है और उस समय जो भी साधन उपलब्ध हो उन्ही की सहायता से तत्क्षण शस्त्र-कर्म कर देना ही चिकित्सक की बुद्धिमानी है। शस्त्र-कर्म द्वारा वायु आवागमन के लिए बनाए गए इस मार्ग की जब कुछ घण्टों के लिए ही और तत्क्षण आवश्यकता होती है तब श्वास प्रणाल छिद्रकरण[3] शल्य-कर्म किया जाता है किन्तु जब इस मार्ग की कुछ अधिक समय के लिए आवश्यक होती है तब श्वास-प्रणाल छिद्रकरण शस्त्र-कर्म किया जाता है।

---

1. Tracheostomy. 2. Diphtheria. 3. Laryngotomy.

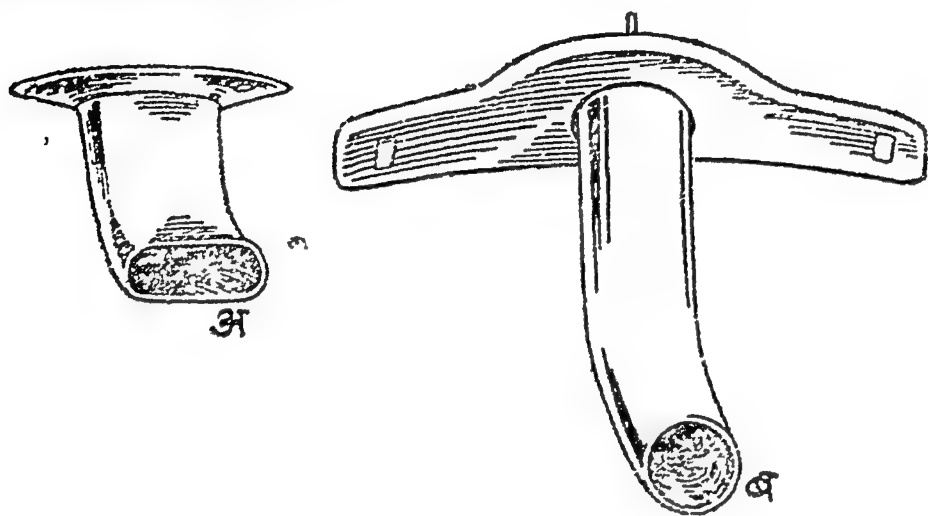
श्वास-प्रणाल मे उपास्थि अर्थात् कार्टिलेज के लगभग १५-२० वलय[1] होते हैं जिनमे से लगभग ६-७ वक्षास्थि से ऊपर और शेष उसके पाछे रहते है। तीसरे व चौथे वलय को अवटुका ग्रन्थि का संयोजक भाग ढँके रहता है। इस संयोजक भाग[2] के ऊपर किए जाने वाले शस्त्र-कर्म को उच्चस्तरीय श्वास प्रणाल छिद्रकरण[3] तथा संयोजक भाग से नीचे की ओर किए जानेवाले शस्त्र-कर्म को निम्नस्तरीय श्वास प्रणाल छिद्रकरण[4] कहा जाता है। साधारणतया इसको क्रमशः उच्च या निम्न प्रणाल छिद्रकरण भी कह सकते हैं। प्रायः उच्च-नलिका वेधन ही ठीक पडता है और श्वास प्रणाल छिद्रकरण से यही समझा भी जाता है। निम्न प्रणाल छिद्रकरण शस्त्र-कर्म तो कुछ विशेष अवस्थाओं यथा अर्बुद या श्वास प्रणाल व श्वसनी मे पडे शल्य को निकालने के लिए ही किया जाता है।

श्वास प्रणाल नलिकाएँ—शस्त्र कर्म द्वारा छिद्र बना देने के पश्चात् वायु के आवागमन के लिए छिद्र मे होकर विशेष आकार-प्रकार की नलिकाओ को प्रविष्ट करना पडता है जिनको श्वास-प्रणाल नलिकाएँ[5] कहते है। ये रबर की या चाँदी की बनी हुई होती है। रबर की मुलायम होने के कारण अधिक आरामदेह रहती है किन्तु चाँदी की निर्मित नलिकाएँ ही अधिक उपयुक्त पडा करती है क्योंकि एक तो यह दब नहीं सकती और दूसरे बाह्य नलिका[6] तथा अन्तर्नलिका[7] अलग-अलग होने के कारण अन्तर्नलिका को चाहे जब निकालकर साफ किया जा सकता और पुनः प्रविष्ट कर दिया जा सकता है। स्वरयन्त्र नलिका[8] तथा श्वासप्रणाल बेधन नलिका[9] मे प्रधान अन्तर

---

1. Rings 2. Isthmus 3. High Tracheostomy. 4. Low Tracheostomy 5. Tracheostomy tubes 6. Outer and 7. Inner Tube 8. Laryngotomy tube. 9. Tracheostomy tube.

यह होता है कि प्रथम का पूर्व पश्चात्[1] व्यास पार्श्विक[2] व्यास की अपेक्षा कम होता है अर्थात् नलिका चपटी होती है (चित्र ६३ अ) जबकि श्वास प्रणाल नलिका बिलकुल गोलाकार होती है। (चित्र ६३ ब)



चित्र ६३

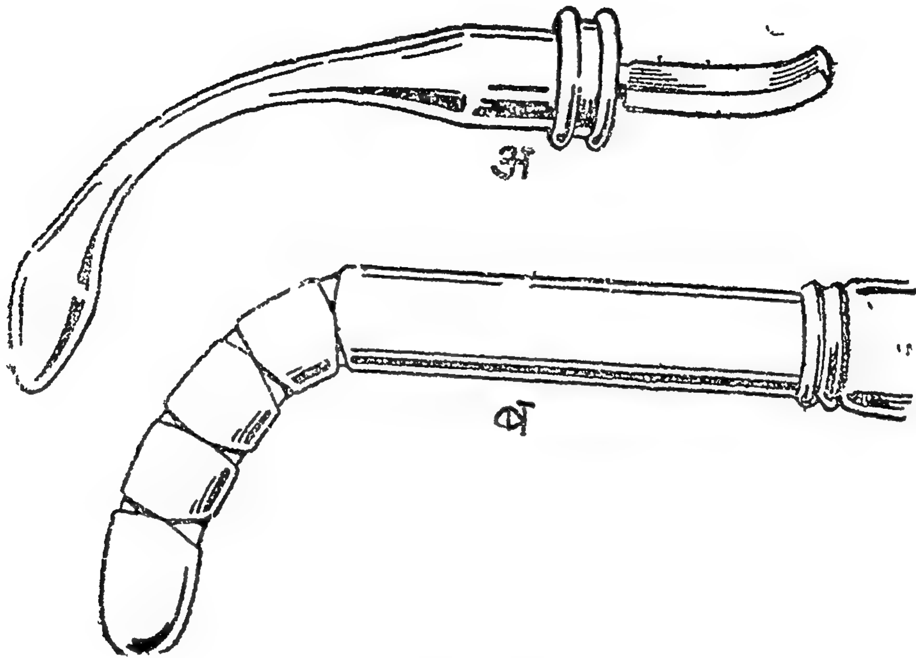
(अ) स्वरयन्त्र वेधन नलिका

(ब) श्वासनलिका वेधन नलिका

ये नलिकाएँ कड़ी होती हैं और इनका पीछे का उत्तल तल श्वास-प्रणाल की पश्चात् भित्ति के साथ तथा नीचे का शिरा श्वासप्रणाल की पूर्व व पश्चात् भित्ति के साथ सततः सम्पर्क में रहने के कारण घर्षण करता रह सकता है जिससे वहाँ व्रणोत्पत्ति की सम्भावना है। यदि व्रणोत्पत्ति हो जाती है तो व्रण से उत्पन्न स्राव के फुफ्फुसों में पहुँचते रहने से वहाँ शोथ की उत्पत्ति सम्भव है! यदि नलिकाएँ अधिक समय तक लगानी पड़ती है तो इस प्रकार की सम्भावना भी अधिक रहती है। इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से ही सुधार करके कई भिन्न-भिन्न प्रकार की नलिकाएँ तैयार की गई है जिनमे पार्कर[3] की तथा डरहम[4] नलिकाएँ मुख्य हैं। इनको प्रवेश करने के लिए एक

1. Antero posterior. 2. Lateral. 3. Parker. 4. Durham.

विशेष प्रकार के ट्रोकार की आवश्यकता पड़ा करती है जैसे कि चित्र ६४ में दिखाए गए हैं ।



चित्र—६४

नलिका मे प्रवेश के लिए ट्रोकार

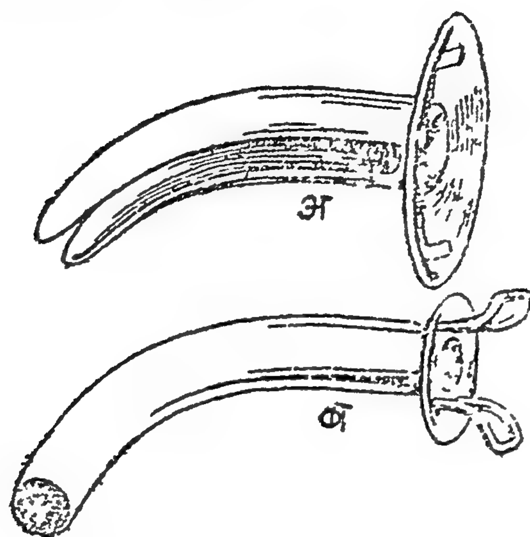
(अ) पार्कर
(ब) डर्रहम

इन दोनों के अविरिक्त एक तीसरे प्रकार की नलिका द्विकपाटीय नलिका[1] होती है जो आकार मे पार्कर की नलिका के समान है किन्तु जिसकी बाह्य नलिका द्विकपाटीय होती है (चित्र ६५) ये दोनों कपाट मिलाने पर शिरे पर शंक्वाकार रहते हैं जिससे नलिका को प्रविष्ट करने मे सुविधा रहती है तथा शिरा श्वासप्रणाल की भित्ति के साथ विशेष घर्षण भी नही कर सकता। प्रविष्ट करते समय दोनों कपाटो को दबाकर एक दूसरे के साथ मिला दिया जाता है ।

शस्त्र-कर्म—इस स्थल पर यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि शस्त्र-कर्म करने

1. Bivalve.

की विधि बहुत कुछ रोगी की अवस्था पर निर्भर करती है क्योंकि जैसा कि पीछे भी संकेत किया जा चुका है, ऐसी अवस्था भी हो सकती है जब एकदम जल्दी से जल्दी शस्त्र कर्म कर देना पडे और विशेष तैयारी करने या



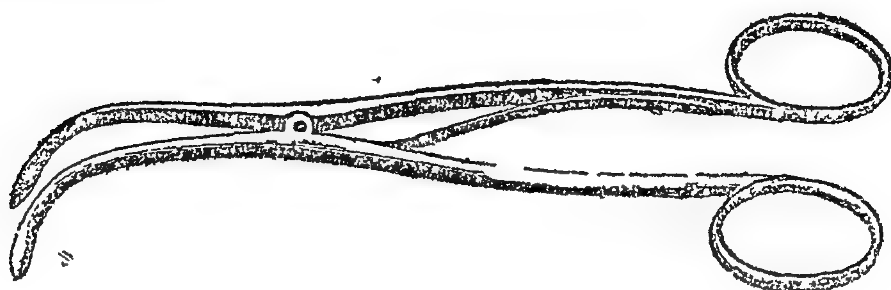
चित्र—६५
द्विकपाटीय श्वास नलिका वेधन नलिका
(अ) बाह्य भाग
(ब) आन्तरिक भाग

सावधानियाँ वर्तने के लिए समय न मिले। ऐसे-ऐसे उदाहरण है जब रोगी की जीवन रक्षा के लिए सडक के किनारे ही सामान्य चाकू आदि की सहायता से ही श्वास-प्रणाल मे छिद्र करना पडा है और इस प्रकार का साहसिक कार्य चिकित्सक की दक्षता एव तात्कालिक सूझ-बूझ का ही परिचायक है। दूसरी बात जो ध्यान मे रखने की है वह यह है कि यदि श्वास मार्ग मे रोहिणी या दूसरे प्रकार के उपसर्ग का प्रश्न है तो चिकित्सक को उपसर्ग से अपना व अपने सहायको की रक्षा करने का ध्यान रखना चाहिए तथा इस उद्देश्य से मुखावरणों[1] का प्रयोग आवश्यक है।

शस्त्र जिनकी कि आवश्यकता पड सकती है छुरी या वेधस पत्र[2], चिमटी,

1. Face mask 2. Scalpel.

धमनी संदंश[1], तीन अंकुश[2] जिसमे दो साधारण तथा एक तेज शीर्ष[3] युक्त, श्वास प्रणाल नलिका, श्वास प्रणाल प्रसारक[4] (चित्र ६६) तथा सुई व रेशम के धागे आदि हैं।



चित्र ६६
श्वासनलिका प्रसारक

संज्ञाहरण के लिए सर्वांग संज्ञाहरण का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि औषधि का सुँघाना उसी समय प्रारम्भ किया जाय जब चिकित्सक हाथ मे वेधस पत्र लेकर शस्त्र-कर्म के लिए बिलकुल तैयार हो गया हो क्योंकि औषधि सुँघाते-सुँघाते ऐसी स्थिति आ सकती है जब श्वास प्रणाल मे तत्क्षण छिद्र कर देना पड़े। नोवोकेन २ प्रतिशत शक्ति के घोल के स्थानिक प्रयोग से भी काम चल सकता है और यथासम्भव चलाना चाहिए। नोवोकेन के घोल मे दो चार बूंद एड्रीनेलीन क्लोरायड की मिलाई जा सकती है।

रोगी को मेज पर चित् लिटा दिया जाता है तथा उसके कन्धो एव गर्दन के नीचे एक छोटा तकिया रख दिया जाता है ताकि ग्रीवा पीछे की ओर यथासभव अधिक से अधिक झुकी रहे। चिकित्सक रोगी के दाईं ओर, उसका प्रधान सहायक सिर की तरफ तथा दूसरा सहायक चिकित्सक के दाईं तरफ खडा होता है। संज्ञाहरक पदार्थ का प्रयोग करने वाले व्यक्ति को रोगी के बायी ओर खड़ा होना चाहिए।

---

1. Artery forceps 2. Hook 3. Sharp pointed 4. Tracheal Dilator.

प्रधान सहायक का कर्तव्य शिर व ग्रीवा को ठीक मध्य में स्थिर बनाए रखना और साथ ही क्षत के ओष्ठों को दोनों ओर समान रूप से हटाए रखना है। यह कार्य वह दोनो हाथो मे एक-एक अंकुश लेकर उग्र बाहुओं से शिर को स्थिर रखते हुए तथा साथ ही अंकुशो की सहायता से क्षत के ओष्ठों को हटाए रखते हुए करता है। द्वितीय सहायक का कर्तव्य शस्त्र कर्म का स्थान स्पष्ट रखना तथा अवटुका ग्रन्थि के संयोजक भाग को नीचे की ओर हटाना है।

उच्चस्तरीय प्रणाल छिद्रीकरण मे अवटुका कार्टिलेज के निम्न किनारे से लगभग १½ इन्च नीचे की ओर तथा निम्नस्तरीय प्रणाल में नीचे लगभग वक्षास्थि के किनारे तक दो इन्च लम्बा चर्म छेदन किया जाता है। चर्म एवं चर्माधः कला के पश्चात् अवटु-कण्ठिका[1] पेशी सामने आती है जिसको कि मध्यरेखा में लम्बाई मे ही काटकर अंकुशों की सहायता से ही चर्म के साथ इधर-उधर हटा दिया जाता है। इसके बाद अवटुका ग्रन्थि का संयोजक भाग आवश्यकतानुसार ऊपर या नीचे हटा दिया जाना चाहिए—उच्च प्रणाल छिद्रकरण मे नीचे की ओर तथा निम्न मे ऊपर की ओर। संयोजक भाग को नीचे की ओर हटाने से पहले यह आवश्यक है कि उस कला वितान को जो इसे तरुणास्थि के साथ बाँधे हुए है, अनुप्रस्थ दिशा मे काट दिया जाय। धमनियाँ, शिराएँ या अवटुका ग्रन्थि का कुछ भाग जो भी सामने आये उसे सावधाधी के साथ एक ओर हटा दिया जाना जाहिए। अब श्वास-प्रणाल स्पष्ट हो जाती है किन्तु श्वासप्रणाल मे छिद्र करने से पहले यह देख लेना चाहिए कि रक्तस्राव पूर्णतः बन्द कर दिया जाय, सभी धमनी संदर्शो को अलग करके रक्तनलिकाओ मे बन्धन बाँध देना अच्छा है। अब तीक्ष्ण धार-युक्त अंकुश की सहायता से श्वासनलिका को ऊपर को खींच कर स्थिर रखते हुए वक्र वेधस[2] पत्र की सहायता से मध्य रेखा मे नीचे की ओर से ऊपर की ओर काट की जाती है। काट करते समय वेधस पत्र को दाएँ हाथ मे उसकी

1. Infrahyoid muscles. 2. Curved Bistuary.

धार ऊपर की ओर रखते हुए दृढ़ता के साथ पकड़ा जाता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि काट करते समय श्वासप्रणाल की पश्चात् भित्ति या अन्न नलिका को क्षति न पहुँच जाय और इसके लिए सबसे अच्छा यह हो कि वेधस पत्र को इस प्रकार पकड़ा जाय कि आधा इञ्च से अधिक फल बाहर की ओर को न निकला रहे।

श्वास-प्रणाल प्रसारक की सहायता से श्वास प्रणाल मे के छिद्र को खुला रखते हुए श्वास प्रणाल नलिका अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है। इस समय यह ध्यान रखना चाहिये कि क्षोभ की उत्पत्ति के कारण रोगी को थोडी-बहुत खाँसी आना स्वाभाविक है, अतः श्वास प्रणाल नलिका को उस समय तक स्थिर रखना चाहिये जब तक कि खाँसी शान्त न हो जाय। श्वास प्रणाल नलिका के ऊपर नीचे चर्म को मिलाकर टांके लगा दिये जाते हैं तथा नलिका को फीतों की सहायता से ग्रीवा के साथ स्थिर कर दिया जाता है। फीतों मे गाँठ ग्रीवा के पार्श्व में लगाई जानी चाहिये। रोगी को अधलेटी स्थिति मे चारपाई पर आराम करने दिया जाता है।

शस्त्र-कर्म के दौरान में यदि नीलिमा बढ़ती मालूम पडे तो यह आवश्यक है कि श्वास प्रणाल में शीघ्र से शीघ्र छिद्र किया जाय ताकि फुफ्फुसों में शीघ्र ही वायु पहुँचने लगे। अतः चर्म छेदन के पश्चात् जैसे ही श्वास प्रणाल स्पष्ट मालूम पडे चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह बाएँ हाथ के अँगूठे एव तर्जनी की सहायता से उसको स्थिर करते हुए दाँए हाथ मे वेधस पत्र लेकर छिद्र कर दे, छिद्र करने के पश्चात् द्विकपाटीय श्वास प्रणाल नलिका अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है। इस स्थिति मे रक्तस्राव का विशेष ध्यान नही रखा जाता फिर भी गौज के टुकड़ों की सहायता से शस्त्रकर्म के स्थान से रक्त का शोषण करते रहकर उसको रक्त रहित साफ रखा जाता है। नलिका यदि श्वास प्रणाल के छिद्र मे कड़ी लगती है तो रक्त के अन्दर की ओर पहुँचने का भय नही रहता।

यदि श्वासावरोध तीव्र स्वरूप का है तथा शस्त्र-कर्म से पहले कुछ समय तक स्थिर रहा है तो शस्त्र-कर्म के पश्चात् भी श्वास का आवागमन प्रारम्भ नहीं

होता। ऐसी स्थिति में कृत्रिम श्वास लिवाना आवश्यक है और इसके साथ ही साथ यदि सम्भव हो तो श्वास प्रणाल नलिका में होकर ऑक्सीजन भी अन्दर पहुँचानी चाहिए।

कभी-कभी रोहिणी की अवस्था में रोहिणी कला[1] श्वास प्रणाल में छिद्र करने के साथ ही साथ दिखाई पड़ने लगती है। ऐसी स्थिति होने पर श्वास प्रणाल छिद्र को प्रसारक की सहायता से खुला रखते हुए कला को चिमटी से पकड़कर बाहर निकाल दिया जाना चाहिए।

लिखने की आवश्यकता नहीं कि शस्त्र-कर्म के साथ ही साथ हृदयोत्तेजक औषधियाँ, रोहिणी प्रतिविष[2] तथा पेनिसिलिन आदि का प्रयोग आवश्यक है।

पश्चात् शुश्रूषा—पश्चात् शुश्रूषा के सम्बन्ध में जो प्रधान बात ध्यान में रखने की है वह यह है कि श्वास प्रणाल नलिका की अन्तर्नलिका को समय-समय पर साफ करते रहना है ताकि वह स्राव आदि के द्वारा अवरुद्ध न हो जाय। इन सब बातों की देखभाल के लिए एक परिचारिका सदैव रोगी की सेवा में उपस्थित रहनी आवश्यक है। प्रारम्भ में दिन में तीन या चार बार भीतरी नलिका को निकाल कर सोडाबाई कार्ब के घोल में धोकर उबाल कर शुद्ध तथा साफ करने के पश्चात् पुनः प्रविष्ट कर दिया जाया करता है। कभी कभी यदि नलिका रुकती मालूम पड़े तो यह किया जा सकता है कि किसी शुद्ध छोटे पंख, संदंश या शलाका में लगे शुद्ध रुई के फाए द्वारा उसको साफ कर दिया जाय। दिन में एक बार बाह्य नलिका को निकालना भी आवश्यक हो सकता है किन्तु यह कार्य स्वतः चिकित्सक द्वारा ही किया जाना चाहिए। नलिका बाहर निकालने के पश्चात् गले का छिद्र खुला रहे, यह आवश्यक है।

जिस स्थान पर रोगी को रखा जा रहा है वहाँ का वायुमण्डल आर्द्र तथा लगभग ७५° फारेन हाइट तक गर्म रहना चाहिए। यह हो सकता है कि रोगी के मुख के पास एक केटली अंगीठी पर रख दी जाय जिसमें जल के साथ ही साथ यूकॅलिप्टस तथा टिंचर बेंजोयन आदि जीवाणुनाशक औषधियाँ पड़ी

1. Diphtheritic Membrane. 2. Diphtheria Antitoxin.

हों। इस कैटली में से निकलने वाली भाप कमरे के वायुमण्डल को उष्ण आर्द्र तथा साथ ही साथ शुद्ध भी रखेगी।

धातु निर्मित श्वास प्रणाल नलिकाओं को यथासम्भव शीघ्र ही हटाकर प्रणाल छिद्र को बन्द कर दिया जाना चाहिए किन्तु कब किया जाय इसके लिए निश्चित समय की सीमा नहीं दी जा सकती क्योंकि ये सब प्रत्येक रोगी की अलग-अलग अवस्था पर निर्भर करता है। उपयुक्त यह है कि श्वास प्रणाल नलिका के छिद्र को अंगुली से बन्द करके देखा जाय और यदि यह करने पर रोगी मुख या नाक से बिना कष्ट श्वास लेने लगे तो नलिका को हटाया जा सकता है।

तात्कालिक श्वास प्रणाल छिद्रीकरण—कभी-कभी विशेष कर ग्रामीण क्षेत्र में रोगी की जीवन रक्षा के लिए तत्क्षण फुफ्फुसों तक वायु पहुँचाने की आवश्यकता पड़ जाया करती है। ऐसे अवसर पर चिकित्सक के साहसपूर्ण कौशल से ही लगभग मृत्यु को प्राप्त रोगी की जीवन रक्षा सम्भव है। इस स्थिति मे बड़ों को स्वर यन्त्र छिद्र-करण शस्त्र-कर्म ठीक पडता है जबकि बच्चों मे श्वासप्रणाल छिद्रकरण ही उपयुक्त है।

बच्चे के शरीर को कुर्सी पर या चारपाई पर ही साध दिया जाता है और चिकित्सक उसके सिर को अपने बाएँ घुटने पर प्रसारण की स्थिति मे स्थिर कर लेता है। अब वह अपने बाएँ हाथ की मध्य अगुली (तर्जनी[1] नही) एव अगूठे की सहायता से उरः कर्ण मूलिका[2] पेशी को दोनो ओर हटाए रखता है ताकि मुख्य-मुख्य रक्तनलिकाएँ सुरक्षित तथा श्वास प्रणाल वलय[3] तनाव युक्त रहे। अब दाएँ हाथ से तेज चाकू द्वारा ठीक मध्य रेखा मे मुद्रिका[4] से नीचे अवटुका ग्रन्थि सयोजक भाग तक काट की जाती है जो श्वास प्रणाल तक पहुँचनी चाहिए। अब चिकित्सक के बाये हाथ की तर्जनी उँगली रक्तस्राव युक्त इस काट मे अन्दर प्रविष्ट की जाती तथा उससे श्वास प्रणाल को अनुभव किया जाता है और इस उँगली के सहारे ही अनु-

1. Index Finger 2. Sternomastoid 3. Rings 4. Cricoid.

दैर्घ्य[1] दिशा मे श्वास प्रणाल की दूसरी, तीसरी तथा चौथी वलय को सामने मध्य मे ही काटा जाता है। अब चाकू के ही हैंडिल को या किसी कुंठित[2] सिरो वाली कैंची को श्वास प्रणाल की काट मे होकर अन्दर प्रविष्ट करके थोड़ा घुमा देते हैं ताकि उपयुक्त आकार-प्रकार की श्वास प्रणाल नलिका उसमे होकर अन्दर पहुँचाई जा सके। अब वायु के अन्दर प्रविष्ट होने लगने के पश्चात् ही रक्तस्राव रोका जाता है और इसके लिए साधारणतया गौज रखकर उचित रूप से ही पट्टी बाँधना पर्याप्त होता है। इसके पश्चात् उचित सावधानी रखते हुए आवश्यक औषधि देकर रोगी को अस्पताल भेजा जा सकता है।

स्वर-यन्त्र छिद्रीकरण—अधिकाश मे श्वास-प्रणाल छिद्रीकरण शस्त्र-कर्म ही किया जाता है किन्तु अत्यन्त आवश्यकता पडने पर जब ऊपर की ओर से श्वास मार्ग के रुक जाने से तत्क्षण ही वायु को फुफ्फुसो तक जाने का मार्ग देना अनिवार्य होता है, स्वरयन्त्र छिद्रकरण शल्य-कर्म की शरण ली जा सकती है। क्रोइको-थायरायड कला[3] के ऊपर चर्म मे लगभग ¾ इञ्च लम्बा छेदन किया जाता है। क्षत के ओष्ठो पर चर्म को थोडा इधर-उधर अपसारित करने के पश्चात् स्वतः कला मे अनुप्रस्थ दिशा मे काट दिया जाता है। इस प्रकार निर्मित छिद्र मे होकर द्विकपाटीय स्वर-यन्त्र नलिका अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है।

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि कोई भी यन्त्र उपलब्ध न हो तथा वायु को अन्दर प्रवेश का मार्ग देना ही हो तो साधारण छोटे चाकू की सहायता से ही क्राइको थायरायड कला मे छिद्र किया जाता है। चाकू को अन्दर प्रविष्ट करने के पश्चात् ¼ वृत्त मे घुमा देते है और इस छिद्र मे होकर श्वासप्रणाल नलिका या रबर की नली ही अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है। कुछ समय पश्चात् सब साधन मिल जाने पर अस्पताल मे शस्त्र-कर्म को सँभाला जा सकता है।

---

1. Longitudenal 2. Blunt 3. Crico Thyroid membrane.

वक्ष परिवेधन[1]—फुफ्फुसावरण शोथ[2] की अवस्था में धीरे-धीरे फुफ्फुसावरण मे तरल एकत्रित होता जाता है। इसी को सद्रव फुफ्फुसावरण शोथ[3] भी कहते हैं। तरल की मात्रा अधिक होते जाने से फुफ्फुस एवं हृदय दोनो पर भार पड़ता है तथा रोगी को श्वास लेने मे भी कठिनाई होती है। जब कठिनाई अधिक बढ़ जाती है तो तरल को निकलना आवश्यक हो जाता है। तरल की उपस्थिति का निश्चित ज्ञान परिताडन[4] या क्ष-किरण परीक्षा द्वारा हो जाता है। विशेष स्पष्ट निश्चिति के लिए अन्वेषक शूची[5] की शरण भी ली जा सकती है।

अन्वेषण के लिए २० सी० सी० की इन्जेक्शन पिचकारी तथा १½ तथा २ इन्च लम्बी दो शूची प्रयुक्त की जाती है। सिरिज मे शूची को लगाकर पर्शुकान्तरिक स्थान मे उस स्थल पर जहाँ सर्वाधिक मन्द ध्वनि[6] सुनाई पड़ रही हो, अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। जब शूची लगभग एक इन्च अन्दर प्रविष्ट हो चुकी है, पिस्टन धीरे-धीरे बाहर की ओर खींचा जाता है। यदि द्रव पदार्थ सिरिज मे नहीं आता तो पिस्टन के नीचे थोड़ा अवकाश स्थान[7] उत्पन्न हो जायगा। शूची को और भी अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जाता है यहाँ तक कि उसमे द्रव या रक्त आने लगता है। रक्त आने का अर्थ यह कि शूची फुफ्फुसो मे प्रविष्ट हो गई और ऐसी अवस्था मे शूची को बाहर निकाल कर दूसरी दिशा मे पुनः प्रविष्ट किया जाता है। एक दो बार करने से तरल का सिरिज मे आ जाना निश्चित है।

तरल निकलने के लिए शस्त्र-कर्म ऐसे स्थल पर करना है जहाँ द्रव का निम्न तल हो और इस दृष्टि से छिद्र पर्शुकान्तरिक स्थान की मध्यकक्षीय[8] रेखा मे या अश फलक के अधः कोण के नीचे आठवे या नवे पर्शुकान्तरिक स्थान मे किया जाना चाहिए। नीचे की पर्शुका के ऊपरी शिरे के पास से शूची

---

1. Paracentasis Thoracis 2. Pleurisy 3. Pleurisy with effusion 4. Percussion 5. Exploratory needle 6. Dimness. 7. Vacuum 8. Mid-axillary line.

आदि को अन्दर की ओर प्रविष्ट करना ठीक पड़ता है। जहाँ तक हो रोगी को तकियों के सहारे बैठा लिया जाना चाहिए और यदि हो सके तो पीड़ित ओर को थोड़ा झुका रखना भी ठीक ही है।

तरल को बाहर निकालने के लिए ट्रोकार एवं केन्यूला या मोटे छिद्र की सुई को ही अन्दर प्रविष्ट करना आवश्यक होता है किन्तु यह करने से पूर्व जीवाणुहीनता का ध्यान रखना, स्थान को संज्ञाहीन बना लेना तथा चर्म में छेदन कर लेना आवश्यक है।

चर्म पर टिंचर आयोडीन लगाने के पश्चात् स्थान को संज्ञाहीन बनाने के लिए ५-१० सी० सी० की एक सिरिंज, १-१½ इंच लम्बी सूची तथा २ प्रतिशत शक्ति का नोवेकेन घोल ७-८ सी० सी० आवश्यक है। सर्वप्रथम चर्म को बाएँ हाथ की तर्जनी एवं अंगूठा से पकड़ कर उठा लिया जाता, सूची अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती तथा नोवेकेन घोल अन्दर प्रविष्ट करके चवन्नी के बराबर स्थान थोड़ा ऊपर को उठा दिया जाता है। इस स्थान के केन्द्र में सूची अन्दर प्रविष्ट की जाती है तथा सूची को अन्दर प्रविष्ट करने के साथ ही साथ सिरिंज के पिस्टन को भी थोड़ा दबाते जाते हैं ताकि नोवोकेन घोल सामने से निकलता जाकर स्थान को संज्ञाहीन बना दे। जब सूची फुफ्फुसा-वरण के सम्पर्क में पहुँचती है तो रोगी थोड़ी पीड़ा अनुभव करता है। इस समय सूची को बहुत ही थोड़ा पीछे की ओर हटाकर नोवोकेन घोल अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है। इससे फुफ्फुसावरण संज्ञाहीन हो जाना चाहिए तथा यदि फिर सूची अन्दर प्रविष्ट की जाती है तो रोगी को पीड़ा नहीं मालूम पड़ती। अब सूची को बाहर निकाल लिया जाता है।

चर्म में छेदन वेधन पत्र की सहायता से किया जाता है और यह इतना लम्बा होना चाहिए कि उसमें होकर ट्रोकार एवं केन्यूला अन्दर प्रविष्ट हो जायँ। ये सभी सावधानियाँ बर्तना आवश्यक है अन्यथा ट्रोकार एवं केन्यूला को अन्दर प्रविष्ट करने में बहुत कठिनाई पड़ती है। यदि बिना चर्म छेदन किये ट्रोकार को अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तो प्रथम चर्म में प्रविष्ट करते समय अधिक शक्ति लगानी पड़ती है जिसके कारण चर्म में छिद्र हो जाने पर

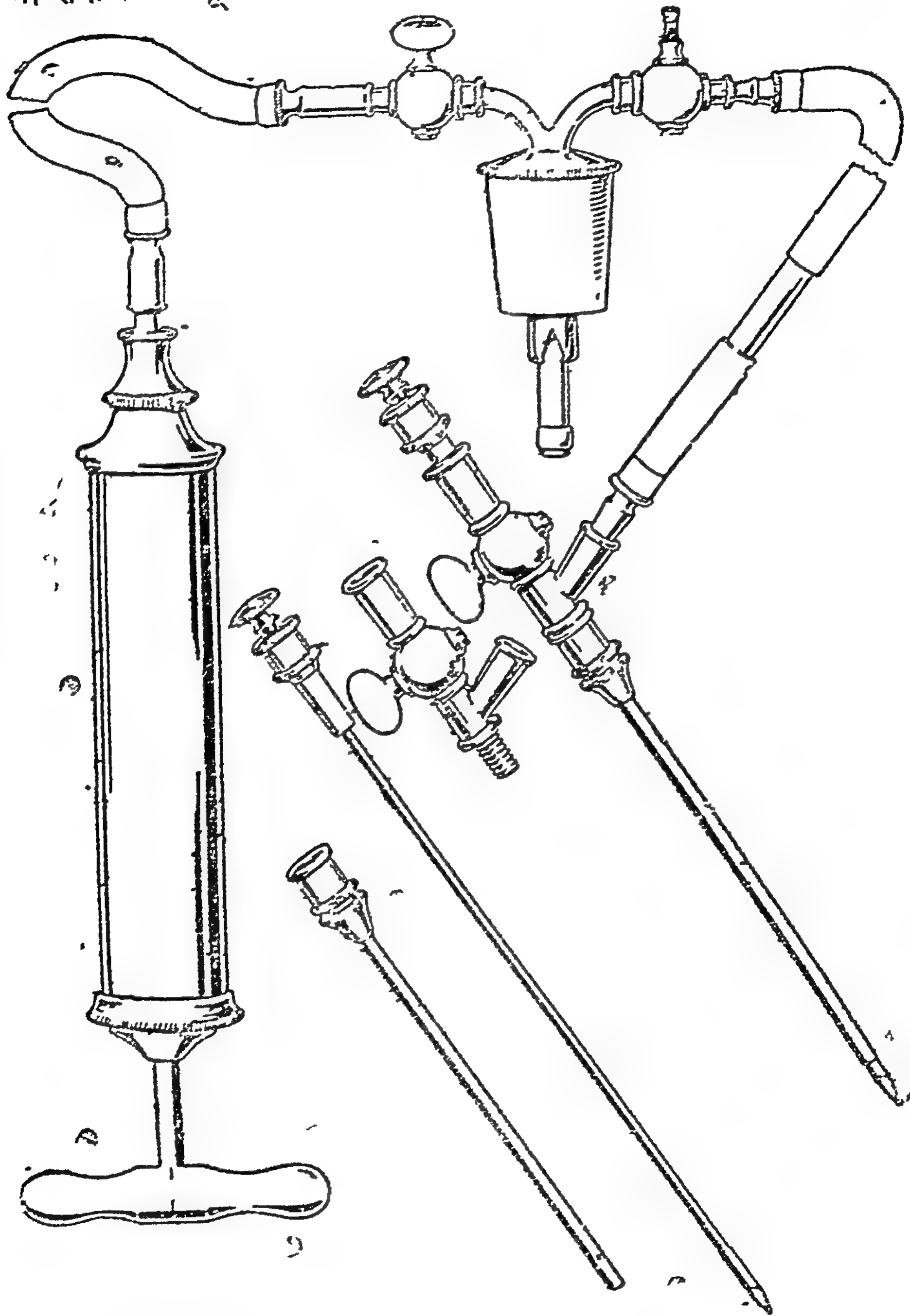
झटके के साथ एकदम वह फुफ्फुसों मे प्रविष्ट हो जा सकता है। इसके अलावा यदि फुफ्फुसावरण संज्ञाहीन नही बना लिए गए तो आकस्मिक पीडा के कारण अवसाद तक की अवस्था उत्पन्न हो जाना सम्भव है।

द्रवचूषण[1]—ट्रोकार एवं केन्यूला या मोटे छिद्र की शूची अन्दर प्रविष्ट हो चुकने पर प्रश्न आता है द्रव्य के चूषण का। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि फुफ्फुसावरण के दोनो पर्तो के मध्य मे जहाँ पर कि तरल एकत्रित हो जाता है स्वस्थावस्था मे ७ मिलीमीटर पारद ऋणात्मक दबाव रहता है। अधिक मात्रा मे तरल के एकत्रित हो जाने से यह दबाव धनात्मक हो जाता है, अतः ट्रोकार बाहर निकाल लेने के पश्चात् यदि केन्यूला को किसी अवकाश-युक्त पात्र के साथ सबधित कर दिया जाता है तो द्रव निकलने लगेगा, इसमें कोई सन्देह नही। इसके अतिरिक्त द्रव के चूषण की एक सरल विधि यह है कि केन्यूला को एक बडी सिरिंज से सम्बन्धित कर दिया जाय। सिरिज तथा केन्यूला के मिलने के स्थान पर त्रिमार्गीय पेच लगा रहता है जिसकी सहायता से इच्छानुसार सिरिज का सम्बन्ध केन्यूला के साथ अथवा बाहर की ओर बनाया जा सकता है। पिस्टन को खीचने पर जब सिरिज तथा केन्यूला का सम्बन्ध रहता है, द्रव्य केन्यूला के मार्ग से सिरिज मे आ जाता है। बाद मे पिस्टन को दबाने पर जब सिरिज का सम्बन्ध बाहर की ओर कर दिया होता है, द्रव बाहर किसी अन्य पात्र मे निकाल दिया जाता है। इस प्रकार बार-बार करने से इच्छानुसार चाहे जितना द्रव निकाल कर बाहर किया जा सकता है। इससे भी अच्छी विधि पोटेन के चूषित्र[2] का उपयोग है।

पोटेन का चूषित्र—यह यन्त्र चित्र ६७ मे दिखाया गया है जहाँ पर कि उसके साथ बोतल जो लगभग ३-४ पाइट की होनी चाहिए, नही दिखाई गई बल्कि उसमे लगने वाला कार्क दिखाया गया है। यह कार्क धातु का बना होता है जिस पर रबर लगी रहती है ताकि वह बोतल मे ठीक प्रकार से फिट हो जाय। इस डाट मे होकर दो नलियाँ जाती है जिनमे से एक अवकाश-पम्प तथा दूसरी रबर की नली की सहायता से केन्यूला के साथ सम्बन्धित है।

1. Aspiration of Fluid. 2. Aspirater.

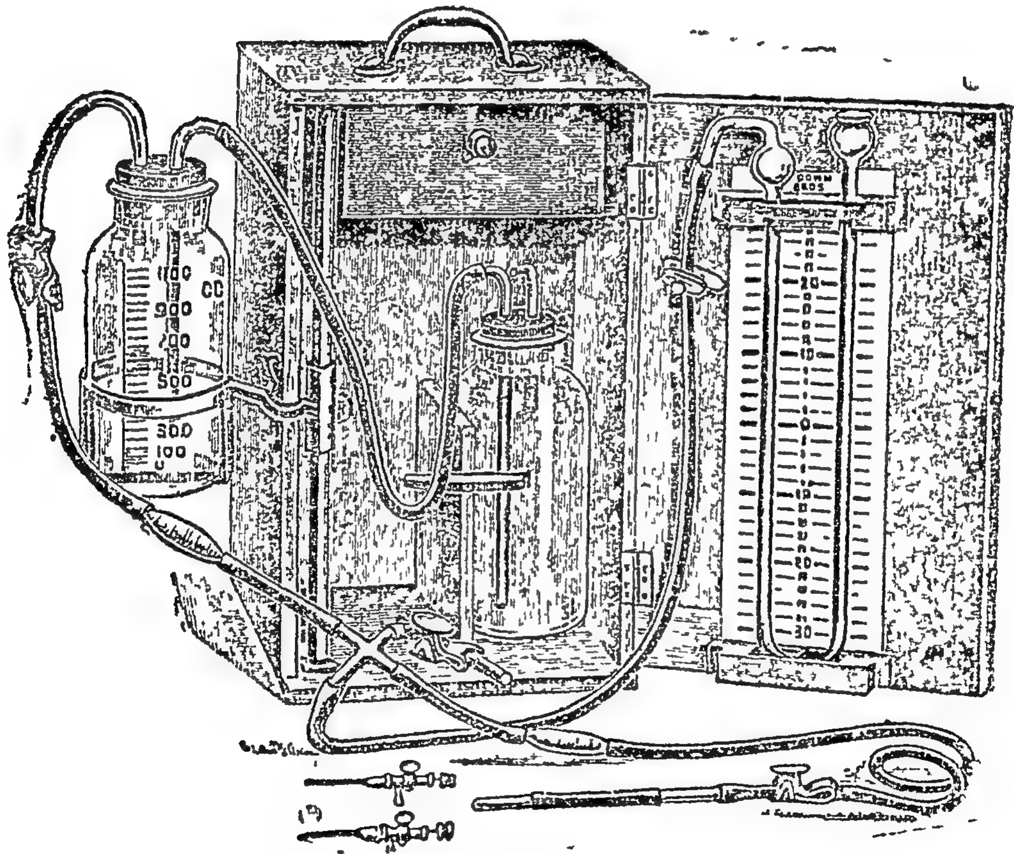
दोनों नलियों पर पेच लगे हुए हैं ताकि मार्ग को इच्छानुसार खोला वन्द किया जा सके। केन्यूला से सम्बन्धित नली के मध्य में एक कांच की नली



चित्र—६७
पोटेन का चूपित्र

1. Potains Aspirator 2. Exhaust Pump.

रखी जाती है ताकि द्रव का मार्ग देखा जा सके। ट्रोकार एवं केन्यूला जो इस यन्त्र के साथ मे आते है, कई भिन्न-भिन्न आकार के होते है तथा केन्यूला एव रबर की नली के मध्य मे एक त्रिमार्गीय पेच लगा रहता है ताकि केन्यूला मे से ट्रोकार को निकाल लेने के पश्चात् बाहरी वायुमण्डल के साथ उसका सबध बन्द किया जा सके। यहाँ एक बात के लिए सावधान रहना चाहिए कि अवकाश पम्प का नोजिल दो मार्गयुक्त होता है जिसमे से एक अन्तरमार्ग[1] तथा दूसरा बाह्य मार्ग[2] होता है। यदि बोतल को बाह्य मार्ग से सम्बन्धित कर दिया जाता है तो उसके अन्दर दबाव कम न होकर



चित्र ६८

कृत्रिम वात वक्ष यन्त्र

और अधिक होगा। यदि इस स्थिति मे विना परीक्षा किए इसको केन्यूला के

1. Inlet 2. Outlet.

ट्रोकार एवं केन्यूला मे होकर फुफ्फुसावरण कोप मे पहुँचाई जा सकती है। स्पष्ट है कि इसकी गति को चाहे जितना धीमा रखा जा सकता है तथा फुफ्फुसावरण मे पहुँचनेवाली वायु की मात्रा भी नपती जाती है। दावमापक मे कोई रंगीन द्रव पदार्थ यथा फैर्डलिंग का द्रव रहता है। धनाकार नली की बोतल की ओर वाली शाखा तथा बाहर की ओर वाली खुली शाखा के क्लिपों को बन्द कर देने पर दावमापक मे फुफ्फुसावरण कोप का दवाव देखा जा सकता है। इसके विरुद्ध ट्रोकार की ओर वाला दाव मापक की ओर वाले क्लिप को बन्द तथा शेप दोनों क्लिपो को खोलकर तथा साथ ही साथ चिह्न-युक्त बोतल को ऊपर की ओर उठाने से द्रव पदार्थ साधारण बोतल को ऊपर की ओर उठाने से द्रव पदार्थ साधारण बोतल मे तथा वायु माप चिह्न युक्त बोतल मे पहुँचाई जा सकती है। यह वायु फुफ्फुसावरण कोप से नही आती बल्कि कॉच नलिका मे होकर वायुमण्डल से ही आती है।

कार्य आरम्भ करने से पहले कॉच की नलियों को पानी तथा कार्बोलिक अम्ल से, रबर की नलिकाओं को उबाल तथा सुखाकर एवं वायुशोधक ऑटो-क्लेव[1] मे शुद्ध कर लिया जाता है।

रोगी को चारपाई पर विठा लिया जाता है तथा मोर्फीन १/४ ग्रेन ऐट्रोपीन १/१०० ग्रेन का इन्जेक्शन दे दिया जा सकता है। उसके हाथ सामने की ओर तकिए पर या मेज पर रख दिए जाते हैं। कृत्रिम वातवक्ष यन्त्र को भी पास ही रख लिया जाता है। दोनो बोतले समान स्तर पर रखी जाती हैं तथा दोनों मे द्रव भी बरावर रहता है। धनाकार कॉंच की नली का वायुमण्डल की ओर खुलने वाला तथा बोतल की ओर वाला क्लिप बन्द कर दिया जाता शेप दोनों क्लिप खोल दिये जाते है। पोटेन के चूषक यन्त्र का केन्यूला जैसा कि ऊपर ही वर्णन किया जा चुका है, फुफ्फुसावरण कोप के अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है। थोड़ा-सा द्रव निकालने के पश्चात् और द्रव निकालना बन्द कर देते हैं। कृत्रिम वातवक्ष यन्त्र से सम्बन्धित लम्बी

1. Autoclave.

रबर की नली को रोगी के कन्धे पर होकर निकाल कर सामने लाया जाता है तथा शूची को फुफ्फुसावरण कोष मे चूषक केन्यूला से दो पर्शुकान्तरिक स्थान ऊपर मध्य कक्षीय रेखा मे ही अथवा सामने द्वितीय पर्शुकान्तरिक स्थान में हृदय एवं रक्तनलिकाओं को बचाते हुए अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। दाबमापक मे द्रव के तल का श्वसन के साथ ऊपर-नीचे होना इस बात का परिचायक है कि शूची ठीक फुफ्फुसावरण कोष मे हो है। चूषण प्रारम्भ करने के साथ ही साथ अब धनाकार कॉच नलिका के बोतलों की ओर वाले क्लिप को भी खोल दिया जाता है। तरल के बाहर निकलने के साथ ही साथ ऋणात्मक दबाव के कारण वायु स्वतः ही फुफ्फुसावरण कोष की ओर जायगी यह सम्भव है, किन्तु बाद मे उसके जाने की गति को बढाने के उद्द ेश्य से साधारण बोतल को भी धीरे-धीरे थोड़ा ऊपर उठाया जा सकता है। जब वायु वक्ष मे प्रवेश कर रही हो तब भी दाबमापक की ओर वाले क्लिप को खुला रखा जाता है ताकि उसमे से द्रव का ऊपर-नीचे होना यह दर्शित करता रहे कि फुफ्फुसावरण कोष के अन्दर का दबाव किस स्थिति मे है। तरल का चूषण तथा वायु का अन्दर की ओर प्रवेश साथ साथ[1] अथवा एक के बाद दूसरा[2] इस प्रकार चलते रह सकते हैं। दोनों की गति को फुफ्फुसावरण कोष के अन्दर का दबाव वा रोगी के लक्षणों के आधार पर नियन्त्रित रखना चाहिए। जब तक सम्पूर्ण द्रव बाहर न निकल आवे तब तक यह क्रिया जारी रखी जाती है। अन्त मे फुफ्फुसावरण कोष के अन्दर का दबाव १ या २ सेंटीमीटर जल के बराबर छोड दिया जाता है। रोगी भी आराम के साथ होना चाहिए। साधारणतया यह देखा जाता है कि जितना द्रव बाहर निकलता है उससे कुछ कम आयतन वायु ही अन्दर प्रविष्ट हो पाती है।

पूय वक्ष[3]—

पूय वक्ष का तात्पर्य फुफ्फुसावरण कोष मे पूय का एकत्रित हो जाना है। इसके लिए शस्त्र-कर्म करने से पहले ही यह भी ठीक प्रकार निश्चित कर

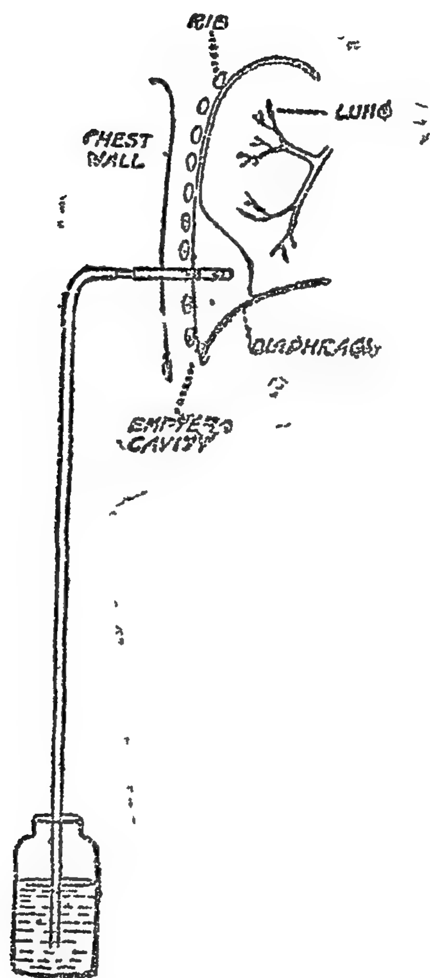
1. Concurrently or 2. Alternately 3. Empyema.

लिया जाना चाहिए कि यथार्थ में पूय उपस्थित है अथवा नहीं। यदि पूय की मात्रा इतनी अधिक हो कि उसके कारण हृदय एवं फुफ्फुसों पर दबाव पड रहा हो तो शस्त्र-कर्म प्रारम्भ करने से पहले चूषण द्वारा थोड़ी पूय निकाल देना अच्छा है। रोगी को मेज पर ले जाया जाता है तथा वहाँ स्वस्थ पार्श्व की ओर नहीं लिटाया जाता बल्कि पीडित पार्श्व की ओर अथवा पीठ के आधार पर इस प्रकार लिटाया जाता है कि पीडित पार्श्व मेज के किनारे के बाहर की ओर थोड़ा निकला रहे।

यद्यपि संज्ञाहरण के लिए क्लोरोफार्म का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु नोवोकेन के दो प्रतिशत शक्ति के विलयन के स्थानिक प्रयोग से ही काम चल जाता है। यह विलयन प्रथम चर्म के नीचे जहाँ भेदन करना है, पहुँचाते हैं। फिर शूची अन्दर प्रविष्ट की जाती है तथा पर्शुका के ऊपरी व नीचे के किनारे के आस-पास विलयन पहुँचा देते हैं, कुछ घोल आस-पास की पेशियों तक में पहुँचा दिया जाना चाहिए।

अंशफलक के अधःकोण तथा कक्ष की मध्यरेखा के बीच में ऊपर से नीचे की ओर लगभग दो इन्च लम्बी काट की जाती है. इस काट का मध्य बिन्दु आठवीं पर्शुका के ऊपर रहना चाहिए। कुछ चिकित्सक मध्य कक्षा रेखा में नवीं व दशवीं पर्शुका के मध्य में छेदन करना ठीक समझते हैं। काटकर चर्म के हटा देने पर पर्शुका निकल आता है। इस समय थोडी नोवोकेन इधर-उधर और भी प्रविष्ट की जा सकती है। पर्शुका के ऊपर से अस्थ्यावरण को काटकर लगभग दो इन्च के टुकड़े तक उसको पर्शुका से साफ कर दिया जाता है। पीछे की ओर का अस्थ्यावरण भी पर्शुका से अलग कर दिया जाना चाहिए। इसके बाद अस्थ्यावरण रहित पर्शुका के टुकड़े को अस्थि सदंश की सहायता से काटकर अलग कर दिया जाता है। इसके बाद शेष अस्थ्यावरण तथा फुफ्फुसावरण में होकर वेधपत्र की सहायता से काट करने पर पूय निकलने लगती है। छिद्र में होकर अंगुली अन्दर प्रविष्ट की जाती है ताकि पूय एकदम बाहर न निकल पडे। अंगुली की सहायता से यदि वहाँ

कोई आसंजन[1] बन गए हों तो उनको भी तोड़कर ठीक कर दिया जाता तथा सम्पूर्ण पूय को साफ करके निकाल दिया जाता है। इसके पश्चात् की चिकित्सा रोगी एवं रोग की स्थिति पर निर्भर करती है।



(चित्र ६६)

पूय वक्ष का निकास

कुछ चिकित्सक व्रण मे रबर की आधे इंच व्यास की लगभग दो इन्च निकास नलिका डालकर प्रचुर मात्रा मे शुद्ध गौज एव रुई रखकर पट्टी बाँध देते है—नलिका मे होकर पूय निकलती रहती है। इस निकास नलिका मे छोटी कांच की नली की सहायता से अधिक लम्बी रबर की नली जोड दी

1. Adhesions.

तेरहवाँ अध्याय

सामान्य शस्त्र-कर्म

(रक्तवह तन्त्र)

आधान—इसी को प्रक्षेपण[1] कहा जा सकता है। इसका अर्थ किसी विशिष्ट द्रव या रक्त के शिरा मार्ग से प्रवेश द्वारा रोगी के रक्त का आयतन बढा देना है और इस प्रकार का शस्त्र-कर्म कई भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में जीवन रक्षक होता है। इस साधारण शस्त्र-कर्म का उद्देश्य रोगी के रक्त का केवल आयतन बढ़ा देना ही नही बल्कि और भी अधिक रहता है जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकार प्रवेश के लिए समतानी लवण-जल[2], ग्लूकोज युक्त लवणजल अथवा शुद्ध रक्त या रक्त के अन्य स्थानापन्न योगो का प्रयोग किया जाता है। प्रथम तीन को द्रवाधान[3] या लवणजल आधान तथा अन्तिम को रक्ताधान[4] नाम से सम्बोधित कर सकते हैं।

इस स्थल पर प्रथम द्रवाधान का वर्णन करने के पश्चात् रक्ताधान का वर्णन किया जायगा।

द्रवाधान—हमारे शरीर मे द्रवाश की मात्रा कुल शरीर भार का लगभग ६० प्र० श० होती है जिसमे ४० प्र० श० अन्तःकोशिकीय[5] अर्थात् शरीर कोशिकाओ के अन्दर तथा २० प्र० श० कोशिकाओं के बाहर रहती है। जलीयांश और उसमे घुले हुए सोडियम क्लोरायड-पोटेशियम क्लोरायड आदि लवण जिनको एलेक्ट्रोलायट कहते है; एक निश्चित मात्रा मे स्थिर बने रहते

---

1. Infusion 2. Normnl Saline 3. Saline Infusion 4. Blood Transfusion 5. Intracellular.

अधिक होती है ये लक्षण भी उसी के अनुपात मे उग्र होते हैं। शरीर मे द्रव पहुँचाना अर्थात् द्रवाधान[1] ही इनकी मुख्य चिकित्सा है।

क्या द्रव पदार्थ दिए जायँ—द्रवशोष की स्थिति उत्पन्न होने पर मुख्य आवश्यकता है उचित मात्रा मे द्रव पदार्थ शरीर मे पहुँचा देने की और इसके लिए निम्न घोल प्रयुक्त किए जा सकते हैं—

१. **डेक्स्ट्रोज सलायन**—इसमे ४'३ प्र० श० ग्लूकोज तथा ०'१८ प्र०श० लवण रहता है। इस प्रकार का घोल रक्त के समतानी[2] होता है।

२. **समतानी लवण जल**—अर्थात् ०'६ प्र० श० सोडियम क्लोराइड घोल। अत्यधिक वमन, स्वेद आदि की अवस्था मे इसका प्रयोग उपयुक्त है जो द्रव नाश के समान मात्रा मे प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

प्रत्येक अवस्था मे साधारण रूप से इन घोलो का प्रयोग सम्भव है। उनके अलावा—

३. **अतितानी लवण जल**[3]—जल विषमयता[4] या सोडियम का अधिक नाश हो जाने की अवस्था मे इसको बहुत धीरे-धीरे दिया जाता है।

४. **ग्लूकोज ५ प्रतिशत**—इसका बहुत कम प्रयोग किया जाता है। यदि रोगी की लवण की आवश्यकता की पूर्ति हो चुकी हो फिर भी और द्रव दिया जाना आवश्यक हो तो इसका प्रयोग उचित है।

५. **सोडियम लेक्टेट**—(१'८६ प्र० श०) अम्लरक्तता की अवस्था मे इसका प्रयोग सम्भव है।

६. **पोटेशियम घोल**—इसी को डैरोज घोल भी कहते हैं। इसकी एक लिटर जल में पोटेशियम एवं सोडियम क्लोरायड तथा सोडियम लेक्टेट क्रमशः २ ७, ४ तथा ६'२ ग्राम रहते है। जहाँ पोटेशियम क्लोरायड दिया जाना आवश्यक हो इसका प्रयोग किया जा सकता है किन्तु बहुत सावधानी के साथ करना चाहिए क्योंकि पोटेशियम क्लोरायड का फलो के रस आदि मे मिलाकर मुख मार्ग से प्रयोग ही अधिक सुविधा का है।

---

1. Infusion 2. Isotonic 3. Hyperton c saline 4. Water-intoxication.

पहुँच चुका है और तब तत्क्षण बन्द कर देना है। यदि आवश्यक हो तो २४ घण्टे बाद फिर द्रवाधान सम्भव है। अस्पतालो मे रक्त परीक्षा से भी सम्पूर्ण स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

किस मार्ग से—द्रव पदार्थ शरीर मे पहुँचाये जायँ यह भी निर्णय करना होता है। यदि रोगी ले सकता है तथा आमाशय एव आन्त्र इस प्रकार की क्षमता रखती हैं कि वहाँ से द्रव का शोषण हो सके तो मुख मार्ग ही उपयुक्त है। यदि इस मार्ग से द्रव दिए जाने के निश्चित निषेध के कारण हों अथवा पर्याप्त मात्रा मे इस प्रकार दिया जाना सम्भव न हो तो दूसरे मार्ग से दिया जाना आवश्यक ही है तथा—

१. नासामार्ग—नली द्वारा इस मार्ग से भी पोषण आमाशय मे ही पहुँचता है अतः इस मार्ग की आवश्यकता उसी अवस्था मे पड़ती है जब रोगी मुख द्वारा न लेना चाहता हो अथवा मुख या गले मे कोई ऐसी विकृति हो कि उधर से दिया जाना सम्भव ही न हो सके।

२. गुदामार्ग—अतिसार न होने की अवस्था मे इस मार्ग से समतान लवण जल चार भाग साधारण जल मिलाकर गुदामार्ग से दिया जा सकता है। इसके लिए उलटे हुए थर्मोज फ्लास्क का प्रयोग उपयुक्त रहता है क्योंकि उसमे द्रव शरीर तापक्रम पर ही रखा जा सकता है। गुदा मे जल का प्रवेश ५० बूँद प्रति मिनट के हिसाब से करना है और इस प्रकार २४ घण्टे मे तीन लिटर तक द्रव दिया जा सकता है। जब रोगी मुख द्वारा भी लेना प्रारम्भ कर दे तो यह मात्रा क्रमशः घटाई जा सकती है।

यन्त्र को व्यवस्थित करके रोगी को चारपाई पर अधलेटी स्थिति मे लिटा कर (चित्र ७२) गुदा मे नली प्रविष्ट कर दी जाती है। पात्र मे जल का तापक्रम इतना रहना चाहिए कि गुदा में वह लगभग ३७° सेण्टीग्रेड पर ही पहुँचे यह बात परीक्षण द्वारा ही निश्चित की जा सकती है। साधारण नियम यह है कि इसको ५०-६० डिग्री के मध्य रखना ठीक पड़ता है। गुदा का तापक्रम लेकर भी निश्चय किया जा सकता है कि वहाँ घोल किस तापक्रम पर पहुँच रहा है।

पहुँच चुका है और तब तत्क्षण बन्द कर देना है। यदि आवश्यक हो तो २४ घण्टे बाद फिर द्रवाधान सम्भव है। अस्पतालो मे रक्त परीक्षा से भी सम्पूर्ण स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

किस मार्ग से—द्रव पदार्थ शरीर मे पहुँचाये जायँ यह भी निर्णय करना होता है। यदि रोगी ले सकता है तथा आमाशय एव आन्त्र इस प्रकार की क्षमता रखती है कि वहाँ से द्रव का शोषण हो सके तो मुख मार्ग ही उपयुक्त है। यदि इस मार्ग से द्रव दिए जाने के निश्चित निषेध के कारण हों अथवा पर्याप्त मात्रा मे इस प्रकार दिया जाना सम्भव न हो तो दूसरे मार्ग से दिया जाना आवश्यक ही है तथा—

१. नासामार्ग—नली द्वारा इस मार्ग से भी पोषण आमाशय मे ही पहुँचता है अतः इस मार्ग की आवश्यकता उसी अवस्था मे पड़ती है जब रोगी मुख द्वारा न लेना चाहता हो अथवा मुख या गले मे कोई ऐसी विकृति हो कि उधर से दिया जाना सम्भव ही न हो सके।

२. गुदामार्ग—अतिसार न होने की अवस्था मे इस मार्ग से समतान लवण जल चार भाग साधारण जल मिलाकर गुदामार्ग से दिया जा सकता है। इसके लिए उलटे हुए थर्मोज फलास्क का प्रयोग उपयुक्त रहता है क्योकि उसमे द्रव शरीर तापक्रम पर ही रखा जा सकता है। गुदा मे जल का प्रवेश ५० बूँद प्रति मिनट के हिसाब से करना है और इस प्रकार २४ घण्टे मे तीन लिटर तक द्रव दिया जा सकता है। जब रोगी मुख द्वारा भी लेना प्रारम्भ कर दे तो यह मात्रा क्रमशः घटाई जा सकती है।

यन्त्र को व्यवस्थित करके रोगी को चारपाई पर अधलेटी स्थिति मे लिटा कर (चित्र ७२) गुदा मे नली प्रविष्ट कर दी जाती है। पात्र मे जल का तापक्रम इतना रहना चाहिए कि गुदा मे वह लगभग ३७° सेण्टीग्रेड पर ही पहुँचे यह बात परीक्षण द्वारा ही निश्चित की जा सकती है। साधारण नियम यह है कि इसको ५०-६० डिग्री के मध्य रखना ठीक पड़ता है। गुदा का तापक्रम लेकर भी निश्चय किया जा सकता है कि वहाँ घोल किस तापक्रम पर पहुँच रहा है।

गुद मार्ग से लवण जल देने से उपसर्ग, प्रतिक्रिया, जल या लवण की अधिकता आदि किसी का भय नहीं फिर भी यह विधि अधिक नहीं अपनाई जा सकती।

अवत्वक् एवं पेश्यान्तर्गत—द्रव प्रवेश के ये दोनों ही मार्ग सरल हैं जो शिक्षित नर्स या कम्पाउंडर द्वारा अपनाए जा सकते हैं। बच्चों में इस मार्ग से ही द्रव प्रवेश अधिक उपयुक्त पड़ता है क्योंकि उनमें शिरा मिलने में कठिनाई होती है। शूची चर्माधः धातु में चर्म के नीचे प्रविष्ट कर दी जाती है तथा पात्र को ऊँचा उठाकर द्रव को अन्दर जाने दिया जाता है। एक ही पात्र से दो शूचियाँ सम्बन्धित करके (चित्र ७१) दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रविष्ट की जा सकती हैं। अवत्वक् लवण जल के लिए उदर प्रान्त का नीचे का भाग, स्तन के नीचे, वक्ष प्रान्त के पार्श्व में, कक्ष में (सर्वोपयुक्त) अथवा जंघा के ऊपरी भाग का पार्श्व ठीक रहते हैं। पेश्यान्तर्गत प्रवेश के लिए जंघा के मध्य भाग में पार्श्व की ओर से एक विशेष प्रकार की शूची गहराई में प्रविष्ट की जाती है। पात्र को ३-४ फुट ऊँचा स्थिर करना है तथा गति ४० बूँद प्रति मिनट रखनी चाहिए। इस बात का ध्यान अवश्य रखना है कि आवश्यकता से अधिक द्रव अन्दर प्रविष्ट न कर दी जाय।

हायल्यूरोनायडेज (Hyaluronidase)—एक एन्जायम पदार्थ है जो १००० इकाई की मात्रा में हायलेज[1] एलीडेज[2] रोडेज[3] या वायडेज[4] नाम से जल में घुलनशील चूर्ण के रूप में एम्प्यूल में मिलता है। उनकी सहायता से पेशी या अवत्वक् दिये गये लवण जल को शीघ्रता के साथ अधिक मात्रा में शोषण कराया जा सकता है। इसकी ५००-१००० इकाई मात्रा २-५ सी०सी० शुद्ध जल में ताजी घोलकर ५००-१००० सी० सी० ग्लूकोज घोल में मिलाई जा सकती है अथवा जब घोल अपने स्थान पर पहुँचने लगता है तो वहीं चर्माधः प्रविष्ट की जा सकती है। प्रायः ५०० यूनिट ५०० सी० सी० घोल का शोषण कराने के लिए पर्याप्त है। इसकी सहायता से १० सी० सी० प्रति मिनट तक

1. Hyalase 2. Alidase 3. Rodase 4. Wydase.

की गति से चर्मांधः मार्ग में द्रव दिया जा सकता है। तीव्र अवसाद, रक्त मे प्रोटीन पदार्थों की अल्पता अथवा शिरावरोध की अवस्था मे इसका प्रयोग व्यर्थ है। यह भी ध्यान रहे कि इसके प्रयोग के साथ सदैव ग्लूकोज सलायन ही दिया जाय केवल ग्लूकोज घोल नहीं। किसी भी प्रकार के उपसर्ग के हायलूरोनायडेज के सम्पर्क मे आने से यह औषधि निष्क्रिय हो जाती है।

द्रवाधान का सर्वोपयुक्त आधुनिक साधन शिरा मार्ग ही है।

शिरामार्ग से द्रवाधान

(Intravenous Infusion)

आवश्यक उपकरण—आधान पात्र के रूप मे आधान द्रव ही निर्माताओं द्वारा बोतल में बन्द तैयार मिलते हैं जिनसे सीधा ही उनको प्रयुक्त किया जा सकता है। केवल मात्र बोतल मे वायु प्रवेश के लिए शूची, बोतल से शिरा तक के लिए रबर या प्लास्टिक की नली मे बीच मे लगाने के लिए बिन्दु नियन्त्रक[1], नली मे द्रव की गति को ठीक नियन्त्रित करने के लिए क्लिप तथा नली के अन्तिम सिरे पर लगाने के लिए एक पारदर्शक कॉच या प्लास्टिक की नली तथा शिरा मे प्रवेश के लिए उपयुक्त आकार प्रकार की शूची ये ही आवश्यक उपक्रम है। प्रायः दो चार शूची तैयार रहनी चाहिए ताकि आवश्यकतानुसार चाहे जिसका प्रयोग किया जा सके। (चित्र ७०)

शिरा का चुनाव—किसी भी स्पष्ट दिखने वाली शिरा को जिसमे शूची को प्रविष्ट किया जा सके प्रयोग मे लिया जा सकता है। साधारणतया कुहनी पर सामने ही शिरा मे शूची प्रविष्ट करने की प्रथा-सी है और उपयुक्त ही है। इसके अलावा अग्रबाहु मे सामने की ओर रहने वाली बहिर्बाहु शिरा[2], हाथ मे पृष्ठ भाग पर रहने वाली कोई भी स्पष्ट शिरा, ऊर्ध्वबाहु मे सम्मुख पृष्ठ पर बहिर्बाहु शिरा, टखने मे सामने दिखने वाली अधः शाखा शिरा[3]

1. Drop regulator. 2. Cephalic vein. 3. Saphenous.

अथवा ग्रीवा मे स्थित बाह्य ग्रीवा शिरा[1] किसी के भी मार्ग से द्रव को प्रविष्ट किया जा सकता है ।

विधि—रोगी को शान्त लिटा लेने के पश्चात् उसकी बाहु को किसी तकिए आदि पर स्थिर कर लिया जाता है । जिस शिरा मे शूची प्रविष्ट करनी है उसके ऊपर थोड़ी टिंचर आयोडीन या स्पिरिट लगा दी जाती है । ध्यान रखना है कि स्पिरिट के प्रयोग से शिरा के थोड़ा संकुचित हो जाने के कारण वह अस्पष्ट-सी हो जा सकती है जबकि गर्म पानी के उस स्थान पर प्रयोग से शिरा के और भी स्पष्ट होने मे सहायता मिलती है ।

इसके पूर्व प्रारम्भ मे ही सभी उपकरणों को उबाल कर शुद्ध कर लिया जाना चाहिए तथा आधान पात्र मे उसको लगाकर यह देख लेना चाहिए कि द्रव शिरा मे प्रविष्ट की जाने वाली शूची मे होकर सततः धार के रूप मे निकलने लगा है तथा वायु के सभी बुद-बुदे समाप्त हो चुके हैं ।

कुहनी से ऊपर बाहु मे रूमाल पट्टी या टूर्नीकेट लगाकर शिरागत रक्त प्रवाह में थोड़ी बाधा उत्पन्न करके शिरा को और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है । अब शूची इस स्पष्ट की गई शिरा मे सावधानी के साथ प्रविष्ट की जाती है, शूची से लगी कॉच या प्लास्टिक की नली मे रक्त दिखाई पड़ जाना चाहिए यही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि शूची ठीक शिरा मे पहुँच गई है । रोगी की अग्रबाहु पर चिपकने वाले टेप की सहायता से, जो तीन-चार स्थानों पर शूची व रबर की नली को सम्मिलित करते हुए लगाना है, शूची को शिरा मे स्थिर कर दिया जाता है । इतने पर भी किसी परिचारक को आदेश दे दिया जाना चाहिए कि वह रोगी की उस बाहु को साधे रहे ।

यह बन्द विधि[2] है क्योंकि इसमे शिरा को चीरा देकर बाहर स्पष्ट नहीं किया जाता । प्रायः इसी विधि का उपयोग होता है और होना चाहिए । खुली विधि[3] मे चर्म छेदन करके शिरा को बाहर स्पष्ट कर लेते हैं और फिर उसमे

1. External jugular. 2. Closed Methed. 3. Open method.

शूची या शिरा मे काट करके केन्यूला या पतला पोलीथीन ट्यूब प्रविष्ट करके द्रव पहुँचाते हैं।

आधान क्रिया—पूरे आधानकाल मे चिकित्सक को स्वतः या शिक्षित कम्पाउण्डर या नर्स को यह ध्यान रखना है कि शिरा मे द्रव का प्रवाह उचित प्रकार व उचित गति से होता रहे। सामान्यतः गति ४०-५० बूँद प्रति मिनट अर्थात् एक घण्टे मे लगभग १५० सी० सी० रखनी चाहिए किन्तु जलाल्पता अधिक होने पर जैसा कि हैजे की अवस्था मे सम्भव है यह गति १०० बूंद प्रति मिनट या इससे भी अधिक हो सकती है। किन्तु ५००-१००० सी० सी० अन्दर पहुँच जाने के पश्चात् गति ३० बूँद प्रति मिनट कर दी जानी चाहिए क्योंकि इस मन्द गति पर द्रवाधान करने से कोई हानि का विशेष भय नही। जहाँ चौबीसों घण्टे द्रवाधान करते रहने की आवश्यकता हो वहाँ विशेष सावधानी रखनी है और एक चार्ट तैयार रखना है कि शरीर से कितना द्रव बाहर निकला और कितना अन्दर पहुँचाया गया।

सावधानी यह भी रखनी है कि वायु अन्दर न प्रविष्ट कर जाय। इसके लिए प्रारम्भ मे ही यह देख लिया जाना चाहिए कि रबर-ट्यूब मे छिद्र या दरार न हो। क्लेम्प को आधानपात्र और बूँद नियन्त्रक के मध्य मे न रखकर शिरा के लगभग पास ही रखने से भी वायु प्रवेश न होने देने मे सहायता मिलती है।

शिरा अवरुद्ध न हो जाय इसके लिए यह आवश्यक है कि उसके ऊपर कोई बन्धन न रखा जाय। यदि प्रवाह रुक जाता है तो रबर की नली को दबाना तो ठीक नहीं किन्तु यह तो देख ही लेना चाहिए कि उसमे कहीं रुकावट तो नही पड़ गई। शूची को शिरा मे ही थोड़ा इधर-उधर घुमाने से भी प्रवाह फिर प्रारम्भ हो जाता है क्योकि कभी-कभी यह होता है कि शिरा की भित्ति शूची के मुख को रोक देती है। यदि प्रवाह रुक ही जाता है और सामान्य विधि से ठीक प्रारम्भ नहीं होता तो सिवा इसके कोई मार्ग नहीं रह जाता कि शूची को निकाल कर फिर अन्यत्र प्रविष्ट किया जाय।

यदि विन्दु नियन्त्रक में इतना द्रव भर गया है कि बूँदे गिनी नहीं जा सकती तो एक पाँच सी० सी० सिरिंज व उसमें सलग्न सूची की सहायता से रबर की नली में छिद्र करके विन्दु नियन्त्रक में सीधी २-३ सी० सी० वायु पहुँचा देनी है जो वहाँ पर द्रव को स्थानान्तरिक कर देगी और फिर बूँदें दिखाई पडने लगेंगी। इसके विपरीत यदि विन्दु नियन्त्रक बिलकुल खाली है, उसके निचले थोडे भाग मे द्रव है ही नहीं जैसे कि होना चाहिए, तो उपरोक्त विधि से ही २-३ सी० सी० वायु उसमें से खींच ली जाती है।

इससे पहले ही कि आधानपात्र बिलकुल खाली हो जाय और वायु-प्रवेश की सम्भावना रहे उसको बदल देना है। पहले वायु प्रवेश के लिए लगाई गई सूची उसमें से निकाल कर दूसरे पात्र में ठीक प्रकार लगा दी जाती है और इसके पश्चात् दूसरी सूची भी निकाल कर तत्क्षण दूसरे उसी पात्र मे लगाने के पश्चात् प्रथम रिक्त हुए पात्र के स्थान पर इस पात्र को स्थिर कर दिया जाता है।

सावधान—कि (१) यदि रोगी को कँपकँपी[1] आती है। (२) या शिरा के मार्ग में लालिमा उत्पन्न होती है। (३) या श्वास लेने में किसी प्रकार का कष्ट मालूम पड़ता है। (४) या हाथ, पैर या मुख पर कुछ शोफ[2] दिखाई देता है तो द्रवाधान कार्य तुरन्त बन्द कर दिया जाना चाहिए।

चौबीस घण्टे पश्चात् भी द्रवाधान जारी रखना हो तो सारी परिस्थितियों पर पुनः विचार कर लेना आवश्यक है, रोगी के फुफ्फुसों की परीक्षा भी कर ली जाती है कि उनमें कहीं द्रव सञ्चय न होता जाय; यह भी देख लेना है कि अन्दर प्रविष्ट द्रव की मात्रा बाहर निकले द्रव से अधिक न हो। इसके पश्चात् भी यदि द्रवाधान आवश्यक समझा जाता तो किसी दूसरी शिरा के मार्ग से करना चाहिए क्योंकि अधिक समय तक एक ही शिरा में द्रवाधान करते रहने से उसमें शोथ उत्पन्न हो,जा सकता है।

---

1. Rigor 2. Oedema.

फुफ्फुस, हृदय, वृक्क के रोगो से पीड़ित, अतिरक्तदाब[1] या कामला की अवस्था मे द्रवाधान करना उचित नही ।

दुष्परिणाम और उनका प्रतिकार

प्रतिक्रिया—यदि अच्छी कम्पनी द्वारा निर्मित घोलो का ही प्रयोग किया जाता है तो प्रतिक्रिया की सम्भावना प्रायः नही ही रहती है । कभी-कभी एण्टीस्टीन या शिरामार्ग से प्रयोग के लिए उपयुक्त एलर्जीरोधी दूसरे योग या डैकेड्रोन फोस्फेट प्रारम्भ से ही घोल मे इस उद्देश्य से मिला दिये जाते हैं कि प्रतिक्रिया न होने पावे । फिर भी कॅपकॅपी के रूप मे प्रतिक्रिया होती हो मालूम पडे तो द्रवाधान तत्क्षण बन्द कर देना चाहिए, कॅपकॅपी शान्त हो जायगी । यदि कुछ मिनटों मे शान्त न हो तो एलर्जीरोधी योग एण्टीस्टीन, सायनेपिन, फिनर्गिन आदि मुख या इन्जेक्शन द्वारा दे या कोर्टीकोस्टरोयड प्रेडनीसोलोन, डैकेड्रोन आदि का इसी प्रकार प्रयोग प्रशस्त है । प्रेडनीसोलोन मुख द्वारा प्रारम्भ मे ही दे देने से प्रतिक्रिया उत्पन्न न होने देने मे सहायता मिलती है ।

जल विषमयता[2]—जल विषमयता का अर्थ शरीर मे जल की अधिकता हो जाना है और इस प्रकार की स्थिति वृद्धो अथवा बच्चो मे अधिक होते देखी गयी है । इसका कारण अधिक तीव्र गति से द्रवाधान या ५ प्र० श० ड्रैक्ट्रोज घोल का दिये जाते रहना है जब कि शरीर मे लवण की आवश्यकता हो । लक्षण प्रायः ३६ घण्टे के अन्दर-अन्दर व्यक्त होते है ।

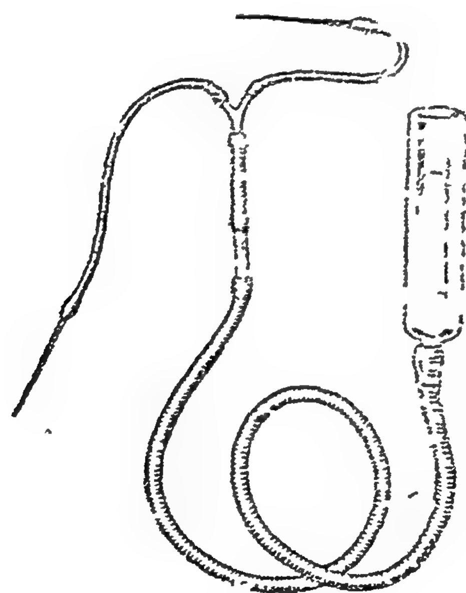
प्रथम लक्षण जल्दी-जल्दी घर्घरयुक्त श्वास आना है इसके पश्चात् दौडे आ सकते है या रोगी घण्टो वेहोश पड़ा रह सकता है । चेहरे पर शोफ भी दिखाई पड़ सकता है । रोगी का भार भी बढ जा सकता है । यथार्थ मे रक्त के अधिक पतले हो जाने के कारण इसमे प्रोटीन एव सोडियम क्लोरायड आदि की मात्रा हलकी पड जाती है ।

---

1. Hypertension 2. Water intoxication.

लवण रहित द्रव का दिया जाना तत्क्षण बन्द कर दिया जाना चाहिए। मुख्य चिकित्सा अतितानी लवण जल (३ प्र० श०) का शिरा द्वारा दिया जाना है। २००-३०० सी० सी० से अधिक मात्रा नहीं दी जाती है और वह भी बहुत धीरे-धीरे। लक्षण शान्त होते दिखाई पड़ें या मूत्र में क्लोरायड की मात्रा आने लगे तभी दिया जाना बन्द कर देना है। अतितानी लवण जल देने से होता यह है कि वृक्कों को उत्तेजना मिलती और वे कार्य आरम्भ करके जलीयांश को बाहर निकालना प्रारम्भ कर देते हैं।

इनके अलावा सोडियम की कमी या अधिकता तथा पोटेशियम की कमी या अधिकता भी सम्भव है और इसके अपने पृथक् लक्षण होते हैं। किन्तु द्रवाधान के फलस्वरूप ऐसा होते प्रायः नहीं ही देखा जाता अतः उनका वर्णन यहाँ अभीष्ट नहीं।

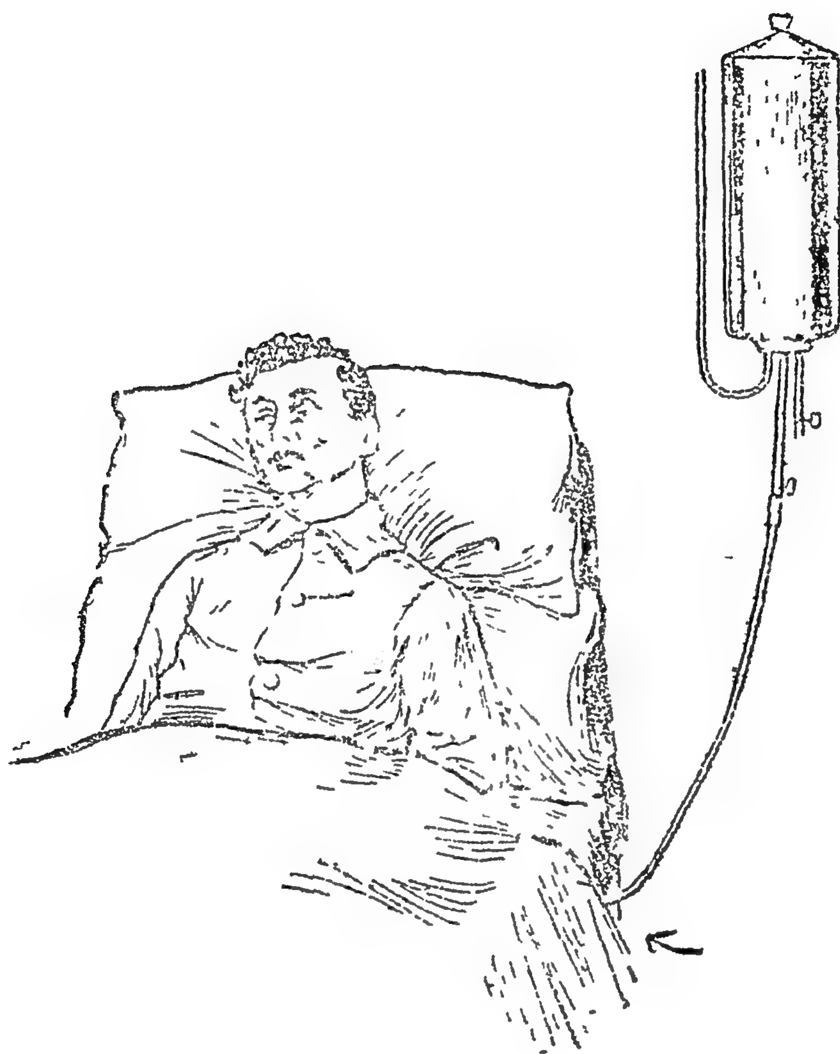


(चित्र ७१)
चर्माधः लवण जल के लिये यन्त्र

रक्ताधान

प्रथम महायुद्ध तथा उसके पश्चात् के कई अनुभवों ने यह सिद्ध कर

दिया है कि रक्ताधान[1] कई भिन्न-भिन्न अवस्थाओं मे जीवन-रक्षा का एक



(चित्र—७२)
गुदामार्ग से लवण जल प्रवेश

महत्वपूर्ण साधन है। इस प्रकार को अवस्थाएँ जिनमे रक्ताधान किया जाना चाहिए, निम्न रूप की हो सकती हैं—

१—किसी बडे शस्त्र-कर्म के समय विशेषकर जब रोगी रक्ताल्प तथा अत्यन्त दुर्बल होता है, शस्त्र-कर्म के प्रारम्भ में ही रक्ताधान कर दिया जाता है अथवा सब कुछ तैयार रखा जाता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर तत्क्षण

1. Blood Transfusion.

रक्ताधान किया जा सके। जब रक्तकणों की संख्या या रक्त रंग ४०% या उससे भी कम हो, रक्ताधान की अवश्य आवश्यकता रहती है—विशेषकर रक्ताल्प एवं दुर्बल गर्भिणी स्त्री में जब प्रसवकालीन रक्तस्राव का भय हो, इस प्रकार का प्रबन्ध अवश्य करना चाहिए।

२—अवसाद की अवस्था—जब अवसाद का कारण अत्यधिक रक्तस्राव हो तब एकदम सम्पूर्ण मानवीय रक्त का आधान आवश्यक है। किन्तु अग्नि दग्ध के कारण उत्पन्न अवसाद में रक्तनाश तो नहीं होता बल्कि रक्त अधिक गाढा हो जाता है अथवा आन्तरिक अङ्गों में भर जाता है, उस समय शुष्क मानवीय प्लाज्मा को लवण जल में मिलाकर अन्तः प्रविष्ट करना अधिक उपयुक्त पड़ता है। हैजा आदि की अवस्था में शरीर से अत्यधिक द्रवांश का नाश हो जाने पर भी यही उपाय किया जा सकता है अथवा सामान्य समबल लवण जल अन्दर प्रविष्ट किया जा सकता है, जैसा कि ऊपर ही वर्णन है।

३—तीव्र तथा आकस्मिक अधिक मात्रा में रक्तस्राव जैसा कि किसी दुर्घटना के समय, युद्धस्थल में लगे भयंकर आघात या आघातों से तथा शस्त्रकर्म या प्रसव के समय अत्यधिक रक्तस्राव हो सकता है। इस प्रकार की प्रत्येक अवस्था में कम से कम ५०० सी० सी० रक्त तुरन्त शरीर में पहुँचा दिया जाना चाहिए।

४—तीव्र स्वरूप की रक्ताल्पता चाहे वह किसी भी प्रकार की क्यों न हो, एक विशेष अवस्था है जिसमें सम्पूर्ण मानवीय रक्त अथवा घनीभूत मानवीय रक्तकणों को ग्लूकोज लवण जल में घोलकर अन्दर प्रविष्ट करना चाहिए। इस अवस्था में रक्ताधान थोड़ा-थोड़ा (मात्रा १५०-४०० सी० सी०) में एक-एक दो-दो सप्ताह के अन्तर से किया जाना उचित पड़ता है, एकदम अधिक मात्रा में देना ठीक नहीं। यह भी आवश्यक है कि रक्ताधान बहुत धीरे धीरे १०० सी० सी० प्रति घण्टे के हिसाब से किया जाय। इस प्रकार के रक्ताधान में रक्त की मात्रा तत्क्षण बढने के साथ ही साथ रक्तनिर्माण क्रिया को भी उत्तेजना मिलती है। रोग की प्रकृति के अनुसार अन्य रक्तवर्द्धक योगों का प्रयोग तो आवश्यक है ही।

५—चिरकालीन स्वरूप के रक्तस्राव अथवा रक्त के अन्य रोगों में जब रक्त के किसी विशेष घटक की कमी होती है तो रक्ताधान द्वारा उस घटक की पूर्ति हो जा सकती है। उदाहरण के लिए रक्तस्रावी परप्यूरा[1], श्वेत-कणह्रास[2] तथा पैतृक रक्तस्राव प्रवृत्ति[3] आदि अवस्थाओं मे रक्ताधान से क्रमशः रक्तप्लेटलेट, श्वेत कण तथा फायब्रिन रक्त मे पहुँच जाती है।

६—सायनायड, कार्वन मोनो आक्साइड अथवा मैथ या सल्फ हीमोग्लोबीनिमिया आदि रक्त की विषमयता की अवस्थाओ मे जब रक्त को ऑक्सीजन ले जाने की शक्ति नष्ट हो जाती है, रक्ताधान जीवन रक्षक होता है।

७—रक्त की विषमयता की उन अवस्थाओं में भी जब रक्त मे घातक विष पदार्थ मिलकर भ्रमण कर रहे होते है, रक्ताधान लाभकर होता है किन्तु इस प्रकार की अवस्थाओं मे रक्ताधान के साथ ही साथ शिरा मोक्षण[4] द्वारा रक्त निकाल देना भी आवश्यक है। इस प्रकार दो तीन बार किया जा सकता है। होता यह है कि विषयुक्त रक्त निकाल कर शुद्ध रक्त अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और इस प्रकार विषो की मात्रा इस सीमा तक घटाने का प्रयत्न किया जाता है कि वह जीवन के लिए घातक न रह सके।

सम्पूर्ण मानवीय रक्त—स्वस्थ व्यक्ति के रक्त को जिसे गत ६ मास मे विषम ज्वर, कामला या आतशक नही हुआ है, लेकर सुरक्षित रखा जाता है। जिस पात्र मे रक्त एकत्रित करना है उसमे स्कन्दनरोधी[5] पदार्थ मिलाकर पात्र को रक्त लेने से पहले ही शुद्ध कर लेना चाहिए। स्कन्दन रोधी पदार्थ (१) सोडियम सायट्रेट १·६ ग्राम, सायट्रिक एसिड ०·५६ ग्राम तथा डेक्स्ट्रोज १·५ ग्राम ७५ सी० सी० शुद्ध जल मे घोलकर या (२) सोडियम एसिड सायट्रेट १·७-२ प्रतिशत तथा डेक्स्ट्रोज २·५ प्रतिशत हो सकता है। प्रथम के ७५ सी० सी०, ५०० सी० सी० रक्त के लिए तथा द्वितीय के १२० सी० सी०, ४२० सी० सी० रक्त के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार एकत्र किए

1. Purpura heamorrhagica 2. Agranulocytosis 3. Haemophilia 4. Venesection 5. Anti coagulants.

गए रक्त के पात्र को सील करके ४°–६° तक ठण्डा किया जाता तथा प्रशीतित्र[1] में सुरक्षित रखा जाता है। केवल मात्र परीक्षा करने अथवा बाहर ले जाने के लिए पात्र को निकाला जा सकता है किन्तु अधिक से अधिक आध घण्टे तक ही बाहर रखना चाहिए। यह रक्त एक गहरे लाल रंग का द्रव पदार्थ होता है जो रखा रहने पर तलछट के रूप में नीचे रक्तकण तथा ऊपर रक्त रस निथर आता है। रक्त रस स्वच्छ होना चाहिए उसमें लालिमा होने की आवश्यकता नहीं, वसा के कारण कुछ हलका गँदलापन हो सकता है।

इस प्रकार सुरक्षित किया जाने पर भी रक्त केवल २-४ सप्ताह तक ही सुरक्षित रह सकता है—तीन सप्ताह के अन्दर-अन्दर काम में ले आना ठीक है।

रक्त के भिन्न-भिन्न घटक—रक्ताधान एक जीवनरक्षक प्रयोग है जिसकी आवश्यकता आधुनिक युग में और भी बढ़ गई है। युद्ध के दिनों में युद्ध-स्थल पर घायल सैनिकों के लिए अथवा एटम बम या हायड्रोजन बम से आहत नागरिकों के लिए इसकी आवश्यकता इतनी अधिक हो जाती है कि रक्त की गंगा-यमुना के सदृश बड़ी पूरी धारा भी उसकी पूर्ति नहीं कर सकती। इतनी बड़ी आवश्यकता के लिए तत्क्षण रक्त प्राप्त नहीं किया जा सकता इसलिए यही हो सकता है कि रक्त कोषों[2] में रक्त अधिक से अधिक मात्रा में एकत्रित करके सुरक्षित रखा जाय। किन्तु इस सम्बन्धी सबसे बड़ी कठिनाई जो वैज्ञानिकों को परेशान किए हुए है वह यह है कि सम्पूर्ण मानवीय रक्त को अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए इस प्रकार के परीक्षण किए जा रहे हैं कि रक्त के भिन्न-भिन्न घटकों रक्त कण, श्वेत कण आदि को पृथक् करके अलग-अलग सुरक्षित किया जाय। शुष्क मानवीय सिरम को ही ४-५ वर्ष तक सुरक्षित रखा जा सकता है। रक्तकणों एवं श्वेत कणों को भी अलग-अलग सुरक्षित रखने के प्रयत्न किए जा रहे हैं किन्तु इनमें अभी पूर्ण सफलता नहीं मिलती दिखाई पड़ती। इस प्रकार के संरक्षण से एक और भी लाभ है और वह यह कि रोगी विशेष को जिस

1. Refrigerator 2. Blood Bank.

प्रकार के भी घटक की आवश्यकता पडती है उसको वही दिया जा सकता है, उदाहरण के लिए रक्ताल्पता के रोगी को केवल रक्तकण देना पर्याप्त है।

भिन्न-भिन्न घटक जिनका सरक्षण किया जा सका है निम्न हैं—

घनीभूत मानवीय रक्तकण[1]—यह एक अथवा अधिक व्यक्तियों के रक्त से तैयार किए जाते हैं जो सात दिन से अधिक पुराना नही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी नितांत आवश्यक है कि प्रत्येक अलग-अलग ग्राहक[2] के रक्त के साथ उपयुक्त पड़े इस बात की परीक्षा कर ली जाय। सम्पूर्ण रक्त से कुल का कम से कम ४२ प्रतिशत रक्त रस तथा स्कन्दनरोधी पदार्थ अलग करके घनीभूत रक्तकण तैयार किए जाते हैं। सम्पूर्ण रक्त की तरह इसको भी सील बन्द पात्र मे, ताकि रोगोत्पादक जीवाणु प्रवेश न कर सके, सुरक्षित रखना चाहिए। तैयार किए जाने के २४ घटे के अन्दर यह प्रयुक्त कर लिया जाना आवश्यक है।

द्रव मानवीय सिरम[3]—मानवीय सम्पूर्ण रक्त को जब बिना किसी प्रकार का स्कन्दन रोधी पदार्थ मिलाये जम जाने दिया जाता है तो रक्त का द्रवांश अलग हो जाता है, यह द्रवाश ही मानवीय सिरम है। जीवाणुहीनता का ध्यान रखते हुए इसको छाना जाता है तथा इस प्रकार की क्रिया भी की जाती है कि सिरम कामला[4] के उत्पादक अश यदि उपस्थित भी हो तो वे नष्ट हो जायँ। यदि यह क्रिया नही की जाती तो यह आवश्यक है कि दस भिन्न-भिन्न सम्पूर्ण मानवीय रक्तों से सिरम तैयार की जाय।

यह स्वच्छ पीले रंग का रक्त कण रहित द्रव पदार्थ होता है। इसको स्वच्छ शुद्ध पात्र मे सील बन्द करके सूर्य प्रकाश से रक्षित स्थान पर १०°–२०° के तापमान पर सुरक्षित रखा जाता है।

शुष्क मानवीय सिरम[5]—यह उपरोक्त मानवीय द्रव सिरम को शीत शुष्क[6] करके तैयार किया जाता है। द्रव मानवीय सिरम को अन्य विधि से

---

1. Concentrated Human Red Blood Corpuscles 2. Receipient 3. Liquid Human Serum 4. Serum Jaundiced 5. Dried Human Serum 6. Freeze dried.

भी शुष्क किया जा सकता है, ध्यान इस बात का रखना है कि उसमें का प्रोटीन अंश विकृत न हो जाय। यह शुष्क चूर्ण रूप या भंजन शील[1] पदार्थ है जिसका रंग स्वच्छ श्वेत न होकर कुछ पीलिमा युक्त श्वेत हो सकता है। जितने द्रव मानवीय सिरम से इसको तैयार किया गया है उतने ही आयतन का शुद्ध जल मिलाने पर यह उसमें घुल जानी चाहिए।

शुद्ध पात्र में सील बन्द करके ताकि रोगोत्पादक जीवाणु अन्दर प्रवेश न कर सकें इसको भी सुरक्षित रखा जाना चाहिए। तैयार करने के ४-५ वर्ष तक इसको प्रयोग में लाया जा सकता है।

शुष्क मानवीय प्लाज्मा[2]—सम्पूर्ण मानवीय रक्त से सेण्ट्रीफ्यूज मशीन द्वारा अथवा साधारणतया निथार कर अलग किए गए द्रव को शुष्क मानवीय सिरम की तरह ही समझा जाना चाहिए।

रक्त के स्थानापन्न—रक्ताधान के सम्बन्ध में दूसरा प्रयत्न जो वैज्ञानिकों द्वारा किया जा रहा है, वह यह है कि रक्त के स्थानापन्न[3] कृत्रिम रूप से निर्माण किए जायँ। इस सम्बन्ध में यथार्थ बात यह है कि रक्त के सजीव घटक रक्तकण, श्वेत कण, रक्त प्लेटलेट आदि का निर्माण तो प्रायः असम्भव है, रक्त रस के स्थानापन्न अवश्य कुछ अंशों में तैयार किए गए हैं। समबल लवण जल आदि का आधान प्रायः किया ही जाता है, रक्त का आयतन इनके देने से तत्क्षण बढ जाता है और हैजा की भीषण अवस्था में इसीलिए इनका प्रयोग जीवनरक्षक होता ही है।

समतान लवण जल के पश्चात् रक्त रस से बहुत कुछ अंशों में मिलता-जुलता पदार्थ डेक्स्ट्रान[4] है।

डेक्सट्रान—यह एक पोली सैकरायड[5] है जिसका गाढापन रक्त एवं रक्तरस के बीच का होता है तथा आपेक्षिक घनत्व रक्तरस से कुछ ही

1. Friable 2. Dried Human Plasma 3. Blood subsitutes 4. Dextran 5. Polysaccharide.

अधिक होता है। आधान के उपयुक्त २० औंस की बोतल मे इण्ट्राडेक्स[1] डेक्सट्रावन, पैरीस्येन, प्लाज्मोसन आदि योग इसी कोटि के हैं। २० मिलीग्राम प्रति सेर शरीर भार के हिसाब से शिरागत इन्जेक्शन द्वारा इसका प्रयोग किया जाना चाहिए। रक्तरस के स्थानापन्न के रूप मे शिरागत आधान द्वारा दिया जाने पर रक्तरस का जलापकर्षक[2] भार यदि कम हो तो प्राकृत हो जाता है। प्राकृतिक रक्तरस की तरह इसमें पोषण[3] एव प्रतियोगी पदार्थ[4] सदृश गुण तो नहीं किन्तु सम्पूर्ण मानवीय रक्त से निर्मित रक्तरस के अभाव मे इसके प्रयोग से बहुत कुछ लाभ होता है। इसके अलावा इसके प्रयोग से रक्त रसीय कामला[5] अथवा सम्पूर्ण रक्त की तरह मलेरिया, आतशक आदि के उपसर्ग का भी भय नहीं। शिरागत प्रयोग से कभी-कभी प्रोटीन असह्यता सम्बन्धी उपद्रव उत्पन्न हो जाया करते है। जिनका समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

इसका प्रधान प्रयोग अग्निदग्ध की चिकित्सा मे है जब कि प्रति दश प्रतिशत शरीर के जले होने पर १–१½ पाइट के हिसाब से इसका शिरागत आधान किया जाना चाहिए। फिर भी २५००–३००० सी० सी० से अधिक डेक्सट्रान देना उपयुक्त नही।

विभाजन या वर्गीकरण[6]—रक्ताधान क्रिया जीवन रक्षक होते हुए भी इतनी सरल नही कि प्रत्येक चिकित्सक उसको कर सके और इसका एक मात्र कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का रक्त प्रत्येक व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता। रक्ताधान करने के पूर्व दाता के रक्तकणो की ग्राहक की सीरम के साथ परीक्षा कर लेना आवश्यक होता है, यदि दाता के रक्तकण ग्राहक की सिरम द्वारा समूहित[7] हो जाते है तो वह रक्त देना उपयुक्त नही पड़ सकता। इस दृष्टि से सभी व्यक्ति चार भागो मे विभाजित कर दिए गए हैं। मौस के अनुसार इन विभागो को क्रमशः १, २, ३, व ४ कहते हैं तथा जैस्की

1. Intradex 2. Osmotic pressure 3. Nutrition 4. Immunological 5. Serum Jaundice 6. Blood grouping 7. Agglutinate.

के अनुसार ये ही क्रमशः ४, २, ३, व १ हैं किन्तु आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के अनुसार इनको क्रमशः A, B, A B तथा O कहा जाता है। किसका रक्त किसको दिया जा सकता है। यह बात निम्नतालिका से भली प्रकार स्पष्ट हो जा सकती है।

विभाग	रक्तकण निम्न विभाग के रक्तरस द्वारा समूहित हो जाते हैं जिनको रक्त नहीं दिया जा सकता	रक्तरस निम्न विभाग के रक्त कणों को समूहित कर देता है जिनका रक्त इसको नहीं दिया जा सकता
AB.	A, B, तथा O के रक्तरस द्वारा। A, B, व O को इसका रक्त नहीं दे सकते।	रक्तरस किसी भी विभाग के रक्त कणों को समूहित नहीं करता सबका रक्त दिया जा सकता है सर्वग्राहक[1]
A	B व O के रक्तरस द्वारा B व O को इसका रक्त नहीं दे सकते, केवल A B व A को दे सकते हैं	A B व B के रक्त कण समूहित हो जाते हैं, A B व B का रक्त इसको नहीं दिया जा सकता, केवल A व O का दिया जा सकता है
B.	A व O के रक्तरस द्वारा A व O को इसका रक्त नहीं दे सकते केवल A B व B को दे सकते हैं	A B व A के रक्त कण समूहित हो जाते हैं A B व A का रक्त इसको नहीं दे सकते केवल B व O का दे सकते हैं
O.	किसी के भी रक्तरस द्वारा नहीं इसका रक्त सबको दिया जा सकता है। सर्वदानी[2]	A B, A व B के रक्त कण समूहित हो जाते है केवल O का रक्त ही दिया जा सकता है अन्यथा नहीं

1. Universal recepient 2. Universal Donor.

कोई खास व्यक्ति किस विभाग का है इसका निर्णय A व B भाग के सुरक्षित रक्तरस के साथ परीक्षा करके किया जा सकता है। एक ही कान्चपट्ट पर A व B लिखकर उसके पास ही A व B रक्तरस की एक-एक बूंद रख दी जाती है। जिस व्यक्ति के रक्त की परीक्षा करनी है उसकी अगुली मे सुई चुभाकर रक्तकण गणना पिपैट[1] मे १ के चिह्न तक रक्त खीच लिया जाता है। इसके शीघ्र पश्चात् ही बल्ब के आधे चिह्न तक सोडा सायट्रास का ३·८ प्रतिशत शक्ति का घोल भी खीच लिया जाता है और इसको भली प्रकार मिला लिया जाता है ताकि रक्त जम न जाय। इस सायट्रेट युक्त रक्त की एक-एक बूंद कॉचपट्ट पर रखे रक्तस्राव की बूॅद के बिल्कुल पास ही छोड दी जाती है। प्लेटिनम तार के छल्ले[2] की सहायता से दोनों को मिला देते हैं। ध्यान रखना चाहिए कि बूॅद को मिलाने के पश्चात् प्लेटिनम तार को अग्नि मे तपाने के बाद ही दूसरी बूॅद को मिलाया जाय अथवा अलग-अलग दो तार प्रयोग मे लाये जायॅ। अब प्रत्येक पर एक-एक कवर ग्लास रखकर अणु-वीक्षण यन्त्र की हल्की शक्ति द्वारा परीक्षा की जाती है। यदि समूहन नही होती है तो रक्तकण सम्पूर्ण स्थान मे एक से फैले रहते है किन्तु यदि समूहन हो जाता है तो वे इधर-उधर गुच्छो के रूप मे एकत्रित हो जाते है। यह क्रिया अधिक से अधिक २० मिनट मे होनी चाहिए और यदि बीस मिनट मे नही होती तो फिर होने की सम्भावना नही।

यदि समूहन दोनो मे होता है तो परीक्षित रक्त A. B. विभाग का, यदि केवल A. के साथ होता है तो विभाग B. और यदि केवल B. के साथ होता है तो विभाग A. तथा यदि किसी के भी साथ नही होता तो विभाग O. मानना चाहिए।

इस परीक्षा के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट रूप से ध्यान रखना चाहिए कि जिस सिरम के साथ परीक्षा की जा रही है वह ताजी हो तथा रिफ्रीजरेटर

---

1. R. B. C. Counting pipette. 2. Platinum Loop.

में ही सुरक्षित रखी गई हो क्योंकि बाहर रखने में उसकी समूहन शक्ति धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है और फिर परीक्षा करने पर धोखा हो सकता है।

विभाग का निर्णय हो जाने पर रक्तकोष से उपयुक्त विभाग का रक्त मँगाया जा सकता है अथवा जिसका रक्त देना है उसके रक्त की परीक्षा कर ली जा सकती है।

यह भी हो सकता है कि दाता एवं ग्राहक के रक्तों का पारस्परिक मेलन[1] कर लिया जाय। इस परीक्षा के लिए ग्राहक के रक्तरस की एक बूंद तथा दाता के सायट्रेट युक्त रक्त की एक बूंद लेकर दोनों को काचपट्ट पर रख कर मिलाकर उपरोक्त विधि से ही अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखा जाता है। यदि १५-३० मिनट के अन्दर-अन्दर समूहन नहीं होता तो ग्राहक का रक्त उपयुक्त है, यह निर्णय किया जा सकता है। इस विधि में दाता व ग्राहक के रक्त का विभाग निर्णय नहीं किया जाता बल्कि रक्तों का पारस्परिक मेलन देख लिया जाता है। किन्तु यह अवश्य ध्यान रखना है कि जब रक्ताधान किया जाय यह परीक्षा कर ली जाया करे क्योंकि एक बार उपयुक्त सिद्ध होने का यह अर्थ नहीं कि वह प्रत्येक बार ही उपयुक्त सिद्ध हो।

इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ तक हो सके एक ही व्यक्ति का रक्त दुबारा न दिया जाय क्योंकि प्रथम बार के रक्ताधान द्वारा ही ग्राहक के रक्त में कुछ ऐसे परिवर्तन हो जा सकते हैं जिनके कारण दूसरी बार वही रक्त देने पर एनाफायलेक्टिक प्रतिक्रिया[2] उत्पन्न होकर ग्राहक के जीवन को ही सङ्कट में डाल दे। यदि देना ही पड़े तो दाता की सिरम के लिए ग्राहक की प्रतिक्रिया की परीक्षा कर ली जानी चाहिए अथवा दाता की सिरम में ग्राहक के रक्तकणों को मिलाकर उपरोक्त विधि से ही देख लिया जाना चाहिए कि वे समूहिक या सलयित अर्थात् द्रवित[3] तो नहीं होते। यही कारण है कि प्रत्येक बार रक्तान्तः क्षेप करते समय रक्तों की पारस्परिक परीक्षा आवश्यक है।

---

1. Cross Matching 2. Anaphylactic. 3. Haemolysed.

आवश्यक यन्त्र एवं विधि—इस स्थल पर सायट्रेट युक्त रक्ताधान की बहुत ही सामान्य विधि का वर्णन है। भिन्न-भिन्न विधियों तथा विशेष वर्णन के लिए तत्सम्बन्धी विस्तृत साहित्य का अध्ययन किया जा सकता है। रक्ताधान की साधारण विधि दाता के रक्त का एकत्रित करना, उसको जमने न देना तथा ग्राहक मे शिरा द्वारा प्रविष्ट कर देना है।

दाता का रक्त कर्पूर सन्धि पर की शिरा से निकाला जाता है और इसके लिए चर्म का छेदन करना आवश्यक नहीं। ऊर्ध्वबाहु के चारो ओर टूर्नीकिट

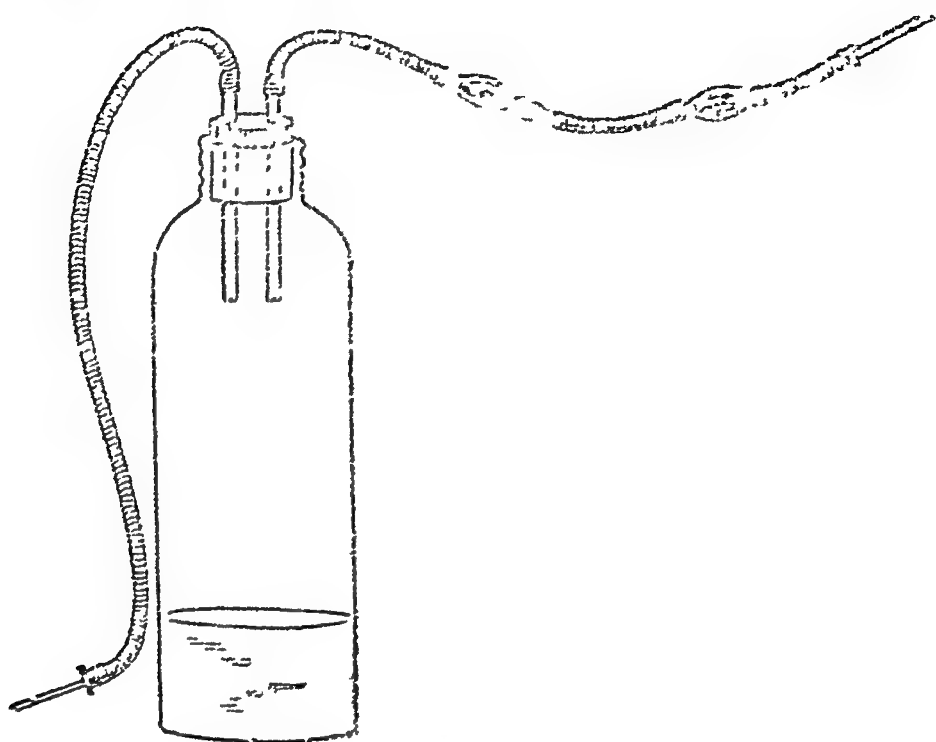


चित्र—७३
फ्रेंच की अन्तःक्षेप शूची

बाँध कर शिरा को स्पष्ट कर लिया जाता है और इसके पश्चात् चर्म के नीचे थोड़ा कोकेन घोल प्रविष्ट करके स्थान को सज्ञाहीन भी बनाया जा सकता है। चर्म पर आयोडीन या स्पिरिट का प्रलेप करने के पश्चात् एक मोटे छिद्र को शूची शिरा मे प्रविष्ट की जाती है। इस उद्देश्य से फ्रेंच (चित्र ७३) या स्ट्रास की शूची उपयुक्त रहती है। स्ट्रास की शूची मे एक प्लेट इस प्रकार और लगी रहती है कि वह कर्पूर सन्धि पर आराम के साथ स्थिर रह सके।

रक्त साधारणतया स्वतः ही पात्र मे आता रहता है अथवा पात्र मे जैसा कि (चित्र ७४) मे दिखाया गया है, ऋणात्मक दबाव उत्पन्न करने का प्रबन्ध रखा जाता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि जिस पात्र मे रक्त एकत्रित करना है उसमे २·५ शक्ति का लगभग ६० सी० सी० सोडासायट्रेट सोल्यूशन हो ताकि रक्त जम न जाय। लिखने की आवश्यकता नहीं कि यह घोल शुद्ध परिस्रुत जल मे तैयार किया गया हो तथा जीवाणुहीन शुद्ध हो। जिस पात्र मे रक्त एकत्रित किया जा रहा है उसमे चिह्न लगे होने चाहिए

ताकि रक्त की मात्रा नापी जा सके—एक बार में युवा व्यक्ति का ५०० सी० सी० से अधिक रक्त लेना ठीक नहीं। रक्त लेते समय पात्र को थोड़े उष्णजल

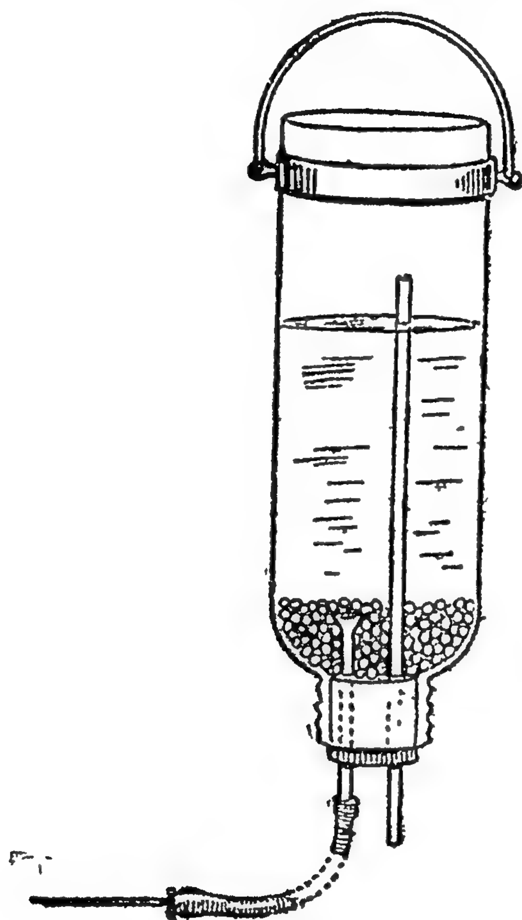


चित्र—७४
रक्तग्रहण के लिए बोतल

में रक्खा जाता तथा कुछ-कुछ हिलाते रहते हैं ताकि सायट्रेट घोल के साथ रक्त मिलता रहे।

ग्राहक में शिरा मार्ग से रक्त प्रवेश करने की विधि बिलकुल द्रवाधान की तरह है। यदि रक्त ऐसे पात्र में एकत्रित किया गया है जिसकी सहायता से रक्त दिया भी जा सके तो यह सबसे अच्छा है। पात्र (चित्र ७५) को थोड़ा ऊँचाई पर टाँग दिया जाता है तथा मोटे छिद्र की शूची या विशेष प्रकार का केन्यूला (चित्र ७६) शिरा में प्रविष्ट करके उसको रबर की नली द्वारा रक्तदान पात्र से सम्बन्धित कर दिया जाता है। देते समय रक्त प्रवेश की गति पर भी ध्यान रखा जाना आवश्यक है। १०० सी० सी० रक्त को अन्दर पहुँचाने में कम से कम ६ मिनट इस प्रकार कुल ५०० सी० सी० रक्त को

प्रवेश करने मे कम से कम आधा घंटा लगाना चाहिए। एकदम तेजी के साथ देने से शीत के साथ ज्वर की उत्पत्ति हो जा सकती है। इन सबके अलावा रक्त को छान लेना भी अच्छा होता है ताकि रक्त के छोटे-छोटे थक्के भी जो सम्भवतः बन गए हों, रक्त में प्रविष्ट न हो जायँ। इसके लिए रक्तदान



चित्र—७५

रक्तदान पात्र

पात्र में नीचे की ओर शुद्ध गौज का टुकड़ा डाला जा सकता है अथवा जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है कांच की शुद्ध छोटी-छोटी गोलियाँ ही डाल दी जा सकती हैं।

लिखने की आवश्यकता नहीं कि स्वस्थ युवा व्यक्ति का रक्त लेना ही अच्छा रहता है। स्त्री का रक्त भी लिया जा सकता है किन्तु इस बात का

ध्यान रहना चाहिए कि एक बार मे ३५० सी० सी० से अधिक रक्त न लिया जाय। दाता आतशक, मलेरिया या अन्य ज्वर या क्षत से पीड़ित न हो, इसके



चित्र—७६

रक्तदान के लिए केन्यूला

लिए पूर्ण परीक्षा कर ली जानी चाहिए। उन व्यक्तियो का रक्त लेना भी ठीक नही जो प्रोटीन असह्य[1] होने के कारण श्वास[2], शीतपित्त[3] आदि के रोगी होते हैं। एल्ब्यूमिनमेह[4] हृत्दौर्बल्य[5] या स्थूल[6] व्यक्तियो का रक्त लेना भी ठीक नहीं क्योंकि यह उनको स्वतः हानिकर हो सकता है।

रक्ताधान की दुर्घटनाएँ—१-जिन व्यक्तियो का हृदय दुर्बल है उनमें एकदम अधिक मात्रा मे रक्त या अन्य द्रव भी पहुँचा देने से फुफ्फुस शोफ[7] के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं इसलिए प्रत्येक अवस्था मे जब दो पाइन्ट से अधिक रक्त देना हो; फुफ्फुसो की ओर ध्यान रखना चाहिए ताकि इस प्रकार की दुर्घटना उत्पन्न ही न होने पावे।

२—रक्त स्कन्दन—सब तरह की सावधानी रखते हुए भी यह सम्भव है कि रक्त जम जाय। इसके लिए जो कुछ किया जा सकता है वह यही है कि ३·८ प्रतिशत शक्ति से कम शक्ति का सोडा सायट्रास घोल प्रयुक्त न किया जाय क्योंकि २' प्रतिशत शक्ति के घोल से किसी-किसी व्यक्ति के रक्त का जमना नही रोका जा सकता। फिर रक्त को ग्राहक की शिरा मे प्रवेश करते समय छाना भी जा सकता है जैसा कि ऊपर ही संकेत किया जा चुका है।

1. Protein Senitive 2. Asthma 3. Urticaria 4. Albuminuria 5. Cardic debility 6. Obese 7. Pulmonary oedema.

३—शीत[1]—एकाएक तीव्र शीत तथा कँपकँपी एक ऐसा उपद्रव है जो द्रवाधान या रक्ताधान के कारण उत्पन्न हो सकता है। इसका प्रधान कारण जीवाणु या बाह्य प्रोटीन का अन्दर पहुँच जाना है और इसको रोकने का सर्वोत्तम उपाय पूर्ण रूप से सफाई रखना है। जहाँ तक सम्भव हो सके इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि द्रव शरीर तापक्रम पर ही अन्दर पहुँचे। कभी-कभी एकदम तेजी के साथ आधान करने से भी इस प्रकार का उपद्रव उत्पन्न हो सकता है।

४—रक्ताधान का सर्वाधिक भयकर उपद्रव दाता अथवा ग्राहक रक्तकणों का समूहन या द्रवित हो जाना है। यह एक घातक स्वरूप का उपद्रव है किन्तु उत्पन्न केवल उसी अवस्था मे होता है जब अनुपयुक्त रक्त का आधान कर दिया गया हो और इसलिए इस प्रकार के उपद्रव का उत्पन्न होना रक्तो के पारस्परिक मेलन सम्बन्धी परीक्षा मे असावधानी का द्योतक है। इस उपद्रव के मुख्य लक्षण निम्न रूप के होते है—

अ—लक्षण ५०-१०० सी० सी० रक्त अन्दर पहुँच जाने पर ही उत्पन्न होने लगते हैं। सारे शरीर मे चुनचुनाहट, सिर मे भारीपन, हृत्प्रदेश मे हलकी पीड़ा-सी और इसके साथ ही उदर प्रान्त[2] मे तीव्र पीड़ा, चेहरा गहरे लाल या नीलिमा युक्त रग का मालूम पड़ता है, श्वास-उथली हो जाती है तथा नाडी गति धीमी २०-३० प्रति मिनट रहती है। सम्पूर्ण शरीर या केवल चेहरे पर शीतपित्त के चकत्ते निकल आते है। कभी-कभी रोगी बेहोश भी हो जाता है। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि शीत के साथ ज्वर आने के साथ ही साथ यदि पीठ मे तीव्र शूल भी होता है तो वह इस भयकर उपद्रव का ही परिचायक है जबकि शीत के साथ साधारण ज्वर का होना रक्ताधान करते समय सफाई की कमी का परिचायक हो सकता है।

ब—कुछ समय पश्चात् नाड़ी तेज किन्तु कमजोर हो जाती है, चर्म ठण्डा एव स्वेदयुक्त होता है तथा रोगी की हालत बहुत चिन्ताजनक होती

1. Rigor 2. Lumbar region.

है। शीत के साथ १०३°–१०५° डिग्री तक ज्वर तथा प्रलाप की अवस्था उत्पन्न हो सकती है।

स—कालान्तर मे कभी-कभी कामला उत्पन्न हो जाती है। हीमोग्लोबिन युक्त मूत्र का आना आवश्यक होता है! मूत्र विषमयता उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

उपद्रवों का प्रतिकार रक्ताधान से पूर्व—१. पारस्परिक मेलन[1] अवश्य कर लेना चाहिए और थोडा भी सन्देह होने पर रक्ताधान करना ठीक नही।

२—प्रत्येक रक्ताधान के समय यह परीक्षा कर लेना आवश्यक है क्योंकि एक वार रक्त के उपयुक्त पड़ जाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि वह हर वार उपयुक्त पडता रहे।

३—पूर्ण परीक्षा कर लेने के बाद भी अच्छा हो यदि प्रथम २० सी० सी० रक्त का धीरे-धीरे आधान करने के पश्चात् १०-१५ मिनट तक ठहरा जाय। यदि कोई हानिकर लक्षण उत्पन्न न हों तभी शेष रक्त का आधान किया जाय।

४—ग्राहक मे क्षारीयता की उत्पत्ति—यह देखा गया है कि जब मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल होती है तभी हीमोग्लोबिन वृक्को मे जम जा सकती है अन्यथा नहीं। अतः मूत्र को क्षारीय रखने के उद्देश्य से पोटास सायट्रास एव सोडावाई कार्ब प्रत्येक ३० ग्रेन, शर्वत सन्तरा १ ड्राम १-१½ औंस पानी मे मिलाकर २४ घण्टे मे ४-५ वार लिया जा सकता है।

रक्ताधान के पश्चात्—१. आकस्मिक अवसाद की अवस्था, कामला, मूत्र मे हीमोग्लोबिन का आना, शीत के साथ ज्वर आदि में से किसी के भी उत्पन्न होने पर चिकित्सक को तत्क्षण सावधान हो जाना चाहिए।

२—रक्ताधान मे वाह्य प्रोटीन या जीवाणुओ की उपस्थिति के कारण उत्पन्न ज्वर आदि के उत्पन्न होने पर एड्रीनैलीन १:१००० का १ सी० सी०

1. Cross matching.

का चर्मांधः इजेक्शन देने के पश्चात् रोगी को कम्बलों मे लपेटकर लिटा दिया जाता है। हृदयोत्तेजक औषधियाँ दी जा सकती हैं।

३—यदि रक्तकणों के द्रवित हो जाने के कारण उपद्रव उत्पन्न होते हैं तो एक मात्र चिकित्सा रक्त को क्षारीय बनाने का प्रयत्न करना है। इसके लिए उपरोक्त क्षारीय मिश्रण ही प्रति घण्टे पश्चात् दिया जाता है। जैसे-जैसे मूत्र की मात्रा बढती जाय यह मात्रा प्रति २, ४ या ५ घण्टे पश्चात् दी जा सकती है। मूत्रनलिका द्वारा निकाला जा सकता है। यदि मुख एवं गुदा द्वारा उपरोक्त क्षारीय मिश्रण से लाभ न हो तो अवस्था भयंकर समझी जानी चाहिए और फिर क्षारीय मिश्रण (१० सी० सी० समबल सोडियम लैक्टेट तथा सोडावाई कार्ब का सतृप्त घोल) या लवणजल शिरा द्वारा दिया जा सकता है किन्तु फुफ्फुस शोफ या हृदय के फेल होने का भय बना रहता है।

शिरावेधन—इसी को फस्द खोलना या रक्त मोक्ष कहते है। इसका तात्पर्य शिरामार्ग से शरीर का कुछ रक्त बाहर निकाल देना है। इसकी आवश्यकता रक्तचाप एकदम अधिक होने, हृदय, विशेष कर दाएँ भाग पर, दबाव अधिक पड़ने तथा तीव्र विषाक्तता की अवस्था मे पड़ा करती है। तीव्र विषाक्तता की अवस्था मे एक ओर रक्त निकाला जाता है तो दूसरी ओर रक्त चढ़ाया भी जाता है और इस प्रकार शरीर विषों की मात्रा कम की जाती है।

शिरावेधन के लिए वही विधि अपनाई जाती है जो रक्ताधान के लिए रक्त निकालते समय के लिए है। कूर्पर सन्धि पर की शिरा को स्पष्ट करने के लिए चर्म मे छेदन करने की प्रायः आवश्यकता नही। यदि छेदन किया ही जाता है तो छेदन द्वारा शिरा को स्पष्ट करने के पश्चात् उसके नीचे होकर दो बन्धन डाल दिये जाते है। ऊपर वाले बन्धन को कड़ा करके शिरा मे काट की जाती है जिसके द्वारा इच्छित मात्रा मे रक्त निकल चुकने के पश्चात् नीचे का बन्धन भी बाँध दिया जाता है और इसके पश्चात् काट के स्थान पर शिरा को पूरा काट देने है। चर्म मे टाके लगाकर गौज एव रुई रखकर पट्टी बाँध दी जाती है।

अपस्फीत शिराएँ[1]—

पस्फीत शिरा से तात्पर्य उस शिरा से है जो कुछ चौड़ी लम्बी और इसके साथ ही साप की गेंडली की तरह वक्र हो गई है। इस प्रकार की अपस्फीत शिराएँ प्रायः उरु मे या घुटने से नीचे जघा मे ही देखी जाती है। अर्श भी एक प्रकार की अपस्फीत शिराएँ ही हैं।

विकृति का प्रारम्भ शिरा की दीवाल के मध्य स्तर से होता है जब कि वहाँ प्रत्यास्थ एव मासल ऊतक के स्थान पर तान्तव ऊतक की उत्पत्ति हो जाती है। शिरा की दीवाल पतली हो जाती तथा आयतन एव लम्बाई बढ जाती है। बढ़ी हुई लम्बाई उसी स्थान पर सीमित रहे इसलिए शिरा साप की गेड़ली की तरह वक्र अर्थात् टेढी हो जाती है। स्पष्ट है कि आयतन बढ जाने से कपाट[2] विकृत हो जाते है।

कारण—१. शिराओं की जन्मजात दुर्बलता जिसके साथ मे सम्भवतः कपाटो की विकृति भी सम्मिलित रहती है।

२. शिराओ मे ऊपर की ओर बहने वाले रक्त-प्रवाह मे बाधा जिसके कई कारण हो सकते है यथा (अ) उरु या कमर को अत्यधिक कसने वाला वस्त्र या पेटी (ब) ऐसा व्यवसाय जिसमे अधिक खडे रहने या चलने-फिरने की आवश्यकता हो (स) गर्भावस्था या वस्ति मे कोई अर्बुद जिसके कारण शिराओ पर दवाव पड़ता है। (द) गम्भीरस्थ शिराओ के मार्ग मे किसी प्रकार का अवरोध होना—यह प्रायः शिराशोथ एव उसके पश्चात् रक्तस्कन्दन के कारण हो सकता है।

लक्षण—इस प्रकार की विकृति के प्रायः कोई लक्षण नहीं होते और चिकित्सा केवल इसलिए आवश्यक समझी जाती है कि पीडित अग की सुन्दरता मे वृद्धि हो सके। कुछ व्यक्ति चलने या खड़े रहने पर पैरो मे भारीपन एव थकावट-सी अनुभव करते है। कभी-कभी उस स्थान पर पीड़ा भी होती

1. Varicose veins 2. Valves.

है जो रात्रि के समय बढ़ जाती है। इस प्रकार के लक्षण उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा आवश्यक हो जाती है।

उपद्रव—१. अपस्फीत शिरीय व्रण[1]।

२. विचर्चिका या एक्जिमा—चर्मस्थ छोटी-छोटी शिराओं मे विकृति उत्पन्न होने पर इस प्रकार की स्थिति बनती है।

३. शिराशोथ[2]—यह प्रायः उत्थान धातुगत शिराओं मे आघात के कारण उत्पन्न हो जाता है। पीड़ा विशेष नही होती और न रोगी को अधिक समय तक आराम से डाले रखने की ही आवश्यकता है।

४. रक्तस्राव—अपस्फीत शिरा के कट जाने पर तीव्र स्वरूप का रक्तस्राव हो सकता है जो पीड़ित अंग को ऊपर की ओर उठाने तथा रक्तस्राव के स्थान पर दवाव डालने से ही रोका जा सकता है।

५. गम्भीरस्थ शिराओ मे विकृति होने पर पैर एवं टाग मे शोफ की उत्पत्ति सम्भव है।

चिकित्सा—चिकित्सा के तीन रूप है यथा (१) शामक[3] (२) सूर्चा-वेध अर्थात् इन्जेक्शन (३) शस्त्र-कर्म। इसके दो रूप है—(१) वन्धन (२) शिराच्छेदन अर्थात् शिरा को काटकर ही वाहर निकाल देना। शस्त्र-कर्म विशेष कठिन है, अतः उसका यहाँ वर्णन नहीं किया जाता—तत्सम्वन्धी विशेप साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिए। शेष तीन विधियो का वर्णन यहाँ दिया जाता है।

शामक—इस प्रकार की चिकित्सा उस समय की जानी चाहिए जव अपस्फीत शिराओ की उत्पत्ति का कारण अस्थाई स्वरूप का हो जैसे गर्भावस्था या गम्भीरस्थ शिराओ मे घनास्रता[4] के कारण अवरोध। शिरा शोथ की अवस्था मे रोगी आपको इस प्रकार का इतिहास देगा कि पीड़ित पैर के शोथ एव पीड़ा युक्त रहने के कारण उसे कुछ दिनो तक चारपाई पर ही आराम करना पड़ा था। यह शिराशोथ की अवस्था थी जिसके कारण गम्भीरस्थ शिरा का मार्ग पूर्णतः या अंशतः अवरुद्ध हो चुका है। ऐसी स्थिति में

1. Varicose ulcer 2. Phlebitis 3. Palliatieve 4. Thrombosis.

अपस्फीति शिराओं के द्वारा ही रक्त ऊपर को लौटता है और इसीलिए इनको इन्जेक्शन या शल्य-कर्म द्वारा समाप्त कर दिया जाना ठीक नहीं क्योंकि रक्त के ऊपर की ओर सचालन के लिए अन्य सहायक शिराओं[1] की उत्पत्ति आवश्यक है। इस प्रकार शामक चिकित्सा के सम्बन्ध मे यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि जव अपस्फीत शिराओं की उत्पत्ति का कारण अस्थाई है तव शामक चिकित्सा कारण की उपस्थिति के समय तक लक्षणों का शमन किये रहकर कष्ट नही बढने देती और जब कारण स्थाई एवं साथ ही साथ अचिकित्स्य है जैसा कि गम्भीरस्थ शिराओं का पूर्ण या आंशिक अवरोध तो अन्य चिकित्सासम्बन्धी साधनों को ही अपनाया जा सकता है।

शामक चिकित्सा का अर्थ उसमे ऊपर की ओर किसी कडे बन्धन को न रहने देना है जिससे रक्त सचार मे बाधा पडे। इसके अलावा जानुसन्धि से नीचे थोड़ी-सी कड़ी पट्टी क्रीप बेंडेज नीचे से ऊपर की ओर बाधी जानी चाहिए। किसी लचकीले पदार्थ जैसे रवर आदि के छिद्रयुक्त मोजे पहने जा सकते हैं जो रोगी के पैरो की नाप के अनुसार विशेप रूप से तैयार किए गए हों; किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि रवर के दस्ताने या पट्टी ठीक नही क्योंकि उनके पहनने से यदि वायु को पैरों के सम्पर्क मे आने का अवसर नहीं मिलता तो पसीने के न सूख सकने के कारण चर्म विकृति हो जा सकती है।

क्रीप वेंडेज वाधने के अलावा यह भी किया जा सकता है कि रोगी सोते समय अपने पैरो को लगभग २० सेण्टीमीटर ऊँचा रखकर सोया करे। घूमना-फिरना हानिकर नहीं किन्तु लगातार खड़े रहने से बचना चाहिए। यदि दिन-भर कुर्सी पर वैठे रहना आवश्यक हो तो पैरो को आराम के लिए कुर्सी के सामने स्टूल आदि रक्खा जा सकता है।

२. शूचीवेध—इसका उद्देश्य शिरा के अन्तर्गत किसी क्षोभक औषधि का प्रवेश कर देना है जिससे शिरा का अन्तस्तर नष्ट होने तथा शिराशोथ के साथ ही साथ वहाँ रक्त जम जाने से शिरामार्ग अवरुद्ध हो जाता है जो प्रायः स्थाई स्वरूप का होता है। जमे हुए रक्त के शिरा की दीवार के साथ भली प्रकार ससक्त होने के कारण अंतःशल्यता का कोई भय नहीं।

1. Collateral Vein.

निषेध—निम्न अवस्थाओं मे यह कार्य किया जाना ठीक नहीं—

१—गत छः मास तक के समय मे उत्पन्न शिराशोथ ।

२—अस्थाई स्वरूप का अवरोध यथा उदर गुहा का अर्बुद या गर्भावस्था। अवरोध के दूर होने पर अपस्फीत शिराएँ स्वतः ठीक हो जा सकती हैं।

३—गम्भीरस्थ शिराओं का अवरोध।

४—हृत्पेशी शोथ आदि अन्य सार्वदैहिक रोग।

५—स्थल विशेष के लिए धमनियों द्वारा रक्त आने मे कमी। इस स्थिति में यदि रक्त वापस ले जाने वाली शिराओं का भी अवरोध कर दिया जाता है तो कोथ[1] की उत्पत्ति सम्भव है।

उपकरण—५ सी० सी० की सिरिंज तथा पतली १६ नं० की शूची के अलावा निम्न घोलों में से एक।

१—कुनीन एव यूरीथेन (कुनीन हाइड्रोक्लोराइड १४ प्रतिशत तथा यूरीथेन ७ प्रतिशत)।

२—लिथोकेन (लिथोकेन सैलीसिलेट ३० प्र० श० ले टोकेन २ प्र० श०)।

३—एथेमोलिन[2] (ग्लेक्सो कम्पनी द्वारा प्रस्तुत विशेष योग)।

४—सोडियममौरेट ५-१० प्रतिशत।

कुनीन एवं यूरीथेन अधिक क्षोभक होने के कारण यदि शिरा के बाहर निकल जाती है तो शोथ की उत्पत्ति कर सकती है फिर भी स्थायी स्वरूप का फल देने के कारग इसको सर्वोपयुक्त समझा जाता है, एथेमोलिन कम क्षोभक है किन्तु उससे विशेष सन्तोषजनक स्थाई फल नही मिलते। सोडियम मोरेट प्रोथ्रीनासह्यता के लक्षण उत्पन्न कर सकता है, अतः अब प्रयोग मे नही लाया जाता।

---

1. Gangrene 2. Ethamolin.

विधि—जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखना है और इसके लिए घोल शुद्ध होने के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि सिरिंज एवं शूची को उवाल कर शुद्ध कर लिया जाय। रोगी को खड़ा रखते हुए रक्तदाव-मापक[1] की पट्टी या अन्य साधारण वन्धन जंघा मे वाँधा जाता है जिससे शिराएँ स्पष्ट हो जायें। शिराओ के स्पष्ट हो जाने पर रोगी को बिठा दिया जाता है तथा जिस स्थान पर इन्जेक्शन लगाना है उस स्थान को स्पिरिट के फाए से साफ करके औषधि युक्त सिरिज मे लगी शूची शिरा मे प्रविष्ट की जाती है। लिखने की आवश्यकता नही कि पिस्टन को खींचकर सिरिज मे रक्त आने से यह निश्चित कर लिया जाना चाहिए कि शूची शिरा मे ही है शिरा के वाहर नही। अव उसके वन्धन को ढीला कर दिया जाता है तथा थोड़ा मालिश के द्वारा शिरा के रक्त को ऊपर की ओर हटाकर उसको रिक्त कर लेते है, इसके साथ ही साथ पिस्टन को दवाकर औषधि शिरा मे अन्दर पहुँचा दी जाती है। छोटी या मध्यम आकार की शिरा मे रोगी के खड़े होने पर ही इजेक्शन लगाया जा सकता है जव कि वड़ी शिरा मे रोगी के लेटे होने पर शिरा को रिक्त करने के पश्चात् ही इंजेक्शन लगाना उपयुक्त है। शूची को निकालने के साथ ही साथ छिद्र को स्पिरिट के फाए से दबा दिया जाना चाहिए तथा उस स्थान पर कुछ समय के लिए एलास्टो प्लास्ट की पट्टी लगा दी जाती है।

प्रथम इजेक्शन सवसे नीचे स्थान पर होना चाहिए और फिर क्रमशः ऊपर की ओर इन्जेक्शन वढ़ाए जाते हैं। कुनीन यूरीथेन की प्रारम्भिक मात्रा एक सी० सी० से अधिक होना ठीक नहीं क्योंकि सम्भव है रोगी मे उसके प्रति विशेष रूप से असह्यता[2] हो। आगे चलकर यह मात्रा ३ सी० सी० तक वढ़ा दी जा सकती है जो एक ही शिरा मे या दो तीन भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक ही वार मे दी जा सकती है। इजेक्शन प्रायः एक सप्ताह के अन्दर दिए जाने चाहिए।

---

1. Sphygmomanometer 2. Susceptibility.

यह नितान्त आवश्यक है कि इन्जेकशन शिरा के अन्दर ही लगे, औषधि इधर-उधर निकल न जाय अन्यथा उस स्थान पर क्षोभ, पीड़ा शोथ एवं व्रण की उत्पत्ति सम्भव है। यदि किसी प्रकार सुई शिरा के बाहर के स्थान में चली जाय और कुछ घोल बाहर निकल जाय तो तत्क्षण इजेक्शन बन्द करके पिस्टन को पीछे खीचकर जितना घोल वापस आ सके उतना वापस करके सिरिज को सुई से अलग कर लिया जाता है। इसके बाद यथासम्भव शीघ्र ही उसी या दूसरी सिरिज मे समबल लवण जल भरकर वहाँ २-३ सी० सी० पहुँचा दिया जाता है ताकि घोल हलका पड़ जाय, फलतः कम क्षोभक हो।



चौदहवाँ अध्याय

सामान्य-शस्त्र-कर्म

(पचन-तन्त्र)

आमाशय प्रक्षालन[1] —आमाशय प्रक्षालन या आमाशय से द्रव निकालने [illegible] भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में आवश्यकता पड़ा करती है यथा (१) [illegible] विष का सेवन (२) आमाशय पर किये जाने वाले शस्त्र-कर्म [illegible] (३) आमाशय पर किये जाने वाले शस्त्र-कर्म के पश्चात् आमाशय [illegible] करने के उद्देश्य से (४) आन्त्रावरोध की अवस्था में कभी-कभी [illegible] (५) आमाशयिक स्राव की परीक्षा के लिए। अथवा (६) कभी-कभी [illegible] आदि के समय इच्छा के विरुद्ध भोजन खिलाने के उद्देश्य से [illegible] अन्दर प्रविष्ट करनी पड़ती है।

[illegible] प्रक्षालन नलिका

[illegible]

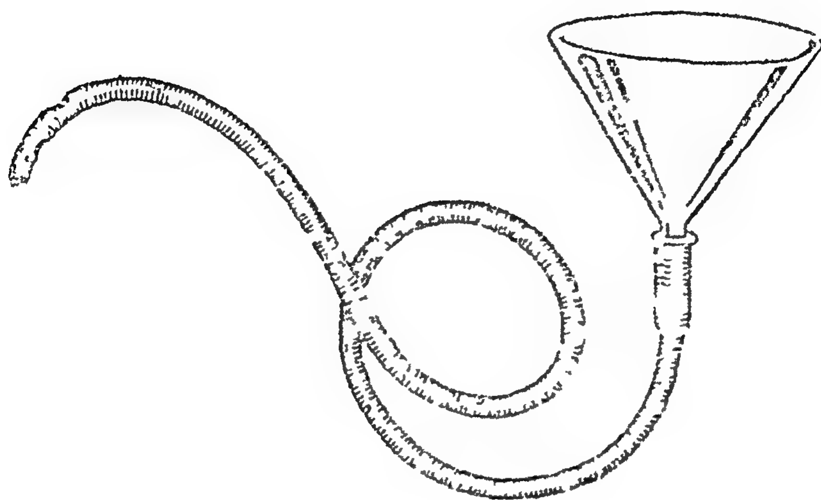
प्रथम अवस्था को छोड़कर शेष सभी अवस्थाओं में पतले छिद्र की रायल की आमाशय नलिका[1] अधिक उपयुक्त रहती है। इसके सिरे पर थोड़ी मोटी भार युक्त गाँठ-सी रहती है (चित्र ७७) जिसके कारण उसको आसानी से आमाशय तक पहुँचाया जा सकता है। इसके सिरे को ग्लीसरीन मे डुबाने के पश्चात् रोगी से निगलने के लिए कहा जाता है। जब रोगी निगल लेता है तथा नली ग्रासनली[2] मे पहुँच जाती है तो उसको धीरे-धीरे अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जाता है। नली में नीचे के सिरे से १६ इंच की दूरी पर चिह्न लगा रहता है। जब यह चिह्न दाँतों के पास आ जाता है तो इसका अर्थ यह है कि नली आमाशय में पहुँच गई, उसको थोड़ा और अन्दर की ओर प्रविष्ट कर दिया जाता है। इसके पश्चात् नली के बाहरी सिरे से कोई सिरिज सम्बन्धित कर दी जाती है जिसकी सहायता से आमाशय मे से द्रव को बाहर खींचा जा सकता है।

इस नलिका को आमाशय में ही छोड़ा जा सकता है ताकि बार-बार सिरिज की सहायता से द्रव को बाहर खींचकर आमाशय को रिक्त ही रखा जा सके। नली को वहीं स्थिर रखने के उद्देश्य से उसे कर्णपाली के साथ लपेट सकते हैं। अथवा चिपकने वाले प्लास्टर की सहायता से कपोल के साथ चिपका सकते हैं। कभी-कभी इस नली को मुख मार्ग से अन्दर प्रविष्ट न करके नासा मार्ग से भी अन्दर प्रविष्ट किया जाता है।

जब रोगी बेहोश हो, सहयोग न करना चाहता हो जैसा कि आत्महत्या के लिए विष सेवन करने की अवस्था में हो सकता है तथा छोटे छिद्र की नली से काम चलाना सम्भव न हो क्योंकि आमाशयस्थ पदार्थों से उसका मार्ग रुक सकता हो तो बड़े छिद्र की नली प्रविष्ट करना आवश्यक है। यह भी मुलायम रबर की लगभग ३० इंच लम्बी नली होती है जिसका आमाशय की ओर वाला सिरा बन्द होता है तथा सिरे से १ व २ इंच ऊपर नली के पार्श्व मे दो छिद्र होते हैं। बाहर की ओर वाला शिरा खुला रहता है तथा उसमे एक फनल

1. Ryle's stomach Tube. 2. Oesophagus.

लगाया जा सकता है (चित्र ७८) इसको आमाशय नलिका[1] कहा जाता है, कुछ ऐसी आमाशय नलिका भी आती है जिनके एक सिरे पर रबर का ही



(चित्र ७८)
आमाशय प्रक्षालन नलिका फनल सहित

फ़ुल बना रहता है। बच्चों में १२ नम्बर की मूत्रनलिका से आमाशय प्रक्षालन का काम निकाला जा सकता है।

नलिका के शिरे को ग्लीसरीन लगाकर चिकना-सा करने के पश्चात् मुख-मार्ग से प्रविष्ट करते हैं। यदि रोगी सहयोग नहीं कर रहा है तो उसको सहायकों द्वारा वश में रखा जाता है तथा दाँतों के बीच में कोई ऐसा कठोर वस्तु लगा दी जाती है ताकि नली को दाँतों मे दबाया न जा सके अथवा मुख विस्फारक[2] का प्रयोग आवश्यक है। रोगी के सिर को पीछे की ओर झुकाए रखा जाता है किन्तु जब वह थोड़ा प्रविष्ट हो चुके तथा मुख गुहा के पीछे की दीवाल से स्पर्श होने का अनुभव होने लगे तो सिर को थोड़ा आगे की ओर झुका दिया जाना चाहिए ताकि कशेरुकाओं के कारण नली में रुकावट न हो। यदि नली को हलके से अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जाता है तो वह आसानी से स्वरयन्त्र के पीछे पहुँच जाती है जहाँ थोड़ी-सी रुकावट अनुभव होने के

1. Stomach tube. 2. Mouth gag.

पश्चात् नली अन्न नलिका में प्रवेश करती और आमाशय मे पहुँचाई जा सकती है। प्रविष्ट करते समय नली को ठीक बीच मे रखना चाहिए। नली के मुख से अन्दर प्रविष्ट हो चुकने के पश्चात् यदि रोगी उसको निगलने का प्रयत्न करता है तो नली के ग्रासनली मे प्रविष्ट होने मे और भी सहायता मिलती है। कभी-कभी कण्ठच्छद[1] से आगे नली को प्रविष्ट करने मे कुछ कठिनाई-सी मालूम पड़ती है। ऐसा होने पर यह किया जा सकता है कि चिकित्सक अपने बाएँ हाथ की तर्जनी उँगली को नली के सहारे-सहारे ही अन्दर प्रविष्ट कर दे और उसकी सहायता से उपजिह्विका को साधे रहते हुए नली को आगे बढ़ा दे।

यदि सावधानी के साथ कार्य किया जाता है तो नली के ग्रासनली के स्थान पर श्वासनलिका मे प्रविष्ट हो जाने की कोई सम्भावना नही, किन्तु यदि किसी प्रकार का सन्देह हो तो उँगली को अन्दर प्रविष्ट करके निश्चित किया जा सकता है कि नली स्वरयन्त्र मे नहीं जा रही है। फिर सबसे बड़ी बात यह कि यदि नली श्वासनलिका मे चली जाती है तो श्वासावरोध के लक्षणों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जायगा।

बीस इञ्च के लगभग अन्दर पहुँच जाने का अर्थ है कि नली आमाशय में पहुँच जाती है और जब आमाशय मे पहुँच चुके तो खुले सिरे मे फनल लगाकर उसको रोगी के सिरे से थोड़ा ऊपर रखते हुए फनल मे लगभग ½ सेर प्रक्षालन द्रव डाला जाता है। प्रक्षालन द्रव पोटास परमैंगनेट या बोरिक एसिड का हलकी शक्ति का विलयन हो सकता है। द्रव डाल चुकने के शीघ्र पश्चात् ही फनल को किसी अन्य पात्र मे रोगी के आमाशय से थोड़ा नीचे स्तर पर ही रखते हुए उलट देते हैं। ऐसा करने से फनल मे होकर आमाशय का द्रव बाहर निकलने लगता है। यह ध्यान रखना है कि जब फनल मे थोड़ा द्रव हो तभी उसको उलट दिया जाय क्योंकि सायफन क्रिया[2] के आधार पर ही आमाशय मे से द्रव निकलना है और इसके लिए यह आवश्यक है कि

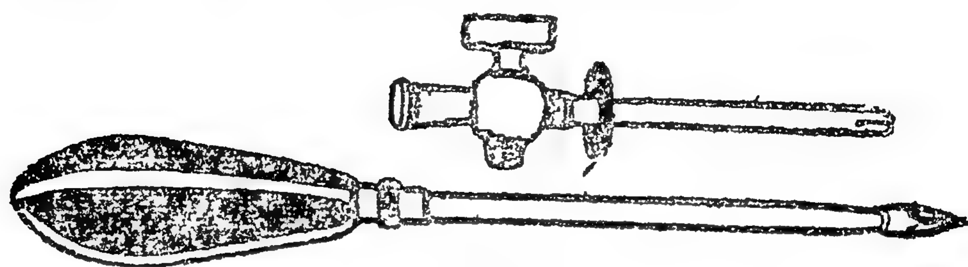
1. Epiglottis. 2. Syphon.

उलटते समय आमाशय नलिका पूरी भरी हो। यदि नहीं निकलता तो फनल को ऊपर उठाकर और थोड़ा द्रव डाला जाता है। जब सब द्रव बाहर निकल चुकता है तो पूर्व विधि से ही पुनः द्रव अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और इस प्रकार प्रक्षालन की यह क्रिया उस समय तक दुहराई जाती रहती है जब तक कि प्रक्षालन द्रव जैसे का तैसा ही बाहर न निकलने लगे। यदि रोगी ने अफीम का सेवन कर लिया है तो होता यह है कि उसके प्रभाव से घोल का लाल रंग समाप्त हो जाता है। लाल रंग के ही घोल के आमाशय से वापस आने का अर्थ यह है कि आमाशय मे अफीम के अंश शेष नहीं। कानून के अनुसार विषमयता की अवस्था मे वापस आने वाले प्रक्षालन द्रव को फेंकना नहीं चाहिए बल्कि सुरक्षित रखना चाहिए ताकि उसकी परीक्षा से विष का निर्णय किया जा सके।

कभी-कभी आमाशय नलिका के छिद्र आमाशयस्थ अन्न आदि के टुकड़ों से रुक जाते हैं तो बड़ी कठिनाई होती है ऐसी स्थिति मे यही किया जा सकता है कि प्रक्षालन द्रव की तीव्र धारा से उनको खोलने का प्रयत्न किया जाय और यदि यह नहीं हो सकता तो नली को निकाल कर साफ करने के पश्चात् उसको फिर प्रविष्ट करना आवश्यक होता है। फनल के स्थान पर पिचकारी की सहायता से भी प्रक्षालन द्रव अन्दर प्रविष्ट किया जाता तथा निकाला जा सकता है।

उदर से तरल द्रव निकालना—जलोदर की अवस्था मे कभी-कभी उदर से जल निकालने की आवश्यकता पड जाया करती है। यथार्थ मे यह जलोदर की उचित चिकित्सा नहीं क्योंकि एक बार निकालने के पश्चात् द्रव फिर एकत्रित हो जाता है फिर भी उदर मे जल की अधिक मात्रा होने के कारण उत्पन्न कष्टों को दूर करने के लिए यह आवश्यक होता है। कभी-कभी जब जलोदर का कारण ऐसा होता है जिसको दूर किया जा सके तो जल निकालने के साथ ही साथ उचित चिकित्सा भी करने से रोगी को लाभ भी पहुँचाया जा सकता है। फिर निकले हुए द्रव की परीक्षा करके रोग के मूल कारण का भी कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकना सम्भव है।

उदर से जल निकालने के लिए प्रयुक्त मुख्य शस्त्र ट्रोकार एवं केन्यूला है। उस शस्त्र के दो भाग होते हैं (चित्र ७६) बाहर एक पोली पतली



चित्र—७६

उदर से जल निकालने के लिए ट्रोकार व केन्यूला

धातु की नली होती है जिसके पीछे एक चौडा भाग लगा रहता है और किसी-किसी यन्त्र के पीछे के भाग के पार्श्व मे रबर की पतली नली सम्बन्धित कर देने का भी प्रबन्ध रहता है, इसे केन्यूला कहते है। केन्यूला के अन्दर दूसरी तीव्र नोक वाली शलाका होती है जिसके पीछे की ओर पकडने के लिए दस्ता लगा रहता है। इसे ट्रोकार कहते है। ट्रोकार की नोक केन्यूला के छिद्र से लगी हुई थोडी बाहर निकली रहती है जिसके कारण प्रविष्ट करते समय ट्रोकार की नोक के अन्दर प्रविष्ट होने के साथ ही केन्यूला भी प्रविष्ट हो जाता है। फिर ट्रोकार को निकाल लेने पर केन्यूला मे होकर द्रव निकलने लगता है।

विधि—रोगी को चारपाई या मेज के शिरे पर तकिया आदि लगा कर आराम के साथ बिठा दिया जाता है। यह आवश्यक है कि मूत्राशय रिक्त हो और इसलिए यह किया जा सकता है कि शल्य कर्म करने से पूर्व शलाका द्वारा मूत्र करा दिया जाय। ट्रोकार एवं केन्यूला को भगास्थि तथा नाभि के बीच मे मध्यरेखा मे प्रविष्ट करना है। अतः इस स्थान को बाल बनाकर साफ कर देने के पश्चात् टिंचर आयोडीन लगा दी जाती है। ट्रोकार एवं केन्यूला को उबाल लेना तथा चिकित्सक को अपने हाथ शुद्ध कर लेने चाहिए। जिस स्थान पर ट्रोकार एव केन्यूला प्रविष्ट करना है उस स्थान पर चर्म के नीचे कोकेन का घोल प्रविष्ट करके उसे संज्ञाहीन बना लिया जाता है। इसके

पश्चात् लगभग $\frac{1}{3}$ इंच लम्बाकार चर्म में छेदन करते हैं। इस छेदन में होकर ट्रोकार एवं केन्यूला अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है। ट्रोकार को निकालने पर जलोदर द्रव केन्यूला में होकर बाहर निकलने लगता है जिसको किसी पात्र में ले लिया जाना चाहिए। केन्यूला से रबर की नली सम्बन्धित की जा सकती है जिसकी सहायता से रोगी से कुछ दूर द्रव किसी पात्र में एकत्रित किया जाता रहता है। कार्य हो चुकने पर केन्यूला निकालने के बाद चर्म में टाँके लगा दिये जाते हैं। कोई-कोई चिकित्सक चर्म में छेदन किए बिना भी ट्रोकार एवं केन्यूला को सावधानी के साथ अन्दर प्रविष्ट कर देते हैं।

यह शस्त्रकर्म करते समय यह ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है कि उदर प्रान्त का आन्तरिक दबाव एकदम कम न किया जाय अन्यथा रोगी को गश आ सकता अथवा अन्य उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। इस उद्देश्य से जलोदर द्रव धीरे-धीरे निकाला जाता है, एकदम सब नहीं निकाल दिया जाता तथा निकाल चुकने के पश्चात् भी उदर के चारों ओर एक तौलिया या अन्य कपड़ा लपेट दिया जाता है ताकि उसके कसे होने पर थोड़ा बहुत दबाव पड़ता रहे। धीरे-धीरे निकालने के उद्देश्य से ही कभी भी बड़े छिद्र का केन्यूला प्रविष्ट नहीं करना चाहिए और यदि किया ही जाय तो आधा पाइन्ट जल निकालने के पश्चात् कुछ समय के लिए जल निकालना बिलकुल बन्द कर दिया जाता है। आजकल केन्यूला के स्थान पर साउथे की नलिकाएँ[1] प्रयुक्त की जाती हैं जो यथार्थ में पतले केन्यूला ही होते हैं तथा ट्रोकार की सहायता से ही अन्दर प्रविष्ट किये जाते हैं। इनके साथ रबर की नली लगा देने का और प्रबन्ध रहता है। उदर में इसे प्रविष्ट करने के पश्चात् चिपकने वाले प्लास्टर या अन्य प्रकार से स्थिर कर दिया जाता है। जल धीरे-धीरे निकल कर रबर की नली के द्वारा अलग एक पात्र में एकत्रित होता रहता है। एक नली से साधारणतया प्रति घण्टे $\frac{1}{2}$-१ पाइन्ट तक जल निकल पाता है। यदि आवश्यकता हो तो दो तीन नलिकाएँ तक एक बार में प्रविष्ट की जा सकती हैं।

1. Southey's Tubes.

हार्निया

हार्निया[1] का यथार्थ अर्थ किसी भी आन्तरिक अंग का बाहर की ओर निकल पडना है और इस प्रकार मस्तिष्क की हार्निया या फुफ्फुसो की भी हार्निया हो सकती है। किन्तु अधिकाश मे आँतों की ही हार्नियाँ पाई जाती है, अतः हार्निया शब्द से आँतों का उतरना ही समझा जाता है।

कारण –(१) **जन्मजात या सहज**--औदरिक पेशियों की दुर्बलता एवं कुछ प्राकृतिक छिद्रों का प्राकृत से अधिक बड़ा होना जैसा कि वक्षणीय छिद्रों के सम्बन्ध मे देखा जाता है कभी-कभी ये दोनों ही लक्षण विरासत के रूप मे माता-पिता से मिलते हुए देखे गए है और इसीलिए हार्निया की अवस्था मे वशानुक्रमण की प्रवृत्ति देखी जाती है। आन्त्रकला की अधिक लम्बाई तथा अण्डकोषों का देर से उतरना[2] भी हार्निया के सहायक कारण हैं। भ्रूणावस्था मे अण्डकोष उदर गुहा के अन्दर रहते हुए ही निर्मित होते है किन्तु जन्म के समय तक वे बाहर निकलकर अण्डकोष मे आ चुकते है। कभी-कभी जन्म के पश्चात् भी वे बाहर निकल कर अण्डकोषो मे उतरते है। इस प्रकार की अवस्था भी हार्निया की उत्पत्ति मे सहायक होती है।

(२) **जन्मोत्तर**--(अ) शस्त्र-कर्म, आघात, गर्भ, वृद्धावस्था अथवा दुर्बलता उत्पादक रोगों के कारण उत्पन्न औदरिक पेशियो की दुर्बलता। (ब) भारी बोझा उठाने आदि का व्यवसाय, चिरकालीन स्वरूप की खाँसी या मलावरोध, मूत्रमार्ग सकोच या पुरःस्थ की वृद्धि के कारण मूत्र त्याग के समय औदरिक पेशियो पर लगातार अन्दर की ओर से दबाव पड़ना तथा (स) मेदवृद्धि या अर्बुद की उत्पत्ति के कारण अन्तः औदरिक दबाव[3] की वृद्धि।

रचना उदर गुहा के अन्दर आन्त्रियाँ या अन्य सभी अग पर्युदर्या[4] नामक कला द्वारा आच्छादित रहते हैं। बाहर की ओर उतरते समय आँते कला के इस भाग को भी अपने साथ नीचे खीच लाती है और इस प्रकार कला का यह भाग बाहर की आँतो को ढके रहता है। बाहर आँतो को पूर्णतः

1. Hernia. 2. Late descent of Testes. 3. Intra-abdominal pressure. 4. Peritoneum.

ढकने वाले कला के इस सम्पूर्ण भाग को हार्निया कोप[1] नाम से सम्बोधित किया जाता है। इस कोप का आकार एक बोतल या फ्लास्क के सदृश होता है जिसका सकरा भाग जिसे ग्रीवा[2] कहते हैं, उदर गुहा में के छिद्र के पास रहता है। ग्रीवा के अतिरिक्त कोप के शेष भाग को उसका गात्र[3] कहते हैं। स्पष्ट है कि ग्रीवा सकरी तथा लम्बी होती है जब कि गात्र चौड़ा, अवकाश युक्त फूला हुआ होता है। कभी-कभी ग्रीवा की दीवारें आँतों के साथ ससक्त हो जा सकती है तथा कोप के अन्दर तरल द्रव उत्पन्न हो जा सकता है।

कोप के अन्दर रहने वाले भागों को कोप के अवयव[4] कहते हैं। ये निम्न प्रकार के हो सकते हैं। (१) क्षुद्रान्त्र का कुछ भाग (२) बृहद् आन्त्र का प्रारम्भिक भाग[5] (३) आन्त्र योजनी[6] (४) उण्डुक पुच्छ[7] (५) मूत्राशय और कभी-कभी (६) डिम्भ प्रणाली[8] (७) डिम्ब ग्रन्थि[9]।

लक्षण एवं चिह्न—हार्निया सम्बन्धित किसी विशिष्ट स्थान पर पीडा एवं लालिमा रहित उत्सेध अर्थात् उभार मालूम पडता है और इस उत्सेध की यह विशेषता होती है कि उसपर हाथ रखते हुए यदि रोगी से खाँसने के लिए कहा जाय तो हाथ को अन्दर की ओर से हलका धक्का-सा तथा उत्सेध बढ़ता मालूम पडता है। साथ ही यदि रोगी को शान्त लिटाये रखते हुए उत्सेध को अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जाता है तो एक विशेष प्रकार की गडगड ध्वनि के साथ वह अन्दर की ओर चला जाता है। उत्सेध का आकार रोग के पुराने होने पर निर्भर रहता है—रोग जितना ही पुराना होता है, उत्सेध उतना ही बडा खाँसने पर अन्दर की ओर से धक्का-सा तथा दबाने पर गडगडाहट की ध्वनि के साथ अन्दर समा जाना ये दोनों लक्षण उसी अवस्था में अधिक स्पष्ट होते हैं जब कोप के अवयवों में आन्त्र का कुछ भाग भी हो, केवल आन्त्र योजनी होने पर ये लक्षण इतने अधिक स्पष्ट नहीं होते। दबाने से उत्सेध अन्दर समा जाता है किन्तु खडे होने व खाँसने से पुनः बढ जाता है।

---

1. Herr ial Sac 2. Neck. 3. Body 4. Contents 5. Cuecum.
6 Mesenetery 7. Appendix 9. Fallopian tube. 9. Ovary.

प्रकार—

हार्निया के स्थान के अनुसार इसके कई भिन्न-भिन्न प्रकार हैं यथा—

१ **वक्षणी हार्निया**—वक्षणी नलिका मे होकर ऑतों के बाहर निकल आने को वक्षणी हार्निया कहते हैं। वक्षणी नलिका मे होकर ही वृषण रज्जु[1] उदर मे से निकल कर अण्डकोषों तक जाती है, जहाँ पर वह उदर मे से बाहर निकलती, वह अन्तर्वक्षणो छिद्र[2] तथा जहाँ वह उदर प्रवेश से आगे बढ़कर अण्डकोषो की ओर प्रविष्ट करती है वह बहिर्वक्षणी छिद्र[3] कहलाता है। जब हार्निया कोष बहिर्छिद्र से आगे बढकर अण्डकोष तक पहुँच चुकता है तो उसे पूर्ण वक्षणी[4] हार्निया किन्तु जब वह बहिर्छिद्र से आगे नही बढ़ पाता तो उसे अपूर्ण वक्षणी[5] हार्निया कहते है।

इस वक्षणी के भी दो मुख्य भेद है यथा –

अ—तिर्यक् वक्षणी हार्निया[6]—इस प्रकार की अवस्था मे हार्निया कोष अन्तर्छिद्र मे होकर ही बाहर निकलता है तथा सम्पूर्ण नलिका मे होता हुआ बहिर्छिद्र मे होकर अण्डकोषो की ओर बढ़ता है। प्रारम्भ मे बहिर्छिद्र के पास थोड़ा सा उभार ही दिखाई पडता है। किन्तु धीरे-धीरे बढ़कर यह अण्डकोषो तक पहुँच जाता है। कोष का वक्षणी नलिका मे का भाग संकुचित तथा लम्बा होता है तथा वृषण रज्जु इसके पीछे की ओर एव औदरिक गम्भीरा धमनी भीतर की ओर रहती है। अण्डकोषों मे अण्डग्रन्थियाँ कोष के नीचे अथवा पीछे की ओर रहती है। हार्निया बहुत पुरानी हो जाने पर सतत तनाव पडते रहने के कारण वंक्षणी नलिका छोटी होती जाती है, यहाँ तक कि अन्त मे दोनों छिद्र एक दूसरे से लगभग मिल जाते है। तिर्यक वक्षणी हार्निया भी सहज या जन्मजात[7] तथा जन्मोत्तर[8] हो सकती है।

जन्मजात—प्रकृतितः उदर से अण्डग्रन्थि के बाहर की ओर निकल आने पर उस स्थल पर उदरावरण का छिद्र बन्द हो जाता है। किन्तु यदि

---

1. Spermatic Chord 2. Internal foramina 3. External foramina 4. Complete Inguinal and 5. Incomplete Inguinal 6. Oblique Inguinal. 7. Congenital 8. Acquired

अण्डग्रंथि के साथ बाहर निकलने वाले उदरावरण का ऊपरी मुख बन्द नहीं होता तो उसमें होकर आँतें भी उतर आ सकती हैं यही जन्मजात हार्निया का कारण है। यह आवश्यक नहीं कि जन्म के साथ ही हार्निया भी उपस्थित हो। उत्पत्ति प्रायः तभी होता है जब बालक कुछ बल का कार्य करने लगता है।

यहाँ स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हार्निया कोष के अन्दर ही वृषण रज्जु भी रहती है अथवा यह कहना चाहिए कि वृषण रज्जु को चारों ओर से ढँकने वाली पर्युदर्या कला ही हार्निया को भी ढँके रहती है। साधारणतया पर्युदर्या का उतरने वाला भाग उपाण्ड तक जाकर बन्द हो जाता है, फलतः हार्निया भी यहाँ तक सीमित रहती है और इसको वेजायनल हार्निया[1] कहते हैं। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पर्युदर्या का भाग नीचे अण्डग्रन्थियों तक पहुँचकर उनके वेष्टन के साथ सम्पर्क में रहता है। इस प्रकार की हार्निया रज्जु-हार्निया[2] कहलाती है।

ब—ऋजु वंक्षणी हार्निया[3]—अन्तर्वंक्षणी छिद्र तो बन्द रहता है किन्तु हार्निया इस छिद्र के भीतर की ओर उदरभित्ति में से होती है, फलतः हार्निया कोष सम्पूर्ण वंक्षणी नलिका में रहकर उसके नीचे के भाग में रहता है। आगे का मार्ग वक्र वंक्षणी हार्निया की तरह ही रहता है अर्थात् कोष बहिर्छिद्र में होकर अण्डकोष तक पहुँचता है। अण्डधारक रज्जु तथा आदरिक गम्भीरावसर्नी[4] कोष के बाहर की ओर रहती है।

इस प्रकार की हार्निया सदैव युवावस्था या उसके पश्चात् ही उत्पन्न होते देखी गई है तथा इसकी वृद्धि भी धीमे होती है। इसके अवरुद्ध होने की सम्भावना भी कम रहती है।

निदान—सामान्य लक्षणों से जिनकी ओर ऊपर ही संकेत किया जा चुका है, रोग का निदान आसानी से किया जा सकता है। किन्तु कोष

1 Congential Vaginal Hernia 2. Congenital Funicular Hernia. 3. Direct Inguinal Hernia 4. Deep epigastric artery.

तथा नलिका को भित्तियों से ससक्ति हो जाने पर अथवा कोष के अन्दर आँतों के ही कोष की भित्ति से संसक्त हो जाने अर्थात् जुड जाने पर निदान में कुछ कठिनाई अवश्य होती है। उस समय रोग के इतिहास से निश्चय किया जा सकता है।

स्थानिक अबु द, लसीका ग्रन्थियो की वृद्धि, वक्षणी नलिका की जीर्ण विद्रधि, पूर्णत उतर कर अण्डकोषों तक न पहुँची हुई अण्डग्रन्थि[1], तथा वृषण रज्जु जलसंग्रह[2] से पार्थक्य करना आवश्यक है।

२—औवीं हार्निया[3]—जब अन्त्रियाँ उरुमूल मे औवींनलिका[4] मे होकर बाहर की ओर निकले तो उसको औवींहार्निया कहा जाता है। प्रकृतितः इस औवींनलिका के तीन भाग होते है जिसमे बाहर की ओर औवीं धमनी, मध्य मे औवीं शिरा तथा अन्दर की ओर का तीसरा भाग रिक्त रहता है जो ऊपर को ओर वसामय धातु से तथा नीचे की ओर सच्छिद्र या चालनी प्रावरणी[5] से ढॅका रहता है। जब भी हार्निया की उत्पत्ति होती है तो वह नलिका के इस भाग मे होकर होती है क्योंकि नलिका के शेष दोनो भाग भरे रहते हैं।

इस प्रकार की हार्निया स्त्रियों मे अधिक देखी जाती है क्योंकि वस्ति के अधिक चौडा होने के कारण उनमे नलिका की चौड़ाई भी अधिक होती है। जिन स्त्रियो को कई बच्चे हो चुकते है उनमें ही हार्निया की सम्भावना अधिक रहती है। उत्पत्ति बहुत धीरे-धीरे होती है तथा लक्षण भी तीव्र नही होते, फलतः कभी-कभी वर्षों तक रोग का ज्ञान नहीं हो पाता विशेष कर स्थूल काय स्त्रियो मे।

लक्षण स्पष्ट होते है तथा ऊपर दिये गये आधार पर आसानी से निदान किया जा सकता है। शोथयुक्त लसीका ग्रन्थि, विद्रधि, अबु द, प्रकुपित शिरा वक्षणी हार्निया आदि से पार्थक्य आवश्यक है।

---

1. Undescended Testes 2. Hydrocele 3. Femoral erniaH 4. Femoral canal 5. Cribriform fascia.

३ नाभि हार्निया[1]—नाभि प्रदेश मे होनेवाली हार्निया को नाभि हार्निया कहा जाता है। इसके तीन भिन्न-भिन्न रूप देखने को मिलते है यथा—

अ—नाल की जन्मजात हार्निया—यह बहुत कम देखी जाती है तथा उदर भित्ति के ठीक प्रकार निर्मित न होने के कारण ही उत्पन्न होती है। नाल का प्रारम्भिक भाग कुछ फूला हुआ मालूम पड़ता है। क्योंकि आँतो का कुछ भाग उसमे सम्मिलित हो जाता है। यदि इस बात की ओर नाल काटते समय ध्यान नहीं जाता तो नाल के साथ आँतों के बँध जाने या कट जाने से बालक के जीवन पर ही बन आती है। यह भी सम्भव है कि नाल के अलग होने पर पर्युदर्या गुहा मे ही छिद्र हो जाय जिससे उदरावरण शोथ उत्पन्न होकर बालक के जीवन को ही सकट मे डाल दे।

नाल काटते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है; आँतों को अन्दर की ओर प्रविष्ट करने के बाद ही नाल काटा जाता है तथा इसके पश्चात् भी पर्युदर्या मे के छिद्र को टाँके लगाकर बन्द कर देते है।

ब—शैशवीय नाभि हार्निया—नाभि हार्निया का यही रूप अधिकाश मे देखा जाता है। बालक की आयु के प्रथम कुछ मासो मे ही इसकी उत्पत्ति होती है जबकि नाल काटने के स्थान अर्थात् नाभि के स्थान पर की व्रण वस्तु पर अन्दर की ओर से दबाव पडता है। मलावरोध, निरुद्ध प्रकश[2], चिरकालीन कास, रिकेट्स[3] अश्मरी आदि के कारण विकृति के उत्पन्न होने मे सहायता मिलती है क्योंकि इनकी उपस्थिति मे उदर भित्ति पर सतत जोर पडा करता है। आयु वृद्धि के साथ ही साथ अवस्था प्राय· स्वयमेव भी ठीक हो जाती है किन्तु फिर भी मूल कारण रूप उपरोक्त अवस्थाओं के सुधारने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

स—युवावस्थिक नाभि हार्निया—इस प्रकार की स्थिति ३५-४५ वर्ष आयु की स्थूलकाय स्त्रियो मे जिनके कई बच्चे हो चुके है, अधिक देखी

---

1. Umbilical Hernia. 2. Phimosis 3. Rickets.

जाती है। पर्युदर्या पर वसा अधिक संचित होने के कारण उदरान्तरिक दबाव अधिक रहता है और उसके साथ ही उदराभित्ति की पेशियाँ वसा के संचित होने और इसलिए पेशी सूत्रों के खिंच जाने के कारण दुर्बल हो जाती हैं। इसके साथ ही यदि चिरकालीन स्वरूप की कास भी हुई तो रोग की उत्पत्ति मे और भी सहायता मिलती है। हार्निया कोष नाभि के थोडा ऊपर या नीचे मध्य रेखा मे बाहर निकल आता है। कोष के अवयव आत्र योजनी का कुछ भाग, अनुप्रस्थ वृहद् आन्त्र[1] तथा कभी-कभी क्षुद्रान्त्र का बहुत-सा भाग पाया जाता है। रोग के पुराना होने पर कोष की भित्ति व अवयव आदि एक दूसरे से इस प्रकार ससक्त हो जाते हैं कि उनका अलग-अलग करना सम्भव नहीं होता जिसका फल यह होता है कि उत्सेध को अन्दर उदर मे प्रविष्ट नही किया जा सकता। उत्सेध के ऊपर का चर्म भी पतला पड जाता है और व्रणोत्पत्ति की बहुत कुछ सम्भावना रहती है। व्रणोत्पत्ति के पश्चात् भी यदि रोग की ओर ध्यान नही दिया जाता तो पर्युदया शोथ हो जा सकता है। इस प्रकार की हार्निया मे उपद्रव होने की बहुत सम्भावना रहती है।

उपरोक्त तीन प्रधान प्रकारो के अलावा निम्न गौण प्रकार भी देखे जाते हैं यथा—

४—पूर्व हार्निया[२]—उपरोक्त तीन स्थानों के अतिरिक्त उदर की पूर्व भित्ति मे किसी अन्य स्थान पर आँतों के बाहर की ओर निकल पडने को पूर्व हार्निया कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति किसी पूर्व शस्त्र-कर्म के स्थान पर व्रण चिह्न की दुर्बलता के कारण या समोदरिका पेशियों[3] के एक दूसरे से अधिक दूर हट जाने के कारण हो जाया करती है। जिन स्त्रियो के कई सन्ताने हो चुकती है उनकी पेशियो मे इसी प्रकार की दुर्बलता आ जाती है। कभी-कभी तो यह देखा जाता है कि समोदरिका पेशियाँ सम्पूर्ण लम्बाई मे उदर सीवनी पर पृथक-पृथक दिखाई पडती है और इसका फल

---

1. Transverse Colon. 2. Ventral Hernia 3. Recti muscles.

यह होता है कि थोडा भी जोर पडने पर उदर के मध्य मे सम्पूर्ण लम्बाई मे उभार दीखने लगता है। उदर के कई साधारण रोग जैसे पाचन की कमी आदि उत्पन्न हो जाते हैं। प्रायः पेटी के प्रयोग से लाभ नही होता और इसलिए शस्त्र-कर्म करना पडता है। शस्त्र कर्म द्वारा पेशियों को इस प्रकार जोडा जाता है कि एक का पर्याप्त भाग दूसरी के ऊपर आ जाता है; वसा एव अन्य धातुएँ जो आवश्यक रूप से अधिक होती हैं, काट कर अलग कर दी जाती हैं।

५--कटिपार्श्व हार्निया--उदर के पार्श्व मे अन्तिम पर्शुका तथा श्रोणिफलक[1] के मध्य मे होनेवाली हार्निया को कटिपार्श्व हार्निया कहा जाता है। यह किसी पूर्व शस्त्र-कर्म के स्थान पर अथवा पेटिट के त्रिकोण मे उत्पन्न होती देखी जाती है। पेटिट का त्रिकोण एक त्रिकोणाकार स्थान है जो तिर्यक बाह्य औदरी[2], कटि पार्श्वच्छदा पेशियो[3] तथा श्रोणिफलक के ऊपरी किनारे द्वारा सीमित रहता है।

६--गवाक्षछिद्र हार्निया--गवाक्षछिद्र[4] मे होकर उसके ऊपरी तथा भीतरी भाग मे होने वाली आन्त्रवृद्धि को कहते हैं। इसकी उत्पत्ति प्रायः मध्यम आयु की स्थूलकाय स्त्रियो मे होती देखी जाती है। रोग को ओर सहज ही ध्यान आकर्षित नही हो पाता बल्कि उदर सम्बन्धी अन्य लक्षणो के लिए योनि अथवा गुद-परीक्षा करते समय रोग का अकस्मात् निदान होता है। कभी-कभी अवरोध हो जाने पर ही ध्यान जाता है। चिकित्सा शल्य-कर्म द्वारा ही सम्भव है।

७—मध्यच्छद हार्निया--यह दशा जन्मजात ही होती है और इसका कारण उदरभित्ति की पेशियों का अपूर्ण विकास हो सकता है। कोई विशिष्ट लक्षण न होने के कारण इसको जीवित अवस्था मे नही पहचाना जा सकता। आघात के कारण भी रोग की उत्पत्ति हो जा सकती है चिकित्सा शस्त्र कर्म द्वारा ही सम्भव है।

---

1. Ilium. 2. External oblique Abdominal 3. Latissimusdorsi 4. Obturator foramin.

उपद्रव—

हार्निया एक ऐसा रोग है जिसमे यदि उपद्रव न हों तो रोगी बिना किसी आपत्ति के जीवन भर उसको सहता रह सकता है किन्तु कभी-कभी भयकर स्वरूप के उपद्रव उत्पन्न होकर रोगी के जीवन को ही सकट मे डाल देते है। इन उपद्रवों से बचे रहने के लिए ही यह आवश्यक है कि शस्त्र-कर्म द्वारा रोग से पूर्ण मुक्त कर दिया जाय। हार्निया सम्बन्धी उपद्रवों का निम्न रूप होता है—

१. शोथ—इस प्रकार की स्थिति किसी तरह चोट लगने या आँतों को अन्दर प्रविष्ट करते अर्थात् पुनरस्थापन करते समय आँतो को किसी प्रकार की क्षति पहुँच जाने से उत्पन्न होती है। हार्निया का स्थान तना हुआ, लाल वर्ण तथा उष्ण होता है और साथ ही दबाने से वहाँ पीडा होती है। मलावरोध होता है किन्तु पूर्ण नही क्योकि थोडा-थोडा मल आता रहता है। ज्वर, जी मिचलाना, वमन आदि लक्षण साथ मे रहते हैं। खाँसने पर उत्सेध मे सरसराहट मालूम पडती है। कुछ लक्षण अवरुद्ध हार्निया से मिलते हैं किन्तु अवरोध की दशा मे ज्वर नही होता बल्कि शरीर का तापमान और भी कम रहता है तथा वमन मे मल मिला हो सकता है जब कि शोथ की अवस्था मे वमन मे मल वगैरह कभी भी मिला नही हो सकता, अवरुद्ध हार्निया मे खाँसने पर सरसराहट भी प्रतीत नही हो सकती।

रोगी को विस्तर पर आराम से लिटाए रखना तथा एनीमा द्वारा कोष्ठ शुद्धि आवश्यक है। भोजन के लिए तरल पदार्थ दिये जाने चाहिए, पीडा के लिए शामक औषधियो यहाँ तक कि अफीम के किसी योग का भी प्रयोग किया जा सकता है। उत्सेध पर ऊष्म स्वेद दिया जाना चाहिए। पेनिसिलिन एव स्ट्रेप्टोमायसीन को मिला कर इन्जेक्शन देना ही लाभकर है। टैट्रा-साइक्लीन का प्रयोग भी उचित है।

२—अपुनरस्थाप्यता[1]—उस स्थिति का नाम है जब हार्निया के अवयवो को अन्दर प्रविष्ट न किया जा सके। कोप एव कोप के अवयवों

1. Irreducibility.

की पारस्परिक संसक्ति इसका प्रधान कारण है। कभी-कभी कोष के अवयवों के एक दूसरे के साथ ससक्त हो जाने के कारण भी इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि एक दूसरे से चिपक जाने के कारण एक बड़ा-सा समूह बन जाता है जिसे अन्दर प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की स्थिति पुरानी हार्निया मे ही देखी जाती है तथा अनुचित प्रकार की ट्रस के प्रयोग या शोथ की उत्पत्ति होने से इस प्रकार की स्थिति के उत्पन्न होने मे सहायता मिलती है।

यदि किन्ही अन्य विशेष कारणों से निषेध न हो तो शस्त्र-कर्म ही इसकी प्रधान चिकित्सा है। शस्त्र-कर्म करने मे टाल-मटोल करना उचित नहीं, क्योंकि पूर्ण अवरोध का सदैव भय बना रहता है।

३—**रुद्ध हार्निया**[1]—इसका अर्थ हार्निया कोष मे स्थित आन्त्र के भाग मे मल का रुक जाना है। मल के द्वारा केवल मार्ग का ही अवरोध होता है, रक्त सचालन मे कोई बाधा नही पडती क्योंकि वहाँ मल अर्द्ध द्रव अवस्था मे रहता है और थोडी सी रुकावट होने पर ही वह ठोस रूप मे आकर मार्ग का अवरोध कर सकता है। यही कारण है कि इस प्रकार का उपद्रव नाभि की हार्निया मे ही देखा जाता है क्योंकि उसमे अनुप्रस्थ बृहद् आन्त्र का कुछ भाग सम्मिलित रहता है।

उत्सेध मे शोथ युक्त हार्निया की तरह पीडनाक्षमता तो नही होती किन्तु उसे अन्दर उदर मे प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। रोगी को वमन तथा उदर शूल होता है और यदि शीघ्र ही प्रबन्ध नही किया जाता तो अवरोध के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं।

रोगी को चारपाई पर लिटा कर साबुन के पानी का एनीमा दिया जाना चाहिए; अच्छा हो यदि वह एनीमा उच्च मलाशय[2] रूप का हो। एनीमा द्वारा मल मे कुछ पतलापन आने के कारण फिर कर्षण द्वारा आगे बढाया जा सकता है। दिन मे कई बार एनीमा दिया जा सकता है। एनिमा देने के

1. Obstructed Hernia. High Rectal

साथ ही साथ कर्षण तथा ऊष्म स्वेद की सहायता लेते हुए उत्सेध को उदर मे लौटाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि इस प्रकार करने से लाभ नहीं होता तो शस्त्र-कर्म आवश्यक है।

४--**विपाशित हार्निया**[1]--इसका अर्थ हार्निया कोष की ग्रीवा के एकदम सकुचित हो जाने से आन्त्रों का केवल मार्गावरोध ही नही बल्कि अवयवों के लिए रक्त सचालन मे भी बाधा पड़ना है जिसका फल यह होता है कि यदि समय पर उचित चिकित्सा नही हो पाती तो कोथ की उत्पत्ति हो जा सकती है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि कोष की ग्रीवा गात्र की अपेक्षा बहुत पतली होती है इसलिए छिद्र की धातुओं के द्वारा किसी प्रकार दबाव पडने अथवा ऑतो के एकदम अधिक भाग के निकल पड़ने पर ग्रीवा का सकुचन होने से धमनी व शिराएँ भी अवरुद्ध हो जाती है।

जब ऐसा व्यक्ति जिसको अधिक समय से हार्निया होती है, अधिक भार उठाने या अन्य कोई ऐसा काम करता है जिससे उदरान्तरिक दबाव एकदम बढ़ जाय तो ऑतों का बहुत सा भाग एकदम बाहर निकल पडता है जिसका फिर लौटाना कठिन हो जाता है। विपाशित हार्निया की उत्पत्ति प्राय. इसी प्रकार हुआ करती है।

लक्षण--जोर से खॉसने या बल लगाने से उपद्रव की उत्पत्ति होते समय रोगी को ऐसा अनुभव होता है कि हार्निया के स्थान पर कोई वस्तु एकदम अन्दर से बाहर की ओर चली आई है। इसके साथ ही हार्निया के स्थान पर पीडा मालूम पडने लगती है। कुछ समय पश्चात् शीघ्र ही स्तब्धता के लक्षण यथा बेहोशी, नाडी की क्षीणता एवं तेजी, शरीर का तापमान कम, स्वेद का आना आदि प्रकट होने लगते है। पीडा सम्पूर्ण उदर मे फैल जाती है जिससे रोगी बेचैन हो जाता है। उदर फूल जाता है और उसको छूने से भी पीडा होती है। संक्षेप मे आन्त्रावरोध[2] के लक्षण प्रकट होने लगते है। वमन होता है जिसमे प्रारम्भ मे केवल आमाशयिक पदार्थ रहते है किन्तु बाद में दुर्गन्धित

---

1. Strangulated hernia. 2. Intestinal Obstruction.

मल युक्त वमन आने लगता है। आन्त्रियों से विष के सारे शरीर में फैल जाने के कारण रोगी की हालत बहुत चिन्ताजनक हो जाती है और धीरे-धीरे मृत्यु समीप दिखाई पडने लगती है।

स्थानिक लक्षण में उत्सेध बढा हुआ तनाव एवं पीडा युक्त तथा स्पर्शासह्य होता है। उत्सेध को अन्दर की ओर नहीं दबाया जा सकता तथा खाँसने पर उसमें सरसराहट भी अनुभव नहीं होती। थोडे समय बाद उत्सेध पर का चर्म लाल पड जाता तथा शोथ युक्त हो जाता है। उसमें व्रण की उत्पत्ति भी हो जाती है किन्तु स्थानिक लक्षण व्रणोत्पत्ति तक बढने पावें इससे पहले ही सब कुछ समाप्त हो जाता है।

चिकित्सा--उपद्रव इतने भयकर स्वरूप का है कि शीघ्र से शीघ्र चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए। चिकित्सा के दो ही रूप हैं--अनुचालन एवं शल्य-कर्म।

अनुचालन[1] -- यद्यपि उपयुक्त अवस्थाओं में उचित प्रकार से अनुचालन करने से लाभ की बहुत कुछ आशा रहती है फिर भी आधुनिक युग में शस्त्र-कर्म को ही अधिक उपयुक्त समझा जाता है क्योंकि शस्त्र-कर्म से लाभ निश्चित् है तथा सभी साधन उपलब्ध होने पर किसी प्रकार की हानि की आशका नहीं की जा सकती। किन्तु अपने देश में विशेष कर ग्रामीण क्षेत्र में शस्त्र-कर्म के लिए साधन जुटाने के समय तक अनुचालन की अवश्य ही शरण ली जानी चाहिए। अनुचालन के लिए निम्न निषेध अवश्य ध्यान में रखते हैं।

१—प्रारम्भ से ही अपुनरस्थाप्यता—इस स्थिति में उत्सेध को पूर्णतः उदर में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता, अतः यह निश्चय हो सकना भी सम्भव नहीं कि अवरोध पूर्णत. समाप्त हो चुका है।

२--अधिक समय से विषाशित होना--क्योंकि इस प्रकार की स्थिति में कोथ उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है। साधारणतया यह नियम सा बन गया

1. Taxis

है कि छः घण्टे से अधिक समय से विपाशित होने पर अनुचालन नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि इतने समय मे कोथ की उत्पत्ति हो चुकी हो सकती है। फिर भी यह ध्यान रखना है कि छोटे आकार की हार्निया मे यदि सकोच तीव्र है तो केवल चार घण्टे मे ही कोथ की उत्पत्ति हो सकती है जब कि बड़े आकार की हार्निया मे ग्रीवा के चौडे होने के कारण यदि सकोच अधिक नहीं तो अधिक समय तक भी आँतें स्वस्थ बनी रह सकती है।

२ - हार्निया का प्रकार--अधिकाश शस्त्र चिकित्सको की राय यह है कि औवीं हार्निया मे अनुचालन का प्रयत्न करना ठीक नही क्योंकि हार्निया का बाहर निकलने का रुख (क्रमशः नीचे, आगे तथा ऊपर की ओर) इस प्रकार का होता है कि उसी रुख मे अनुचालन करना प्रायः सम्भव नही होता। नाभि की हार्निया मे अपुनरस्थाप्यता की स्थिति प्राय: पहले से ही उपस्थित रहती है और इस प्रकार केवल वक्षणीय हार्निया के लिए ही अनुचालन उपयुक्त पड सकता है।

अनुचालन की विधि--रोगी को मेज पर उसका सिर थोडा ऊपर की ओर उठा रखते हुए लिटा लिया जाता है। उदर की पेशियो को शिथिल रखने के उद्देश्य से जंघाओ को ऊपर की ओर मोडे रखते हैं तथा टाग को थोडा अन्दर की ओर घुमाए रखा जाता है ताकि बाह्य वक्षणीय द्वार खुला रहे। चिकित्सा बाएँ हाथ से उत्सेध की ग्रीवा को पकड कर थोडा ऊपर की ओर हटाए रखते हुए दाएँ हाथ से उत्सेध को साध कर धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ता के साथ अन्दर की ओर दबाए रखता है ताकि आँतें भीतर की ओर लौटने लगे। एकदम सभी समूह को अन्दर नही ढकेला जा सकता बल्कि जो भाग सबसे बाद मे निकला है, उसको पहले अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और उसके पीछे ही शेष भाग भी धीरे-धीरे अन्दर जाता है। आँतो के अन्दर की ओर प्रविष्ट होते समय गडगडाहट की ध्वनि होती है और इस प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अन्दर प्रविष्ट हो रही है अथवा नहीं। यदि बिलकुल भी अन्दर को प्रविष्ट न हो तथा रोगी पीडा अनुभव करे तो विशेष प्रयत्न करना भी ठीक नहीं।

प्रत्येक प्रकार की हार्निया में अनुचालन की शक्ति की दिशा भिन्न-भिन्न होनी चाहिए, क्योंकि जिस मार्ग से और जिस क्रम से आँतें बाहर निकली हैं उसके ठीक उलटे दिशा में शक्ति लगाकर ही उनको अन्दर प्रविष्ट किया जा सकता है। नाभि की हार्निया में उत्सेध केवल पीछे की ओर दबाया जाता है, वंक्षण हार्निया में ऊपर, बाहर तथा फिर पीछे की ओर एवं और्वी ... में पहले नीचे तथा भीतर की ओर तथा बाद में पीछे एवं ऊपर की ओर दबाया जाता है।

... अनुचालन से हानि भी हो सकती है; अतः अनुचालन ... से पहले रोग तथा रोगी की दशा देखकर यह निर्णय कर लिया ... कि अनुचालन उपयुक्त है अथवा नहीं।

... अनुचालन से लाभ नहीं होता तो उत्सेध के ऊपर ... तथा कुछ चिकित्सक प्रथम सेक और बाद में बरफ मल- ... अनुचालन द्वारा ठीक करने का प्रयत्न करते हैं।

... करने से लाभ न हो तो शस्त्रकर्म की ... रोगी को उत्सेध पर अलसी की पुल्टिस ... इंजेक्शन देकर चारपाई पर चारपाई का ... है। चारपाई पर लंबे फ्रेम से दबने के ... कि नितंब एकदम उठे रहें।

... सेध अन्दर प्रविष्ट होता देखा गया है। ... या जा सकता है। किन्तु शर्त यह है कि ... अन्यथा शस्त्रकर्म में विलम्ब करना ठीक ... ।

—

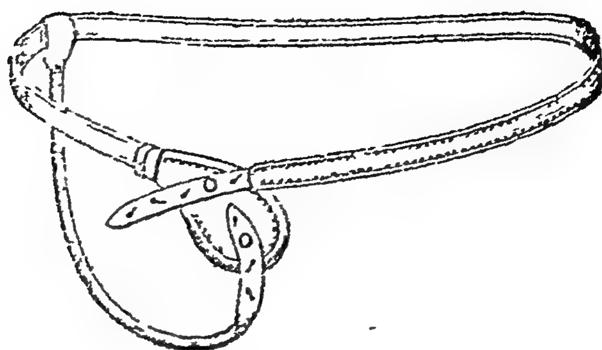
... बात हार्निया के उत्पादक कारणों ... की दुर्बलता, कोष्ठ-बद्धता, साधारण ... की ओर भी उचित ध्यान देना तथा

उनको दूर कर देना है। इसके अलावा चिकित्सा के दो ही प्रधान रूप है—ट्रस का प्रयोग अथवा शस्त्र-कर्म।

ट्रस का अर्थ एक विशेष प्रकार की पेटी है जिसकी सहायता से हार्निया के छिद्र पर सततः दबाव डाले रखकर अवयवो को बाहर नही निकलने दिया जाता। ट्रस के स्थान पर किसी साधारण पेटी या लँगोटी की सहायता से ही काम निकालने का प्रयत्न करना युक्तिसंगत नही।

ट्रस प्रायः फौलाद की कमानी की बनी होती है जिसके एक सिरे पर विशिष्ट आकार की गद्दी लगी रहती है जो हार्निया के स्थान पर दबाव डाले रखकर अवयवो को बाहर नही निकलने देती। कमानी कमर के चारो ओर पूरे घेरे मे नही आती बल्कि पीड़ित ओर से जहाँ गद्दी लगी होती है, लेकर पीछे की ओर होती हुई स्वस्थ ओर की नितम्बास्थि के ऊपर तक रहती है। इस स्थल पर अन्तिम सिरे से एक फीता प्रारम्भ होता है जिसको गद्दी के ऊपर लगे अंकुश मे फसाकर ट्रस को कमर के चारो ओर कसा रखा जाता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि कमानी पूर्णतः गोलाकार न होकर यथास्थान इस प्रकार मुडी होती है कि कमर के चारो ओर भली प्रकार लगी रह सके। कमानी की अपनी शक्ति तथा वक्रता इस प्रकार की होनी चाहिए कि उसका कमर पर कही अनुचित दबाव न पडे किन्तु इसके साथ ही साथ यदि हार्निया के स्थान पर खाँसने आदि के कारण अन्दर से दबाव पड़ता है तो कमानी की शक्ति के आधार पर ही गद्दी द्वारा उस आन्तरिक दबाव का प्रतिकार किया जा सके ताकि आँतें बाहर न निकलने पावे। लिखने की आवश्यकता नही कि कमानी के ऊपर रबड, चमड़ा या नमदे आदि की गद्दी चढ़ी रहती है ताकि वह शरीर को हानि न पहुँचा सके।

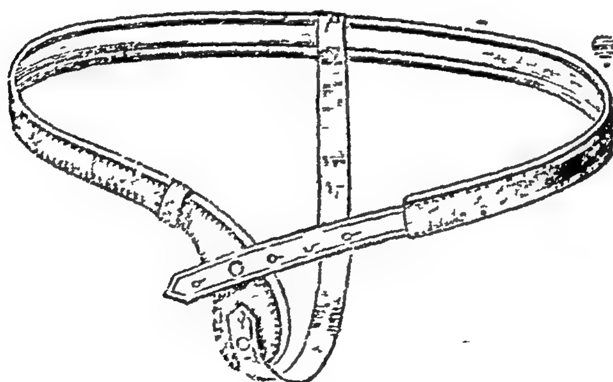
कमानी मे एक दूसरा फीता भी लगा होता है जो हार्निया की ओर के नितम्ब के पीछे से प्रारम्भ होकर उसके भीतर की ओर होता हुआ सामने आकर गद्दी पर के दूसरे नीचे वाले अंकुश से लगा दिया जाता है। इस प्रकार यह फीता गद्दी को ऊपर की ओर हटने से रोके रखता है। (चित्र ८०)



चित्र—८०

वक्षणी हार्निया के लिए ट्रस

गद्दी प्रायः २½ इंच लम्बी तथा दो इंच चौडी होती है और उस पर रबर, कार्क, चमड़ा या नमदा या अन्य पदार्थ लगाकर उसे मुलायम बना दिया जाता है। पेटी के सामने का यह चौड़ा भाग अर्थात् गद्दी सदा कमानी से कुछ नीचे और सामने को झुकी रहती है। औवी हार्निया के लिए बनाई जानेवाली ट्रस (चित्र ८१) में यह झुकाव वक्षणी हार्निया की ट्रस के झुकाव की अपेक्षा अधिक होता है। जैसा कि ऊपर ही संकेत किया जा चुका है, गद्दी के बाहरी तलपर दो अंकुश लगे रहते हैं। इनमे से ऊपर का कमर के चारो ओर वाले



चित्र—८१

औवी हार्निया के लिए ट्रस

फीते को तथा नीचे वाला पीछे से पीड़ित ओर की उरु के भीतर की ओर से आने वाले फीते को कसने के लिए होता है। गद्दी का कार्य हार्निया के केवल

बाह्य छिद्र को ही बन्द किए रखना नही है अपितु हार्निया की सम्पूर्ण नलिका तथा आन्तरिक छिद्र को भी दबाए रखना है। अतः इस भाग की बनावट लम्बाई चौड़ाई वगैरह सब इस तरह की होनी चाहिए कि वह सम्पूर्ण स्थान पर सामान दबाव डाले रहे।

जब हार्निया दोनों ओर होती है तो उसमे इस प्रकार की ट्रस का प्रयोग किया जाता है जिसमे दोनो ओर गद्दी लगी हो। इस प्रकार की ट्रस मे कमानी बीच मे ही समाप्त नहीं होती बल्कि एक गद्दी से दूसरी गद्दी तक रहती है अथवा यह कहना चाहिए कि कमानी के दोनो सिरो पर गद्दियाँ लगी रहती है। दोनो गद्दियो को एक दूसरी के साथ कसी रखने के लिए फीता रहता है। स्पष्ट है कि नितम्ब के पीछे की ओर से आने वाले फीते भी दोनो ओर होने चाहिए।

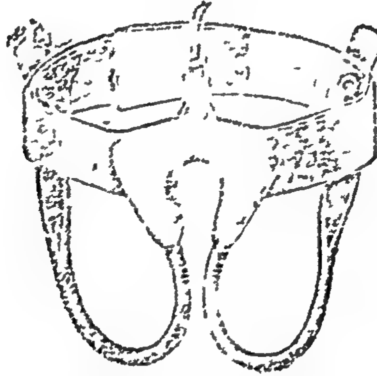
भिन्न-भिन्न प्रकार की पेटियाँ—वक्षणी एव और्वी हार्निया के लिए मुख्य प्रकार की ट्रसो का वर्णन किया है। बच्चों मे प्रायः वंक्षणी हार्निया ही देखी जाती है और इनमे रबर की ट्रस का प्रयोग किया जाता है जिसकी बनावट भी उपरोक्त प्रकार की होती है। बच्चो को दिन-रात हर समय ताकि जब तक एक को साफ किया जाय दूसरी को लगाए रखा जाय। ट्रस बदलते समय भी हार्निया के स्थान को अगुली या अंगूठे से दबाए रखना आवश्यक है।

बच्चों मे प्रयोग के लिए एक अन्य रबर की बनी विशेष प्रकार की ट्रस आती है जिसको अश्वपाद ट्रस[1] कहा जाता है क्योकि इसमे सामने बीच मे लगी रहने वाली रबर की गद्दी का आकार घोडे के खुर की तरह होता है। इस गद्दी को हवा से फुलाया जा सकता है तथा यह दोनो ओर की वंक्षणी हार्निया के लिए अधिक उपयुक्त पड़ती है। (चित्र ८२) साधारणतया रबर की एक ट्रस को छः महीने तक चलाया जा सकता है किन्तु यदि सफाई के साथ नहीं रखा जाता तो वह शीघ्र खराब हो जा सकती है।

दो वर्ष पश्चात् भी यदि हार्निया उतरती रहती है तो शस्त्र-कर्म आवश्यक

1. Horse shoe truss.

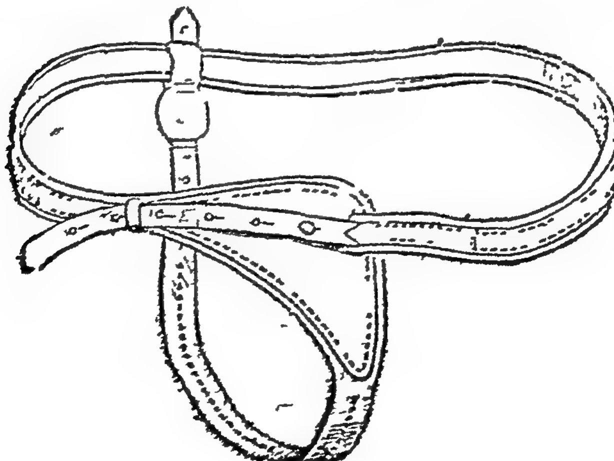
है। ट्रस के प्रयोग के बाद एक वर्ष तक आँतों के न उतरने पर यह समझा जा सकता है कि विकृति स्थाई रूप से ठीक हो गई और फिर ट्रस को छोड़ा जा सकता है। साधारण नियम तो यह है कि दो वर्ष की आयु से १६-१८ वर्ष



चित्र—८२ अश्वपाद ट्रस

तक की आयु तक होने वाली हार्निया की चिकित्सा शस्त्र-कर्म द्वारा ही की जानी चाहिए क्योंकि ट्रस का प्रयोग उपयुक्त नहीं पड़ता और दूसरे शरीर की क्रमशः वृद्धि के कारण ट्रस को बार-बार बदलना पड़ता है।

अण्डकोषीय ट्रस[1]—जैसा कि (चित्र ८३) में दिखाया गया है इस प्रकार की ट्रस की गद्दी साधारण गद्दी की अपेक्षा अधिक चौड़ी होती है तथा नीचे

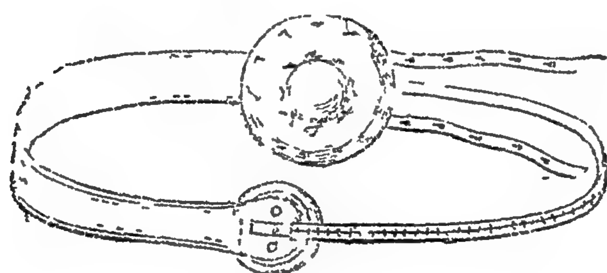


चित्र—८३
अण्डकोषीय ट्रस

1. Scrotal truss

की ओर संकुचित होते-होते एक फीते के रूप मे बदल जाती है। यह फीता नितम्ब के पीछे की ओर जाकर ट्रस के साथ ही स्थिर कर दिया जाता है। जिन ट्रसों का यह फीता चूहे की पूँछ की तरह गोल रस्सी के आकार का होता है उनको मूषक-पुच्छ ट्रस[1] कहा जा सकता है। इस प्रकार की ट्रस का प्रयोग उन अवस्थाओं मे अधिक अच्छा रहता है जिनमे वक्षणीय छिद्र का आकार बड़ा होने के कारण साधारण गद्दी के इधर-उधर से अवयवों के निकल जाने का भय हो।

हिञ्ज्ड कप ट्रस[2]—यह एक विशेष प्रकार की ट्रस है जिसका प्रयोग अपुनरस्थाप्य अण्डकोषीय हार्निया के लिए किया जाता है। इस प्रकार की हार्निया के लिए शस्त्र-कर्म ही अधिक उपयुक्त है किन्तु यदि किसी कारण से शस्त्र-कर्म न किया जा सकता हो अथवा रोगी शस्त्र कर्म के लिए तैयार न हो तो इस ट्रस का प्रयोग किया जाना चाहिए।



(चित्र—८४)

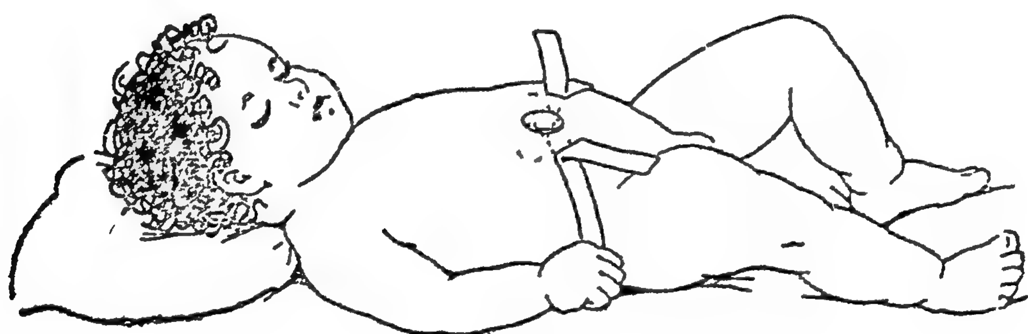
नाभि की हार्निया के लिए ट्रस

नाभि की हार्निया के लिए एक विशेष प्रकार की ट्रस (चित्र ८४) का प्रयोग किया जाता है। इसमे सामने की ओर एक बडी गद्दी तथा पीछे की ओर एक छोटी गद्दी रहती है। दोनों गद्दियाँ एक कमानी द्वारा जुड़ी रहती है। शरीर के एक पार्श्व मे यह कमानी रहती है तथा दूसरी ओर एक फीते द्वारा दोनो गद्दियो को एक दूसरे के साथ स्थिर करने का प्रबन्ध रहता है।

बच्चो मे किसी ट्रस का प्रयोग नही किया जाता बल्कि चिपकने वाले प्लास्टर को ३/४ इंच चौड़ी तथा ६–७ इंच लम्बी दो पट्टियाँ ली जाती हैं

1. Rat-tailed truss. 2. Hingedcup truss.

तथा जैसा कि चित्र मे दिखाया गया है, उदर पर दो स्थानों पर इनको चिपका दिया जाता है। नाभि प्रदेश मे हार्निया के अवयवों को भीतर की ओर प्रविष्ट कर देने के पश्चात् उस स्थल पर समोदरिका पेशियों को इस प्रकार खींच कर एक दूसरे के साथ मिला दिया जाता है कि एक का किनारा दूसरी के ऊपर कुछ चढ जाय। इसके बाद चिपकने वाले प्लास्टर की पट्टियों को नाभि पर एक दूसरे के ऊपर ले जाते हुए दूसरी ओर चिपका दिया जाता है। कभी-कभी नाभि के छिद्र के ऊपर लिण्ट की एक गद्दी या लिण्ट मे लपेट कर एक पैसा या रुपया या अन्य कोई गोलाकार पदार्थ इस प्रकार रख दिया जाता है कि छिद्र उससे बन्द बना रहे। चिपकनेवाले प्लास्टर की पट्टी इसके ऊपर होकर ले जाई जाती है।



चित्र—८५
नाभि की हार्निया की चिकित्सा

ट्रस के लिए नाप—अच्छा यह हो कि ट्रस बनाने वाला स्वतः ही रोगी की नाप ले किन्तु यदि ऐसा न हो सके तो चिकित्सक को नाप लेकर भेजना चाहिए। सर्वप्रथम शरीर के चारो ओर उस स्थल की नाप ली जाती है जहाँ पर कि ट्रस को लगाना है। औरवीं एवं वक्षणी हार्निया के लिए यह नाप नितम्बास्थि की पुरोर्ध्वधारा तथा उर्वस्थि के महाशिखरक[1] के बीच के स्थान पर होते हुए ली जाती है। नापते समय सामने की ओर फीते को शिश्न मूल तक झुका दिया जाता है। यदि सम्भव हो तो नीचे के फीते की नाप दी जा

1. Greater Trochanter.

सकती है यद्यपि यह विशेष आवश्यक नही। साथ ही ट्रस बनाने वाले को यह भी सूचित करना है कि हार्निया औवीं है या वंक्षणी, दायीं या बायीं, अपूर्ण या पूर्ण एव अण्डकोषीय, वक्र या ऋजु, उसका आकार तथा रोगी की आयु एवं व्यवसाय।

ट्रस के आ जाने पर चिकित्सक का कर्तव्य है कि ट्रस को फिट करके रोगी की स्वतः परीक्षा कर ले क्योंकि अनुचित प्रकार की ट्रस से लाभ के स्थान पर हानि की सम्भावना रहती है। इसके लिए सर्वोत्तम उपाय यह है कि ट्रस लगाने के बाद रोगी को कुर्सी के किनारे पर बिठा दिया जाता है। उसकी टाँगे एक दूसरी से दूर तथा फैली रहती है। अब यदि रोगी के खूब जोर से खाँसने पर भी हार्निया के अवयव नही निकलते तो समझना चाहिए कि ट्रस ठीक है।

ट्रस के सम्बन्ध में रोगी के ध्यान रखने योग्य बाते—यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि युवा व्यक्तियों मे ट्रस के प्रयोग का उद्देश्य हार्निया को केवल साधे रखना है जबकि बच्चों मे इसके प्रयोग से पूर्ण लाभ की आशा की जा सकती है। इसीलिए यह आवश्यक है कि बच्चे को हर समय ट्रस लगी रहे ताकि जब से ट्रस का प्रयोग आरम्भ किया जाता है फिर कभी आँतों को उतरने का अवसर न मिलने पावे। बच्चे के लिए दो ट्रस होनी चाहिए ताकि एक के कुछ खराब हो जाने पर तत्क्षण दूसरी लगाई जा सके। जब कि ट्रस बदली जा रही है, हार्निया के छिद्र को उँगली से बन्द किए रहना चाहिए और शीघ्र से शीघ्र स्थान को साफ करके डस्टिंग पाउडर लगाने के पश्चात् दूसरी ट्रस लगा दी जानी चाहिए।

युवा व्यक्तियो मे ट्रस को रात को उतार कर अलग रखा जा सकता है किन्तु ऐसे स्थान पर रखना चाहिए कि चारपाई पर से उतरने से पहले ही फिर से उसको लगा लिया जाय। किन्तु यदि रोगी खाँसी से भी पीडित है तो रात मे ट्रस को लगाए रखना आवश्यक है। बच्चो व युवा व्यक्तियों दोनो मे ही स्नान के समय भी ट्रस को लगाए रखना है और इसीलिए ट्रस पर ऐसा पदार्थ चढ़ा रहना चाहिए जो जल से खराब न हो सके यथा रबर आदि।

रोगी को भली प्रकार समझा दिया जाना चाहिए कि ट्रस लगने से पहले अवयवों को अन्दर प्रविष्ट कर दे। यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय कि उनको अन्दर प्रविष्ट न किया जा सके तो यथासम्भव शीघ्र ही डॉक्टर की शरण ली जानी चाहिए।

चिकित्सा (शस्त्र-कर्म)—

शस्त्र-कर्म का मूल सिद्धांत अवयवों को अन्दर प्रविष्ट करके हार्निया कोष को काटकर अलग कर देना तथा छिद्र को बन्द कर देना है ताकि फिर उनके निकलने की सम्भावना ही न रह जाय। आधुनिक युग में ट्रस आदि के प्रयोग की अपेक्षा इस प्रकार रोग का समूल नाश ही अधिक उपयुक्त समझा जाता है और वह भी निम्न अवस्थाओं में—

१—बालकों में दो वर्ष की आयु तक लगातार ट्रस के प्रयोग से भी यदि आँतों का उतरना बन्द न हो।

२—ऊर्वी हार्निया क्योंकि ट्रस के प्रयोग से इसमें विशेष लाभ की आशा नहीं की जा सकती कारण कि बैठते समय उरु के मुड़ने पर ट्रस की गद्दी के तनिक ऊपर हट जाने के कारण अवयव निकल पड़ सकते हैं तथा हार्निया कोष के बाहर वसा की अधिक मात्रा होने पर कोष पर पूर्ण दबाव नहीं पड़ पाता।

३ - पेटी अर्थात् ट्रस के सतत: प्रयोग करने पर भी आँतों का उतरना न रुके तथा उत्सेध का आकार क्रमशः बढ़ता ही जाय।

४—यदि रोगी विवाहित हो या उसका विवाह होने वाला हो।

५—यदि अवरोध के लक्षण कभी उत्पन्न हो चुके हों।

६—यदि रोगी का व्यवसाय ऐसा हो जिसमें शारीरिक परिश्रम अधिक करना पड़ता हो, विशेष कर इस प्रकार का जिसमें उदरान्तरिक दबाव बढ़ने की अधिक सम्भावना रहती हो।

७—यदि रोगी को कहीं बाहर जाना हो जहाँ आवश्यकता पड़ने पर शस्त्र-कर्म का प्रबन्ध न हो सके।

८—इन सबके अलावा विपाशित हो जाने पर यदि अनुचालन से लाभ नहीं होता तो रोगी की जीवन-रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि तत्क्षण शस्त्रकर्म कर दिया जाय।

उपरोक्त स्पष्ट निर्देशों के साथ ही साथ कुछ ऐसी अवस्थाएँ भी हैं जिनमें शस्त्रकर्म करते समय बहुत सोच विचार करना पड़ता है यथा—

१—उदर-भित्ति की पेशियों की दुर्बलता।

२—रोगी की अत्यन्त क्षीणता तथा आयु का ६५ वर्ष से अधिक होना।

३—पुरानी हार्निया जब कि उसका आकार बढ़ गया हो तथा संसक्ति हो जाने के कारण वह अपुनरस्थाप्य बन गई हो। शस्त्रकर्म द्वारा आँतों के सभी भाग को अन्दर लौटा देने पर यह भी सम्भव है कि उदरान्तरिक दबाव अधिक बढाने से हृदय पर बुरा असर पडे। साथ ही छिद्र के बडे हो जाने के कारण उसको पूर्णतः बन्द करना कठिन होता है, फलतः विकृति का पुनरावर्तन हो सकता है।

४—हार्निया के साथ व्यक्ति यदि मधुमेह, वृक्क शोथ, पैतृक रक्तस्राव आदि से भी पीडित हो।

शस्त्र-कर्म—एक बार सभी बातो का विचार कर लेने के पश्चात् शस्त्र-कर्म का निर्णय हो जाने पर रोगी को उसके लिए तैयार किया जाता है। वंक्षण उरु का ऊपरी भाग तथा पेडू की पूरी-पूरी सफाई करके सम्पूर्ण स्थान को शस्त्र-कर्म के लिए तैयार कर लिया जाता है। रोगी को मेज पर लिटाकर उस स्थान पर टिंचर आयोडीन का प्रलेप करके शस्त्र-कर्म प्रारम्भ किया जाना चाहिए।

संज्ञाहरण के लिए क्लोरोफार्म आदि का प्रयोग किया जा सकता है किन्तु प्रायः स्थानिक संज्ञाहरण से ही काम चल जाता है। सुषुम्नावरोध[1] संज्ञाहरण भी सम्भव है। विपाशित हार्निया की अवस्था मे जब रोगी की साधारण दशा चिन्ताजनक हो, स्थानीय संज्ञाहरण की ही शरण ली जानी चाहिए।

संज्ञाहरण के पश्चात् चर्म पर लगभग चार इञ्च की लम्बाई में छेदन किया जाता है। यह छेदन वंक्षणीस्नायु[2] के समानान्तर उसके मध्य के

---

1. Spinal Block 2. Inguinal Ligament.

आधा इञ्च ऊपर से लेकर भग सन्धानिका के थोड़ा बाहर तक रहता है। यदि आवश्यक हो तो छेदन को अण्डकोष की ओर भी बढ़ाया जा सकता है किन्तु यह आवश्यकता होने पर ही किया जाना चाहिए, सदैव नहीं। इस प्रकार अन्तर्वंक्षणी छिद्र से लेकर वहिर्वंक्षणी छिद्र तक का प्रदेश खोला जाता है। छेदन द्वारा चर्म एवं प्रावरणी को काटकर अलग कर देने के पश्चात् तिर्यक् बाह्य औदरी[1] पेशी की चमकती हुई कडरा कला आती है। इसको भी उपरोक्त छेदन की दिशा में ही विभाजित करके निवर्तित्रों[2] की सहायता से इधर-उधर हटा देते हैं। इतना करने पर व्रण में हार्निया का कोष दिखाई पड़ने लगता है जिसके साथ ही अण्डधारक रज्जु भी रहती है। रज्जु को कोष से बिलकुल अलग कर लिया जाना चाहिए। कोष के अवयवों को उदर के अन्दर प्रविष्ट कर देना है और यदि यह कोष के अन्दर संसक्ति हो जाने के कारण साधारणतया सम्भव न हो सके तो कोष को काट-कर अँगुली प्रविष्ट करके संसक्ति को ठीक किया जाता है। यदि आवश्यक हो तो अवयवों की इस समय परीक्षा भी की जा सकती है।

अवयवों को अन्दर प्रविष्ट करने के बाद कोष को यथासम्भव बाहर खींचकर ग्रीवा में कैटगट के टाँके लगाकर उसको बन्द कर दिया जाता है। टाँके उदर के जितने भी अधिक समीप हों उतना ही अच्छा है। टाँकों के ऊपर से कोष को काटकर अलग कर दिया जाता है। अब वंक्षणी छिद्र तथा क्षत को बन्द करना है। इसके लिए वंक्षणी बन्धन को स्पष्ट करके उसके नीचे के भाग के साथ तिर्यक् आभ्यन्तर औदरी[3] की संयुक्त कण्डरा सी दी जाती है। उसके ऊपर की ओर तिर्यक् बाह्य औदरी की कडराकला को कुछ दूरी तक हटाकर यह कार्य किया जाना चाहिए। अण्डधारक रज्जु इसके ऊपर रहती है। अब तिर्यक् बाह्य औदरी के दोनों विभाजित किनारे कैटगट से सी दिये जाते हैं। इस स्थल पर क्षत में प्रोकेन पेनिसिलिन पाउडर

1. External Oblique 2. Retractors 3. Oblique internal abdominal.

बुराका जा सकता है। सबके पश्चात् क्षत के किनारों को रेशम के धागे से सीकर पट्टी बाँध दी जाती है।

शस्त्र-कर्म के पश्चात् पूयोत्पादन की सम्भावना को बिलकुल समाप्त करने के उद्देश्य से पेनिसिलिन का प्रयोग किया जा सकता है। लगभग एक सप्ताह एव युवा व्यक्ति को तीन सप्ताह तक चलने-फिरने की मनाही रहनी चाहिए। वृद्ध व्यक्तियों को जिनकी उदर भित्ति अधिक दुर्बल है इससे भी अधिक समय लग सकता है। लगभग तीन मास तक ऐसा कार्य करने की आज्ञा नही मिलनी चाहिए जिससे उदरान्तरिक दबाव एकदम बढ़ने की सम्भावना हो।

शस्त्र-कर्म के पश्चात् पेटी लगाने की साधारणतया कोई आवश्यकता नहीं किन्तु यदि किसी कारणवश यथा वृद्धावस्था, उदरपेशियों की दुर्बलता, पूयोत्पादन के कारण व्रणचिह्न का दुर्बल हो जाना अथवा व्यक्ति विशेष का ऐसा व्यवसाय जिसमे उदर की पेशियों पर जोर पड़ता है, यह आवश्यक ही हो तो कुछ समय तक पेटी का अवश्य प्रयोग किया जाना चाहिए।

विपाशित वंक्षणी हार्निया—उपरोक्त की अपेक्षा इसका शस्त्र-कर्म कठिन है, अतः किसी विशेष निपुण चिकित्सक द्वारा ही किया जाना चाहिये। कोष के स्पष्ट हो जाने पर उसे ग्रीवा तक बिलकुल स्पष्ट खोल दिया जाता है ताकि अवयवो की भली प्रकार परीक्षा की जा सके। एक हार्निया डायरेक्टर ग्रीवा मे होकर अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है एव ऊपर की ओर के रुख में काटा जाता है। इसी रुख मे काटना उपयुक्त है क्योंकि काट गम्भीर औदरिक धमनी के सामानान्तर दिशा मे रहने के कारण उसके कटने की सम्भावना कम रहती है। ग्रीवा के इस प्रकार काट दिये जाने पर अवरोध का कारण दूर हो जाता है। किन्तु यदि अवरोध का कारण दूसरा हो जैसा कि बच्चों मे सम्भव है तो उसको दूर करना चाहिए। अब कोष के अवयवो का उनको बाहर निकाल कर भली प्रकार निरीक्षण किया जाता है। यदि अभी कोथ की उत्पत्ति नही हुई हो तो अवयवो को अन्दर प्रविष्ट किया जा सकता है किन्तु यदि कोथ की उत्पत्ति हो चुकी है तो छोटी आँतो के

कथित अर्थात् गले हुए भाग को काटकर पूर्णतः अलग करने के पश्चात् सिरों का मिलाकर कैटगट के टाँको से जोड़ दिया जाता है। यदि बृहद् आन्त्र मे गलाव है तो काटने के पश्चात् निर्हरण का प्रबन्ध आवश्यक है और ऐसी स्थिति मे सब कुछ ठीक हो जाने पर ही टाँके लगाए जाने चाहिये।

शस्त्र-कर्म का अन्तिम दौर ऊपर साधारण शस्त्र-कर्म के सम्बन्ध मे वर्णित विधि के अनुसार ही है।

और्वी हार्निया—निरुपद्रव और्वी हार्निया मे शस्त्र-कर्म कठिन नहीं। उत्सेध के ऊपर एक लम्बाकार छेदन किया जाता है किन्तु अच्छा यह हो कि पौपर्ट के लिगामेंट के सहारे तिरछा छेदन ही किया जाय। इस प्रकार के छेदन ने भी हार्निया के कोप को स्पष्ट करने आदि मे असुविधा तो कुछ नहीं होती अपितु छेदन के प्राकृतिक मोड़ पर होने के कारण तनाव न पड़ने से रोपण जल्दी हो जाता है। छेदन के पश्चात् कोप को स्पष्ट करके उसमे छिद्र किया जाता तथा अवयव अलग करके धीरे-धीरे शान्ति के साथ अन्दर प्रविष्ट कर दिए जाते हैं। वक्षणा हार्निया की तरह ही कोप की ग्रीवा को सीकर ऊपर से काटकर अलग करने के पश्चात् अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है। पौपर्ट के लिगामेंट को नीचे स्थिति झिल्ली आदि के साथ सीकर छिद्र बन्द कर दिया जाता है। अन्त मे चर्म मे टाँके आदि लगाकर शस्त्र-कर्म समाप्त कर दिया जाता है। अन्त मे ध्यान रखना चाहिए कि और्वी शिरा पर अनुचित दवाव न पड़ने पावे अन्यथा शोफ की उत्पत्ति सम्भव है।

अवरुद्ध और्वी हार्निया या नाभि की हार्निया का शस्त्र-कर्म अधिक जटिल होने के कारण इस स्थल पर वर्णन नहीं किया जाता। इसके लिए तत्सम्बन्धी विशेष साहित्य का अध्ययन किया जा सकता है।

———

पन्द्रहवाँ अध्याय

पचन-संस्थान (क्रमशः)

गुदा एवं मलाशय के रोग

रचना—

श्रोणिप्रान्त मे स्थित बृहद् आत्र के अन्तिम भाग को ही मलाशय[1] कहा जा सकता है क्योकि त्याग के पूर्व मल इसी स्थल पर एकत्रित होता रहता है। मलाशय के बाद ही गुदनलिका[2] है तथा मलाशय की उपकला[3] गुदनलिका की विशिष्ट प्रकार की उपकला से सीधी सम्बन्धित रहती है। मलाशय से गुदा की ओर कई लम्बाकार पुटक नीचे की ओर जाते है जिसके निचले शिरे दूसरे अनुप्रस्थ अर्द्धचन्द्राकार पुटकों[4] से लगे रहते है। यह अर्द्धचन्द्राकार अनुप्रस्थ पुटक गुदनलिका के ऊपरी भाग मे रहते है तथा इनको गुद कपाट[5] नाम से सम्बोधित किया जाता है। (चित्र ८६)।

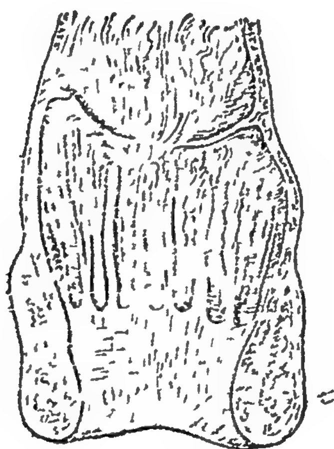
गुदा के चर्म के नीचे तथा थोड़ा ऊपर गुदनलिका मे फैला हुआ बाह्य अर्शीय शिराजालक[6] है जिसका रक्त अधःअर्शीय शिरा[7] के मार्ग से आगे जाता है तथा जो ऊपर की ओर अन्तःअर्शीय शिराजालक[8] से सम्बन्धित है। अन्तःअर्शीय शिराजालक गुदनलिका तथा मलाशय के नीचे के भाग की उपकला से ढँका हुआ उपकला एव पेशी सूत्रों के बीच मे रहता है। इस अन्तःअर्शीय शिराजालक का रक्त ऊपर की ओर लम्बाकार झुर्रियो के बीच स्थित

---

1. Rectum 2. Anal canal 3. Epithelium 4. Transverse Semilunar Folds 5. Anal Valves 6. External Haemorrhoidal Venous plexus 7. Inferior Haemorrhoidal Vein 8. Internal Haemorrhoidal Venous plexus.

शिराओं मे होकर ऊर्ध्व अर्शीय शिरा[1] मे जाता है। ऊर्ध्व अर्शीय शिरा तीन शिराओं के सयोग से बनती है जो मलाशय की दीवाल मे दायी ओर तथा एक बायीं ओर रहती है।

मलाशय के वृत्ताकार पेशीसूत्र[2] नीचे के भाग मे मोटे पड़ जाते है और इस प्रकार अन्तरा गुद सवरणी[3] पेशी का निर्माण होता है जिसका ऊर्ध्व भाग मलाशय मे स्थित रहता है। इन वृत्ताकार पेशो सूत्रो के बाहर की ओर स्थित लम्बाकार पेशी नीचे गुदनलिका मे चली आती है तथा गुद उन्नमनिका पेशी[4] के सूत्रो से मिल जाती है। इन पेशी सूत्रो का अन्त किस प्रकार होता है, यह समझ लेना आवश्यक है क्योंकि भगन्दर के निर्माण से इसका सीधा सम्बन्ध रहता है। इन लम्बकार पेशी सूत्रो का निवेशन प्रधानतः गुदनलिका के चर्म मे होता है। इसके नीचे तथा बाहर की ओर ही बाह्यगुद सवरणी पेशी[5] रहती है। लम्बाकार पेशीसूत्रो के निवेशन स्थल से निकलने वाले दो तन्तु बन्धनी[1] द्वारा बाह्यगुदसवरणी पेशी तीन भागो मे विभाजित हो जाती है।



चित्र ८६—गुदनलिका की रचना

1. Superior Haemorrhoidal Vein 2. Circular Fibres 3. Internal Anal sphincter 4. Levator Ani 5. External sphincter.

परीक्षा—

गुद एवं मलाशय की परीक्षा नियमतः वैज्ञानिक क्रम से दर्शन, अंगुली द्वारा स्पर्शन, मलाशय दर्शी[2] तथा यदि आवश्यक हो तो अवग्रहान्त्रदर्शी[3] यन्त्र द्वारा की जानी चाहिए। गुद एवं मलाशय की परीक्षा के साथ ही साथ उदर की परीक्षा करना भी आवश्यक-सा है।

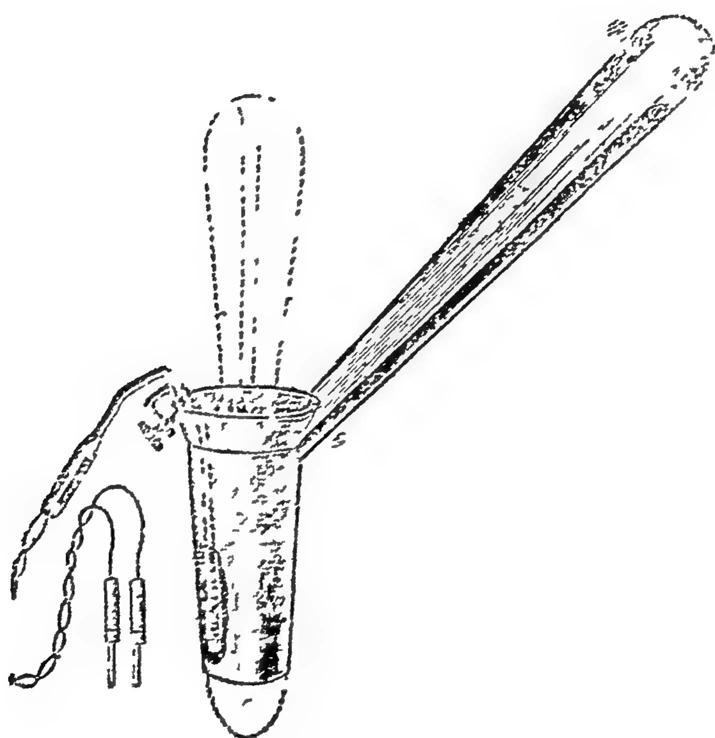
दर्शन—बाह्य गुद मार्ग तथा उसके आस-पास चर्म की स्थिति देखी जाती है। शोथयुक्त अर्श, गुद विदार, गुदकण्डू, भगन्दर का बाह्य छिद्र, गुद भ्रंश, गुद पार्श्ववर्ती विद्रधि आदि-आदि बातें आसानी से देखी जा सकती हैं।

अंगुली द्वारा परीक्षा—अंगुली द्वारा परीक्षा करते समय प्राकृत स्थिति कैसी होनी चाहिए इस बात का भी पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। रोगी को बाएँ पार्श्व पर लिटा दिया जाता है। उसके उरु पूरी तरह मुड़े होने चाहिए तथा नितम्ब मेज या चारपाई के किनारे पर होना चाहिए। अँगुली पर रबर का आच्छादन[4] तथा पूर्णतः वैसलीन लगाकर उसको गुदा में धीरे-धीरे प्रविष्ट किया जाता है। प्रविष्ट करते समय संकोचक पेशियों की शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि किसी प्रकार का उपद्रव नहीं तो अर्श के मस्से अँगुली द्वारा प्रायः अनुभव नहीं किए जा सकते। विदार की उपस्थिति का भी अनुमान अँगुली द्वारा परीक्षा करने पर लगाया जा सकता है। विशेष कर इस आधार पर भी कि विदार की उपस्थिति में अँगुली द्वारा परीक्षा करने पर रोगी को पीड़ा होना स्वाभाविक है।

केवल इतना ही नहीं अँगुली द्वारा गुद परीक्षा करते समय पुरःस्थ ग्रन्थि; मूत्राशय का कुछ भाग, योनिमार्ग, गर्भाशय ग्रीवा आदि अंगों की अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है यद्यपि ये अंग गुदा के बाहर रहते हैं। पश्चात्

1. Fibrous bands 2. Proctoscope 3. Sigmoidoscope 4. Finger Stall.

भ्रंश की अवस्था में गर्भाशय का ऊपरी भाग भी गुदा में प्रविष्ट अँगुली द्वारा सामने की ओर अनुभव किया जाता है। उण्डुकपुच्छ शोथ की अवस्था में ज्वर, पीडा आदि लक्षणों द्वारा यह अनुमान तो लगाया जा सकता है कि विद्रधि की उत्पत्ति हो रही है किन्तु अँगुली द्वारा गुद परीक्षा करने पर इसका निश्चित ज्ञान हो सकता है जब आगे की ओर गुद-मूत्राशय गर्त में उभार-सा मालूम पड़ता है।



चित्र—८७

गुददर्शक यन्त्र

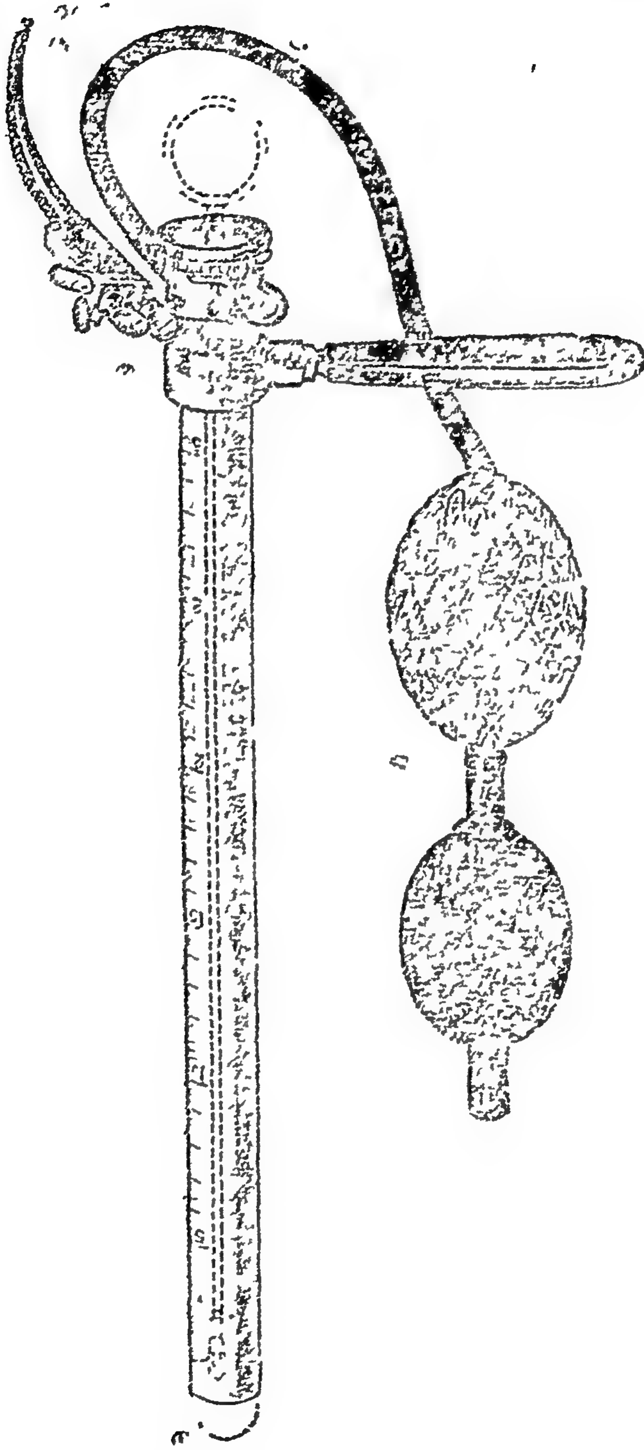
गुददर्शक यन्त्र—(चित्र ८७) इसके द्वारा अर्श या अन्य अर्बुदों की आसानी से परीक्षा की जा सकती है, गुद एवं मलाशय शोथ की प्रकृति को भी इस प्रकार परीक्षा द्वारा पूर्णतः समझा जा सकता है। रोगी को बाएँ करवट या कुहनी एवं घुटनों के आधार लिटाकर यन्त्र को थोड़ा गर्म करके तथा वैसलीन लगाकर अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। प्रविष्ट करते समय यन्त्र का रुख ऊपर

तथा सामने की ओर रहना चाहिए तथा अवरोधक[1] लगे रहने की हालत मे ही उसको अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। प्रविष्ट हो चुकने के पश्चात् ही अवरोधक को अलग निकाल लिया जाता है। परीक्षा करते समय रोगी को किसी प्रकार की पीड़ा होना आवश्यक नही।

वृहदान्त्रदर्शी—यन्त्र के अधिक लम्बे होने के कारण इसके द्वारा मलाशय का ऊपरी भाग तथा श्रोणि मे स्थित वृहद् आन्त्र का कुछ भाग भी देखा जा सकता है। इसके द्वारा परीक्षा की आवश्यकता उसी अवस्था मे पड़ती है जब गुद दर्शक यन्त्र द्वारा रक्तस्राव आदि का यथार्थ कारण स्पष्ट न हो सके अथवा वृहदान्त्र शोथ[2] या किसी सामान्य[3] या दुर्दम[4] अर्बुद का पूर्ण अध्ययन करना हो। इस यन्त्र द्वारा परीक्षा करने के लिए मलाशय की थोड़ी प्रारम्भिक तैयारी आवश्यक है। प्रथम दिन रोगी को हलका भोजन दिया जाता है तथा साय हलका मृदु विरेचक लिक्विड पैराफिन आदि देते हैं। दूसरे दिन प्रातः दस्त हो जाने पर मलाशय को समबल लवण जल से धो देते है यहाँ तक कि धोने के पश्चात् निकलने वाला जल स्वच्छ निकलने लगे।

यह सब करने के बाद यन्त्र (चित्र ८८) प्रविष्ट करने के लिए रोगी को बाये करवट लिटा लिया जाता है। यन्त्र मे पूरी तरह वैसलीन लगा ली जाती है तथा अवरोधक को यथास्थान रखे हुए ही उसे गुदा से प्रविष्ट किया जाता है। यन्त्र का रुख ऊपर तथा कुछ सामने की ओर रहता है किन्तु गुदनलिका पार हो चुकने के बाद रुख थोडा ऊपर तथा पीछे की ओर को कर दिया जाता है। अवरोधक को अब निकाल लेते है तथा प्रकाश एव धौंकनी द्वारा हवा भरने का प्रबन्ध ठीक कर दिया जाता है। धौकनी को दबा-दबाकर हवा भरने से यन्त्र के लिए आगे का मार्ग साफ होता जाता है तथा प्रकाश के कार्य करने लगने पर उसको देख-देखकर अन्दर प्रविष्ट किया जाता है; इस प्रकार यन्त्र आन्त्र के मोड़ो पर बिना किसी प्रकार की क्षति

1. Obturator 2. Coliitis 3. Bengin 4. Malignant tumour.



चित्र ८८—बृहदान्त्र दर्शक यन्त्र

पहुँचाये अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जाता रहना चाहिए। यन्त्र को बहुत ही धीरे-धीरे प्रविष्ट करना चाहिए तथा हवा भी जितनी हो सके थोड़ी ही भरनी चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण मलाशय तथा वृहद् आन्त्र का कुछ भाग प्रत्यक्ष देख लिया जा सकता है। मलाशय आदि की दीवालो को स्थल-स्थल पर परीक्षा यन्त्र को अन्दर प्रविष्ट करते तथा निकालते समय की जाती है।

परीक्षा करने के लिए किसी प्रकार के सज्ञाहरण की आवश्यकता नही यद्यपि रोगी को किसी साधारण शामक औषधि का सेवन कराया जा सकता है।

अर्श—

अर्श[1] या बवासीर का अर्थ गुदा अथवा मलाशय मे स्थित शिराओ की अपस्फीति[2] है। मलाशय की अन्तःकला के नीचे की शिराएँ जब अपस्फीत होती है तो आन्तरिक अर्श तथा जब गुदा मे स्थित चर्म के नीचे की शिराएँ अपस्फीत होती है तो बाह्य अर्श कहते है। दोनो की मिली-जुली अवस्था को अन्तः-बाह्य अर्श कहा जा सकता है।

कारण—अन्य स्थान की अपस्फीत शिराओ की तरह अर्श की उत्पत्ति का प्रधान कारण रक्त के ऊपर की ओर के बहाव मे रुकावट पड़ना है। इसमे कोई सन्देह नही कि इनकी उत्पत्ति मे पैतृक प्रभाव का भी हाथ रहता है। मल त्याग करते समय जोर लगाने के कारण मलाशय एवं गुद प्रदेश में स्थित शिराओ मे रक्ताधिक्य हो जाना स्वाभाविक है किन्तु मलत्याग के पश्चात् सब कुछ पूर्ववत् हो जाता है तथा केवल मात्र इतने से अर्श की उत्पत्ति का कोई प्रश्न नही रहता। अर्शोत्पत्ति के प्रधान कारण निम्न है—

१—चिरकालीन स्वरूप का मलावरोध क्योकि मलाशय मे स्थित मल का शिराओं पर अनुचित दबाव पड़ता रहता है।

२—मलत्याग के समय अधिक जोर लगाना

३—लवण विरेचको का बार-बार अधिक प्रयोग

1. Haemorrhoids or piles. 2. Varicosity.

४—अधिक परिश्रम का व्यवसाय अथवा अधिक समय तक खड़ा रहना।

५—अधिक मद्यपान

६—वार-वार रह जाने वाले अधिक सख्यक गर्भ

७—मूत्रमार्ग सकोच, चिरकालीन कास आदि के कारण जोर पडते रहना

८—गुदनलिका अथवा बृहदान्त्र शोथ, मलाशय या उदर के अर्बुद अथवा पुरःस्थग्रन्थि[1] की वृद्धि

९—यकृतसिरोसिस[2]

१०—रक्तदाव वृद्धि[3] या हृत्पेशी शोथ[4]

वाह्य अर्श[5]—गुद द्वार के चारो ओर कालिमायुक्त लाल रग की लम्बी-लम्बी सिकुड़नों के रूप मे दिखाई पड़ते है। साधारण अवस्था मे रक्त से खाली होने के कारण इनको मालूम नहीं किया जा सकता किन्तु प्रकुपित होने पर रक्त से भरकर जब फूल जाते है तो छोटे से अकुर या गाँठ के रूप मे इनको देखा जा सकता है। अकुरो के वीच मे शिरा होती है तथा उसके चारों ओर तान्तव ऊतक के जमा होते जाने के कारण अर्श कठिन गाँठ के समान मालूम पडने लगते है।

प्रारम्भ मे शिराओ की अप्रकुपित अवस्था मे विशेष लक्षण नहीं होते केवल मात्र खुजली तथा भारीपन अर्थात् मलत्याग की इच्छा-सी मालूम पड़ती रहती है। कभी-कभी मल के साथ रक्त भी आ सकता है किन्तु वहुत कम। शिरा के प्रकुपित होने की अवस्था मे अर्श छोटे-छोटे अर्बुदो की तरह मालूम पड़ने लगते हैं जिनका रग नीला-नीला होता है। इनमे पीड़ा होती है जो दव जाने से और भी वढ जाती है इसलिए रोगी को चलना-फिरना भी कठिन हो जाता है। वैठने पर भी पीडा होती है। उचित चिकित्सा द्वारा शिरा का प्रकोप शान्त हो जाने पर तान्तव ऊतक की और भी उत्पत्ति हो जाती है

1. Prostate gland 2. Cirrhosis of liver 3. Hyper piesis 4. Myocarditis 5. External Piles.

जिससे सारा स्थान उँगली द्वारा कड़ा मालूम पड़ने लगता है। इस प्रकार की स्थिति में रक्तस्राव नही होता।

चिकित्सा—रोगी को आराम से चारपाई पर लिटाए रखना तथा चलने-फिरने की मनाही करना आवश्यक है। एनीमा या लिक्विड पैराफिन आदि हलके विरेचकों द्वारा कोष्ठ शुद्धि करा देना चाहिए। हैमामेलिस, एड्रीनेलीन, ओलिव आयल आदि से निर्मित क्रीम का प्रयोग किया जाता है। अफीम एव माजूफल का प्रयोग भी लाभकर है। अग गैलकम ओपियाई इस प्रकार के प्रयोग के लिए एक प्रचलित योग है। पीडा अधिक होने पर एनीथेन आदि युक्त मलहम का प्रयोग किया जा सकता है। सबसे अधिक आवश्यक यह है कि ऊष्म स्वेद द्वारा शोथ को शान्त करने का प्रयत्न किया जाय।

इन्जेक्शन द्वारा चिकित्सा या शस्त्र-कर्म की शरण ली जा सकती है।

आन्तरिक अर्श—जैसा कि ऊपर भी स्पष्ट किया गया है, ये अर्श मलद्वार के अन्दर होते हैं तथा श्लैष्मिक कला से ढँके रहते हैं। मलाशय के अन्तिम एक या दो इञ्च भाग पर इनकी उत्पत्ति होती देखी जाती है। बाह्य अर्शों की तरह इनमे भी बीच मे शिरा तथा उसके चारों ओर तान्तव ऊतक रहती है जो अर्श के पुराने होने के साथ-साथ मात्रा मे अधिक तथा कड़ी होती जाती है।

साधारणतया ये दो प्रकार के पाये जाते है। प्रथम लम्बे आकार के जो श्लैष्मिक कला से ढँके हुए छोटे चमकीले नीले अंगूरों की तरह होते हैं तथा दूसरे जो गोल आकार के होते हैं तथा श्लैष्मिक कला से एक पतले डण्ठल के समान भाग से जुडे रहते हैं। प्रथम प्रकार के अर्शों से रक्तस्राव कम तथा द्वितीय प्रकार के अर्शों से रक्त अधिक निकलता है। यथार्थ बात यह है कि चिकित्सा की दृष्टि से प्रकार निर्णय करने की विशेष आवश्यकता नहीं।

लक्षण—शिराओ के प्रकुपित होने पर ही विशेष कष्टकर लक्षण उत्पन्न होते है अन्यथा रोगी का मलद्वार के भीतर कुछ भारीपन तथा खुजली-सी

ही मालूम पड़ती है। प्रकुपित होने पर अर्श फूल कर बाहर निकल आते हैं तथा बाह्य अर्श की तरह ही रोगी को बहुत कष्ट होता है। थोड़े बहुत समय के पश्चात् रक्त अवश्य ही निकलने लगता है जो कभी-कभी बहुत अधिक मात्रा में होता है जिससे दुर्बलता बढ़ती जाती तथा रक्ताल्पता की अवस्था उत्पन्न हो जाती है।

निदान—लक्षण, इतिहास और यदि विशेष आवश्यकता हो तो अगुली द्वारा परीक्षा या गुद दर्शक द्वारा परीक्षा करके आसानी से निदान किया जा सकता है। गुद विदर, भगन्दर, मलाशयशोथ तथा मलाशय का दुर्दम अर्बुद[1] इनका निराकरण कर लेना चाहिए। मलाशय के दुर्दम अर्बुद का निराकरण कर लिया जाना नितान्त आवश्यक है क्योंकि जब तक अर्श के लिए साधारण चिकित्सा की जाती है तब तक दुर्दम अर्बुद इतना बढ़ जा सकता है कि रोगी का जीवन ही सकट मे पड़ जाय।

चिकित्सा—साधारण चिकित्सा बाह्य अर्श की तरह ही है बल्कि यथार्थ बात यह है कि चिकित्सा की दृष्टि से बाह्य एवं अन्तः अर्श का भेद करना ही अनावश्यक है। इस साधारण चिकित्सा से लाभ न होने पर इन्जेक्शन चिकित्सा अथवा शस्त्र कर्म की शरण ली जाती है।

इन्जेक्शन चिकित्सा—यह एक सरल तथा पीडा रहित चिकित्सा की विधि है जिसकी शरण ली जा सकती है किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अर्श के अकुरो का कोई अन्य उपद्रव अथवा गुदा के दूसरे रोग भगन्दर, विदार आदि भी उपस्थिति न हो। जब अर्श के अकुरों के ऊपर गुदनालिका की शल्की उपकला[2] का आवरण चढ जाता है जो अकुर के नीचे के भाग पर सिलहटी रग की झिल्ली के रूप मे देखा जा सकता है तथा तातव ऊतक युक्त भ्रष्ट अर्शाकुर[3] इन्जेक्शन चिकित्सा के लिए उपयुक्त

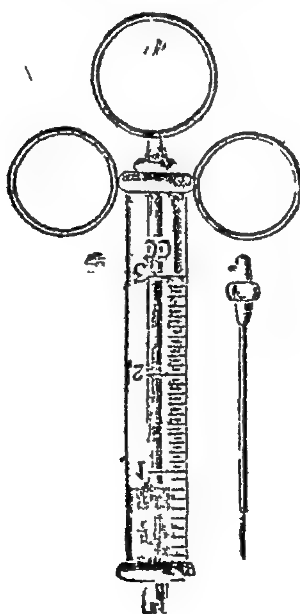
---

1. Carcinoma of the Rectum 2. Squamousiephithelium. 3. Fibrotic prolapsed Piles.

नहीं। इस प्रकार की स्थिति मे लाभ अपूर्ण तथा अस्थाई होता है। इन्जेक्शन चिकित्सा के लिए उपयुक्त रक्तस्रावी निरुपद्रव अर्शांकुर है।

इन्जेक्शन चिकित्सा का मुख्य सिद्धात श्लैष्मिक कला के नीचे क्षोभक पदार्थ के प्रवेश से तान्तव ऊतक की उत्पत्ति करना है जिससे रक्तनलिका का अवरोध हो जाय। इसके लिए बादाम तेल मे ५ प्रतिशत शक्ति का कार्बोलिक अम्ल प्रयुक्त किया जाता है।

जिस दिन इन्जेक्शन देना है उस दिन प्रातः एनीमा द्वारा कोष्ठ शुद्धि कर ली जाती है। रोगी को कुहनी घुटनो के आधार पर उलटा झुका दिया जाता है क्योंकि इस स्थिति मे मलाशय गुददर्शक के पास से अलग हट जाता है जबकि यदि रोगी को बाऍ करवट लिटाया जाता है तो मलाशय का कुछ भाग उसमे चला आ सकता है। अच्छा हो यदि गुददर्शक यन्त्र के आन्तरिक सिरे के पास प्रकाश का प्रबन्ध हो क्योंकि साधारण शीर्ष प्रकाश[1] के लगा लेने से उतनी सुविधा नहीं रहती यद्यपि काम चल जा सकता है।



चित्र—८६
अर्श की इन्जेक्शन पिचकारी

1. Head Light.

इंजेक्शन पिचकारी भी जैसा कि चित्र ८६ में दिखाया गया है विशेष प्रकार की आती है तथा इसमें नीडिल इस प्रकार जकड़ कर लगती है कि तैलीय औषधि को प्रविष्ट करते समय जोर लगाने के कारण अलग नहीं हो सकती। नीडिल की दूसरी विशेषता यह होती है कि वह लगभग २½ इंच लम्बी होने के साथ ही साथ सिरे पर इस प्रकार बनी होती है कि उसका आवश्यकता से अधिक भाग अन्दर प्रविष्ट नहीं हो पाता। चित्र में सूची की यह विशेषता भी दिखाई गई है जो सावधानीपूर्वक देखे जाने पर समझी जा सकती है। सिरिंज को केवल एक हाथ से प्रयुक्त किया जा सकता है।

थोड़ा गर्म करने तथा वैसलीन लगाने के पश्चात् गुददर्शकयन्त्र अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तथा उसका अवरोधक[1] हटाने के बाद अर्शांकुरों की स्थिति समझी जाती है। प्रायः मलाशय की गोलाई में ३, ७, व ११ बजे के स्थान पर तीन प्रारम्भिक अंकुर देखे जाते हैं क्योंकि यही स्थिति उस स्थल पर ऊपर की ओर जाने वाली शिराओं की है। उनके बीच में एक-दो छोटे कई अन्य अंकुर भी देखे जा सकते हैं। उपरोक्त अर्शांकुरों की ठीक स्थिति समझ में आ जाने पर यन्त्र को थोड़ा ऊपर की ओर बढ़ा दिया जाता तथा सुई उनमें से एक के बिलकुल ऊपर श्लैष्मिक कला के भीतर प्रविष्ट कर दी जाती है। कार्बोलिक अम्ल से ५ प्रतिशत शक्ति के तैलीय योग के २-३ सी० सी० श्लैष्मिक कला के नीचे प्रविष्ट कर दिए जाते हैं। श्लैष्मिक कला के नीचे एक गोलाकार उभार-सा प्रतीत होता है। दूसरे अंकुर के ऊपर भी यही विधि दुहराई जाती है। इस प्रकार ध्यान रखना चाहिए कि इंजेक्शन शिरा के बाहर उनके चारों ओर[2] अर्शांकुर के ऊपर होता है। एक सप्ताह पश्चात् जब फिर इंजेक्शन करना होता है, परीक्षा करने पर वहाँ दृढ़ कठिन स्थल दिखाई पड़ता है तथा अपस्फीत शिरा शान्त दिखाई पड़ती है। एक बार में दो या तीन अंकुरों में इंजेक्शन दिया जा सकता है तथा यह विधि २-३ सप्ताह बाद दुहराई जाती है। इंजेक्शन द्वारा औषधि प्रवेश के समय थोड़ा

1. Obturator 2. Paravenous.

तनाव-सा मालूम पडता है यथार्थ पीड़ा नही। पीड़ा का होना गलत इजेक्शन लग जाने का परिचायक है।

शस्त्रकर्म—जब उपरोक्त विधि के द्वारा अर्श ठीक नही किये जा सकते अथवा उपरोक्त विधि द्वारा चिकित्सा करने के उपयुक्त नही होते तो शस्त्रकर्म की शरण लेना आवश्यक हो जाता है। शस्त्रकर्म की सर्वोत्तम विधि अर्शांकुरों को बॉधने के पश्चात् काटकर अलग कर देना है।

तीन दिन पहले से रोगी को हलका द्रव भोजन तथा मृदु विरेचन दे-देकर तैयार किया जाता है। शल्यकर्म के दिन प्रातः शस्त्रकर्म से दो घण्टे पूर्व मलाशय का प्रक्षालन कर लिया जाता है। मौर्फीन एवं स्कोपोलेमीन के इजेक्शन के साथ ही साथ निम्न स्तर पर सुषुम्नावरोधक संज्ञाहरण अथवा स्थानिक संज्ञाहरण पर्याप्त है। विशेष अवस्थाओं मे सर्वांग सज्ञाहरण की भी शरण ली जा सकती है।

स्थानीय संज्ञाहरण के लिए एक प्रतिशत शक्ति का प्रोकेन घोल प्रयुक्त किया जाता है। रोगी को दायें पार्श्व पर लिटा लिया जाता है, उसके घुटने ऊपर की ओर मोड लिए जाते तथा नितम्ब मेज के किनारे पर रखे जाते है। ठीक मध्यरेखा मे गुद द्वार के एक सेण्टीमीटर आगे तथा एक सेण्टा-मीटर ही पीछे दोनो स्थानों पर प्रोकेन का घोल चर्म के नीचे प्रविष्ट करके एक विस्फोट-सा उत्पन्न कर लिया जाता है। अब गुदा में उंगुली प्रविष्ट कर दी जाती है तथा एक बीस सी० सी० सिरिज मे प्रोकेन का एक प्रतिशत शक्ति का घोल भरकर उसमे एक लम्बी सुई लगाकर सुई पीछे के विस्फोट मे होकर अन्दर प्रविष्ट की जाती है। गुदा मे प्रविष्ट उँगली मार्ग दर्शक का काम करती है। उँगली की सहायता लेते हुए ही बाह्य गुद सकोचनी पेशी मे दोनों ओर ५–५ सी० सी० घोल प्रविष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार पेशी का पश्चात् आधा भाग प्रोकेन के प्रभाव में आ जाता है। यही विधि आगे के भाग के लिए भी दुहराई जाती है और इस प्रकार २० सी० सी० घोल प्रयोग मे ले आया जाता है। इस प्रकार अर्श

के अंकुरों को काटने के लिए पर्याप्त संज्ञाहीनता तथा पेशी की शिथिलता मिल जाती है। आवश्यकता होने पर थोड़ा-सा घोल बड़े अंकुरों के आस-पास और भी प्रविष्ट किया जा सकता है।

रोगी को लिथोटोमी स्थिति में लिटा लिया जाता है तथा बाह्य गुद संकोचनी पेशी को शनैः-शनैः विस्फारित किया जाता है। एकदम विस्फारित करना ठीक नहीं। सर्वप्रथम तीन प्राथमिक अर्शांकुरों को काटा जाता है; उनमें से भी सबसे पीछे की ओर वाले से काटना प्रारम्भ करना ठीक है। अर्श सदंश[1] अर्शांकुर के ऊपर रख दी जाती है तथा कैंची की सहायता से चर्म एवं श्लैष्मिक कला के स्थान पर काट की जाती है। विस्तारित शिरा एवं उसकी सहगामी धमनी तथा थोड़े तान्तव ऊतक युक्त एक डण्ठल को साफ करके कैटगट से स्थिर कस कर बाँध दिया जाता है। इससे आगे की ओर निकाला हुआ अर्शांकुर काटकर अलग कर दिया जाता है। उसी प्रकार दूसरे दो अन्य अर्शांकुर भी जो उत्पन्न हो गये हों, काटकर अलग कर दिये जाते हैं। इस बात का ध्यान अवश्य रखना है कि जब कई पास-पास के अर्शांकुर काटे जायें तो कटी हुई रक्त नलिकाओं के बीच में थोड़ी स्वस्थ श्लैष्मिक कला बनी रहे। इसके बाद लगभग एक औंस जीवाणुहीन शुद्ध वैसलीन अन्दर लगा दी जाती है। इसके साथ ही रबर की एक नली जिसके बीच के तिहाई भाग में गौज लपेट दिया गया हो अन्दर गुद नलिका से होकर प्रविष्ट कर दी जाती है। यह नली इस प्रकार अन्दर प्रविष्ट की जानी चाहिए कि जब बाह्य गुद संकोचनी पेशी संकोच करे तो आपरेशन का स्थान उसके साथ अच्छी तरह जकड़ जाय ताकि रक्तस्राव न हो सके। आन्त्रवायु[2] नली में होकर निकलती रह सकती है।

पश्चात् देखभाल—रोगी को शान्त बनाये रखने के लिए ओम्नो पॉन का एक इंजेक्शन दे दिया जाता है तथा प्रथम ३६ घंटे में यदि आवश्यकता हो तो उसको फिर दुहराया जा सकता है। प्रथम ४८ घण्टे तक केवल द्रव

1. Pile forceps 2. Flatus.

पदार्थ ही मुखद्वारा दिये जाते हैं। ४८ घण्टे पश्चात् ही फिर व्रणोपचार करना है। रबर की नलिका में होकर ३–४ औंस शुद्ध थोड़ा गर्म जैतून तेल अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है और इसके कुछ मिनट पश्चात् ही रबर की नलिका को निकाल लेते हैं। साफ करने के बाद उसको पुनः पहले की तरह ही प्रविष्ट कर दिया जाता है। चार दिन के पश्चात् हलका विरेचन दिया जाता है और जैसे-जैसे आन्त्र नलिकाएँ नियमित होती हैं, भोजन की मात्रा बढाते जाते हैं। प्रत्येक बार मलत्याग के पश्चात् गुद नलिका को ससवल लवण जल से प्रक्षालन कर देना चाहिए। पाँचवे दिन के पश्चात् प्रतिदिन उष्ण कटिस्नान[1] कराना लाभकर है तथा विरेचक के रूप मे लीक्विड पैराफीन दी जाती रहनी चाहिए।

शस्त्रकर्म के पश्चात् भी अर्शोत्पादक मुख्य कारणों से रोगी को बचाये रखना अच्छा ही है।

शस्त्रकर्म के पश्चात् कभी-कभी मूत्रावरोध उत्पन्न हो जाता है जिसकी समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए। आपरेशन के कुछ समय बाद यदि रक्तस्राव होने लगे तो रक्तस्रावी बिन्दु को पकड कर धमनी सदंश से दबाया जा सकता अथवा बाँधा जा सकता है। किन्तु यदि यह सम्भव न हो तो रबर की नली के आस-पास चारो ओर गौज पैक कर दिया जाता है ताकि शस्त्रकर्म के स्थान पर दबाव पड़ कर रक्तस्राव बन्द हो सके।

आन्तरिक अर्श का भ्रंश[2], संकोच[3] अथवा रक्तस्थापन जन्य शिरा शोथ[4]—यदि अर्शांकुर बाहर निकल पडे है तो उंगलियो मे वैसलीन लगाकर धीरे धीरे सावधानी के साथ उनको अन्दर प्रविष्ट करने का प्रवन्ध किया जाना चाहिए। यदि यह सम्भव न हो तो रोगी को चारपाई पर पायताना ऊँचा करके आराम से लिटा दिया जाता तथा अर्शांकुरों के स्थान पर सेंक की जाती है। मुख द्वारा केवल द्रव पदार्थ दिये जाते है तथा विरेचन के

1. Sitz Baths. 2. Prolapse. 3. Strangulation. 4. Thrombo-phlebitis.

लिए लीक्विड पैराफिन। पीडा को शान्त करने के लिए एनीथेन मलहम या अन्य इसी प्रकार का योग प्रयुक्त किया जाता है। इतना करने से प्रायः अर्शांकुर इस स्थिति मे आ जाते हैं कि उनको अन्दर प्रविष्ट किया जा सके यद्यपि यह भी सम्भव है कि कुछ भाग क्वथित हो जाय। तीव्र अवस्था के शान्त हो जाने पर इजेक्शन द्वारा चिकित्सा की जाती है जिससे तान्तव ऊतक की उत्पत्ति होकर अर्शांकुर ठीक हो जाते हैं।

ध्यान रखना चाहिए कि अर्शांकुरो के शोथ रक्तस्थापन आदि की तीव्र अवस्था मे शस्त्र-कर्म करना कभी भी ठीक नही क्योंकि उपसर्ग का भय रहता है।

गुद विदर[1] —गुद विदर से तात्पर्य गुदा के अन्दर स्थित लम्बाकार व्रण से है जो प्रायः पीछे की ओर मध्यरेखा के पास ही स्थित होता है। यह प्रायः एक ही होता है किन्तु गुदचर्म या श्लैष्मिक कला की क्षय की अवस्था मे कई हो सकते हैं। साधारणतया इसका कारण सूखे हुए मल का निकलना हुआ करता है। अतिसार के साथ ही साथ इसकी उपस्थिति होते देखी गई है। किसी वाह्य पदार्थ से क्षति पहुँचने के कारण भी विदर उत्पन्न हो सकता है।

तल मे नाडी सूत्रों के स्पष्ट हो जाने से पीडा के कारण वाह्य गुदसंकोचिनी पेशी एकदम सकुचित हो जाती है तथा गन्दगी के हर समय उपस्थित रहने के कारण विरोहण नहीं हो पाता। साथ ही तल मे तथा किनारो पर तान्तव ऊतक की उत्पत्ति तथा गुदा के पास के चर्म के शोथ के कारण चर्म का एक टुकड़ा-सा जिसे गुदान्तक अर्श[2] कहते हैं, उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के विदर से भगन्दर की उत्पत्ति सम्भव है।

लक्षण एवं चिह्न—मलत्याग के समय या उसके पश्चात् तीव्र पीड़ा होती है और यथार्थ मे रोग का यही प्रधान लक्षण है। पीडा के कारण रोगी मलत्याग की इच्छा को दवाये रखने का प्रयत्न करता है जिससे मलवद्धता का

1. Anal Fissure 2. Sentinal tag.

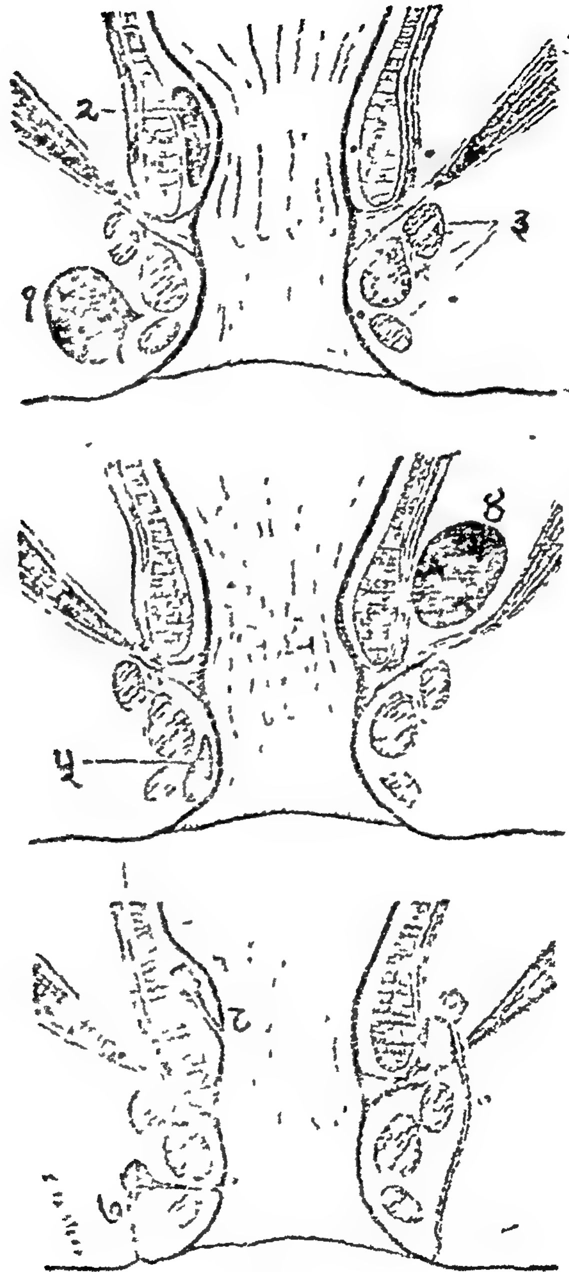
रहना निश्चित है ! थोड़ा रक्तस्राव, गुदकण्डु[1] तथा प्रतिवर्त रूप के मूत्र त्याग सम्बन्धी लक्षण भी मिल सकते हैं। बाहर की ओर देखने से सेंटीनल टैग स्पष्ट देखा जा सकता है तथा सावधानी के साथ गुदा को थोडा खोलने से विदार का नीचे का भाग भी दृष्टि में आ सकता है। उँगली द्वारा परीक्षा करने पर गुद सकोचनी पेशी वृद्धि तथा संकोच और साथ ही विदार का तब अनुभव हो जाता है। किन्तु पीड़ा के कारण पूर्णतः गुद परीक्षा सम्भव नही, अतः निदान के लिए रोगी द्वारा दिये गये इतिहास पर निर्भर रहना पड़ता है।

चिकित्सा प्रारम्भिक अवस्था मे जब विकृति अधिक नही हो पाई है, प्रोक्टोकेन के प्रयोग से स्थिति को सभाला जा सकता है। कोकेन के दस प्रतिशत घोल मे भिगोकर एक बत्ती गुदा मे प्रविष्ट कर दी जाती है। अब इसी स्थल पर प्रोक्टोकेन घोलयुक्त १० सी० सी० सिरिज मे लगी सुई अन्दर की ओर प्रविष्ट की जाती है। इसके साथ ही गुदा मे एक उँगली इसलिए प्रविष्ट की जाती है कि वह सुई के मार्गदर्शक का काम करे। प्रोक्टोकेन का २ सी० सी० दोनो किनारों पर प्रविष्ट किया जाता है। पेशी का सकोच एवं पीड़ा एकदम शान्त हो जाती है जो काफी समय तक बनी रहती है और इसलिए उस स्थान को आराम मिलता है। जिससे विरोहण होने मे सहायता मिलती है। यदि विदार पुराना नहीं है तो इस विधि से रोपण हो जाता है यद्यपि इस विधि को दो-तीन बार आवश्यकतानुसार दुहराना आवश्यक है। बीच के समय मे विदर के तल पर शुद्ध इक्थियोल प्रति दूसरे दिन लगा दिया जाया करता है।

शस्त्र-कर्म—विदर पुराना होने पर जब उसके किनारे मोटे तथा खोखले पड़ गये हो अथवा भगन्दर भी उपस्थित हो, अन्य साधनो से लाभ नहीं होता वल्कि शस्त्रकर्म की शरण लेना आवश्यक हो जाता है।

रोगी को बाएँ करवट या लिथोटोमो स्थिति मे लिटा लिया जाता है तथा आवश्यकतानुसार सार्वदैहिक, सुषुम्नावरोधक या स्थानिक संज्ञाहरण का प्रबन्ध

1. Pruritis Ani.



(चित्र ६०)

गुदा निकटवर्ती विद्रधि भिन्न-भिन्न स्थितियाँ

१ व ७—मलाशय आसनास्थि विद्रधि

२ व ८—श्लेष्म वलाधः ३—वाह्य गुद संकोचिनी पेशी।

४ व ६—मलाशय अग्रवर्ती विद्रधि ५—गुदवर्ती

में आता है जब पूय बिलकुल फटने के लिए हो जाती है। अन्यत्र क्षयजन्य विकृति के लक्षण देखे जा सकते हैं।

चिकित्सा—यदि रोगी बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में ही आ जाता है तो उष्ण स्वेद एवं पेनसिलिन तथा सल्फा औषधियो के प्रयोग से विद्रधि को शान्त किया जा सकता है। किन्तु यदि पूयोत्पादन हो चुका है तो एक मात्र चिकित्सा उचित स्थान पर चीरा देकर पूय को निकाल देना है और इसके पश्चात् व्रणोपचार एवं पेनिसिलिन का प्रयोग आता है। इस प्रान्त की विद्रधि की चिकित्सा में पेनिसिलिन के साथ स्ट्रेप्टोमायसीन को भी सम्मिलित कर लिया जाना चाहिए क्योकि पूयोत्पादन में बी० कोलाई का हाथ भी रहने की बहुत कुछ सम्भावना रहती है।

गुद निकटवर्ती विद्रधि के लिए धनाकार छेदन किया जाता है तथा इस प्रकार के छेदन से निर्मित चर्म आवरणों[1] के कोने काट दिये जाते हैं ताकि व्रण बिलकुल स्पष्ट हो जाए तथा बिलकुल तल मे से उसका विरोहण हो सके। इसके अलावा व्रण को थोड़ा बाहर की ओर भी बढ़ाया जा सकता है जैसा कि गुद विदर की अवस्था मे किया जाता है। श्लैष्मकलाधः विद्रधि की भी गुद सकोचनी पेशी के विस्फार के पश्चात् इसी प्रकार चिकित्सा की जाती है।

मलाशय आसनास्थि विद्रधि को खोलते समय सर्वांग या सुषुम्नावरोध संज्ञाहरण आवश्यक है। इसमे भी धनाकार छेदन करने के पश्चात् चर्म आवरण के कोने काट दिये जाते है ताकि चौड़ा व्रण बन सके। उँगली डाल कर व्रण को पूरी तरह साफ कर दिया जाना चाहिए। व्रणोपचार के समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है कि व्रण का विरोहण बिलकुल तल में से हो और इधर-उधर नाड़ी व्रण की उत्पत्ति न हो जाय। प्रतिदिन व्रण को अन्दर से हायड्रोजन परऔक्सायड से साफ किया जा सकता है।

मलाशय अग्रवर्ती विद्रधि बहुत कम देखी जाती है और यदि मिले तो

---

1. Skin Flaps.

यथासम्भव प्रधान शल्य चिकित्सक की शरण ली जानी चाहिए क्योंकि इसका शस्त्र-कर्म आसान नहीं।

भगन्दर—

गुदा के आस-पास स्थित नाडी व्रण को ही भगन्दर[1] कहा जाता है। यह पूर्ण[2] जब दोनों सिरों पर खुला हो अथवा अपूर्ण[3] जब केवल एक ही सिरे पर खुला हो, कहलाता है। अपूर्ण भगन्दर को ही भगन्दर[4] कहते हैं: केवल बाहर का शिरा खुला होने पर बाह्य[5] तथा केवल अन्दर का शिरा खुला होने पर अन्त. अन्ध[6] कहा जा सकता है।

बाह्य छिद्र गुदा के आस-पास कहीं भी एक तथा छोटा हो सकता है या बड़ा तथा कई हो सकते हैं। अन्तः छिद्र गुदा के बिलकुल पास ही अथवा मलाशय में कई इञ्च ऊचाई पर हो सकता है। बाह्य छिद्र की तरह यह भी गोल तथा छोटा-सा अनियमित आकार का बड़ा हो सकता है। प्रधान नलिका सीधी वक्र या टेढी-मेढी हो सकती है तथा उस स्थल की मुख्य पेशियों से इसके सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न रूप के हो सकते हैं। केवल इतना ही नहीं इस मुख्य नलिका मे इधर-उधर निकल कर जाने वाली एक दो शाखाएँ प्रशाखाएँ भी हो सकती हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि भगन्दर की उत्पत्ति सदैव गुद एव मलाशय के आस-पास स्थित विद्रधि से ही हुआ करती है जिनका कि ऊपर वर्णन किया गया है। इन विद्रधियों का समय पर तथा उचित इलाज न होने से ही भगन्दर की उत्पत्ति सम्भव है। छिद्र एव नलिका की स्थिति के अनुसार इसके कई भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं। इस प्रकार भगन्दर बाह्य गुद संकोचनी के बिलकुल बाहर की ओर, अथवा उसके ऊपर की ओर बाह्य तथा अन्तः संकोचनी के बीच में अथवा गुद सकोचनी पेशी के स्वतः दो भागो के बीच में हो सकती है।

---

1. Fistula 2. Complete 3. Incomplete 4. Blind 5. Blind External 6. Blind Internal.

रोग के कोई खास लक्षण नही होते । मल के साथ पूय का आना हलकी पीड़ा विशेष कर मलत्याग के समय अथवा गुदा के आस-पास स्थित नाड़ी व्रण एव पूर्व इतिहास आदि बातो से ही रोग का अनुमान लगाया जा सकता है । निदान का अर्थ नलिका की पूर्ण स्थिति का निश्चय कर लेना है ।

नाडी व्रण तो साधारणतया खुरचकर साफ करने, औषधि लगाने, रोगी का सामान्य स्वास्थ्य सुधारने आदि साधारण उपायो से ठीक नही किया जा सकता क्योंकि गुद नलिका से सततः गन्दगी पहुँचती रहती है, निकास तथा शोथ युक्त भागो को आराम पूर्णतः सम्भव नही । अतः भगन्दर की एकमात्र चिकित्सा शस्त्र-कर्म द्वारा ही है । शस्त्र-कर्म का अर्थ पूर्ण नलिका को खोलकर स्पष्ट कर देने के पश्चात् गले हुए भाग को काटकर अलग करना तथा खुरच कर साफ कर देना है ।

शस्त्र-कर्म—शलाका द्वारा नाडी व्रण की परीक्षा करके उसकी स्थिति समझ लेने के बाद शस्त्र-कर्म की पूर्ण रूप रेखा पहले ही निश्चत कर ली जानी चाहिए । रोगी को प्रथम दिन विरेचन देकर तथा दूसरे दिन मलाशय का प्रक्षालन करके तैयार कर लिया जाता है । बाएँ करवट या लिथोटोमी स्थिति मे लिटाकर शस्त्र-कर्म करना है जिसके लिए सर्वांग सज्ञाहरण या निम्न स्तर पर सुषुम्ना अवरोध की आवश्यकता पड़ती है । गुदा के आस-पास के सम्पूर्ण भाग को स्वच्छ कर लिया जाता तथा उस पर टिंचर आयोडीन का प्रलेप कर देना चाहिए ।

गुद संकोचनी को प्रसारित करने के पश्चात् अतीक्ष्ण चौडे सिरे की परिखायुक्त मार्ग दर्शक शलाका[1] को अन्दर प्रविष्ट करके नाडी व्रण की दिशा व स्थिति को समझ लिया जाता है ।

बाह्य अन्ध भगन्दर जिसमे नाडीव्रण की स्थिति बाह्य गुद सकोचनी पेशी के नीचे है, शलाका को अन्दर श्लेष्म कला की ओर प्रविष्ट करके पूर्ण कर दिया जाता है । इसके बाद शलाका की परिखा मे वक्रवेधस पत्र को ले जाते

1. Blunt Broad pointed Grooved Director.

हुए नाड़ी व्रण बाह्य सिरे से अन्तः सिरे तक पूर्णतः काटकर स्पष्ट कर देते हैं; व्रण के पार्श्व एवं तल को काटकर या खुरच कर बिलकुल साफ कर दिया जाता तथा उसको चर्म में बाहर की ओर थोड़ा बढ़ाया जा सकता है।

पूर्ण श्लेष्माघः भगन्दर को भी इसी प्रकार स्पष्ट करना है।

अन्तः अन्ध भगन्दर के लिए यह आवश्यक है कि शलाका को अन्दर की ओर से प्रविष्ट किया जाय तथा बाहर चर्म पर जब उसका अनुभव किया जा सके तब काटकर भगन्दर को पूर्ण बना दिया जाय। इसके लिए अब शलाका का प्रयोग किया जा सकता है तथा गुददर्शक की सहायता से अन्तः छिद्र तक पहुँचा जा सकता है।

किन्तु जो भगन्दर बाह्य गुद संकोचनी पेशी के ऊपर होकर या उसके मध्य में होकर जाता है उसके लिए विशेष सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि यदि बाह्य संकोचनी पेशी पूर्णतः या अधिकांश कट जाती है तो मल लगभग हर समय निकलता रह सकता है। इस प्रकार की स्थिति में दो बार में पूर्ण शस्त्र-कर्म करने का विधान है।

प्रथम बार नाड़ी का गुद संकोचनी पेशी के किनारे तक खोला जाता है। किन्तु पेशी को नहीं काटते बल्कि भगन्दर के केवल आधी ओर में रेशम का मोड़ ४ नम्बर का धागा निकाल लिया जाता है तथा उसमें बाह्य गुद संकोचनी पेशी को सम्मिलित करते हुए इतनी कड़ी ग्रन्थि लगा दी जाती है कि गुद संकोचनी पेशी अच्छी तरह कस जाय। धागे द्वारा कसावट के कारण हलके शोथ के रूप में उस स्थान पर प्रतिक्रिया होती है जिसका फल यह होता है कि वहाँ गुद संकोचनी के सूत्र आस-पास की धातु के साथ संसक्त हो जाते हैं फलतः आठ-दस दिन पश्चात् उसी स्थल पर जब उसको काटा जाता है तो कटे हुए सिरे एकदम अधिक अलग-अलग नहीं हो पाते। इस प्रकार प्रथम बार में भगन्दर का बाहर की ओर का आधा भाग साफ किया जाता तथा आठ-दस दिन पश्चात् दूसरी बार में स्थानिक संज्ञाहरण उत्पन्न करके बांधे जाने के स्थान पर ही गुद संकोचनी पेशी के सहित अन्दर की ओर का आधा भाग काट-

कर स्पष्ट किया जाता है। अब शेष चिकित्सा ऊपर लिखे अनुसार ही रहती है।

अश्वपाद आकार भगन्दर का शस्त्र-कर्म भी इसी प्रकार किया जाता है। बाहरी छिद्र की ओर से ही पार्श्व की ओर की दोनों ही शाखाएँ भली प्रकार खोलकर स्पष्ट कर दी जाती है तथा बाह्य गुद सकोचनी पेशी के सूत्रों को लेते हुए ऊपर लिखे अनुसार ही रेशम के धागे से एक, दो या आवश्यकतानुसार अधिक स्थानों पर बन्धन बाँध दिये जाते है जिनको आठ-दस दिन पश्चात् काटा जाता है। बाह्य क्षत का, यदि वह पूर्णतः खोल दिया जाकर साफ कर दिया जाता है तो शीघ्र ही विरोहण हो जाता है।

शाखाओ-प्रशाखाओ युक्त सोपद्रव भगन्दर का शस्त्र-कर्म भी इसी सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है। दो-तीन बार मे सभी शाखाएँ-प्रशाखाएँ खोलकर साफ कर दी जाती हैं। बाद मे व्रणोपचार के समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विरोहण नीचे से होता आवे, खोखले स्थान नही रह जाने चाहिए। ऊँचाई पर स्थित मलाशय अग्रवर्ती विद्रधि से उत्पन्न भगन्दर जो गुद उन्नमनिका[1] पेशी मे होकर बाहर निकालता है, एकदम पूरी तरह नही खोला जा सकता क्योंकि अन्तः गुद सकोचनी पेशी के काटने से मलाशय के बाहरी मार्ग पर नियन्त्रण न रहने के कारण मल हर समय निकलता रहेगा, यह निश्चित है, अतः अन्तः गुद संकोचनी पेशी के सूत्रो को नही काटा जाता। भगन्दर के बाह्य छिद्र को चौडा करके नाड़ी व्रण के ऊपर गुद उन्नमनिका पेशो तक पूरो-पूरी सफाई कर दी जाती है। नाड़ी व्रण का ऊपरी भाग दहन[2] कर दिया जाता है।

गुदभ्रंश[3]—

गुदभ्रंश का तात्पर्य गुदा के आन्तरिक भाग का बाहर निकल पड़ना है; जब केवल श्लैष्मिक कला बाहर निकल पाती है तब गुदभ्रश अपूर्ण कहा जाता है किन्तु जब मलाशय की लगभग सम्पूर्ण मोटाई बाहर निकल पडती है तो उसे पूर्ण कहते हैं।

1. Levator Ani 2. Cauterise. 3. Prolapse of Anus.

कारण—रोग बहुधा बच्चों मे ही होता देखा जाता है जबकि गुदभ्रंश अपूर्ण होता है तथा इसका प्रधान कारण मलत्याग के समय अधिक जोर लगाना होता है। बालक के क्षीण शरीर एव दुर्बल होने से रोगोत्पत्ति मे सहायता मिलती है। युवा अथवा अधिक आयु के व्यक्तियों मे इसका कारण अर्श, पुरस्थ ग्रन्थि की वृद्धि, मूत्रमार्ग सकोचन, भगन्दर या अर्श के लिए शस्त्र-कर्म आदि हो सकते हैं। वृद्ध मनुष्यो मे गुद सकोचिनी पेशी की शिथिलता भी रोग का कारण हो सकती है। पूर्ण गुदभ्रश अधिक वृद्ध स्त्रियों मे ही देखा जाता है।

लक्षण एवं चिह्न—भ्रंश के स्थान पर थोडी-सी पीडा तथा रक्त मिश्रित स्राव-सा आता है। अपूर्ण गुदभ्रश ½—१इच तक लम्बा होता है तथा श्लैष्मिक कला चिकनी तथा फूली हुई मालूम पड़ती है। पूर्ण गुदभ्रश कई इञ्च लम्बा हो सकता है तथा श्लैष्मिक कला पर वृत्ताकार झुरियाँ पडी होती हैं। गुदमार्ग तथा गुद सकोचिनी पेशी चौडी हो जाती है।

चिकित्सा—गुदभ्रश की स्थिति मे निकले हुए भाग को भली प्रकार धोकर साफ करने के पश्चात् गौज को हाथ मे लेकर उंगलियों की सहायता से दबाकर अन्दर प्रविष्ट किया जा सकता है। इसके पश्चात् मूल कारण की ओर ध्यान देना तथा उसको दूर करना आवश्यक है। इस प्रकार चिरकालीन कोष्ठ-बद्धता, आमातिसार, अर्श, मूत्राशय की अश्मरी, मूत्रमार्ग सकोच, पुरस्थ ग्रन्थि वृद्धि, बच्चो मे कृमि आदि सबकी ओर ध्यान देना तथा उसका समुचित प्रबन्ध करना है। इन कारणों को दूर करने तथा इसके पश्चात् प्रतिदिन लिक्विड पैराफिन आदि के प्रयोग से आसानी के साथ मल शुद्धि करा देने से गुदभ्रश होना बन्द हो जाता है।

जब इस प्रकार सफलता न मिले तथा गुदभ्रश बार-बार होता रहे तो शस्त्रकर्म आवश्यक है। यदि भ्रंश अधिक न हो तो गुदा के बाहर निकले हुए भाग की किसी सिकुड़न को काटकर अलग कर दिया जाता है। कटे हुए भाग को गहरी सीवन से जोड़ देते है। जब बाहर निकला हुआ भाग अधिक

हो और इतने से काम चल जाने की आशा न हो तो निकले हुए सम्पूर्ण भाग का छेदन किया जा सकता है। गुद द्वार पर ही जहाँ चर्म तथा श्लैष्मिक कला मिलती है, छेदन प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उसको भीतर की ओर गहरा करते जाते हैं और इस प्रकार बाहर निकले हुए सम्पूर्ण भाग को काटकर अलग कर दिया जाता है। जो-जो रक्त-नलिकाएँ कटती जायँ उनका बन्धन करते जाना चाहिए। काटकर अलग कर देने के पश्चात् गुदा के बाहर की ओर की भित्ति को चर्म के भीतर की ओर स्थित कला से तथा गुदा की श्लैष्मिक कला को चर्म के साथ सी दिया जाता है। प्रथम टाके कैटगट के तथा दूसरे रेशम के लो सकते है। एक सप्ताह तक रोगी को मलत्याग नहीं करने दिया जाता और इसके पश्चात् एनीमा द्वारा मलत्याग कराया जा सकता है।

उपरोक्त शस्त्र-कर्म के स्थान पर यह भी किया जा सकता है कि गुदा को अन्दर की ओर प्रविष्ट करने के बाद उसके पश्चात् भित्ति को पीछे की ओर सी दिया जाय। प्रथम शस्त्रकर्म से लाभ होने पर भी यह उपाय किया जा सकता है।

यथार्थ बात यह है कि भ्रष्ट भाग को काटकर अलग करने के शस्त्रकर्म को जहाँ तक सम्भव हो नहीं ही किया जाय तो अच्छा है। अन्य साधनों से सफलता न मिलने पर ही इसकी शरण ली जानी चाहिए, विशेष कर उस अवस्था में जब भ्रष्ट भाग बहुत दिनों से बाहर निकला ही रह गया हो तथा उस पर व्रणोत्पत्ति आदि हो गई हो।

———

सोलहवाँ अध्याय

मूत्र एवं प्रजनन-तन्त्र के रोग

प्रजनन अगों से तात्पर्य पुरुष मे वाह्य जननेन्द्रिय या शिश्न[1], पुरःस्थ ग्रन्थि[2], वृषण रज्जु[3] तथा वृषण[4] से है जब कि स्त्री मे भगोष्ठ[5] योनि मार्ग[6] डिम्ब ग्रन्थि[7] तथा गर्भाशय[8] से। मूत्र तन्त्र सम्बन्धी अंग दोनों में ही मूत्रमार्ग मूत्राशय तथा वृक्क हुआ करते हैं। इन अगों से सम्बन्धित कुछ साधारण शल्य रोगों का पूर्ण वर्णन इस स्थल पर किया जाता है।

पुरुष मे वाह्य मूत्र मार्ग की लम्बाई ६-१० इञ्च होती है। इसका आरंभ मूत्राशय के आरम्भ मे स्थित अन्तः छिद्र से होता है तथा प्रारम्भिक भाग पुरःस्थ ग्रन्थि मे होकर निकलता है जिसके पश्चात् वस्ति गुहा के वाहर आकर वाह्य जननेन्द्रिय के पूर्व पृष्ठ पर होता हुआ शिश्न मुण्ड पर बाह्य छिद्र में समाप्त हो जाता है।

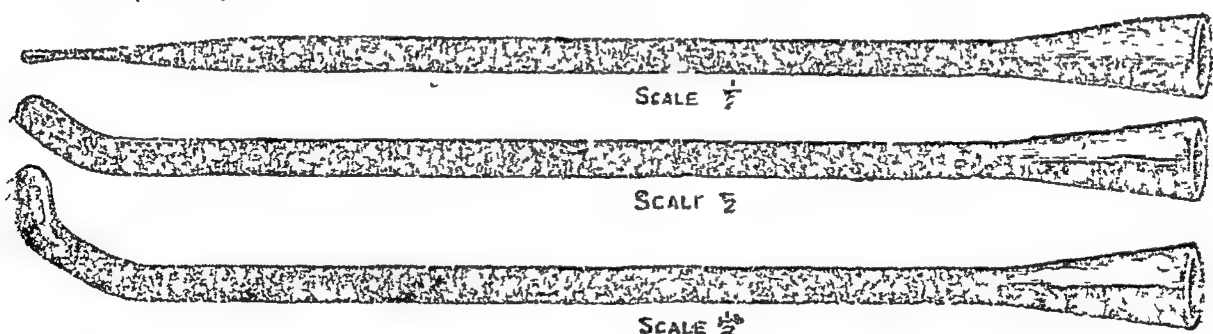
मूत्र नलिका सम्बन्धी रोगों की चिकित्सा के लिए मूत्राशय दर्शक आदि यन्त्रों के अतिरिक्त दो मुख्य यन्त्र नाल शलाका[9] तथा बूजी या शलाका हैं। नाल शलाका या जिसको साधारणतया कैथेटर भी कहा जाता है धातु, गम इलास्टिक, या रबर की बनी हुई पोली शलाका होती है जिसका प्रधान उपयोग मूत्राशय से मूत्र निकालने के लिए किया जाता है।

गम इलास्टिक कैथेटर कई भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है जैसा कि (चित्र ६१) मे दिखाया गया है। सकिरण शलाकाएँ ठोस होती तथा गम इलास्टिक वैध या धातु की वनी होती हैं। गम इलास्टिक शलाकाएँ सीधी

1. Penis 2. Prostate 3. Spermatic Chord 4. Testes 5. Labia 6. Vagina 7. Ovary 8. Uterus 9. Catheter.

और दृढ होती हैं किन्तु उनको मोडा जा सकता है जबकि धातु निर्मित शलाकाएँ सिरे पर वक्र तथा कई भिन्न-भिन्न आकार की होती हैं।

कैथेटर व शलाकाओं पर नम्बर दिए होते हैं जो उनके आकार अर्थात् मोटाई के द्योतक होते हैं। अधिकाश में फ्रेंच तथा अंग्रेजी नम्बरों का प्रयोग किया जाता है। यथार्थ में फ्रेंच नम्बर अधिक उपयुक्त हैं क्योंकि विशिष्ट नम्बर का अर्थ उसका तृतीयांश मिलीमीटर नलिका का व्यास हुआ करता है जबकि अंग्रेजी नम्बरों का कोई विशिष्ट अर्थ नही बल्कि वे अभ्यास में आ गए हैं। फ्रेंच नम्बर १ से लेकर २५ तक होते हैं जबकि अंग्रेजी नम्बर ०० , ० और इसके बाद १ से लेकर १४ तक होते हैं। साधारणतया एक कैथेटर का अंग्रेजी नम्बर फ्रेंच का आधा होता है। एक बात और भी ध्यान देने की है और वह यह कि फ्रेंच नम्बरो के अनुसार निर्मित यन्त्रो की मोटाई धीरे-धीरे बढती है जब कि अंग्रेजी नम्बरो के अनुसार निर्मित यन्त्रों की अधिक तेजी के साथ और यही कारण है कि किसी मूत्र मार्गीय निकोचन को प्रसारित करने के लिए फ्रेंच नंबरों के अनुसार निर्मित शलाकाएँ अधिक ठीक पड़ती हैं।



चित्र ६१—गरम इलास्टिक कैथेटर।

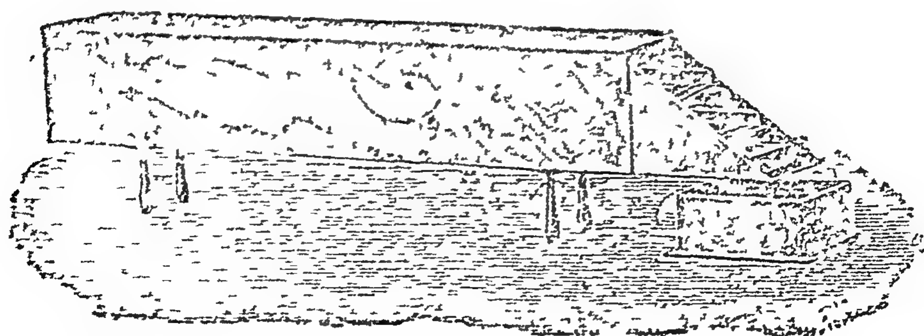
प्राकृत पूर्ण युवा पुरुष के लिए १०-१४ अंग्रेजी या १८-२५ नम्बर फ्रेंच कैथेटर ठीक रहता है।

यन्त्रों का विशोधन—मूत्रमार्ग मे प्रविष्ट करने से पहले यन्त्रो को जीवाणुहीन शुद्ध कर लेना नितात आवश्यक है। सभी धातु निर्मित या रबर के यन्त्रों को उबालकर शुद्ध किया जा सकता है। इनको आक्सीसायनायड

आफ मरकरी के १:६००० शक्ति के घोल से आधा घण्टा तक डुबाए रखकर भी शुद्ध कर सकते हैं। किन्तु गम इलास्टिक कैथेटर अधिक समय तक उबाले नहीं जा सकते। यदि कभी-कभी ही आवश्यकता पड़ती हो तो यह किया जा सकता है कि गम इलास्टिक शलाका को घड़ी लगाकर केवल एक मिनट तक ही उबाल लिया जाय और उबालने के पश्चात् १:६००० शक्ति के मरकरी ऑक्सीसायनायड घोल में जो ठण्डा हो, छोड़ दिया जाय। इस प्रकार करने से कैथेटर फिर कड़ा पड जाता है। मरकरी ऑक्सीसायनायड के १:६००० शक्ति के घोल अथवा मरकरी बिन आयोडाइड के १:२००० शक्ति के घोल में इनको २० मिनट तक डुबाए रखकर भी शुद्ध किया जा सकता है।

अन्यथा गम इलास्टिक कैथेटरो अथवा शलाकाओं का विशोधन फोर्मलीन द्वारा ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार फोर्मलीन द्वारा विशोधन करने के लिए एक विशेष प्रकार का पात्र आता है। जिसके दो खण्ड होते हैं (चित्र ९२)। ऊपरी खण्ड में कैथेटर रखे जाते हैं तथा नीचे के खन्ड में फोर्मलीन की टिकिया का द्रव रखा जाता है। पात्र को नीचे से स्पिरिट लैम्प द्वारा गर्म करने से फौर्मलीन वाष्प उत्पन्न होकर ऊपर यन्त्रों का पूर्ण विशोधन कर देती हैं।

प्रयोग के पश्चात् यन्त्रों को धोकर सुखाकर तथा शुद्ध करके ही रखना चाहिए। पोले यन्त्रों अर्थात् कैथेटरो को जल की धार से अन्दर की ओर से भी साफ किया जाना आवश्यक है।



चित्र ९२—फौर्मलीन पात्र

मूत्रमार्ग में यन्त्रों का प्रविष्ट करना—

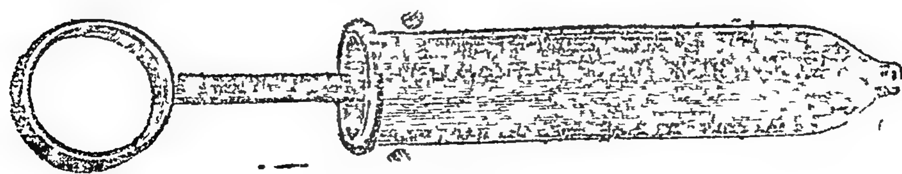
बाह्य छिद्र द्वारा मूत्रमार्ग में कैथेटर या शलाका आदि के प्रवेश की आवश्यकता अधिकांश मे मूत्र कराने के लिए ही पड़ा करती है। कभी-कभी शलाका का प्रयोग मूत्र-मार्गीय सकोच को प्रसारित करने के लिए भी किया जाता है। मूत्राशय दर्शी[1] यन्त्र को काम मे लाते समय भी यह क्रिया आवश्यक है।

संज्ञाहरण—सज्ञाहरण न करके बहुत धीरे और मृदुता के साथ यन्त्र को अन्दर प्रविष्ट करना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योकि सज्ञाहरण के पश्चात् जब रोगी को पीड़ा नही मालूम पडेगी, यह बहुत कुछ सम्भव है कि यन्त्र असावधानी मे इधर-उधर जाकर मूत्रमार्ग मे क्षत उत्पन्न कर दे। इसीलिए कैथेटर प्रवेश के समय कभी भी सज्ञाहरण की आवश्यकता नही। सकोच प्रसारण के लिए शलाका प्रवेश करते समय इसकी आवश्यकता पड़ सकती है जब कि मूत्राशय दर्शी का प्रयोग करते समय सज्ञाहरण नितान्त आवश्यक है।

ध्यान रखना चाहिए कि कोई भी घोल पूर्णतः संज्ञाहरण नही कर पाता। साधारणतया नोवोकेन या परकेन का ५ प्र० श० शक्ति का घोल उतना ही प्रभावकर होता है जितना कि विशिष्ट घोल—

कोकेन हायड्रोक्लोर	७½ ग्रेन
सोडियम बाई कार्बोनेट	७½ ग्रेन
क्लोरोब्यूटोल	४ ग्रेन
शुद्ध परिस्रुत जल	१०० सी० सी०

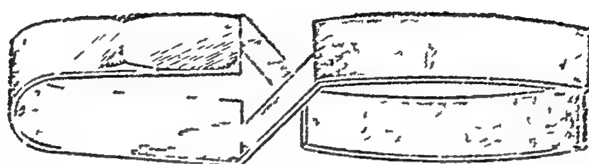
घोल को प्रविष्ट करने के लिए एक विशेष प्रकार के शीर्षयुक्त सिरिंज का प्रयोग किया जाता है जैसा कि (चित्र ६३) मे दिखाई गई है। बाएँ हाथ की उँगलियाँ तथा अँगूठे के मध्य से बाह्य जननेन्द्रिय को साधकर लगभग



चित्र ६३—मूत्रमार्ग प्रक्षालन सिरिंज

1. Cystoscope.

१० सी० सी० घोल अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है। शिश्न की मालिश करके इस घोल को धीरे-धीरे मूत्र मार्ग मे अन्दर की ओर को प्रविष्ट करते हैं। इसके बाद १० सी० सी० घोल और प्रविष्ट कर दिया जाता है तथा शिश्न को



चित्र ६४ क्लेम्प

शिश्नमुण्ड के पीछे एक विशेष क्लैम्प (चित्र ६४) द्वारा जकड़ देते हैं। लगभग १५ मिनट तक घोल को मूत्र मार्ग मे छोड दिया जाना चाहिए। इस स्थल पर ध्यान रखना है कि इतने समय से कम समय तक ही यदि घोल मूत्र मार्ग मे रहता है तो सज्ञाहरण ठीक नही हो पाता।

उपरोक्त विधि के अलावा त्रिकास्थि के वाह्यद्वार पर सुषुम्नावरोध द्वारा सज्ञाहरण अधिक उपयुक्त पड़ता है। क्योंकि उस विधि से पूर्ण सज्ञानाश हो जाता है।

कैथेटर अथवा शलाका को मूत्रमार्ग में प्रविष्ट करना—रबर गम इलास्टिक कैथेटर को मूत्रमार्ग मे होकर अन्दर प्रविष्ट करने मे किसी विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं क्योंकि ये लचकीले होने के कारण बड़ी सरलता के साथ मूत्रमार्ग मे प्रविष्ट कर दिये जा सकते हैं। रोगी को चारपाई या मेज पर पाट के आधार पर सिर को थोडा ऊँचा रखते हुए लिटा लिया जाता है। पैरो व उरुओं को थोडा इधर-उधर पार्श्व की ओर हटाकर रखते है। शिश्न के नीचे उरु व उदर प्रान्त को शुद्ध तौलियों से ढँका जा सकता है। चिकित्सक अपने हाथों को शुद्ध करने के पश्चात् रोगी के दाहिने ओर खडा होकर अपने बाएँ हाथ मे शिश्न को पकड कर ऊपर की ओर करता तथा शिश्नमुण्डच्छद को पीछे की ओर हटाकर मुण्ड को खोल देता है। इसके पश्चात् दाहिने हाथ के किसी जीवाणुनाशक घोल (१ : २००० शक्ति का मरकरी बिन आयाडायड या १ : ६००० शक्ति का मरकरी आक्सीसायनायड घोल) में

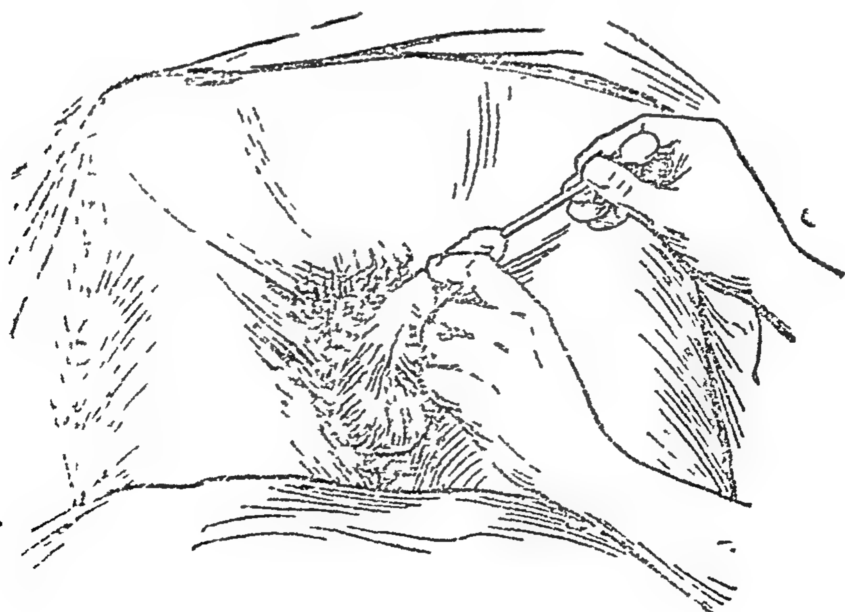
भीगे हुये फाए से शिश्नमुण्ड एवं बाह्य छिद्र को भली प्रकार साफ करता है। कैथेटर को किसी शुद्ध चिकने पदार्थ यथा ग्लीसरीन, लीक्विड पैराफिन या जैतून के तेल मे भिगो लिया जाना आवश्यक है। कुछ चिकित्सक लगभग एक ड्राम जैतून का तेल या लिक्विड पैराफिन मूत्र मार्ग मे प्रविष्ट कर दिया करते है। अब चिकित्सक दाहिने हाथ से ही कैथेटर को पकड़ कर उसके शीर्ष को मूत्र मार्गीय छिद्र मे प्रविष्ट करता है तथा धीरे-धीरे अन्दर की ओर बढ़ाता जाता है। ध्यान रखना है कि कैथेटर जीवाणुहीन शुद्ध होना चाहिए तथा प्रवेश करते समय भी उसका कोई भाग अशुद्ध पदार्थों के सम्पर्क मे नही आना चाहिए। प्रविष्ट करते-करते अन्त मे कैथेटर के बाहरी सिरे से मूत्र निकलना प्रारम्भ हो जाता है जिसको पहले से रखे हुए किसी पात्र मे ले लिया जाना चाहिए। सम्पूर्ण मूत्र निकल जाने के पश्चात् कैथेटर को निकाल कर साफ व शुद्ध करके रख दिया जाता है।

इस स्थल पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कभी-कभी कैथेटर लगभग मूत्राशय तक पहुँच जाने पर रुकता-सा मालूम पड़ता है और यह मूत्रमार्ग संकोचिनी पेशी के संकोच के कारण होता है। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने पर कुछ मिनट थोड़ा ठहर कर फिर कैथेटर हलका दबाव डालते हुए अन्दर की ओर प्रविष्ट किया जाता है। ऐसा करने से पेशी का सकोच दूर होकर कैथेटर शीघ्र ही अन्दर प्रविष्ट हो जाता है।

धातु निर्मित कैथेटर अथवा शलाका को अन्दर प्रविष्ट करने मे अवश्य विशेष कौशल की आवश्यकता है तथा अनभ्यस्त व्यक्ति को यह करने से सदैव बचना चाहिए। उपरोक्त लिखे अनुसार ही सब तैयारी कर लेने के पश्चात् चिकित्सक रोगी के बायी ओर खड़ा होता है। बॉयी ओर खड़ा होने मे लाभ यह है कि दाएँ हाथ का प्रयोग सुविधा के साथ किया जा सकता है। किन्तु यथार्थ मे यह बात कि किस ओर खड़ा हुआ जाय, चिकित्सक की व्यक्तिगत सुविधा तथा अभ्यास पर निर्भर करती है।

चिकित्सक बाएँ हाथ की तर्जनी अंगुली तथा अगूठे से शिश्न को पकड

यह अपनी ओर कुछ ऊँचा खींचता है। लिखने की आवश्यकता नहीं कि इससे पूर्व ही मुण्डच्छद को हटाकर शिश्न मुण्ड की सफाई कर ली जानी चाहिए तथा मार्ग में स्निग्ध पदार्थ प्रविष्ट करके या शलाका पर स्निग्ध पदार्थ लगाकर ही उसको अन्दर प्रविष्ट किया जाना चाहिए। ध्यान रहे कि शलाका या कैथेटर का दस्ता अर्थात् सीधा भाग पौपर्ट स्नायु[1] के समानान्तर रहे। साधारण शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यन्त्र का सीधा भाग उदर एवं उसके मध्य की परिखा के समानान्तर रहना चाहिए। अब यन्त्र का शीर्ष मूत्र मार्ग के बाह्य छिद्र में प्रविष्ट किया जाता तथा यन्त्र बहुत ही हलका दबाव डालते हुए, बल्कि यह कहना चाहिए कि बिलकुल भी दबाव न डालते हुए, अपने ही भार से अन्दर प्रविष्ट होने दिया जाता है जहाँ तक कि वह बिना रुकावट सरलता से जा सके। इस समय यन्त्र का शीर्ष मूत्र मार्ग की पार्श्व भित्ति के सहारे रहना चाहिए। यन्त्र के दस्तक को अपने ही स्थान पर रखते हुए शिश्न को यन्त्र की वक्रता के ऊपर जहाँ तक सम्भव हो, खींच लिया जाता है। (चित्र ६५) अब यन्त्र का दस्तक धीरे-धीरे मध्यरेखा की

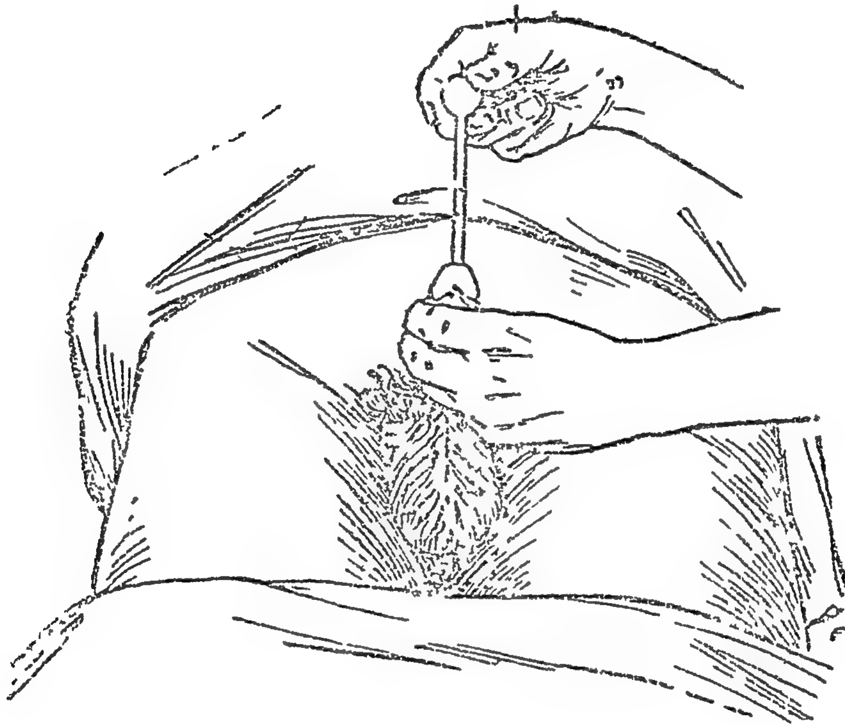


चित्र—६५

धातु नलिका प्रवेश १

1. Poupart Ligament.

ओर और साथ ही साथ उसी प्रकार धीरे-धीरे शरीर की समानान्तर[1] स्थिति से शरीर के लगभग लम्बाकार[2] लाया जाता है। यह करते समय यन्त्र का शीर्ष मूत्र मार्ग की छत अर्थात् ऊर्ध्व भित्ति के सहारे रखा जाता तथा उसको बिना दबाव डाले अपने ही भार से अन्दर की ओर प्रविष्ट होने दिया जाता है यहाँ तक कि वह त्रिकौणिक स्नायु[3] तक पहुँच जाता है। (चित्र—६६) अब यन्त्र



चित्र—६६

धातु नलिका प्रवेश २

के ऊपरी सिरे को तनिक नीचे अथवा गुदा की ओर झुका दिया जाता है जबकि वह मूत्र-नलिका के पुरःस्थ ग्रन्थिक[4] तथा कलाकृत[5] भागों को पार करता हुआ मूत्राशय में पहुँच जाता है।

सम्पूर्ण क्रिया करते समय यह सावधानी रखनी है कि यदि शस्त्र आसानी के साथ लगभग अपने ही भार से अन्दर की ओर प्रविष्ट नहीं होता रहता तो

---

1. Horizontal 2. Vertical 3. Triangular Ligament 4. Prostatic 5. Membranous Urethra.

बल लगाना बुद्धिमानी नहीं और न लगाना ही चाहिए। यदि मूत्रमार्गीय सङ्कोच अथवा पुरःस्थग्रन्थि वृद्धि नहीं तो प्रविष्ट होने में कोई रुकावट नहीं पड़नी चाहिए—यदि रुकावट पड़ती है तो समझना चाहिए कि प्रवेश करने में कहीं भूल हुई है और ऐसी स्थिति में थोड़ा बाहर की ओर खींचकर पुनः किंचित इधर-उधर करके अन्दर प्रविष्ट किया जा सकता है। एक साधारण गलती जो बहुधा हो जाया करती है वह यह है कि शलाका के पूर्णतः अन्दर प्रविष्ट होने से पहले ही उसको नीचे की ओर झुका दिया जाता है।

शस्त्रप्रवेश के पश्चात् रोगी को पेनिसिलीन का इन्जेक्शन अथवा सल्फ-नोमायड मुख द्वारा दिया जा सकता है।

उपद्रव—शस्त्र प्रवेश के कारण कुछ उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं जिनका रूप निम्न प्रकार होता है—

स्तब्धता[1]—यह भयंकर स्वरूप का उपद्रव है जो भाग्य से बहुत कम देखने को मिलता है। इसकी उत्पत्ति प्रायः उन वृद्ध व्यक्तियों में अधिक होते देखी जाती है जिनमें प्रथम बार ही शस्त्र का प्रवेश किया गया हो। शस्त्र को अन्दर प्रविष्ट करते समय या उसको निकालने के कुछ समय पश्चात् इसकी उत्पत्ति होते देखा गया है। रोगी का तारा विस्तारित, नाड़ी धीमी, गले में गड़गड़ाहट, बेहोशी आदि उत्पन्न होकर वेग के साथ एक श्वास बाहर निकलती और उसकी मृत्यु हो जाती है।

दशा के उत्पन्न होते ही प्रधान चिकित्सा हृदयोत्तेजक औषधियों का शीघ्र प्रयोग करना है। कृत्रिम श्वासक्रिया से भी लाभ की आशा की जा सकती है। यदि शस्त्र प्रवेश से पूर्व सञ्ज्ञाहरण कर लिया जाता है तो इसकी सम्भावना बहुत कम रह जाती है।

कैथेटर ज्वर[2]—कैथेटर प्रवेश के पश्चात् कुछ व्यक्तियों को ज्वर की उत्पत्ति भी होते देखी गयी है। इसका प्रधान कारण रक्त-प्रवाह में जीवाणुओं

---

1. Urethral shock. 2. Catheter Fever.

का पहुँच जाना है, अतः यदि जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है तो इसकी उत्पत्ति केवल उन व्यक्तियों को ही होती है जिनमे मूत्रनलिका या मूत्राशय मे पहले से ही उपसर्ग उपस्थित है। उपद्रव की तीव्रता दो बातों पर निर्भर करती है (१) जीवाणुओं की संख्या एवं प्रकृति (२) क्षति या आघात जो मूत्र मार्ग मे शस्त्र प्रवेश के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ हो। ज्वर की उत्पत्ति प्रायः दो-तीन घण्टे पश्चात् या दो-तीन दिन बाद तक हो सकती है तथा उसका प्रारम्भ सर्दी झुरझुरी के साथ होता हैं और साथ ही रोगी को बेचैनी मालूम पड़ती है। कभी-कभी यद्यपि बहुत कम पूयरक्तता की अवस्था की भी उत्पत्ति होते देखी जाती है।

उपद्रव के रोकने के दो प्रधान उपाय है—(१) शस्त्र-प्रवेश के समय सावधानी एव मृदुता ताकि मूत्रमार्ग को कम से कम क्षति पहुँचे तथा (२) मूत्र मार्गीय उपसर्ग का सन्देह होने पर शस्त्र-प्रवेश के पूर्व या पश्चात् मूत्राशय का प्रक्षालन। इनके अतिरिक्त (३) शस्त्र-प्रवेश के समय जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखना भी आवश्यक है।

रोगी को आराम से कम्बल आदि गर्म वस्त्रों से ढँक कर शय्या पर आराम से सुलाए रहे तथा द्रव पदार्थ पीने को दे। मूत्र मार्ग शोधक औषधियो का प्रयोग हितकर है। प्रायः दो घण्टे पश्चात् ज्वर उतर जाता है किन्तु यदि न उतरता मालूम पड़े तो ज्वर की प्रकृति के अनुसार पेनिसिलीन आदि औषधियो का प्रयोग किया जा सकता है।

रक्तस्राव—शस्त्र-प्रवेश के पश्चात् अधिकाश अवस्थाओ मे रक्त आता ही है किन्तु इसकी मात्रा बहुत अल्प होती है जिससे भय करने की कोई आवश्यकता नही। कभी-कभी विशेषकर उस अवस्था मे जब चिकित्सक ने बहुत लापरवाही तथा जल्दी मे काम किया हो, रक्त की मात्रा अधिक हो सकती है। पुरःस्थ-ग्रन्थि की वृद्धि की अवस्था मे भी रक्तस्राव अधिक हो सकता है।

रोगी को चारपाई पर आराम से लिटा दिया जाता है और अधिकांश में ½–१ घण्टे के अन्दर रक्तस्राव बन्द हो जाता है। यह हो सकता है कि मूत्र-त्याग के समय दो-तीन वार फिर रक्तस्राव हो किन्तु रोगी को रक्तस्राव से भय की कोई आवश्यकता नहीं। उसके सन्तोष के लिए कुछ शामक एवं रक्तस्राव-रोधी औषधियाँ भी मुख द्वारा दी जा सकती है। यद्यपि बहुत कम कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मूत्राशय रक्त से भर जाता है तथा वहाँ रक्त स्कन्दन के कारण मूत्र त्याग मे रुकावट होने लगती है। इसके लिए जैसा कि आगे वर्णन किया जायगा समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

क्षत की उत्पत्ति—इसका अर्थ जल्दी या असावधानी से शस्त्र का गलत मार्ग में प्रवेश हो जाने के कारण मूत्र मार्ग में क्षत उत्पन्न हो जाना है। यदि मूत्र मार्ग मे कोई निकोचन[1] है तो उसके प्रसारण के समय थोडी बहुत क्षति पहुँचना स्वाभाविक है, किन्तु ऐसे-ऐसे उदाहरण हैं जब सर्जन की असावधानी से शलाका या मूत्राशय दर्शक की नली मूत्र मार्ग को छोडकर गुदा मे पहुँच गई है। इस तरह के किसी उपद्रव के उत्पन्न होने पर उपद्रव की प्रकृति के अनुसार तत्क्षण समुचित प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

मूत्र मार्ग दर्शन—

मूत्र-मार्ग दर्शन[2] से तात्पर्य एक विशेष यन्त्र द्वारा बाह्यमूत्र मार्ग का प्रत्यक्ष दर्शन है। मूत्राशय दर्शन[3] तथा वृक्क कटि का क्ष-किरण चित्रण[4] भी किया जाता है। ये सभी परीक्षाये बहुत क्लिष्ट हैं जिनकी साधारण चिकित्सक को प्रायः आवश्यकता नहीं पडा करती तथा जो विशेषतः प्रधान सर्जन द्वारा ही की जानी चाहिए। अतः इनका इस स्थान पर वर्णन नहीं किया जाता; केवल मूत्र-मार्ग दर्शन के सम्बन्ध मे थोड़ा सकेत रूप वर्णन पर्याप्त है।

1. Stricture. 2. Uresthroscopy 3. Cystoscopy
4. Pyelography.

निर्देश—मूत्र-मार्ग दर्शन की आवश्यकता निम्न अवस्थाओं मे हुआ करती है—

१—शस्त्र-प्रवेश करने में कठिनाई जब अप्राकृत मार्ग[1] का सदेह हो।

२—मूत्र मार्ग मे बाह्यपदार्थ[2]।

३—मूत्रमार्गीय बाह्य छिद्र से रक्तस्राव मूत्रत्याग के समय या उसके बिना भी।

४—मूत्रमार्गीय शोथ[3] के ठीक हो जाने पर यह निश्चय करने के लिए कि शोथ अभी ठीक हुआ या नही।

५—यदि मूत्रमार्गीय शोथ एक दो सप्ताह के उचित इलाज से भी ठीक नही होता है तो उसका कारण एवं प्रकृति का निश्चय करने के लिए।

६—मूत्रमार्गीय निकोचन[4]।

विधि—मूत्रमार्ग दर्शी[5] एक विशेष प्रकार की धातुनिर्मित नली होती है। जिसमे होकर मूत्रनलिका को सीधा ही देखा जा सकता है। इसके अन्तर्गत (अ) धातु की सीधी नलियो का सेट जिनका आकार धीरे-धीरे बड़ा होता गया हो तथा (ब) इसके बाहरी सिरे से लगाने के लिए प्रकाश तथा लैप आदि का प्रबन्ध जिसकी सहायता से अन्दर की स्थिति को देखा जा सके। प्रथम भाग के मूत्र को मार्ग मे प्रविष्ट कर देने के पश्चात् दूसरा भाग उससे सलग्न किया जाता है तथा दोनो एक दूसरे से इस प्रकार सलग्न हो जाते हैं कि वायु-प्रवेश के लिए भी अवकाश नही रहता द्वितीय भाग के बाहरी सिरे के पार्श्व मे इस प्रकार का प्रबन्ध भी रहता है कि उसके साथ धौंकनी लगाकर मूत्र मार्ग को हवा भर कर विस्फारित किया जा सके।

रोगी को शस्त्र-प्रवेश के लिए उपरोक्त विधि से तैयार कर लिया जाता है। सम्पूर्ण क्रिया कष्टकर अवश्य होती है किन्तु इतनी पीडाकर नही जिसके लिए सज्ञाहरण की आवश्यकता पड सके।। मूत्र मार्ग के पहले से प्रक्षालन की भी

1. False passage 2. Foreign body 3. Urethritis 4. Urethral Stricture 5. Urethroscope.

आवश्यकता नहीं। ऐसी नली जो मूत्र-मार्ग मे ठीक प्रकार प्रविष्ट हो सके तथा इतनी मोटी हो कि वायु प्रवेश के लिए भी स्थान न रहता हो अवरोधक[1] के सहित ली जाती है तथा चिकनाई लगाने के पश्चात् मूत्र मार्ग मे प्रविष्ट कर दी जाती है। ध्यान रखना है कि प्रविष्ट करने मे जोर नही लगाना है क्योकि नली बहुत आसानी से अपने ही भार के द्वारा अन्दर प्रविष्ट हो जानी चाहिए। नली के यथासम्भव अधिक से अधिक दूरी तक अन्दर प्रविष्ट हो चुकने पर अवरोधक को बाहर निकाल लिया जाता है। अब एक शलाका पर जीवाणुहीन शुद्ध रुई की फुरेरी लगाकर उसे अन्दर प्रविष्ट किया जाता हे तथा मूत्र नलिका के भाग को फुरेरी से शुष्क पोछ देते है। यदि फुरेरी पर रक्त लगा आता है तो परीक्षा को फिर किसी समय के लिए स्थगित कर दिया जाना चाहिए क्योकि मूत्र नलिका को फुलाने के लिए वायु अन्दर प्रविष्ट करने से वायु अन्तःशल्यता[2] की उत्पत्ति सम्भव है।

अब नलिका के बाह्य सिरे से प्रकाश का प्रबन्ध, जिसकी पहले से परीक्षा कर ली गई हो, सम्बन्धित कर दिया जाता है और उसके साथ ही धोंकनी भी सलग्न कर दी जाती है। हवा भर कर मूत्रनलिका को थोड़ा प्रसारित कर दिया जाता है तथा जैसे-जैसे यन्त्र को बाहर निकालते हैं, सम्पूर्ण लम्बाई मे उसको देखा जाता है।

इस प्रकार की परीक्षा से जो विकृतियाँ प्रधान रूप से स्पष्ट होती हैं वह मूत्रमार्गीय तीव्र शोथ तथा मूत्रनलिका निकोचन हैं। तीव्र शोथ की अवस्था मे मूत्रमार्गीय श्लेष्मकला पर पिन शीर्ष से लेकर मसूर की दाल जितने बडे पीत वर्ण बिन्दु दिखाई पड़ते हैं जिनकी सख्या रोग की तीव्रता के अनुसार एक दो से लेकर कई दर्जन तक हो सकती है, मध्य मे एक छोटे छिद्र के रूप मे दिखाई पड़ता है जिसके चारो ओर पीतवर्ण वलय अर्थात् छल्ला-सा रहता है। गहराई पर स्थित मूत्र मार्ग के कृष्ण वर्ण पट पर यह पीतवर्ण वलय स्पष्ट दिखाई पडना चाहिए।

---

1. Obturator 2. Air Embolism.

यथार्थ बात यह है कि जिन विकृतियों के लिए मूत्रमार्ग दर्शन परीक्षा की जानी चाहिए उन विकृतियो के लक्षण ही इतने स्पष्ट होते हैं कि लक्षणों का ही ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से रोग की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है, अतः मूत्र-मार्ग दर्शन को आवश्यकता बहुत कम पड़ा करती है।

प्रक्षालन—

प्रक्षालन[1] का तात्पर्य पूर्व या पश्चात् मूत्राशय का धोना है। धोने के लिए सदैव किसो जीवाणुनाशक घोल, यथा १ : २०,००० से लेकर १ : ४००० शक्ति का पोटास परमैंगनेट घोल, १ : १०,००० से लेकर १ : ६००० शक्ति का मरकरी ओक्सीसायनाइड घोल अथवा उचित शक्ति के बोरिक द्रव या अन्य किसी जीवाणुनाशक घोल का प्रयोग किया जाता है।

प्रक्षालन के सम्बन्ध मे भी यथार्थ बात यह है कि पूयमेह जन्य मूत्र-मार्गीय शोथ[2] या अन्य प्रकार के मूत्रमार्गीय शोथ या मूत्राशय शोथ के लिए किसी समय मे प्रधान चिकित्सा जीवाणुनाशक घोलो द्वारा उनका प्रक्षालन करनी ही थी। किन्तु अब समय बदल चुका है और प्रत्येक प्रकार के शोथों में सल्फा औषधियो, पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमायसीन, पेनिसिलीन एवं स्ट्रेप्टो-मायसीन मिलित औरियोमायसीन आदि के प्रयोग से तत्क्षण लाभ होता है, अतः प्रक्षालन की शायद ही कभी आवश्यकता पडती है। फिर प्रक्षालन चिकित्सा को रामबाण सफल विधि भी नही जिससे निश्चिततः लाभ की आशा की जा सके। इसके विरुद्ध प्रक्षालन के लिए रोगी तथा चिकित्सक दोनो को व्यर्थ का झझट उठाना पड़ता है तथा प्रक्षालन से कभी-कभी हानि होने की भी आशंका रहती है।

मूत्रावधारण—

मूत्रावधारण[3] से तात्पर्य बाह्य मूत्रमार्ग से किसी कारण रुकावट होने के कारण मूत्र त्याग न हो सकना है। इसका अर्थ यह है कि मूत्राशय मे मूत्र होता अवश्य है किन्तु वह बाहर नही निकल सकता और इसी कारण मूत्राशय

1. Irrigation 2. Gonorrhoeal urethritis. 3. Retention of urine.

की दीवालो पर अत्यधिक दबाव पडने से रोगी को असह्य पीडा होती है जिसके कारण वह चीखता चिल्लाता तक है। सावधानीपूर्वक परीक्षा करने पर मूत्राशय को उदर के निचले भाग मे अनुभव भी किया जा सकता है।

इस स्थल पर मूत्रावधारण एव मूत्राघात[1] का अन्तर समझ लिया जाना चाहिए। मूत्रावधारण का अर्थ मूत्र का मूत्राशय मे ही रुक जाना है जबकि मूत्राघात का अर्थ वृक्को द्वारा मूत्र का निर्माण न हो सकना है।

मूत्रावधारण के कई भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं। यथा—

१—यान्त्रिक अवरोध—

अ—मूत्रमार्गीय नलिका के मध्य में—१. अश्मरी अर्थात् पथरी[2]
२. बाह्य शल्य

ब—मूत्र मार्गीय नलिका की भित्ति मे—

१—निकोचन[3]

२—मूत्र मार्ग शोथ—पूयमेह जन्य या अन्य प्रकार

३—मूत्र मार्गीय नलिका का फूट जाना

४—निरुद्ध प्रकर्ष[4]

स—पुरःस्थ-ग्रन्थि द्वारा अवरोध –

१—विद्रधि[5]

२—तन्तुमयता[6]

३—पुरःस्थ-ग्रन्थि की सामान्य वृद्धि

४—दुर्दम अर्बुद[7]

५—अश्मरी

द—मूत्राशय मे स्थित विकृतियाँ—

१—अश्मरी

---

1. Suppression of urine. 2. Calculus 3. Stricture. 4. Phimosis. 5. Abscess. 6. Fibrosis. 7. Carcinoma.

२—रक्तस्कन्दन[1]

३—अर्बुद आदि

य—बाहर से दबाव—वस्ति प्रात के अर्बुद

२—मूत्र मार्ग का प्रतिवर्त[2] क्रियाजन्य अवरोध जैसा कि गुदा पर के शस्त्र-कर्म आदि के पश्चात् देखा जा सकता है।

९—तन्त्रिका तंत्र के कुछ रोग—जैसे टेब्स डोर्सलिस आदि।

४—योषापस्मार या हिस्टीरिया।

परीक्षा—मूत्रावधारण का रोगी मिलते ही सर्वप्रथम उसकी पूर्ण परीक्षा की जानी चाहिए ताकि निश्चित कारण का अनुमान लगाया जाकर तदनुकूल उचित प्रवन्ध किया जा सके। पहले रोग का इतिहास जानना होता है कि मूत्रावरोध कितने समय से है व किस प्रकार प्रारम्भ हुआ। मूत्रावरोध की अवस्था उत्पन्न होने से पूर्व मूत्रत्याग सम्बन्धी उसकी क्या अवस्था थी—मूत्र त्याग के समय कोई कष्ट, बार-बार मूत्र त्याग, बूँद-बूँद मूत्र त्याग या मूत्र त्याग करते-करते मूत्र का एकदम रुक जाना, मूत्र मे रक्त, पूय या अश्मरी के कण जाना आदि बातें तात्कालिक मूत्रावरोध के कारण पर कुछ प्रकाश डाल सकती है। यह भी पूछा जाना चाहिए कि पहले तो कभी मूत्रावरोध नही हुआ और यदि हुआ तो उसकी क्या चिकित्सा की गई। आतशक या सुजाक होने का इतिहास लेना भी नितान्त आवश्यक है। रोगी की आयु की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि पुरस्थ ग्रन्थि सम्बन्धी विकृतियाँ वृद्धावस्था मे तथा अश्मरी की सम्भावना बाल्यावस्था मे अधिक रहती है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि रोगी किसी विशेष कारणवश मूत्रत्याग की इच्छा को बहुत समय तक दबाए रहा है और इसके बाद मूत्रावरोध की अवस्था उत्पन्न हो गई हो। मूत्रावरोध के अतिरिक्त अन्य रोगो का इतिहास भी लिया जाना चाहिए ताकि यह अनुमान भी लगाया जा सके कि अन्य रोग के उपद्रव स्वरूप मूत्रावरोध तो नहीं उत्पन्न हुआ।

1. Blood clot. 2. retention.

उदर की परीक्षा की जाती है। साधारणतया ध्यानपूर्वक देखने मात्र से उदर के निचले भाग जघन संधानक के ऊपर एक गोलाकार-सा उभार प्राकृत से अधिक भरा हुआ मूत्राशय हो सकता है। इसको दबाने से हलकी पीड़ा तथा अगुली ताड़न करने पर पानी से भरे होने के कारण मन्द ध्वनि मिलती है। यह निश्चय करने के लिए कि मूत्रमार्गीय शोथ तो नहीं तथा मूत्र के साथ रक्त या पूय तो नहीं निकलता; बाह्य जननेन्द्रिय की परीक्षा की जा सकती है। जननेन्द्रिय के पश्चात् भाग को अच्छी प्रकार टटोलने से इस बात का भी अनुमान लगाया जा सकता है कि वहाँ निकोचन तो नहीं। अगुली द्वारा गुद मार्ग की परीक्षा करना नितान्त आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा ही पुरःस्थ-ग्रन्थि की स्थिति को समझा जा सकता है—रबर का पतला दस्ताना चढाकर अगुली को मलाशय मे प्रविष्ट करके परीक्षा की जाती है। प्रकृतितः पुरःस्थ-ग्रन्थि चपटी, चिकनी तथा दृढ होती है तथा उसके कारण मलाशय की पूर्व-भित्ति मे कोई उभार-सा नहीं होता। दोनों भागो के बीच की परिखा को भी अनुभव किया जा सकता है। पुरःस्थ ग्रन्थि की साधारण वृद्धि की अवस्था मे जब उसका एक ओर का या दोनो ओर का भाग बढ गया हो तो मलाशय में एक उभार-सा मालूम पड़ता है जो प्रत्यास्थ[1] होता तथा मलाशय की दीवाल से संसक्त न होने के कारण स्वतः चलायमान होता है एव मलाशय की श्लेष्म कला को भी उसके ऊपर इधर-उधर चलाया जा सकता है। दोनों भागों के बीच की परिखा भी और अधिक स्पष्ट हो जाती है। दुर्दम अर्बुद की अवस्था में पुरःस्थ-ग्रन्थि का एक अथवा दोनों भाग बढे हुए, कठोर तथा अनियमित होते हैं। साथ ही मलाशय की दीवाल से ससक्त होने के कारण उनको इधर-उधर चलाया नहीं जा सकता। यदि ग्रन्थि की वृद्धि मुलायम किन्तु साथ ही छूने पर पीडायुक्त हो तो पुरःस्थ-ग्रन्थि शोथ या विद्रधि का सन्देह किया जाना चाहिए।

इस स्थल पर यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मूत्रावधारण दो प्रकार की हो सकती है। (१) तीव्र अवरोध[2] जिसमे मूत्र का आना एकदम अकस्मात्

1. Elastic 2. Acute retention.

ही रुक जाता है तथा (२) जीर्ण अथवा चिरकालीन[1] जिसमें अवरोध धीरे-धीरे उत्पन्न होता है। इसकी निश्चिती रोगी द्वारा दिए गए इतिहास से ही की जा सकती है। तीव्र अवरोध मे असह्य पीड़ा होती है जिसके कारण रोगी शीघ्र ही चिकित्सक के पास आ जाता है फलतः मूत्राशय की अधिक वृद्धि नही हो पाती जब कि चिरकालीन स्वरूप का अवरोध होने पर तीव्र पीडा नही होती तथा धीरे-धीरे मूत्राशय काफी बढ़ जाता है। कभी-कभी नाभि तक बढ़ा हुआ देखा गया है।

चिकित्सा—मूत्रावरोध का रोगी मिलते ही एकदम कैथेटर की सहायता से मूत्र त्याग करा देने की इच्छा होती है, रोगी भी यही चाहता है तथा चिकित्सक को यश भी इसी मे मिलता है, किन्तु बुद्धिमानी इसी मे है कि पहले कारण को समझकर तब आगे बढा जाय क्योंकि कुछ अवस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनमे कैथेटर के प्रवेश से लाभ की आशा नही की जा सकती है। तीव्र मूत्रमार्गीय शोथ की अवस्था मे यदि कैथेटर अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तो कैथेटर के साथ ही साथ उपसर्ग भी आगे बढ जाता है जिससे मूत्राशय शोथ आदि की सम्भावना रहती है। कभी-कभी विशेषकर बच्चों मे यह देखा गया है कि मलावरोध के साथ ही साथ यदि मूत्रावरोध भी होता है तो गुदवर्ति या एनीमा द्वारा मलत्याग कराने के साथ ही साथ मूत्र त्याग भी हो जाता है।

तीव्र मूत्रमार्गीय शोथ की अवस्था में मूत्रावरोध का कारण मूत्र मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट नही बल्कि उसका आकस्मिक उद्वेष्ट[2] होता है। रोगी को कोई शामक औषधि सेरीडोन, कोडोपायरीन आदि दे दी जाती है जिससे पीड़ा शान्त हो जाती है। उसको उष्ण स्नान तथा इसके बाद कमर तक उष्ण जल मे १५-३० मिनट तक बिठाया जाता है। हो सकता है कि इस प्रकार करने से मूत्र त्याग हो जाय। कभी-कभी ½—१ औंस उष्ण ग्लीसरीन मूत्र मार्ग द्वारा अन्दर प्रविष्ट करने से भी मूत्र त्याग होते देखा गया है। मूत्रमार्ग के आगे के भाग का १००–१०५° फेरन हाइट तक उष्ण १ : १०,००० शक्ति के पोटास परमैगनेट घोल से प्रक्षालन किया जाता है। प्रक्षालन के बाद

1. Chronic retention. 2. Spasm.

गोल को पश्चात् मूत्रमार्ग में पहुँच जाने देते हैं यदि ऐसा हो जाता है तो उसके शीघ्र ही पश्चात् स्वयमेव मूत्र त्याग की आशा की जा सकती है। यदि इस प्रकार सफलता नहीं मिलती तो ७-८ नम्बर का रबर कैथेटर अन्दर प्रविष्ट करके मूत्र त्याग करा दिया जाना चाहिए।

मूत्रावधारण अधिक समय तक बने रहने देना ठीक नहीं क्योंकि रोगी को कष्ट होते रहने के अलावा उससे और भी हानि उत्पन्न हो सकती है— सर्वप्रथम उचित आकार का रबर कैथेटर ही जीवाणुहीनता का पूरा पूरा ध्यान रखते हुए अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और अधिकांश में इससे अवश्य ही सफलता मिल जाया करती है।

पुरःस्थ-ग्रंथि की वृद्धि के कारण उत्पन्न हुए अवरोध में कभी साधारण कैथेटर से काम नहीं चल पाता क्योंकि ग्रन्थि की वृद्धि के कारण उस स्थान पर मूत्र मार्ग भी कुछ लम्बा तथा वक्र हो जाता है; उसमें एक या दो मोड़ उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में प्रयोग के लिए विशेष आकार के कैथेटर मिलते हैं जिनके आन्तरिक सिरे पर एक या दो मोड़ रहते हैं, एक मोड़ वाला कुडे तथा दो मोड़ वाला बाई कुडे कहलाता है। एक अन्य टीमेस कैथेटर भी इसी अवस्था में प्रयोग के लिए मिलती है। पहले ८ नम्बर का कुडे कैथेटर अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। यदि इसमें सफलता नहीं मिलती तो उसी नम्बर का टीमेस कैथेटर प्रयुक्त करना चाहिए। यदि इससे भी सफलता न मिले तो बाई कुडे प्रयुक्त किया जाता है। ध्यान रहे कि कैथेटर प्रविष्ट करते समय किंचित् भी जोर नहीं लगाना चाहिए अन्यथा पुरःस्थ-ग्रन्थि में छिद्र होकर नये मार्ग की उत्पत्ति हो सकती है जिससे अत्यधिक रक्तस्राव हो सकता है। यदि यह कैथेटर प्रविष्ट न किया जा सके तो उससे छोटे नम्बर का प्रविष्ट किया जाना चाहिए।

निरोधन की अवस्था में कैथेटर प्रविष्ट करने में अवश्य कठिनाई पड़ती है। इस प्रकार की स्थिति में साधारण कैथेटर का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रथम बार १२ नम्बर का कैथेटर प्रविष्ट किया जाता है। यह तो

निश्चित-सा है कि इतने बडे आकार का कैथेटर निकोचन होकर पार नही जा सकता फिर भी इसी को प्रविष्ट करते हैं क्योकि पतले कैथेटर को प्रविष्ट करने से मूत्रमार्ग सकोचक पेशी का संकोच हो जाता है जबकि बडे आकार के कैथेटर का प्रयोग करने से ऐसा नही होता। बडे आकार के कैथेटर को निकोचन तक पहुँचा कर कुछ समय तक वहाँ घुमाते रहते है फिर निकाल कर उससे पतला कैथेटर प्रविष्ट करते हैं, यदि वह भी प्रविष्ट नहीं हो पाता तो और पतला प्रविष्ट किया जाता है और अन्त में कोई न कोई निकोचन मे होकर अन्दर पहुँच ही जाता है।

पुरःस्थग्रन्थि वृद्धि या निकोचन किसी भी कारण से हो जब कैथेटर कठिनाई से प्रविष्ट हो पाता है तो ४८ घण्टे तक उसको प्रविष्ट हुआ ही छोड़ देते है ताकि फिर प्रविष्ट करते समय रोगी को कष्ट न देना पडे। इसका एक लाभ यह भी होता है कि निकोचन के थोडा विस्फारित हो जाने के कारण मूत्र निकालने के लिए मार्ग बन जा सकता है। इस प्रकार प्रविष्ट हुआ छोड़ने के लिए रवर या गमइलास्टिक कैथेटर ही अधिक उपयुक्त रहता है, धातु निर्मित नही। कैथेटर को शिश्न के साथ स्थिर कर देते है।

अश्मरी के अटक जाने से होनेवाले मूत्रावधारण मे जैसा कि बच्चो मे होता है, कभी-कभी बच्चे को इधर-उधर करने, पेट के बल लिटाने अथवा हाथो एव घुटनो के आधार पर आगे की ओर झुकाकर लिटाने से अश्मरी अपने स्थान से हट जाती तथा मूत्रत्याग हो जाता है। कभी-कभी अश्मरी मूत्र मार्ग के पीछे के भाग मे आकर अटक जाती है। ऐसी स्थिति मे धातु के कैथेटर या शलाका द्वारा उसको पीछे की ओर ढकेल दिया जाना आवश्यक है, तभी मूत्र निकलना प्रारम्भ हो सकता है। यदि किसी प्रकार अश्मरी मूत्र मार्ग के बाह्य छिद्र के पास आकर अटक जाय तो उसको चिमटी से पकड़ कर निकाला जा सकता है।

मूत्राशय वेधन—जब निकोचन आदि के कारण कैथेटर अन्दर प्रविष्ट न किया जा सकता हो तथा मूत्राशय मे मूत्र के एकत्रित हो जाने के कारण

रोगी को अतिशय कष्ट हो अथवा मूत्राशय विदार का भय हो तो मूत्राशय का वेधन आवश्यक हो जाता है।

जघन-सधानक के ऊपर चर्म को प्रथम वाल साफ-साफ करके पूर्णतः जीवाणुहीन शुद्ध कर दिया जाता है तथा टिंचर आयोडीन का प्रलेप करने के पश्चात् सज्ञाहरण के लिए चर्म के नीचे दो प्रतिशत नोवोकेन का घोल प्रविष्ट कर देते है। इस प्रकार सज्ञाहरण होने के पश्चात् वेधस पत्र से लगभग $\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बा छेदन करके उसके द्वारा उचित आकार के ट्रोकार एवं कैन्यूला को अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है। यहाँ तक कि यन्त्र मूत्राशय के अन्दर पहुँच जाता है। ट्रोकार एव कैन्यूला का रुख बिलकुल सीधा न होकर थोड़ा नीचे की ओर झुका रहना चाहिए। ट्रोकार को निकाल लेने के साथ ही मूत्र वेग के साथ बाहर निकलने लगता है। यह नितान्त आवश्यक है कि कैन्यूला के पीछे रबर की नली जोड़ दी गई हो ताकि मूत्र द्वारा शय्या के वस्त्र आदि खराब न होने पावे। कुछ ट्रोकार एवं कैन्यूला मे इस प्रकार नली जोड देने के लिए भी प्रबन्ध रहता है और इसका स्पष्ट वर्णन पीछे जलोदर के लिए उदर वेधन अध्याय मे किया भी जा चुका है।

यह ध्यान रखना है कि मूत्राशय से मूत्र को अधिक वेग से निकलने देना ठीक नही और न मूत्राशय को एकदम रिक्त कर देना ही श्रेयस्कर है क्योंकि मूत्राशय का आन्तरिक दबाव एकदम कम होने के कारण रक्तस्राव होने का भय रहता है।

मूत्र निकाल चुकने के पश्चात् कैन्यूला को भी निकालकर क्षत को टाका लगाकर बन्द कर देते है।

इस स्थल पर यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मूत्राशय वेधन के पश्चात् रोगी को शीघ्र ही मुख्य सर्जन के संरक्षण मे पहुँचा दिया जाय तथा सारी स्थिति स्पष्ट कर दी जाय ताकि मूत्राशय मे मूत्र फिर एकत्रित हो पावे उससे पहले ही उसके निकलने का समुचित प्रबन्ध किया जा सके। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो यह सम्भव है कि ट्रोकार एवं कैन्यूला द्वारा बनाए

छिद्र मे होकर मूत्र रिसने लगे तथा उदरावरण शोथ आदि उपद्रव उत्पन्न हो जायँ।

रक्तस्कंदन द्वारा मूत्रावरोध[1] - पुरःस्थग्रन्थि से या मूत्राशय से रक्तस्राव होने के कारण ही इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होती है जब रक्त का थक्का जमकर मूत्रावमार्ग को रोक कर मूत्रधारण का कारण बनता है। असावधानी के साथ कैथेटर प्रविष्ट करने से भी अत्यधिक रक्तस्राव होकर इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। एक कैथेटर अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तथा उसके बाहरी सिरे से एक सिरिंज संलग्न कर दी जाती है। सिरिंज की सहायता से एक या दो औंस घोल अन्दर प्रविष्ट किया जाता है और खींचा जाता है तथा इस प्रकार रक्त के स्कन्द या थक्के को धोकर साफ कर देने का प्रयत्न किया जाता है। यदि रक्त का थक्का इस प्रकार नहीं हटाया जा सकता तो शस्त्र-कर्म द्वारा मूत्राशय को खोलकर निकाल देना आवश्यक है।

पुरःस्थ ग्रंथि विद्रधि—एक सामान्य कैथेटर द्वारा मूत्रत्याग कराने का प्रयत्न करना चाहिए और प्रायः यह आसानी से सम्भव हो जाता है कभी-कभी कैथेटर के प्रवेश करने से ही विद्रधि भी विदीर्ण हो जाती है और मूत्रमार्ग से पूय का निर्हरण हो जाता है।

किन्हीं अर्बुद आदि के द्वारा बाहर से दबाव पड़ने के कारण उत्पन्न मूत्रावधारण मे भी कैथेटर की सहायता से मूत्रत्याग कराया जाता है और इसके पश्चात् कारण का निश्चय करके उसको दूर किया जाता है।

मूत्रावधारण जो यान्त्रिक अवरोध के कारण उत्पन्न न हो[2]—इस प्रकार की स्थिति कुछ विशिष्ट शस्त्र-कर्मों के पश्चात् उत्पन्न होती देखी जाती है जैसे अर्श, भगन्दर या गुदा के अन्य शस्त्र-कर्म, हार्निया या स्त्री प्रजनन अंगो सम्बन्धी शस्त्रकर्म। अनुमान यह लगाया जाता है कि इन अवस्थाओं मे मूत्रावधारण का कारण प्रतिवर्त क्रियाजन्य[3] मूत्रमार्गीय पेशी का संकोच होता

---

1. Clot retention 2. Non obstructive retention
3. Reflex.

है। इस प्रकार की स्थिति में रोगी को उत्साह दिलाया जाता, उसको मूत्रत्याग करने के लिए प्रयत्न करने को कहा जाता, उदर के निचले भाग पर सेक किया जाता तथा निम्न मिश्रण दिया जाता है।

पौट सायट्रास	१०-२० ग्रेन
टिंचर हायोसायमस	१०-२० बूँद
टिंचर वेलाडोना	५-१० बूँद
इन्फ्यूजन बूचू	मिलाकर कुल १ औंस

इस प्रकार करने से मूत्र त्याग हो जाता है। यदि न हो तो मोरायल[1] (कार्वेकोल) एक सी० सी० का चर्माधः इन्जेक्शन दिया जाता है। अधिकाश में इसके एक घण्टे के अन्दर-अन्दर मूत्र त्याग हो जाता है। यदि फिर भी न हो तो रवर कैथेटर की शरण ली जाती है।

चिरकालीन मूत्रावधारण[2]—इसका अर्थ धीरे-धीरे होनेवाला मूत्रावधारण है अर्थात् त्याग के समय मूत्राशय पूर्णतः रिक्त नहीं हो पाता वल्कि उसमे थोडा वहुत मूत्र रुका रह जाता है जिसकी मात्रा एक-दो औंस से लेकर दो चार पाइंट तक हो सकती है। इसका प्रधान कारण पुरःस्थ-ग्रन्थि की वृद्धि ही हुआ करती है किन्तु सुषुम्ना मे चोट लगने या उसके कुछ रोगों के कारण भी इसकी उत्पत्ति हो सकती है। फूले हुए मूत्राशय को उदर के निचले भाग मे जघनसंधानक के ऊपर अनुभव भी किया जा सकता है। यदि अधिक समय तक चिकित्सा का कोई प्रबन्ध नहीं किया जाता तो पीछे की ओर दवाव पडने के कारण वृक्कों को क्षति पहुँचाती है तथा मूत्र विषमयता के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं।

इस प्रकार के मूत्रावधारण मे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती क्योंकि मूत्राशय की भित्तियाँ दवाव को सहन करने की अभ्यस्त होती जाती और साथ ही साथ वढती जाती हैं। मूत्र त्याग के समय कठिनाई मालूम पड़ने का लम्वा इतिहास मिलता है और यदि मूत्र विषमयता के लक्षण प्रकट होते जा रहे हैं

1. Moryl 2. Chronic Retention.

तो जिह्वा शुष्क फटी हुई होती तथा रोगी को प्यास अधिक लगती है। अधिकांश मे रोगी इस बात की शिकायत करता है कि रात मे बिस्तर एव दिन में नीचे पहने हुए कपडे मूत्र से भीग जाते है। इसका कारण मूत्राशय के अधिक भर जाने पर अनिच्छा और अनजाने में ही मूत्र का निकलने रहना है। प्रायः रोगी को बार-बार मूत्र त्याग की इच्छा भी होती है।

इस प्रकार की स्थिति मिलने पर पूर्णतः मूत्र त्याग कभी नही करा देना चाहिए। क्योंकि वृक्कों पर से एकदम दबाव हटने के कारण वृक्कों में रक्तस्राव तथा मूत्राघात की स्थिति उत्पन्न हो जा सकती है। यदि सम्भव हो सके तो रोगी को लगभग छः पाइण्ट जल २४ घण्टे मे पिलाया जाता है तथा उदर के निचले भाग में दबा-दबा कर मूत्र कराया जाता है और इस प्रकार १४ घण्टे मे निकलने वाले मूत्र की मात्रा का अनुमान लगाया जाता है। मूत्राशय को पूर्णतः रिक्त दो-तीन दिन मे धीरे-धीरे करना चाहिए। यदि रोग बहुत पुराना हो चुका है तो वृक्कों की कार्यक्षमता की परीक्षा कर लेना आवश्यक है तथा तदनुकूल प्रबन्ध भी। मूत्र विषमयता के लक्षण तीव्र होने पर स्थिति के अनुसार प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

रोग के पूर्ण रूप से ठीक करने के लिए निश्चित कारण का पता लगाना तथा तदनुकूल प्रबन्ध करना आवश्यक है।

मूत्र असंयति[1]—यह उस अवस्था का नाम है जब मूत्रत्याग की इच्छा को दबाया नही जा सकना। अनजाने ही रात्रि मे शय्या पर मूत्र त्याग हो जाने की अवस्था को नैश मूत्र असयति[2] कहा जा सकता है। मूत्रमार्गीय छिद्र के अधिक प्रसारित हो जाने तथा संकोचक पेशी के दुर्बल पड जाने पर इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मूत्र मार्गीय छिद्र मे अश्मरी अटक जाने या अर्बुद की उत्पत्ति होने पर भी इसी प्रकार की स्थिति बन जाती है। बच्चों मे मूत्राशय से सम्बन्धित तन्त्रिकाओं का क्षोभ जिससे मूत्राशय मूत्र धारण किए नही रह सकता, तथा मूत्र मार्ग सकोचनी पेशी का अपूर्ण विकास होता है।

1. Incontinence of urine 2. Nocturnal incontinence of urine.

स्थिति के कारण यान्त्रिक बाधा या असुविधा[1] तथा तज्जन्य मूत्राशय की श्लेष्मिक कला की विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं। फलतः लक्षणों की तीव्रता तथा प्रकृति अश्मरी के आकार स्थान तथा मूत्राशय की श्लेष्मिक कला की स्थिति पर निर्भर करते हैं। बड़ी की अपेक्षा छोटी अश्मरी अधिक कष्टकर होती है क्योंकि वह चारों ओर को फिरती रहती है जबकि बड़ी अश्मरी अधिक इधर-उधर नही फिर सकती। रचना विशिष्टता के कारण अन्य की अपेक्षा आक्सलेट की अश्मरी अधिक पीडाकर होती है। बालक व युवा व्यक्तियों में कष्ट कम होता है क्योंकि उनकी श्लेष्मल कला अपेक्षाकृत कुछ अधिक कड़ी एवं चेतनाहीन हो जाती है।

वृक्क शूल का इतिहास मिलने पर मूत्राशयस्थ अश्मरी का सन्देह किया जा सकता है। पीड़ा एवं मूत्रत्याग की बार-बार इच्छा इसके प्रारम्भिक लक्षण होते हैं यद्यपि यह भी सम्भव है कि बड़े आकार की अश्मरी होते हुए भी ये लक्षण उपस्थित ही न हो अथवा बहुत हलके हो। पीडा शिश्न के शिरे की ओर जाती हुई मालूम पड़ती है तथा मूत्र त्यागकर चुकने के पश्चात् होती है—रक्तस्राव भी अधिक नही होता तथा मूत्र त्याग के बाद मे आता है। अश्मरी के मूत्र मार्ग मे अटक जाने पर एकदम मूत्रावरोध हो सकता है। इस सबंध में एक विशेषता यह देखी जाती है कि मूत्रत्याग करते-करते एकदम मूत्र प्रवाह रुक जाता है क्योंकि अश्मरी मूत्रमार्गीय छिद्र पर आकर उसको रोक लेती है। इसके पश्चात् यदि रोगी थोड़ा इधर-उधर आसन बदलता है तो यह सम्भव है कि मूत्र का प्रवाह अश्मरी के हट जाने से फिर प्रारम्भ हो जाय। इस प्रकार का इतिहास मिलना अधिकाश मे अश्मरी का निर्णायक लक्षण होता है। रोगी के चलने-फिरने, व्यायाम करने आदि से भी पीडा का बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है क्योंकि यह देखा गया है और स्पष्ट भी है कि यदि रोगी आराम से लेटा रहता है तो अश्मरी के शान्त पड़े रहने के कारण लक्षण भी शान्त रहे किन्तु चलने-फिरने आदि से अश्मरी के इधर-उधर फिरने के कारण

1. Mechanical Inconvenience.

पीडा भी बढ ही जाती है । बच्चों मे शय्या मूत्र की अवस्था अथवा मूत्र करते-करते चीखने लगना देखा जाता है ।

अधिक समय तक उचित आवश्यक प्रबन्ध न करने से मूत्राशय शोथ के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, हर समय पीडा रहती है जो रात्रि के समय लेटने पर भी शान्त नहीं होती । मूत्रत्याग करते समय बल लगाते रहने के कारण कुछ समय पश्चात् गुदभ्रंश व अर्श तक की उत्पत्ति हो जा सकती है । मूत्राशय से शोथ गवीनी[1] मार्ग से वृक्कों[2] तक पहुँच सकता है यद्यपि इन बातों की सम्भावना बहुत कम है क्योंकि असह्य पीडा के कारण रोगी को शीघ्र ही चिकित्सक की शरण लेनी पडती है ।

मूत्राशय में अश्मरी की स्थिति—अधिकाश मे मूत्राशय मे अश्मरी स्वतंत्र रहती है तथा रोगी के आसन बदलते रहने के कारण उसका स्थान भी बदलता रहता है और विभिन्न लक्षणो का कारण भी यही होता है । किन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि मूत्राशय की श्लैष्मिक कला से आवेष्टित होकर अश्मरी एक स्थान पर स्थिर हो जाय । ऐसा होने पर लक्षण भी बहुत कुछ शान्त हो जा सकते है । इस प्रकार की अश्मरी को सम्पुटित[3] अश्मरी कह सकते है ।

निदान—(१) रोग के लक्षण इतने स्पष्ट एव निर्णायक होते है कि उनके आधार पर सहज ही निदान किया जा सकता है ।

(२) गुदा मार्ग से अँगुली द्वारा परीक्षा करने पर बच्चों मे अश्मरी को अनुभव किया जा सकता है किन्तु युवा या वृद्ध व्यक्तियो मे यह सदैव सम्भव नही । यदि अश्मरी का आकार बहुत बड़ा हो तो गुद मार्ग या योनि मार्ग से अँगुली डालकर उसको अनुभव किया जाना अवश्य सम्भव है ।

(३) शलाका की सहायता से भी अश्मरी की उपस्थिति का ज्ञान हो सकता है । रोगी को मेज पर लिटाकर मूत्र निकालने के पश्चात् सावधानी के साथ एक उपयुक्त शलाका अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है तथा मूत्राशय मे उसको इधर-उधर घुमाकर अश्मरी को अनुभव किया जाता है ।

1. Ureters 2. Kidneys 3. Encapsuled.

आधुनिक युग मे आगे वर्णित दो साधन मूत्राशय दर्शन तथा क्ष-किरण की उपस्थिति मे इस साधन को नहीं अपनाया जाता।

(४) मूत्राशय दर्शन—इसकी सहायता से अश्मरी की केवल उपस्थिति ही नहीं अपितु उसकी प्रकृति, सख्या, आकार, स्थिति तथा मूत्राशय की अन्य विकृतियो का भी निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(५) एक्स-रे या क्ष-किरण—दर्शन एवं फोटो चित्रण दोनों ही प्रकार से निदान किया जा सकता है। यह आवश्यक हो सकता है कि फोटो भिन्न-भिन्न दशाओ मे लिया जाय। मूत्राशय के अर्बुद जिन पर फास्फेट लवणों का पर्त चढ़ गया हो, अस्थि से उत्पन्न होने वाले अर्बुद, गर्भाशय के अर्बुद, श्रोण्यान्तर्गत स्थित मल आदि से पृथक्करण आवश्य किया जाता है।

चिकित्सा—अश्मरी के कारण मूत्रावरोध होने पर तत्क्षण कैथेटर की सहायता से मूत्र-त्याग करा देना आवश्यक है किन्तु इसके अलावा अश्मरी की यथार्थ चिकित्सा शस्त्र-कर्म द्वारा उसको मूत्राशय से निकाल देना ही है। औषधियो के प्रयोग से अश्मरी को घोल-घोल कर बाहर निकाल देना सम्भव हो सकता है और इसके लिए हिमालय ड्रग की सिस्टेक्स गोलियो का प्रयोग किया जाता है किन्तु इसमे बहुत समय लगेगा। साथ ही शस्त्र-कर्म नितान्त सरल एव निरापद है। अतः अश्मरी का निश्चित निदान होते ही शस्त्र-कर्म की शरण ली जानी चाहिए।

शस्त्रकर्म की मुख्यतः तीन विधियाँ है यथा अधिजघन मूत्राशय छिद्रकरण[1], मूलाधार द्वारा मूत्राशय छिद्रकरण[2] तथा अश्मरीभञ्जन[3]।

अधिजघन छिद्रीकरण—सर्व प्रथम जघन संधानक के ऊपर की ओर उदर के निचले भाग की चर्म को विधिपूर्वक शस्त्रकर्म के लिए एक दिन पूर्व ही तैयार कर लिया जाता है। इसके पश्चात् शस्त्रकर्म के दिन रोगी को मेज पर लिटाकर मूत्राशय मे ६–८ औंस बोरिक द्रव प्रविष्ट कर देते है। अब उदर की मध्यरेखा मे जघन संधानक से ऊपर की ओर २–३ इञ्च

1. Suprapubic Cystotomy. 2. Perineal cystotomy.
3. Lithotrity.

लम्बा छेदन करते हैं तथा चर्म एवं प्रावरणी को काटकर उदर भित्ति की पेशी तक पहुँचते हैं। पेशी को भी लम्बाई मे ही काटकर निवर्तित्रो की सहायता से इधर-उधर हटाए रखा जाता है और इस प्रकार पर्युदर्या तक जो मूत्राशय के ऊपरी भाग को ढँके रहता है, पहुँच जाते हैं। पर्युदर्या को काटने की आवश्यकता नही बल्कि गौज की सहायता से ऊपर को हटा दिया जाता है। अब जल की उपस्थिति के कारण मूत्राशय तना हुआ दिखाई पड़ता है। मूत्राशय के दोनों पार्श्वों मे आठ-आठ इञ्च लम्बे कैटगट के धागे पिरो दिए जाते हैं और उनके बाहर निकले हुए सिरो को धमनी संदंशों से पकड़ लिया जाता है ताकि पार्श्वों को बाहर एव ऊपर की ओर खींचा जा सके। अब मूत्राशय के मध्य मे लम्बाकार १–२ इञ्च लम्बा छिद्र किया जाता है तथा उसमें होकर उँगली डालकर अश्मरी को अनुभव किया जाता है और इसके साथ ही मूत्राशय मे अश्मरी सदश डालकर उससे अश्मरी को पकड़ निकाल बाहर किया जाता है। अगुली डालकर दूसरी अश्मरी की उपस्थिति, अनुपस्थिति का निश्चय कर लिया जा सकता है।

मूत्राशय और उसके पश्चात् उदर दण्डिका पेशी आदि को अलग-अलग कैटगट के धागों से सी दिया जाता है तथा सबके पश्चात् चर्म में रेशम के टाँके लगा दिये जाते हैं।

शस्त्रकर्म के पश्चात् ही पेनिसिलिन का प्रयोग इस उद्देश्य से किया जा सकता है कि पूयोत्पादन न होने पावे। मूत्राशय शोथ की अवस्था मे शस्त्रकर्म के २-४ दिन पूर्व से ही शोथ को ठीक करने के उद्देश्य से पेनिसिलिन एवं स्ट्रेप्टोमायसीन का मिलित या टैट्रासाईक्लिन योग तथा सल्फा औषधियों का मुख द्वारा प्रयोग करने लगना चाहिए और यदि सम्भव हो तो शोथ के ठीक होने तक शस्त्रकर्म को टालना चाहिए।

मूलाधार मार्ग से मूत्राशय छिद्रीकरण—मूलाधार गुदा के आस-पास के स्थान को कहते हैं और उस मार्ग से भी मूत्राशय तक पहुँचाया जा सकता है यद्यपि आजकल इस विधि से शस्त्रकर्म करना उपयुक्त नही समझा जाता।

केवल मात्र उस अवस्था में जब अश्मरी मूत्राशय की ग्रीवा में अटक गई हो इस विधि को अपनाया जा सकता है।

मलद्वार के एक इञ्च आगे से मूत्र मार्ग की ओर मध्यरेखा में एक १-२ इञ्च लम्बा छेदन किया जाता है। इससे पहले यह आवश्यक है कि मूत्राशय में बोरिक द्रव भर दिया जाय तथा एक विशिष्ट प्रकार की मुड़ी हुई एवं परिखा युक्त शलाका[1] मूत्रमार्ग में प्रविष्ट कर दी जाय। चर्म, प्रावरणी एवं पेशियों के छेदन के पश्चात् शलाका स्थित मूत्र मार्ग तक पहुँचा जाता है। बाएँ हाथ की तर्जनी एवं अंगूठे से शलाका और उनकी परिखा को अनुभव किया जाता है तथा अँगुली के सहारे-सहारे ही वेधस पत्र को ले जाकर परिखा में मूत्रमार्ग को खोल देते हैं। मूत्र मार्ग को खोलते हुए ही आगे बढ जाते हैं यहाँ तक कि पुरःस्थ-ग्रन्थि को पार करके मूत्राशय तक पहुँच जाते हैं। अब वेधस पत्र को अलग कर दिया जाता तथा अँगुली द्वारा अश्मरी का अनुभव करने के पश्चात् संदंश से पकड कर उसको खींच लेते हैं। अब बाहरी मूत्र मार्ग आदि ठीक है तो यथास्थान उचित प्रकार से टाँके लगाकर क्षत को बन्द कर सकते हैं।

अश्मरी भञ्जन—एक विशिष्ट प्रकार के यन्त्र को मूत्र मार्ग से मूत्राशय में प्रविष्ट करके अश्मरी को उसमें फँसाकर टुकडे-टुकडे कर देते हैं और इसके बाद मूत्राशय का प्रक्षालन करके सबको साफ कर दिया जाता है। अश्मरी तोडने के लिए विशेष प्रकार का यन्त्र होता है जिसे अश्मरी भञ्जक[2] कहते हैं तथा एक दूसरा यन्त्र जिसे उत्सारक[3] कहते हैं मूत्राशय का प्रक्षालन करने के लिए प्रयुक्त होता है।

सुनने में तो यह विधि बहुत सरल दिखती है किन्तु अश्मरी भंजन के लिए विशेष अभ्यास तथा कौशल की आवश्यकता है फिर इस विधि में रोगी को कोई कष्ट न होता हो, यह बात भी नहीं। एक बाधा यह भी है कि पूर्णतः प्रक्षालन करने पर भी अश्मरी का एक-दो कण मूत्राशय में रह जा सकता है

1. Sime's Staff. 2. Lithotrite. 3. Evacuater.

और सम्भव है कि वही बढ़कर पूर्ण अश्मरी का रूप धारण कर ले। यदि अश्मरी अधिक बडी है अथवा कड़ी है तो यन्त्र द्वारा उसको नही तोड़ा जा सकता। इसके अलावा पुरःस्थ ग्रन्थि वृद्धि, मूत्रमार्गीय संकोच अथवा शोथ एव मूत्राशय का शोथ आदि अवस्थाओ मे यन्त्र को अन्दर प्रविष्ट कर सकना कठिन है।

इन सब बातों को देखते हुए अश्मरी को निकालने के लिए अधिजघन मूत्राशय छिद्रकरण ही सर्वोपयुक्त शस्त्रकर्म है जिसकी शरण ली जानी चाहिए। विशेषकर निम्न अवस्थाओं मे—

१—अश्मरी का आकार बड़ा हो।

२—मूत्राशय मे सम्पुटित हो गई हो जबकि सम्पुट को काट कर निकालना आवश्यक होगा।

३—पुरःस्थ-ग्रन्थि की वृद्धि या मूत्रमार्गीय निकोचन उपस्थित हो।

मूत्रमार्गीय निकोचन—

मूत्रमार्गीय निकोचन[1] का अर्थ मूत्र मार्ग मे किसी स्थान पर सकोच की उत्पत्ति हो जाना और इसका कारण प्राकृतिक श्लैष्मिक कला के स्थान पर व्रणचिह्न या तन्तु ऊतक की उत्पत्ति है। मूल उत्पादक कारण दो ही हो सकते है, उपसर्ग अथवा आघात। उपसर्ग अधिक व्यापक कारण है और यह अधिकाश मे पूयमेह के रूप मे होता है। रोग स्त्रियो को बहुत कम अथवा यह कहना चाहिए कि नहीं ही होता जबकि पुरुषों को और वह भी २०-२५ वर्ष की आयु मे अधिक होता देखा जाता है। निकोचन एक अथवा कई हो सकते हैं अथवा मूत्र नलिका अधिक लम्बाई मे प्रभावित हो सकती है। कुछ निकोचन जल्दी ही प्रसारित किये जा सकते हैं जबकि कुछ का घने तथा कडे होने के कारण प्रसारण सम्भव नहीं।

निदान—प्रधान लक्षण जिसकी रोगी शिकायत करता है मूत्र त्याग मे कष्ट अथवा कठिनाई है। मूत्र की धारा विशेष पतली हो सकती है। यह सदैव

1. Urethral Stricture.

आवश्यक नहीं कि रोगी को बार-बार मूत्रत्याग की इच्छा हो किन्तु प्रायः निकोचन के साथ ही साथ मूत्रमार्गीय एवं मूत्राशय शोथ के कारण मूत्रत्याग के समय कष्ट तथा मूत्र असंयति दोनों ही हो सकते हैं। शुक्र उत्सर्ग के समय भी रोगी को पीड़ा होती है और शुक्र के बाहर निकलने में रुकावट होने से उसके पीछे मूत्राशय में ही लौट जाने के कारण वन्ध्यता की भी सम्भावना है। यह तो निश्चित है कि रोगी से मूत्रमार्गीय शोथ अथवा मूत्रमार्ग में किसी प्रकार चोट लग जाने का इतिहास मिलता है।

मूत्रावरोध के लिए साधारण आकार का कैथेटर प्रविष्ट करते समय जब उसको अन्दर प्रविष्ट नहीं किया जा सकता तब इस अवस्था की ओर ध्यान जाता है। इसके पश्चात् मूत्रमार्ग दर्शन[1] से रोग का निश्चित निदान किया जा सकता है जैसा कि इसी प्रकरण मे पीछे वर्णन किया जा चुका है। इस स्थल पर यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मूत्रमार्ग संकोचनी पेशी के संकोच के कारण मूत्र के मार्ग में रुकावट मूत्रावरोध तथा कैथेटर प्रविष्ट करने मे कठिनाई हो सकती है किन्तु इस प्रकार की स्थिति मूत्रमार्ग मे गहराई तक जाने पर मिलती है तथा थोड़ा परिश्रम करने पर पेशी का संकोच दूर होकर कैथेटर अन्दर प्रविष्ट हो जाता है।

इन सबके अलावा बाहर से टटोलने पर मूत्रमार्गी संकोच को एक कड़ी-सी गाठ के रूप में अनुभव भी किया जा सकता है।

उपद्रव—मूत्र मार्गीय निकोचन के प्रधान उपद्रव निम्न हो सकते हैं—

१—मूत्रावरोध
२—मूत्र का परिस्रवण[2]
३—नाडी व्रण या नाडी मार्ग[3]
४—मूत्र मार्गस्थ अश्मरी
५—मूत्रमार्गीय कैंसर की उत्पत्ति अथवा

---

1. Urethroscopy 2. Extravasation of urine 3. Sinus.

६—स्थानिक या दूरस्थ उपसर्ग अर्थात् मूत्र मार्ग शोथ, मूत्र-मार्ग वर्ती विद्रधि[1] पुरःस्थ ग्रन्थि शोथ[2], मूत्राशय शोथ[3] अथवा गोणिका शोथ[4]। ध्यान रखना चाहिए कि इस कोटि के उपद्रव उसी अवस्था मे उत्पन्न होते हैं जब अधिक समय तक रोग की ओर कुछ ध्यान ही नहीं दिया जाय, किन्तु ऐसा बहुत कम हो पाता है क्योंकि रोग के लक्षण ही इतने कष्टकर होते हैं कि रोगी को शीघ्र ही चिकित्सक की शरण लेनी पड़ती है।

चिकित्सा—निकोचन की एक मात्र चिकित्सा उसका प्रसारण अर्थात् चौडा कर देना है। यह कार्य एक ही बार में सततः प्रसारण[5] अथवा धीरे-धीरे कई-कई दिनों के अन्तर से-क्रमशः प्रसारण[6]—किया जा सकता है।

सततः प्रसारण—प्रसारण करते समय सुषुम्नावरोध या स्थानिक संज्ञाहरण की आवश्यकता पड़ सकती है। गम इलास्टिक शलाका या धातु निर्मित शलाका अन्दर प्रविष्ट की जाती है। यदि यह निकोचन मे होकर प्रविष्ट नहीं हो सकती तो धीरे-धीरे सख्या घटाई जाती है यहाँ तक कि ऐसी शलाका जो निकोचन में होकर प्रविष्ट हो जाय चुन ली जाती है। यन्त्र को मूत्र मार्ग में प्रविष्ट ही छोड देना है और यह भी आवश्यक है कि उसके आस-पास होकर मूत्र निकलता रहे अतः मूत्र मार्ग मे प्रविष्ट छोड़ देने अर्थात् बाँध देने के लिए छोटे आकार का यन्त्र ही चुना जाना चाहिए। जैसा कि पीछे भी संकेत किया गया है बाँधने के लिए सदैव रबर या गम इलास्टिक यन्त्र ही अधिक उपयुक्त पड़ता है। इस प्रकार प्रतिदिन यन्त्र प्रविष्ट किया जाना चाहिए जिसका आकार धीरे धीरे बढ़ाया जाता रहता है। जब सम्भव हो सके शलाका के स्थान पर कैथेटर अन्दर बाँधा जा सकता है। इस प्रकार यदि सफलता मिलती है तो एक सप्ताह के अन्दर-अन्दर उचित आवश्यक आकार का कैथेटर अन्दर प्रविष्ट किया जाने लगता है। इसके पश्चात् भी यदि आवश्यक हो तो रोगी को प्रति सप्ताह या प्रति मास बुलाकर और भी अधिक प्रसारण किया जाना सम्भव है।

---

1. Urethral abscess 2. Prostatitis 3. Cystitis 4. Pyelitis 5. Continuous 6. Intermittent Dialatation.

क्रमशः प्रसारण—यदि सम्भव हो सके तो यह विधि अधिक उपयुक्त है किन्तु इसमें समय अधिक लगता है तथा रोगी को बार-बार चिकित्सक के पास आना पड़ता है जबकि प्रथम विधि में अस्पताल में रहकर एक दो सप्ताह में ही काम हो जाता है। प्रथम बार जो यन्त्र प्रविष्ट किया जाता फिर उसमें अधिक नम्बर का किया जाता और इस प्रकार तीन-चार नम्बर तक प्रसारण कर दिया जाता है। एक सप्ताह पश्चात् फिर यही विधि दुहराई जाती है। जो यन्त्र पहले प्रविष्ट किया जा चुका था उससे दो नम्बर कम से प्रारम्भ करते तथा धीरे-धीरे तीन-चार नम्बर तक प्रसारण कर देते हैं। इस प्रकार प्रति सप्ताह किया जाता है। जब ९-१० नम्बर का गम इलास्टिक यन्त्र प्रविष्ट किया जाने लगता है तो धातु निर्मित निकोचन शलकाएँ प्रयोग की जाने लगती हैं। इस प्रकार प्रति सप्ताह करते-करते अन्त में पूर्ण आकार अर्थात् १४ नम्बर (इंगलिश) तक आ जाते हैं। अब चिकित्सा प्रति सप्ताह न करके प्रतिमास, छः मास या एक वर्ष पश्चात दुहराई जाती है। जब एक वर्ष पश्चात् बुलाने की स्थिति आ जाती है तब रोगी को बिलकुल ठीक समझा जा सकता है।

यदि मिथ्या मार्गों के कारण या अन्य प्रकार से साधारण यन्त्रों के प्रवेश करने में विशेष कठिनाई हो तो हैरीसन की चाबुकाकार शलाका[1] प्रयोग में लानी चाहिए क्योंकि इस एक ही शलाका के प्रयोग से निकोचन का बहुत कुछ प्रसारण किया जा सकता है।

प्रसारण के समय वही सब उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं जिनका यन्त्र प्रवेश के सम्बन्ध में संकेत किया गया है तथा तदनुकूल ही उनका प्रबन्ध किया जाना चाहिए।

(१) यदि निकोचन की विशिष्ट प्रकृति के कारण प्रसारण न किया जा सके अथवा रक्तस्राव, मूत्रावरोध, मूत्र का परिस्रवण आदि अवस्थाएँ उत्पन्न हो जावें अथवा—

(२) पूर्ण निकोचन के कारण प्रसारण सम्भव ही न हो या अश्मरी,

1. Harrison whip bougie.

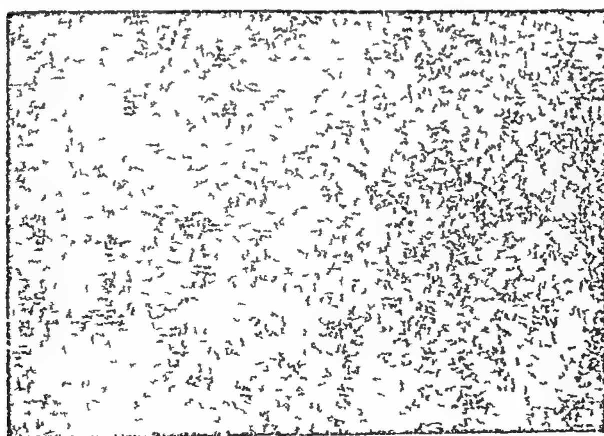
पुरःस्थ ग्रन्थि एवं वृक्क सम्बन्धी उपद्रव उपस्थित हों तो सामान्य रूप से चिकित्सा न करके शस्त्रकर्म की शरण ली जानी चाहिए।

शस्त्रकर्म का उद्देश्य मूत्रमार्ग को काटकर निकोचन को ठीक करना है। शस्त्रकर्म का वर्णन इस स्थान पर अभीष्ट नही क्योंकि यह विशेषज्ञ द्वारा ही किया जाना ठीक है।

मूत्रमार्गीय बाह्य द्वार का संकोच—

इस प्रकार की स्थिति प्रायः बच्चों मे ही पाई जाती है जब या तो यह जन्मजात होती है और या किसी आघात के कारण उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार का आघात सुन्नत[1] के समय उत्पन्न हो सकता है। युवा व्यक्तियों मे इस प्रकार की स्थिति देखने को नही मिलती और यदि देखने को मिलती है तो उसका कारण मूत्र मार्गीय शोथ अथवा मूत्र मार्ग का कैंसर होता है। चिकित्सा बहुत सरल है जबकि शस्त्रकर्म द्वारा छिद्र को बड़ा कर दिया जाता है यद्यपि छिद्र का झुकाव नीचे की ओर हो जाता है।

स्थानिक या सर्वांग सज्ञाहरण के पश्चात् छोटे छिद्र मे होकर एक विशेष प्रकार का चाकू अन्दर प्रविष्ट किया जाता है तथा शिश्न मणि को मध्य रेखा मे नीचे की ओर आवश्यकतानुसार $\frac{1}{2}$–१ इच तक काट दिया जाता है। (चित्र ६८) इस प्रकार उत्पन्न किये गये क्षत के ओष्ठ इधर-उधर लौट दिए जाते तथा अलग-अलग सी दिए जाते है। बच्चों मे छिद्र को काच की नली



चित्र ६८—मूत्र मार्गीय बाह्यद्वार प्रसारण

1. Circumcision.

से प्रतिदिन लगभग दो सप्ताह तक प्रसारित करते रहना चाहिए। युवा व्यक्तियों को इस प्रकार दो-दो चार-चार दिन पश्चात् प्रसारण की और भी अधिक समय तक आवश्यकता पड़ सकती है।

शस्त्रकर्म से पूर्व सामान्य प्रसारण द्वारा छिद्र को चौड़ा करने का प्रयत्न किया जा सकता है और यदि इसमें सफलता न मिले तभी शस्त्रकर्म की शरण ली जानी चाहिए।

मूत्र का परिस्रवण[1]—

इसका अर्थ किसी पूर्व स्थित निकोचन के पीछे मूत्र मार्ग के फट जाने के कारण मूत्र का चारों ओर की ऊतकों, अण्डकोषों, गुदा के चारों ओर नितम्बों के बीच आदि स्थानों में फैल जाना है। जब मूत्राशय में अधिक मूत्र भर जाता है और वह प्राकृतिक नियमित मार्ग से निकोचन के कारण निकल नहीं सकता तथा रोगी मूत्र त्याग के लिए अत्यधिक जोर लगाता है तो इस प्रकार की दुर्घटना हो सकती है। यह तो बहुत कुछ सम्भव है कि फटने के स्थान पर मूत्र मार्ग किन्हीं विशिष्ट कारणों से पहले ही दुर्बल हो चुका हो। इसके अतिरिक्त इसका कारण बाहर से चोट, शलाका आदि प्रवेश करते समय मूत्र मार्ग में छिद्र हो जाना, मूत्र मार्गवर्ती विद्रधि का अन्दर की ओर मूत्रमार्ग में फटना अथवा किसी बाहरी व्रण का गलते-गलते मूत्र मार्ग तक पहुँच जाना भी हो सकता है।

मूत्र मार्ग का यह फटना अर्थात् विदार मूत्र नलिका के कलाकृत भाग अर्थात् शिश्न मूल में होता है तथा वहाँ से मूत्र शिश्न मूल के चारों ओर फैल जाता है। प्रथम अण्डकोषों के नीचे दोनों नितम्बों के बीच में पहुँचता है तथा वहाँ से अण्डकोषों के चर्म के नीचे-नीचे एवं शिश्न के चारों ओर चर्म के नीचे फैलता है। यदि विकृति और भी बढ़ती है तो वृषण रज्जु के साथ-साथ उदर भित्ति तक पहुँच सकता है।

लक्षण—यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि अब इस प्रकार की दुर्घटना बहुत कम होती देखी जाती है क्योंकि जनसाधारण धीरे-धीरे इतना जागृत होता जा

1. Extravasation of Urine.

रहा है कि वह प्रत्येक रोग की उचित समय पर सम्यक् चिकित्सा के लिए प्रयत्नशील रहता है।

प्रारम्भ मे मूत्रावधारण होता है और उसके सब लक्षण उपस्थित रहते है जिनका कि इतिहास मिल सकता है। मूत्र मार्ग के फटते समय रोगी को विशेप पीड़ा होती है जिसका कि उसको अनुभव भी हो जा सकता है। यह पीडा शीघ्र ही शान्त हो जाती है तथा मूत्रावरोध के लक्षण भी शान्त मालूम पड़ते है। किन्तु शीघ्र ही मूत्र परिस्रवण के लक्षण प्रगट होने लगते है जिसका यथार्थ कारण एवं रूप चर्माधः प्रान्त मे मूत्र की उपस्थिति तथा तज्जन्य शोथ एव कोथ की उत्पत्ति है जो बहुत शीघ्रता के साथ एकदम बढ़ता जाता है—कुछ ही घटो मे अण्डकोष, शिश्न और आस-पास का भाग बहुत शोथयुक्त हो जाता है। प्रथम चर्म लाल मालूम पड़ता है किन्तु शीघ्र ही काला दिखने लगता है तथा कोथ की उत्पत्ति के कारण पूतिवस्तु बनने लगती है। चर्म पर विस्फोट उत्पन्न हो जाते है जिनके फटने से दुर्गन्धित तरल द्रव निकलने लगता है। विषमयता के कारण रोगी पीला-सा तथा चिन्तित दिखाई देता है; जिह्वा शुष्क बादामी तथा प्रलाप[1] के लक्षण मिलते है; पीड़ा भी होती है तथा जाड़े के साथ १०२–१०३° फारेनहाइट तक ज्वर हो जाता है। नाड़ी शीघ्रगामी तथा दुर्बल होती है। मूत्र त्याग असम्भव होता है तथा लक्षण बडी तेजी के साथ बढते है। यदि अब भी चिकित्सा नही की जाती तो शक्ति क्षीण होते जाने से ज्वर बहुत कम या पूर्णतः समाप्त हो जाता, स्तब्धता गम्भीर होती तथा हृदयावसाद से मृत्यु हो जाती है। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बाहर से आघात के कारण यदि स्थिति उत्पन्न होती है तो मूत्र को बाहर निकल जाने का मार्ग मिल जाने के कारण लक्षण इतनी तीव्रता के साथ नही बढ़ पाते।

चिकित्सा—स्थिति के उत्पन्न होते ही जितनी शीघ्रता के साथ समुचित चिकित्सा का प्रबन्ध किया जा सके, उतना ही अच्छा है, साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि लक्षण जितने तीव्र होते हैं रोगी के जीवन की आशा उतनी

1. Delirium.

ही क्षीण होती जाती है, अतः स्थिति की गम्भीरता को स्पष्ट करने के साथ ही साथ उत्तरदायित्व को घटाने के लिये किसी अन्य चिकित्सक की सहायता लेना भी अच्छा ही है।

रोगी को ग्लूकोज लवण जल एवं कारामिना आदि शिरा मार्ग से दिये जा सकते हैं ताकि सामान्य अवस्था में सुधार हो सके। शस्त्रकर्म के लिए जो नितान्त आवश्यक है, सर्वांग संज्ञाहरण की आवश्यकता पड़ सकती है किन्तु उसका प्रयोग रोगी की क्षीण अवस्था को देखकर ही किया जाना चाहिए तथा जितना भी शीघ्रता के साथ सम्भव हो सके, शस्त्रकर्म समाप्त कर दिया जाना चाहिए।

रोगी को लिथोटोमी स्थिति में लिटाकर अण्डकोषों के नीचे ठीक मध्यरेखा में एक लम्बा छेदन किया जाता है जो गुदा मार्ग में एक दो इञ्च दूर तक पहुँचता है। शोथ एवं वर्ण परिवर्तन के कारण रचनाओं को पहिचाना नहीं जा सकता, अतः कठिनाई बहुत रहती है किन्तु फिर भी ठीक मध्यरेखा में बने रहकर गहराई तक चले जाते हैं तो किसी विशेष उपद्रव की आशंका नहीं। छेदन को गहरा करते हुए चले जाते हैं यहाँ तक कि मूत्र मार्ग के उस छिद्र तक जहाँ से मूत्र का निकलना प्रारम्भ हुआ है, पहुँच जाते हैं। इस स्थल का अनुमान इस बात से सहज ही लगाया जा सकता है कि वहाँ पहुँचते ही वहाँ से मूत्र एवं पूय एकदम झटके के साथ निकलती है। छेदन को और भी बढ़ाया जा सकता है ताकि निकास आसानी से होता रह सके।

अब प्राकृतिक मार्ग से होकर ही यदि कोई कैथेटर प्रविष्ट किया जा सके तो सर्वोत्तम है तथा उस कैथेटर को रोगी की अवस्था में पूर्ण सुधार होने तक मूत्रमार्ग में ही स्थिर कर दिया जाना चाहिए। यदि सम्भव हो तो शस्त्रकर्म प्रारम्भ करने से पूर्व ही कैथेटर प्रविष्ट किया जा सकता है। यदि प्राकृतिक मार्ग से कैथेटर प्रविष्ट नहीं किया जा सकता तो मूत्र मार्ग में उत्पन्न छिद्र में होकर कैथेटर प्रविष्ट कर सकते हैं तथा रोगी की अवस्था में सुधार होने तक उसी के द्वारा मूत्र का निकास किया जाता रहता है। कैथेटर प्रवेश के समय सबसे बड़ी

सावधानी जो रखनी है वह यह है कि कैथेटर के साथ ही साथ उत्सर्ग अन्दर मूत्राशय की ओर न बढ़ जाय और इसीलिए कुछ विद्वानो की राय है कि इस स्थिति मे कैथेटर न प्रविष्ट किया जाय यही अच्छा है क्योकि इस व्रण मे होकर ही मूत्र आसानी से निकलता रह सकता है।

इस मुख्य छेदन के अतिरिक्त और कई छेदन भी शोथ के स्थान पर किए जाते है जो शरीर के साथ लम्बाकार एक दूसरे के समानान्तर होने चाहिये तथा एक दूसरे छेदन के मध्य मे कम से कम दो इंच का अन्तर होना आवश्यक है। यदि शिश्न भी शोथयुक्त है तो उसमे छेदन न करके कई छिद्र किये जा सकते हैं क्योकि छेदन के स्थान पर बाद मे तन्तु ऊतक की उत्पत्ति होकर शिश्न के आकार को विकृत कर सकता है।

निकास के लिये रबर नलिका आदि की आवश्यकता नही क्योंकि व्रण ही स्वतः इतने स्पष्ट रहते है कि उनसे निकास होता रहना निश्चित है। व्रणोपचार के उद्देश्य से शुद्ध गौज हायड्रोजन परऑक्साइड मे भिगोकर वहाँ रखा जा सकता है और इस प्रकार प्रतिदिन व्रणोपचार सम्भव है।

यदि व्रणों मे पूति वस्तु अधिक बनती है तो रोग व्रणोपचार करते समय प्रतिदिन उष्ण बोरिक द्रव युक्त टब मे कमर तक बैठाया जाता है इससे व्रणों के शीघ्र विरोहण मे सहायता मिलती है। पूति वस्तु को इस समय ही कैंची से काटकर अलग किया जा सकता है।

रोगी की सामान्य अवस्था की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। उसे पौष्टिक आहार व औषधियाँ दी जाती रहनी चाहिए।

आधुनिक युग मे प्रतिजीवी योग एव सल्फा औषधियो का प्रयोग नितान्त आवश्यक है क्योकि इनके प्रयोग से अवस्था शीघ्र ही वश मे आ जाती है। आवश्यकतानुसार पैनीसलीन औरयोमायसीन या टेरामायसीन आदि औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है।

तीव्र अवस्था के ठीक हो जाने पर स्थिति के अनुसार मूत्र मार्ग को भी ठीक कर दिया जाना चाहिए।

निरुद्ध प्रकर्श—

निरुद्ध प्रकर्श[1] का अर्थ शिश्नमुण्ड[2] को आच्छादित करने वाली चर्म के छिद्र का इतना छोटा होना है कि चर्म को पीछे की ओर लौटाकर शिश्नमुण्ड को खोला नहीं जा सकता। कभी-कभी यह छिद्र इतना छोटा होता है कि मूत्र तक उसमें होकर कठिनाई के साथ निकल पाता है। शिश्नमुण्ड के सदैव चर्म से आच्छादित रहने के कारण वहाँ श्वेत रंग का मैल एकत्रित होता रहता है जो बच्चों में कभी-कभी इतना बड़ा हो जाता है कि अश्मरी की तरह का मालूम पड़ता है। इसके कारण कभी-कभी शोथ एवं व्रण तक की उत्पत्ति हो जाना सम्भव है।

इस प्रकार की स्थिति प्रायः बच्चों में ही देखी जाती है तथा जन्म से ही होती है। शिश्न के अग्रभाग पर व्रणोत्पत्ति तथा उसके स्थान पर तन्तु ऊतक के उत्पन्न होने पर भी निरुद्ध प्रकर्श की स्थिति बन जाना सम्भव है जैसा कि युवावस्था में होता है। कभी-कभी बिना किसी स्पष्ट कारण के प्रौढ़ एवं वृद्ध व्यक्तियों में भी इसकी उत्पत्ति होती देखी जाती है जबकि शिश्नमुण्ड चर्म[3] की नम्यता[4] नष्ट होती जाकर वह कड़ा पड़ जाता तथा छिद्र छोटा हो जाता है। इस प्रकार की स्थिति मधुमेहियों में अधिक देखी जाती है।

कभी-कभी यद्यपि बहुत कम शिश्नमुण्ड चर्म तथा शिश्नमुण्ड में संसक्ति भी होती देखी गई है।

चिकित्सा—यदि बच्चे में जन्म से ही यह विकार उपस्थित है तो लगभग प्रतिदिन सावधानी के साथ चर्म को पीछे लौटाने का प्रयत्न किया जा सकता है। कुछ दिन के सततः प्रयत्न से सम्भव है छिद्र के चौड़ा हो जाने पर चर्म को पीछे लौटाना सम्भव हो सके। किन्तु चर्म को पीछे लौटा हुआ ही नहीं छोड़ देना चाहिए अन्यथा परिवर्तिका[5] उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है बल्कि उसको ऊपर चढ़ाने उतारने का प्रयत्न करते रहना चाहिए ताकि छिद्र

---

1. Phimosis 2. Glans penis 3. Prepuce 4. Elasticity 5. Paraphimosis.

पूर्णतः चौडा हो जाय। यदि सम्भव हो तो एक बन्द संदंश के अग्र को अन्दर प्रविष्ट करके यथासम्भव थोडा खोलकर घुमाया जाता है। इससे छिद्र चौडा होने के साथ ही साथ यदि शिश्नमुण्ड एवं चर्म में कही संसक्ति होती है तो वह पृथक हो जाती है और फिर शुद्ध वैसलीन या लीक्विड पैराफिन की कुछ बूँदें अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है ताकि ससक्ति फिर न होने पावे। इसके साथ ही साथ चर्म को भी पीछे लौटा दिया जाता है। यदि इन साधारण उपायों द्वारा सफलता न मिले तो सुन्नत[1] शस्त्रकर्म आवश्यक है।

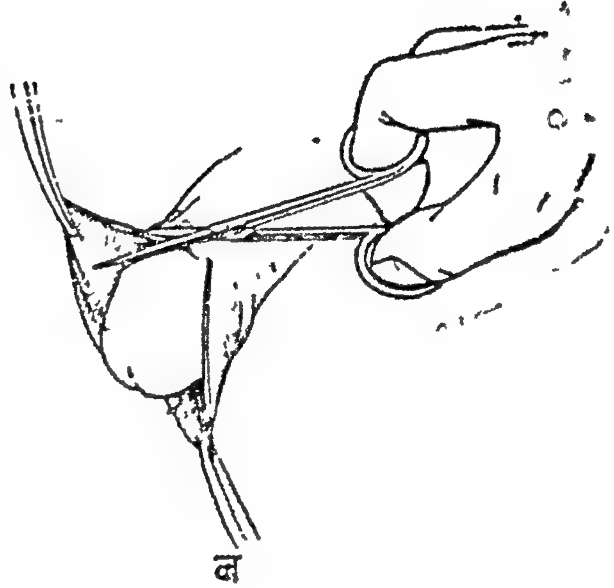
सुन्नत या खतना—इसका अर्थ शिश्नमुण्डच्छद के अनावश्यक भाग को काटकर अलग कर देना है। शस्त्रकर्म की कई विधियाँ है तथा चिकित्सक अपनी सुविधा एव अभ्यास के अनुसार किसी का भी प्रयोग कर सकता है। इस स्थल पर सर्वाधिक सरल एव उपयुक्त विधि का वर्णन किया जायगा।

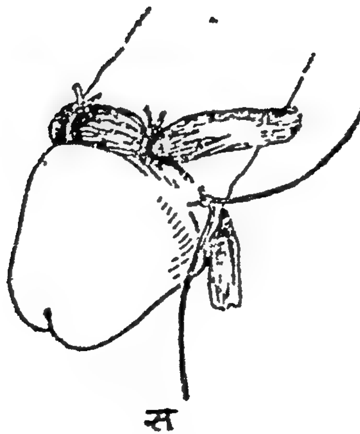
शिशु का खतना—इसी को मुसलमानी करना कहते है और कुछ जातियो मे इसका विशेप रूप से प्रचार है। शिशु की प्रथम वर्ष की आयु मे ही यह शस्त्रकर्म कर दिया जाता है जबकि उसको विशेप पीड़ा भी नही होती तथा रक्त भी अधिक नहीं निकलता। मुण्डच्छद के सिरे को दो स्थानो पर धमनी सदश से पकड कर बाहर की ओर तथा एक दूसरे से अलग थोडा खीचा जाता है। इस प्रकार मध्य मे निर्मित छिद्र से होकर एक अतीक्ष्ण शलाका अन्दर प्रविष्ट की जाती तथा चारो ओर घुमा दी जाती है ताकि यदि किसी स्थल पर मुण्डच्छद एव शिश्नमुण्ड के मध्य मे ससक्ति हो तो वह विभक्त हो जाय। इसके पश्चात् मुण्डच्छद को सदशो से बाहर की ओर खीचते हुए ही मुण्डच्छद अग्र को अस्थि संदश से पकड़ लिया जाता है। लगभग तीन मिनट तक दबाव डाले रहने के पश्चात् मुण्डच्छद के अस्थि सदश से बाहर वाले भाग को तेज वेधस पत्र से काटकर अलग कर दिया जाता है। रक्तस्राव नहीं होता तथा मुण्डच्छद का चर्म एव अन्दर की ओर की श्लेष्मल कला भी दबी

1. Circumcision.

रहने के कारण एक दूसरे से चिपक जाती है। मुण्डच्छद को एक शलाका की सहायता से पीछे की ओर लौटाया जा सकता है तथा व्रणोपचार के रूप में केवल टिंचर बेंजोयन कम्पाउण्ड में भींगी गौज अथवा रुई की वत्ती उचित प्रकार से रखी जा सकती है।







चित्र ६६—युवावस्थिक मणिच्छद छेदन

बच्चे का मुण्डच्छद छेदन अर्थात् सुन्नत—मुण्डच्छद को बाहर की ओर खींचा जाता है तथा अग्र भाग को नाड़ी व्रण संदंश की सहायता से ही पकड़

लिया जाता है। ध्यान रखना है कि पकड़ते समय संदश बिलकुल सीधी नहीं होनी चाहिए बल्कि नीचे की ओर से ऊपर की ओर थोड़ा पीछे को झुकी रहनी चाहिए। और साथ ही यह भी ध्यान में रखना है कि शिश्नमुण्ड का तनिक भी भाग सदश की पकड़ मे न आ जाय। मुण्डच्छद के चिमटी से बाहर की ओर वाले भाग को एक तेज कैंची से काटकर अलग कर दिया जाता है। चर्म के कटे हुए किनारे पीछे की ओर हट जा सकते हैं और अब श्लैष्म कला को शिश्नमुण्ड से बिलकुल अलग कर लिया जाता है। यह आवश्यक हो सकता है कि श्लैष्म कला के कुछ थोड़े से और भाग को काटकर अलग किया जाय। चर्म एवं श्लैष्म कला के कटे हुए किनारे एक दूसरे के साथ बहुत बारीक ०००० नम्बर कैटगट के धागों से सी दिये जाते है। इनको रेशम के धागो से भी सिया जा सकता है किन्तु बाद मे इनको काटने मे कठिनाई होती है। अतः कैटगट का प्रयोग ही ठीक है क्योंकि शोषित हो जाने के कारण इनको काटने की आवश्यकता नहीं। टाके एक-एक नही बल्कि शतशः[1] लगाये जाने चाहिए। गौज की चौड़ी-सी बत्ती फ्रायर बल्जाम या एक्रीफ्लेविन लोशन मे भिगोकर क्षत पर रख दी जाती तथा रुई रखकर पट्टी बाँध दी जाती है। दो-तीन दिन पश्चात् भली प्रकार भिगोकर पट्टी हटाई जाती है।

युवा व्यक्ति का मुण्डच्छद छेदन—यह शस्त्रकर्म स्थानिक सज्ञाहरण द्वारा ही किया जा मकता है। नोवोकेन का एक प्रतिशत शक्ति का घोल वलयाकार रूप मे शिश्नमुण्ड की पीछे वाली परिखा[2] के बिलकुल पास ही पीछे की ओर चर्म के नीचे प्रविष्ट किया जाता है। अब मुण्डच्छद के सिरे पर चर्म एव श्लैष्म कला के संगम पर शूची अन्दर की ओर मध्यरेखा मे प्रविष्ट की जाती है और इस प्रकार प्रथम वलय तक चर्म के नीचे इस स्थल पर भी कोकेन का घोल प्रविष्ट कर दिया जाता है (चित्र ६६ अ)। अव इसी स्थल पर मुण्ड-च्छद तेज कैंची की सहायता से परिखा के ½ इंच दूर तक काटा जाता है तथा कटे हुए किनारे दो संदंशो की सहायता से सहायक द्वारा ताने रखे जाकर उसी

---

1. Continuous 2. Corona.

कैंची से मणिच्छद का अनावश्यक भाग काटकर अलग कर दिया जाता है (चित्र ६६ ब)। अब चर्म एवं श्लैष्मिक कला के किनारे ० कैटगट के एकैकशः[1] टाँको द्वारा जोड दिये जाते हैं। धागों को थोड़ा लम्बा छोड दिया जाता है ताकि इसके बीच मे फ्रायर बल्जाम या एक्रीफ्लेविन लोशन मे भीगी गौज की बत्ती रखकर उसको बाँधा जा सके (चित्र ६६ स) रोगी को दो-तीन दिन तक चारपाई पर रहना आवश्यक है तथा १५ ग्रेन की मात्रा मे दिन मे तीन बार पोटास ब्रोमायड मिश्रण दिया जाना चाहिए ताकि शिश्नोत्थान[2] की सम्भावना न रहे। लगभग एक सप्ताह पश्चात् व्रणोपचार वस्त्रों को हटाया जा सकता है।

परिवर्तिका[3]—

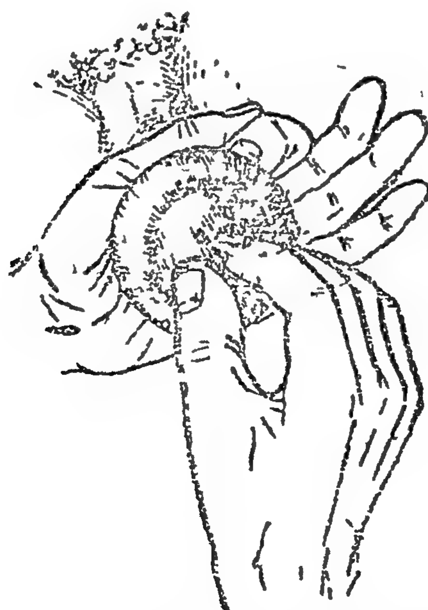
निरुद्ध प्रकर्श की विरुद्ध दशा को परिवर्तिका कहते हैं जिसमे कि मुण्डच्छद को पीछे की ओर खींच लिया जाता है किन्तु फिर नीचे की ओर उतारा नहीं जा सकता। इस प्रकार की स्थिति (१) बच्चों या युवा व्यक्तियों में उस अवस्था मे पाई जाती है जबकि निरुद्ध प्रकर्श होने पर मुण्डच्छद को एकदम ऊपर तो चढ़ा दिया जाता है किन्तु फिर उसको छिद्र छोटा होने के कारण नीचे नहीं उतारा जा सकता। या (२) मैथुन के पश्चात् उत्पन्न हो जा सकती है अथवा (३) सुजाक[4] या सिफिलिस[5] की अवस्था मे हो सकती है। यदि यह अवस्था कुछ समय तक रहती है तो शिश्नमुण्ड एवं मुण्डच्छद दोनों मे अत्यधिक शोफ उत्पन्न होता जाता है और अन्त मे चर्म पर व्रणों की उत्पत्ति तक होने लगती है।

यदि रोगी शीघ्र ही चिकित्सक के पास आ जाता है तो मुण्डच्छद को उतारने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यदि पीड़ा अधिक हो तो संज्ञाहरण की आवश्यकता हो सकती है। एक लिंट का टुकड़ा लेकर उसको लवण मे भिगो लिया जाता है तथा शिश्न मुण्ड को छोड़कर शिश्न के चारों ओर लपेट

1. Interrupted 2. Erection 3. Paraphimosis. 4. Gonorrhoea 5. Syphilis.

दिया जाता है। बाएँ हाथ मे शिश्न को दृढता के साथ पकड़ लिया जाता है तथा दाएँ हाथ के अंगूठे से शिश्न मुण्ड को पीछे की ओर दबाया जाता है और यह सब दृढ़ता के साथ करने से कार्य हो जाना चाहिए, विशेष कर उस अवस्था मे जब शोफ की मात्रा अधिक न हो। बाएँ हाथ से शिश्न को पकडे हुए ही इस प्रकार का दबाव भी डालते रहना चाहिए जिसका प्रभाव मुण्डच्छद को नीचे उतारने की ओर पडे (चित्र १००)।

यदि शोफ की मात्रा अधिक हो जिसके कारण उपरोक्त साधारण विधि से काम न चले तो (१) पीछे मुडे हुए मुण्डच्छद को दोनो हाथों की उँगलियों से गौज़ लगाकर इस प्रकार दबाया जा सकता है कि जितना भी जलीयांश सम्भव हो वहाॅ से निकल जाय या (२) शिश्न को १:१००० शक्ति के एड्रीनेलिन घोल में भीगे हुए गोज मे कुछ समय के लिए लपेटा जाय या (३) शोफ युक्त शिश्नमुण्ड तथा मुण्डच्छद मे छिद्र कर दिए जायँ ताकि द्रवांश बाहर निकलने लगे अथवा (४) यदि शोफ न होकर रक्ताधिक्य है तो शिश्न के अग्रभाग को बरफ के पानी मे भीगे कपडे से ¼-½ घंटे तक लपेटा जा सकता है। इन विधियो मे किसी से भो शोफ कम हो जाने पर फिर मुण्डच्छद को नीचे उतारने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।



चित्र १००—परिवर्तिका को ठीक करना

यदि साधारण विधि से मुण्डच्छद को ठीक नहीं किया जा सकता तो सकीर्णन[1] को एक वेधस पत्र से काट दिया जाना चाहिए। यहाँ यह ध्यान रखना है कि सम्पूर्ण मुण्डच्छद को काटने की आवश्यकता नही वल्कि केवल मुण्डच्छद द्वार को जो शिश्नमुण्ड के विल्कुल पीछे की ओर शिश्न को कसे रहता है काटना पर्याप्त है।

किसी भी प्रकार मुण्डच्छद के उतार लिए जाने पर शिश्नमुड एवं मुण्डच्छद का दिन मे तीन बार समवल लवण जल से प्रक्षालन किया जाता है तथा उसपर अवधूलन चूर्ण[2] बुरक कर रुई रखकर पट्टी बाँध दी जाती है जिससे शिश्न भी सधा रहना चाहिए। यह क्रिया शोथ के शान्त होने तक की जाती है। इसके पश्चात् यदि आवश्यक है तो मुण्डच्छद छेदन शल्यकर्म कर दिया जाना चाहिए।



चित्र १०१—परिवर्तिका—सकीर्णन को काटना

शिश्न के कुछ अन्य सामान्य रोग—

मूत्रमार्गवर्ती विद्रधि—इसका अर्थ मूत्र मार्ग के आस-पास ही विद्रधि की उत्पत्ति हो जाना है। किसी पुराने मूत्रमार्गीय संकीर्णन के साथ-साथ अथवा मूत्रमार्गीय शोथ के पश्चात् इसकी उत्पत्ति होती देखी गई है। गुद परीक्षा द्वारा कूपर की ग्रन्थियों के शोथ तथा गुदवर्ती विद्रधि का स्थान भी प्रायः गुदा के

1. Constriction. 2. Dusting powder.

आगे की ओर मध्यरेखा मे अण्डकोषों के मूल मे होता है। इस स्थान पर गोलाकार या अण्डाकार शोथ देखा जाता है जो पीड़नाक्षम एवं उष्ण होता है। पूर्ण पाक हो जाने पर अँगुली द्वारा पूय तरग अनुभव की जा सकती है।

चिकित्सा—यदि विद्रधि छोटी ही है तथा मूत्रमार्गीय शोथ के साथ-साथ है तो सेक आदि करने तथा पेनिसिलिन के प्रयोग से शान्त हो जा सकती है। यह भी सम्भव है कि मूत्र मार्ग मे ही फूट जाय किन्तु इस प्रकार की स्थिति न आने देना ही ठीक है अन्यथा मूत्र परिस्रवण के लक्षण उत्पन्न हो सकते है। पाक हो चुकने पर यदि विद्रधि छोटी ही है तो शूची द्वारा उसकी पूय को खीचा जा सकता है और इसके पश्चात् उपयुक्त चिकित्सा से विद्रधि शान्त की जा सकती है। यदि विद्रधि बड़ी है तो चीरा देकर पूय को निकाल दिया जाता है। सफाई करने के पश्चात् व्रणोपचार किया जाता है। पेनिसिलिन का प्रयोग आवश्यक है। उपद्रव अथवा अनुसगी रोगो की चिकित्सा की जानी चाहिए।

शिश्नमुण्ड शोथ—निरुद्ध प्रकर्श की अवस्था मे उपसर्ग होने पर अथवा आघात के कारण शिश्नमुण्ड मे शोथ की उत्पत्ति सभव है। यह भी सम्भव है कि शोथ के साथ ही साथ शिश्नमुण्ड पर किसी प्रकार के विशेष व्रण भी उपस्थित हो। स्थान का समबल लवण जल से प्रक्षालन, सेक तथा पेनिसिलिन का प्रयोग आवश्यक है। प्रक्षालन दिन मे तीन-चार बार किया जाना चाहिए तथा प्रक्षालन के पश्चात् अवधूलन चूर्ण बुरका जा सकता है। यदि मुण्डच्छद छिद्र बहुत छोटा हो तो मुण्डच्छद मे नीचे की ओर छेदन कर देना चाहिए ताकि निकास भली प्रकार होता रहे। साधारण प्रकार का शिश्नमुण्ड शोथ इस चिकित्सा से अवश्य ठीक हो जाना चाहिए किन्तु यदि एपीथिलियोमा आदि विशिष्ट व्रण उपस्थित हैं तो तदनुकूल चिकित्सा की जानी चाहिए।

शिश्न के चारो ओर डोरा बाँधना—इस प्रकार की स्थिति जिसके लक्षण परिवर्तिका से बहुत कुछ मिलते-जुलते है बच्चों मे बहुत देखी जाती है जबकि कोई बालक खेल-खेल मे या इस भय मे कि रात्रि मे शय्या पर मूत्र न

होने पावे शिश्न के चारो ओर डोरा बाँध लेता है। शिश्न इतना शोथ युक्त हो जाता है कि डोरे को खोज निकालने मे बडी कठिनाई होती है। खोज निकालने के पश्चात् डोरे को काटकर अलग कर दिया जाना चाहिए। अन्य उपचार स्थिति के अनुसार किया जाता है।

बलात्कार[1]—कभी-कभी बालिकाएं पुलिस या माता-पिता द्वारा इसलिए चिकित्सक के पास लाई जाती है कि उनके साथ बलात्कार किया गया है और क्योंकि इस प्रकार की स्थिति मे अदालती कार्यवाही की बहुत कुछ सम्भावना है, चिकित्सक को बहुत सावधानी के साथ परीक्षा करनी चाहिए। यदि रोगी पुलिस द्वारा लाया गया है तो चिकित्सक को बयान लेने की कोई आवश्यकता नहीं किन्तु यदि माता-पिता द्वारा लाया गया है तो बालिका एवं माता पिता के बयान लिए जाने आवश्यक हैं जिनपर उनके हस्ताक्षर ले लिए जाने चाहिए। इस सम्बन्ध मे इतना अवश्य ध्यान रखना है कि बालिका तथा माता-पिता के एक दूसरे से अलग बयान लिए जायॅ क्योंकि यह भी सम्भव है कि किसी निर्दोष व्यक्ति को फँसाने के लिए बालिका को समझा-बुझा दिया गया हो।

अब बालिका को एकान्त मे ले जाकर उसकी परीक्षा की जाती है। नीचे के कपडे अलग रख लिए जाते हैं क्योंकि सम्भव है उनकी बाद मे परीक्षा की आवश्यकता पडे। वीर्य के धब्बे कपडो पर हो सकते है। गुप्ताङ्गो की वाह्य साधारण परीक्षा की जाती है तथा आघातो के चिह्न यदि कोई हों तो देखे जाते है। भगोष्ठों[2] की सामान्य दशा, आघात के चिह्न, शोथ अथवा रक्तिमा की अवस्था देखी जाती और लिख ली जाती है। योनिच्छद[3] तथा योनिमार्ग मे स्राव उपस्थित है या नहीं, यह भी देखा जाता है। यदि घटना ताजी है तो योनि के भीतर की ओर योनिमार्ग से श्लैष्मिक कला का थोडा भाग तथा स्राव किसी सलाई या तार के छल्ले आदि की सहायता से निकाल लिया जाता है जिसको ठीक प्रकार काचपट्ट[4] पर लगाकर सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा की

1. Rape 2. Labia. 3. Hymen- 4. Slide.

जाती है। इसमे गतिशील[1] या शान्त शुक्राणुओ[2] का मिलना बलात्कार का निश्चित प्रमाण है।

संसक्त भगोष्ठ[3]—कभी-कभी बालिका चिकित्सक के पास माता-पिता द्वारा इस शिकायत के साथ लाई जाती है कि उसको मूत्र त्याग मे कठिनाई या कष्ट होता है किन्तु यथार्थ बात यह होती है कि भगोष्ठों को अलग-अलग हटाना सम्भव न होने के कारण माता चिन्तित होती तथा चिकित्सा के लिए बालिका को चिकित्सक के पास लाती है। इस प्रकार की स्थिति जन्मजात हो सकती है अथवा भग शोथ के पश्चात् भगोष्ठो के संसक्त हो जाने से उत्पन्न होती है। अधिकाश मे संसक्ति कभी पूर्ण नही होती तथा मूत्र त्याग मे तो कोई कठिनाई होती ही नही यदि इस आयु मे चिकित्सा नही की जाती तो संसक्ति दृढ हो जाती है तथा बाद मे बहुत कष्ट होता है।

दृढता के साथ भगोष्ठो को अलग-अलग खींचकर पृथक किया जा सकता है अथवा यदि विशेष बात हो तो चाकू की सहायता ली जा सकती है। पृथक करने के पश्चात् बोरिक मलहम या पेनिसिलीन मलहम युक्त गौज दोनो भगोष्ठो के मध्य मे ठीक होने तक रखा जाना चाहिए।

वृषण कोषों के रोग

वृषणकोषो मे तात्पर्य शिश्नमूल मे स्थित दो थैली के आकार की रचनाओ से है जिनमे वृषण या पुरुष बीज ग्रन्थियाँ सुरक्षित रहती है। इन्ही को शुक्रग्रन्थि[4] भी कहते है क्योंकि उनका प्रधान कार्य पुरुष बीज अर्थात् शुक्राणुओ का निर्माण करना है। शुक्रग्रन्थियों का आकार अण्डे के सदृश होता है तथा इनके पीछे की ओर ही इनसे सीधी सम्बन्धित दूसरी ग्रन्थि भी लगी रहती है जिसे अधिवृषण या उपाण्ड[5] कहा जाता है। वृषण से एक रज्जु सदृश रचना ऊपर की ओर जाती है जिसे वृषण रज्जु[6] कहते है। इस रज्जु मे धमनी, शिरा, तन्त्रिका सूत्रों के अतिरिक्त शुक्रनलिका भी रहती है जो वृषण

1. Motile. 2. Spermatozoa. 3. Adherent Labia. 4. Testes. 5. Epididymus. 6. Spermatic chord.

रज्जु के साथ ही साथ उदर मे प्रविष्ट होकर मूत्राशय के नीचे पुरःस्थ-ग्रन्थि में होकर मूत्र नलिका मे मिल जाती है और इस प्रकार शुक्राणु[1] मूत्र नलिका में पहुँच जाते हैं। ध्यान रखना चाहिये कि भ्रूणावस्था मे शुक्रग्रन्थि वृषणों का निर्माण उदरगुहा के भीतर ही होता है किन्तु बालक के जन्म के समय तक ये बाहर आ जाती हैं। इस प्रकार वृषणो के चारो ओर रहने वाला आवरण जिसे वृषणवेष्ट[2] कहा जाता है पर्युदर्या होता है। इसके चारो ओर एक और आवरण चढा रहता है जो श्वेत होने के कारण श्वेतावरण कहलाता है तथा वृषण तन्तु ऊतक निर्मित होने के कारण बहुत कड़ा होता है।

वृषण कोषों के रोग यथार्थ मे इन वृषण एवं अधिवृषण के ही रोग हैं जिनका इस स्थल पर वर्णन किया जाना है। शुद्ध वृषण कोषों के रोगों मे कुछ चर्म रोग ही हो सकते हैं जिनकी अन्य चर्म रोगों की तरह चिकित्सा की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त वृषणकोषों मे तीव्र तन्तु ऊतक शोथ भी सम्भव है जिसकी उत्पत्ति प्रायः मूत्र परिस्रवण के साथ ही होती है। तीव्र तन्तु ऊतक शोथ की अवस्था मे यदि शीघ्र ही उचित प्रबन्ध नहीं किया जाता तो चर्म के गल जाने से वृषण बाहर दिखायी देने लग सकती है जब सफल चिकित्सा बहुत कठिन हो जाती है। अतः तन्तु ऊतक शोथ की अवस्था मे आवश्यकतानुसार कई छेदन, उनका निकास तथा पेनिसिलीन आदि सफल औषधियों का शीघ्र ही प्रयोग किया जाने लगना चाहिए।

वृषण एवं अधिवृषण के प्रधान रोग है—

वृषण शोथ—वृषण एवं अधिवृषण दोनों एक दूसरे के केवल निकट ही स्थित नहीं अपितु सीधे सम्बन्धित भी हैं, अतः एक का शोथ दूसरे को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता और यही कारण है कि दोनों को मिलाकर वृषणाधिवृषण शोथ नाम से इसका इस स्थल पर वर्णन किया जा रहा है।

वृषणाधिवृषण शोथ तीव्र या चिरकालीन किसी भी प्रकार का हो सकता है तथा इसके कई भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं यथा—

1. Sperms. 2. Tunica vaginales.

१—आघात अर्थात् चोट लगना।

२—मूत्राशय या पुरःस्थ ग्रन्थि आदि से उपसर्ग का वृषण रज्जु के मार्ग से प्रसार—इस प्रकार शोथ का कारण पूयमेह, बी-कोलाई या अन्य पूयोत्पादक जीवाणु हो सकते हैं।

३—रक्तमार्ग से उपसर्ग का पहुँचना यथा टायफायड, सिफिलिस, कर्णमूल शोथ आदि। क्षय-जीवाणुजन्य शोथ अधिकाश मे चिरकालीन स्वरूप का होता है जबकि उपरोक्त अन्य तीव्र स्वरूप के होते है।

४—सन्धि वात के साथ उपस्थित वृषणशोथ—मूल रोग की प्रकृति से ही स्पष्ट है कि इस प्रकार का शोथ भी चिरकालीन स्वरूप का होगा।

लक्षण—तीव्र स्वरूप के शोथ मे सदैव ही तीव्र पीडा होती है और उसके साथ ही ज्वर, क्षुधानाश आदि अन्य सार्वदैहिक लक्षण भी होते हैं। रक्तिमा, उष्णता, पीड़ानाक्षमता आदि स्थानिक लक्षण भी अवश्य ही रहते हैं।

निदान—लक्षण इतने स्पष्ट होते हैं कि उनसे रोग का सहज ही निदान हो जाता है किन्तु निदान का उद्देश्य लक्षणो एवं इतिहास के द्वारा रोग के मूलभूत कारण का पता लगाना भो होना चाहिए क्योंकि केवल लाक्षणिक चिकित्सा से ही काम नही चल सकता बल्कि रोग के मूलभूत कारण का निराकरण आवश्यक है।

चिकित्सा—रोगी को आराम से बिस्तर पर लिटा दिया जाना चाहिए क्योंकि चलने-फिरने से वृषणों के हिलने के कारण रोगी को कष्ट होगा तथा रोग के शीघ्र ठीक होने मे भी बाधा पडती है। वृषणकोषों को लँगोटी के आकार की चौड़ी व ढीली पट्टी से बाँधा जा सकता है। वृषणकोषों पर ऊष्म स्वेद, गर्म पानी की बोतल अथवा एण्टीफ्लोजिस्टिन प्लास्टर आदि द्वारा गर्मी पहुँचाई जाती है। कुछ चिकित्सक प्रारम्भिक अवस्था मे शीतोपचार को अधिक उपयुक्त बनाते हैं। उष्ण स्वेद या शीतोपचार दोनों में से किसी से

भी पीडा को शान्ति मिलती है। ग्लीसरीन वेलाडोना, या ग्लीसरीन में दश प्रतिशत इक्थयोल का घोल वृषणकोषों पर लगाने के लिए लाभकर है—इस घोल में भिगोकर गौज वृषणकोषों पर रखा जाता है।

पेनिसिलिन, पेनिसिलिन एवं स्ट्रेप्टोमायसीन तथा सल्फा औषधियों के प्रयोग से इस प्रकार के शोथ में जिसमें पूयोत्पादक जीवाणुओं का हाथ रहता है, अवश्य लाभ पहुँचना चाहिए। ट्यूबरक्यूलोसिस या सिफलिस आदि के कारण अवस्था में तत्सम्बन्धित प्रतिजीवी औषधियों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए।

रोगी को तरल पौष्टिक पदार्थ दिए जाते हैं तथा यदि आवश्यकता हो तो विरेचन के लिए कैलोमल या तत्सम अन्य औषधि दी जा सकती है। पीडा के लिए पीडा शामक औषधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए और यदि बहुत ही आवश्यकता पडे तो नोवाल्जिन का इंजेक्शन द्वारा भी प्रयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार की चिकित्सा से शीघ्र ही लक्षणों में सुधार होने लगता है।

पूयोत्पादन बहुत कम होता है और यदि हो जाता है तो उचित आकार के उचित स्थान पर छेदन द्वारा पूय को निकालकर निकास का यथावश्यक प्रबन्ध कर दिया जाना चाहिए। कभी-कभी विशेषकर क्षय या फिरंग जन्य वृषणकोष में विकृति इतनी अधिक सीमा तक बढ़ जाती है कि विकृत वृषण को यदि वह किसी प्रकार ठीक नहीं किया जा सकता तो काटकर अलग कर देना आवश्यक है।

अधिवृषण शोथ—जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है केवल शुद्ध वृषण-शोथ ही बहुत कम देखने को मिलता है—कुछ न कुछ अंशों में अधिवृषण भी अवश्य ही पीड़ित होता है फिर भी स्पष्ट और साफ-साफ स्थिति यह है कि उपसर्ग जब पुरःस्थ ग्रन्थि मूत्र मार्ग या मूत्राशय से आता है तो अधिवृषण शोथ अधिक तथा जब रक्तमार्ग से आता है तो वृषणशोथ अधिक प्रधान रूप

से होता है। चिकित्सा की दृष्टि से दोनों मे किंचित् भी अन्तर नही, अतः निदान करते समय पृथक्करण के झंझट मे पड़ना आवश्यक-सा है।

वृषणशोथ प्रधानतया (१) सन्धिवात (२) टायफायड या अन्य औपसर्गिक रोग तथा (३) कर्णमूल शोथ की अवस्था मे देखा जाता है। अन्तिम अवस्थाएँ वृषणशोथ की उत्पत्ति रोगारम्भ के छठवे से आठवे दिन तक होती है तथा युवा व्यक्ति ही इससे अधिक पीड़ित होते है। वृषण स्पर्श मे कठिन पीड़ायुक्त तथा चर्म रक्तवर्ण होता है। कभी-कभी उपद्रव स्वरूप जल वृषण की उत्पत्ति भी होते देखी जाती है। अण्ड अर्थात् शुक्रग्रन्थियो का क्षय भी सम्भव है जो विशेष कर अधिक आयु के व्यक्तियों मे अधिक देखा जाता है और जिसके कारण पुरुष बन्ध्यता[1] एवं षण्ढता[2] भी हो सकती है।

जल वृषण—

जल वृषण[3] से तात्पर्य वृषणकोष तथा वृषण रज्जु मे तरल द्रव का एकत्रित हो जाना है। यह तरल द्रव्य पूय नही होता बल्कि पूर्णतः जीवाणुहीन शुद्ध द्रव पदार्थ होता है, अतः इसकी उपस्थिति से किसी प्रकार के सार्वदैहिक लक्षण नही पाए जाते। इसके प्रधानतया दो ही रूप हो सकते हैं यथा—

(१) प्राथमिक[4]—जो किसी अन्य रोग के पश्चात् उत्पन्न न होकर प्रारम्भ से ही अपना विशिष्ट रूप धारण किये होता है। इसके भी निम्न भेद किए जा सकते है यथा—

(अ) शैशवीय जलवृषण[5]—इसमे पर्युदर्या का वृषण रज्जु एव वृषणो को आवेष्ठित करने वाला भाग उदर की ओर बन्द होता है तथा द्रव वृषण-कोषों एवं वंक्षण नलिका मे भरा रहता है। एक मात्र चिकित्सा शस्त्रकर्म है किन्तु यह जब तक बालक एक वर्ष का न हो जाय तब तक नही किया जाना

---

1. Male sterility. 2. Impotence. 3. Hydrocele. 4. Primary. 5. Infantile Hydrocele.

चाहिए क्योंकि अवस्था के अपने आप ही ठीक हो जाने की भी बहुत कुछ सम्भावना रहती है।

(ब) द्विकोषीय जलवृषण[1]—शैशवीय जलवृषण की अपेक्षा इसमें यह विशेषता और होती है कि प्रधान कोप के अलावा एक और कोष होता है। शस्त्रकर्म द्वारा इसके अतिरिक्त कोष को काटकर अलग कर देना ही प्रधान चिकित्सा है।

(स) जन्मजात[2] जलवृषण—जल का संचय वृषण रज्जु एव वृषणों के आवेष्ठन के नीचे होता है किन्तु इसके साथ ही साथ एक छोटे छिद्र द्वारा यह उदर गुहा से भी सम्बन्धित रहता है क्योंकि शैशवीय जलवृषण की तरह उदर की ओर वाला छिद्र पूर्णतः बन्द नहीं होता। हार्निया की तरह खाँसने पर इसमें भी थोड़ा-सा स्पन्दन अनुभव होता है एवं जल उदर मे समा जाता और फिर उतरता मालूम पडता है। चिकित्सा जन्मजात हार्निया की तरह शस्त्रकर्म द्वारा की जानी चाहिए।

(द) वृपण रज्जु का आवेष्ठित जलसंचय[3]—जल का सचय वृषण को आवेष्ठित करने वाली कला के नीचे ही एक विशेप स्थान पर हो जाता है, जो एक गोलाकार इधर-उधर से सीमित उत्सेध के रूप मे दिखाई पड़ता है। शस्त्रकर्म द्वारा जल को निकाल देना ही प्रधान चिकित्सा है यद्यपि बच्चो में यह भी सम्भव है कि जल का स्वयमेव शोपण होकर विकृति ठीक हो जाय।

(य) वृपण रज्जु का विसरित जलसंचय[4]—इसको यथार्थ मे जलातिवृद्धि कहना ठीक नहीं क्योंकि जल का सचय आवेष्ठन के नीचे नही होता बल्कि वक्षण नलिका में एक असीमित उत्सेध-सा मालूम पड़ता है। इस प्रकार की स्थिति बहुत कम देखी जाती है।

---

1. Bilocular Hydrocele 2. Congenital 3. Encysted Hydrocele cf the chord 4. Diffuse Hydrocele of the chord.

(र) अधिवृषणीय जलसंचय[1]—जल का संचय उपाण्ड के चारों ओर ही होता है तथा वहीं तक सीमित रहता है। आकार अधिक नहीं बढ़ पाता। चिकित्सा आगे वर्णित आवेष्ठन जलातिवृद्धि की तरह है।

(ल) अज्ञातकारण जन्य आवेष्टन जलवृषण[2]—यथार्थ मे जल वृषण शब्द से यही अवस्था जानी जाती है। यह भो (१) तीव्र अथवा (२) चिरकालीन स्वरूप की हो सकती है। तीव्र स्वरूप की अवस्था बहुत कम देखी जाती है तथा सन्धिवात, ज्वर या निमोनिया के साथ-साथ मिलती है। चिरकालीन स्वरूप की अवस्था ही अधिकाश मे मिलती है। रोग का निश्चित कारण अभी तक ज्ञात नही हो सका है। सम्भव है पोने के जल अथवा खान-पान मे कोई विशेष तत्व निहित हो जिसका रोगोत्पादन मे प्रधान हाथ रहता हो क्योकि यह देखा गया है कि रोग कुछ विशेष स्थानों पर अधिक पाया जाता है। रोग की उत्पत्ति अधिकाश मे उष्ण प्रदेशों मे ही होती है। सम्भव है कि वृषणो के लक्षण रहित हलके शोथ के कारण उसके चारो ओर आवेष्ठन के नीचे जल का संचय होता रहता हो यद्यपि शोथ के कुछ भी लक्षण नहीं पाए जाते और न सचितजल की प्रकृति से ही इसका अनुमान लगाया जा सकता है। विशेष सम्भावना यही है कि किसी अज्ञात कारण से उस स्थल पर जल का धीरे धीरे निःस्सरण होता रहता है। प्रौढ़ व्यक्ति ही इससे अधिक पीडित होते है यद्यपि रोग बच्चो एव युवा पुरुषो को भी हो सकता है।

लक्षण—रोगी को किसी भी प्रकार की पीड़ा नही होती किन्तु द्रव के सततः एकत्रित होते रहने से वृषण का आकार बहुत बढ़ जाता है और इस बढे हुए आकार के कारण ही रोगी को कष्ट तथा असुविधा होती है शिश्न के उत्सेध मे दब जाने के कारण मूत्र त्याग मे भी कठिनाई पड़ने लगती है। वृषणकोष गोल अथवा अण्डाकार दिखता है, चर्म की सिकुड़ने जाती रहती है तथा उसका तनाव संचित द्रव की मात्रा पर निर्भर करता है। कोष के ऊपर की ओर वृषण रज्जु को अनुभव किया जा सकता है। अण्डग्रन्थियाँ कोष के

---

1. Hydrocele of the Epididymus 2. Idiopathic Vaginal Hydrocele.

पीछे एव नीचे की ओर रहती है किन्तु उनको अनुभव करना कठिन होता है। कभी-कभी यद्यपि बहुत कम अण्डग्रन्थि कोष के सामने की ओर भी हो सकती है। यदि किसी अंधेरे स्थान पर रोगी को ले जाकर कोष के एक ओर टॉर्च लगाकर दूसरी ओर देखा जाय तो उधर भी प्रकाश मालूम पड़ता है तथा कोष के अन्दर की वस्तु चमकती लाल प्रतीत होती है। किन्तु रोग के अधिक समय से होने के कारण यदि कोष की भित्ति मोटी पड़ गई है अथवा रक्त आ गया है तो इस प्रकार का दूसरी ओर दिखाई पड़ सकना सम्भव नहीं। प्रकाश द्वारा परीक्षा रोग का निश्चित निदानकर लक्षण समझा जाता है।

निश्चित निदान के लिए हार्निया, वक्षणी विद्रधि तथा अर्बुदो से पृथक्करण किया जाना चाहिए, प्रकाश द्वारा परीक्षा करके इन तीनो ही अवस्थाओं का निराकरण किया जा सकता है। हार्निया मे उत्सेध का ऊपर की ओर होना, उदर मे समा जा सकना तथा खाँसने पर स्पन्दन की अनुभूति आदि प्रधान लक्षण है। वक्षणी विद्रधि मे भी उत्सेध ऊपर की ओर ही होता है। अर्बुदो से उत्सेध के आकार तथा कठोरता आदि के आधार पर पृथक्करण सम्भव है। अण्डकोषीय शिरातिवृद्धि[1] से भी सापेक्ष निदान आवश्यक है, वृषण शिराप-स्फीति की अवस्था मे अण्डकोषो को टटोलने पर ऐसा मालूम पड़ता है कि थैली मे केंचुए भरे हो जबकि जल सचय की अवस्था मे इस प्रकार की अनुभूति सम्भव नहीं।

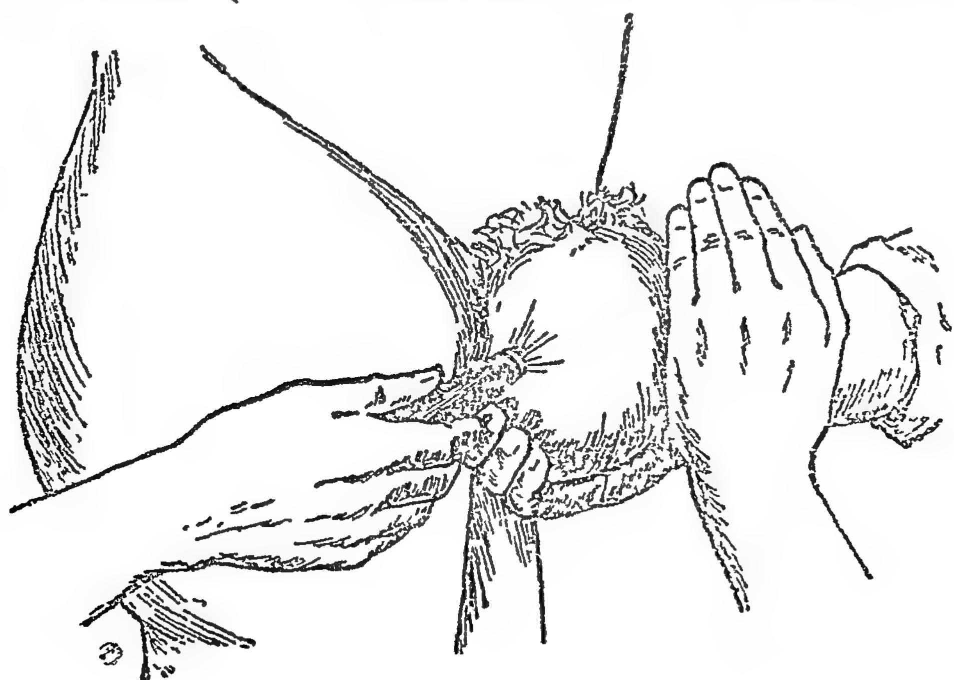
चिकित्सा — हायड्रोसील चिकित्सा के तीन रूप हो सकते है यथा—

१. प्रशामक[2] — इसका अर्थ रोगी को थोड़ी बहुत सुविधा पहुँचा देना है, पूर्ण सफल चिकित्सा नहीं। जब-जब जल सचित हो जाया करता है उसको ट्रोकार एव कैन्यूला की सहायता से निकाल दिया जाता है। अँधेरे कमरे मे प्रकाश द्वारा परीक्षा कर ली जानी चाहिए ताकि रोग का केवल निश्चित निदान ही नही अपितु उसके साथ ही साथ वृषण की स्थिति का भी निश्चय हो जाय ताकि यन्त्र प्रवेश के समय उसको बचाया जा सके। प्रकाश द्वारा परीक्षा की सर्वोत्तम

1. Varicocele 2. Palliative.

विधि यह है कि एक टार्च का प्रकाश उरु एव हायड्रोसील के मध्य से हायड्रोसील की ओर डाला जाता है। तथा इसके साथ ही साथ एक हाथ की उँगलियों से हायड्रोसील मे तनाव उत्पन्न कर लिया जाता है तथा दूसरे हाथ से प्रकाश के लिए इस प्रकार रुकावट कर ली जाती है कि वह सीधा चिकित्सक की आँखो तक न पहुँचे (चित्र १०२)। बिना किसी सहायता के या लकड़ी के स्टेथोस्कोप अथवा दूसरी नली मे होकर दूसरी ओर प्रकाश को देखा जा सकता है जबकि उधर की ओर लाल-लाल झलक दिखाई पडनी चाहिए।

अब ट्रोकार एवं कैन्यूला द्वारा वेधन के लिए रोगी खड़ा रहता अथवा बैठा रहता है; तथा चिकित्सक उसके सामने बैठ जाता है। अण्डकोष के चर्म को स्पिरिट से साफ करने के पश्चात् बाएँ हाथ को ऊपरी भाग मे रखकर उससे तनाव उत्पन्न कर देते हैं और इसके साथ हो तीक्ष्ण एवं छोटा ट्रोकार कैन्यूला ऊपर तथा पीछे की ओर चर्म की शिराओ को बचाते हुए तेजी के साथ प्रविष्ट कर दिया जाता है। ट्रोकार को निकाल लिया जाता है तथा कैन्यूला मे होकर सम्पूर्ण द्रव को थोड़ा इधर-उधर हायड्रोसील को दबाकर निकाल दिया जाता है। इसके बाद कैन्यूला भी निकाल लिया जाता है तथा छिद्र को थोड़ी देर



चित्र १०२—जलवृषण के लिए प्रकाश-परीक्षा

दवाये रखते हैं; वहाँ पर कलोडियन का फाया लगाया जा सकता है—व्रणोपचार की कोई आवश्यकता नहीं। यदि द्रव का फिर संचय हो जाय तो चार-छः महीने या साल-दो साल बाद यह विधि फिर दुहराई जा सकती है।

२—इन्जेक्शन—इसका उद्देश्य हायड्रोसील के कोष में से जल को निकालकर कोई क्षोभक पदार्थ कुनीन एवं यूरीथेन या सोडियम मोरेट भर देना है। अधिकाश मे कुनीन एवं यूरीथेन का ही प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार ट्रोकार एवं कैन्यूला द्वारा वेधन के लिए चर्म को तैयार किया गया था उसी प्रकार तैयार कर लिया जाता है। हायड्रोसील के ऊपरी भाग मे जहाँ रक्तनलिकाएँ लगभग न हों, एक २० सी० सी० की सिरिंज में २-३ इन्च लंबी १२-१८ नम्बर की सुई लगाकर अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है। इस सुई की सहायता से सम्पूर्ण द्रव निकाल लिया जाता है तथा ३-४ सी० सी० कुनीन हायड्रोक्लोर एव यूरीथेन अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है। यह ध्यान रहे कि द्रव निकालते समय शूची कोष के बाहर न निकल जाय। औषधि प्रविष्ट कर देने के पश्चात् सुई को निकाल कर छिद्र को कलोडियन के फाए से बन्द कर दिया जाता है। लगभग प्रत्येक रोगी में ही जिस ओर इन्जेक्शन दिया गया है उस ओर उदर के नीचे के भाग मे तीव्र पीड़ा होती है जो लगभग एक मिनट तक रहती है। इन्जेक्शन के पश्चात् लंगोटीनुमा पट्टी बांधी जा सकती है।

जल का पुनः शीघ्र ही सचय हो जाता है और यह सचय पहले की अपेक्षा अधिक ही होता है। अतः एक सप्ताह बाद पुनः इन्जेक्शन दिया जाता है। तीन-तीन सप्ताह बाद फिर दो इन्जेक्शन दिए जाने चाहिए। यदि इतने से लाभ नहीं होता तो और अधिक इन्जेक्शन देना व्यर्थ है।

इन्जेक्शन चिकित्सा का लाभ यही है कि इसमें विशेष झंझट नहीं तथा रोगी को अस्पताल मे रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्यथा इस प्रकार की चिकित्सा मे पीड़ा भी होती है, वृषणाधिवृषण शोथ की उत्पत्ति हो सकती है और सबसे बड़ी बात यह कि सफलता की सदैव आशा नहीं; यदि हायड्रोसील

मध्यम या छोटे आकार का है तभी थोडी बहुत सफलता की आशा की जा सकती है।

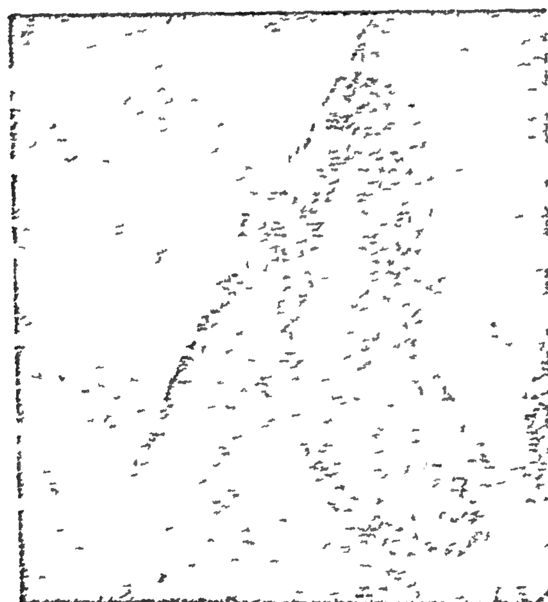
इन्जेक्शन का प्रयोग जन्मजात या औपद्रविक हायड्रोसील की चिकित्सा मे कभी भी नही किया जाना चाहिए।

३—शस्त्र-कर्म—हायड्रोसील की सर्वोपयुक्त सफल चिकित्सा शस्त्र-कर्म ही है, अतः अधिकाश रोगियो मे जहाँ तक भो सम्भव हो शस्त्र-कर्म ही किया जाना चाहिए।

वृषणकोष तथा भग प्रान्त के बाल साफ किए जाते एव स्थान साबुन से धोकर पूर्णतः साफ कर दिया जाता है। शस्त्र-कर्म के लिए इस प्रान्त की चर्म को एक दिन पहले ही तैयार कर लिया जाता है किन्तु इतना ध्यान रखना है कि वृषणकोषों पर टिंचर आयोडीन लगाना ठीक नही। चर्म के चिकने न होने के कारण सफाई की कठिनाई तथा क्षतोष्ठों के ठीक प्रकार न मिल सकने के कारण यथासम्भव वृषणकोष के निचले भाग मे छेदन नही किया जाना चाहिए, वक्षणी नलिका के बाह्य छिद्र से नीचे एवं अन्दर शिश्न मूल की ओर आवश्यकतानुसार १½-२ इन्च लम्बा छेदन किया जाता है। छेदन को सावधानी के साथ अधिकाधिक गहरा करते जाते है यहाँ तक कि वृषण रज्जु तथा हायड्रोसील कोष का ऊपरी किनारा स्पष्ट हो जाता है। वृषणकोषो को नीचे की ओर से थोड़ा दबाने तथा साथ ही साथ हाड्रोसील कोष को थोड़ा खीचने से शुक्रग्रन्थियो सहित कोष क्षत के बाहर निकल आता है। कोष को बाहर की ओर निकालते समय यह आवश्यक है कि कोष को वृषणकोषों के साथ ससक्त करने वाले अवयवो को काटते चला जाय। रक्तस्रावी बिन्दुओ को धमनी सदंश से दबाकर या कैटगट के धागों से बाधकर बन्द कर दिया जाना चाहिए। कोष के बाहर निकल आने के पश्चात् कोप की दीवाल अर्थात् शुक्रग्रन्थि के आवेष्टन को चाकू से काट दिया जाता है तथा तेजी के साथ बाहर निकलने वाले द्रव को किसी पात्र मे लिया जाता है। कुछ चिकित्सक कोष को क्षत के बाहर निकालने से पहले ही चाकू से उसका वेधन कर देते हैं तथा द्रव निकाल दिए जाने के पश्चात् शुक्रग्रन्थि तथा कोप को बाहर

निकालते हैं। दोनो ही विधि ठीक हैं, अतः सुविधानुसार कोई भी अपनाई जा सकती है। इसके पश्चात आवेष्टन के लिए निम्न उपायों में से कोई भी किया जा सकता है—

(१) यदि आवेष्टन पतला तथा छोटा ही है तो कैंची की सहायता से उसमें के छिद्र को बढ़ा देते तथा शुक्रग्रन्थि को बाहर निकाल कर पलट देते हैं और इस प्रकार आवेष्टन का बाह्य पृष्ठ अन्दर की ओर तथा अन्तः पृष्ठ बाहर की ओर हो जाता है। अधिवृपण एवं वृपण रज्जु के निचले भाग के पीछे की ओर आवेष्टन के दोनों किनारों को एक दूसरे के साथ कैटगट के धागो से सी दिया जाता है (चित्र १०३)।



चित्र नं०—१०३ हायड्रोसील के लिए शस्त्रकर्म (आवेष्टन को सीना)

(२) यदि आवेष्टन मोटा तथा अधिक बड़ा है तो आवश्यक है कि उसका आवश्यकतानुसार बहुत कुछ भाग काटकर अलग कर दिया जाय और तब पलट कर उपरोक्त विधि से टांके लगाए जायँ।

इस प्रकार हायड्रोसील कोप के उलट दिए जाने पर द्रव संचय की फिर कोई सम्भावना नहीं रहती। शुक्रग्रन्थि को वृपणकोप में अन्दर प्रविष्ट कर दिया

जाता है तथा क्षत के चर्म के दोनों किनारो को मिला कर रेशम के धागे के टाँके लगा दिए जाते हैं। शुक्रग्रन्थि को अन्दर प्रविष्ट करके क्षत को बन्द करने से पूर्व यह भली प्रकार निश्चय कर लिया जाना चाहिए कि रक्तस्राव न हो रहा हो क्योंकि इस स्थल के ढीले ढाले होने के कारण कडो पट्टी नही बॉधी जा सकती, फलतः यदि रक्तस्राव हो रहा है तो वह स्रवता ही रहेगा तथा वहाँ रक्त का अधिक संचय हो जायगा।

यदि किसी विशेष कारणवश वृषणकोष के निचले भाग मे छेदन किया गया है तो रेशम के धागे के स्थान पर कैटगट के टाकों से क्षत को बन्द किया जा सकता है क्योंकि रोगी को इससे कुछ अधिक सुविधा मिलती है।

टाके लगाने के पश्चात् क्षत पर शुद्ध गौज व रुई रखकर पट्टी बाँध दी जाती है। ६-७ दिन पश्चात् टाकों को काट दिया जाता है। यदि जीवाणु-हीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है तो पूयोत्पत्ति का भय नहीं। किन्तु फिर भी इस उद्देश्य से कि यदि किसी प्रकार पूयोत्पादक जीवाणु पहुँच भी गए हो तब भी पूयोत्पादन की सम्भावना न रहे, पेनिसिलिन का प्रयोग किया जा सकता है।

अच्छा हो यदि शस्त्रकर्म के पश्चात् भी दो-तीन मास तक रोगी लगोट का प्रयोग करता रहे।

२—औपद्रविक हायड्रोसील—यह भी तीव्र या चिरकालीन हो सकता है।

(अ) तीव्र—यथार्थ में किस प्रकार के आघात अथवा शुक्रग्रन्थियों के तीव्र शोथ के पश्चात् उत्पन्न होता है। सन्चित द्रव उपरोक्त प्रकार के द्रव की तरह शुद्ध नही होता बल्कि शोथजन्य विशेष प्रकार का द्रव होता है जो कुछ दिनों मे स्वयं ही शोषित हो जाता है। यदि शोषण न होकर किसी प्रकार पूयोत्पादन हो जाय तो शस्त्र-कर्म द्वारा पूय का निकालना तथा निकास आवश्यक है।

(२) **चिरकालीन**—यह आतशक या क्षयजन्य वृषण या अधिवृषण शोथ के कारण उत्पन्न होता है क्योंकि शोथ चिरकालीन स्वरूप का होता है, अतः इसकी भी प्रकृति चिरकालीन स्वरूप की ही रहती है। यथार्थ चिकित्सा मूल उत्पादक कारण की चिकित्सा करना है।

रक्तातिवृद्धि अथवा रक्तसचय—वृषण ग्रन्थि के आवेष्टन के दोनो पर्तो के मध्य मे सामान्य द्रव के एकत्रित हो जाने को जलसचय या द्रवसचय नाम से सम्बोधित किया गया है। सामान्य द्रव के स्थान पर यदि रक्त होता है तो उसको रक्तातिवृद्धि या रक्त-सचय[1] कहा जाना चाहिये। यह अधिकाश मे यद्यपि सदैव नहीं जल सचय का अनुगामी हुआ करता है। इसके निम्न रूप हो सकते हैं—

(१) **आघात जन्य**—जल सचय का वेधन करते समय जल के एक साथ निकल जाने के कारण किसी रक्तनलिका के फट जाने या सीधे आघात से ही रक्तस्राव होने लगता है जो धीरे-धीरे सचित होता रहता है। अण्डग्रन्थि ही मरोड़ जाने[2] से भी इसकी उत्पत्ति सम्भव है।

(२) **स्वयंभू या अज्ञात कारण जन्य**[3]—आघात का कोई इतिहास नहीं मिलता और सम्भवतः किसी रक्त नलिका के अपने आप फट जाने के कारण रक्त का सचय होता रहता है।

(३) **किसी घातक अर्बुद जन्य**—शीघ्र वृद्धिशील दुर्दम अर्बुदों से रक्त निकल-निकल कर वहाँ सचित होता रहता है।

रक्तसचय की चिकित्सा उत्पादक कारण तथा रोग की स्थिति के अनुसार की जानी चाहिए।

वृषणशिरापस्फीति[4]—

इस रोग में वृषणकोष मे वृषण रज्जु के साथ जाने वाली शिराओं मे अपस्फीति हो जाती है। रोग प्रायः वायी ओर अधिक पाया जाता है तथा अधिकाश मे इसका कोई स्पष्ट कारण नही मालूम पड़ता—कभी-कभी वृक्क के

1. Haematocele 2. Torsion 3. Spontaneous.
4. Varicocele.

अर्बुद के साथ-साथ भी होता देखा गया है इससे प्रायः युवा व्यक्ति ही पीड़ित होते हैं यद्यपि वृद्धावस्था मे भी हो सकता है।

प्रारम्भ मे रोगी को कोई विशेष लक्षण नही मालूम पडता एक भार-सा लटकता अनुभव होता है। परीक्षा करने पर वृषणकोष एक ऐसे थैले की तरह मालूम पड़ता है जिसमे केंचुए भरे हों। खाँसने पर हलकी सर-सराहट प्रतीत होती है। यदि रोगी लेट जाता है तो शिराओं मे रक्त ऊपर की ओर लौट जाता है किन्तु यदि रोगी खड़ा होता है तो रक्त फिर से भर आता है।

यथार्थ मे इसमे कोई सन्देह नहीं कि रोगी को कोई कष्टकर लक्षण नहीं होने चाहिए किन्तु कभी-कभी उसको यह सन्देह होने लगता है कि इसके कारण षण्ढता उत्पन्न हो सकती है यद्यपि इस प्रकार का सन्देह निराधार है।

रोग की एकमात्र सफल चिकित्सा शस्त्रकर्म ही है किन्तु प्रारम्भ मे कसकर लंगोट बाँधने तथा प्रतिदिन प्रातः-साय ठण्डे जल से वृषणकोष को धोते रहने आदि से रोग की अधिक वृद्धि रोकी जा सकती है। किन्तु यदि रोग अधिक बढ़ गया है तथा समझा-बुझाकर रोगी को शान्त नहीं किया जा सकता तो शस्त्र-कर्म अवश्य कर दिया जाना चाहिये।

शस्त्रकर्म—शस्त्रकर्म स्थल की जल सचय शस्त्रकर्म की तरह तैयारी कर ली जाती है। बहिर्वक्षणी छिद्र से नीचे तथा अन्दर को ओर एक-एक-डेढ़ इन्च लम्बा छेदन किया जाता है तथा वृषण रज्जु को स्पष्ट कर लिया जाता है। वंक्षणी नलिका को खोलने की आवश्यकता नही। वृषण रज्जु अपने स्थान से बाहर की ओर निकाल ली जाती है तथा उसको आच्छादित करनेवाली कला आदि को काट कर भिन्न-भिन्न अवयवों को स्पष्ट कर लिया जाता है। शुक्र वाहिनी को अँगूठे एवं अँगुली की सहायता से एक कड़ी रस्सी के रूप मे अनुभव किया जा सकता है। शुक्रवाहिनी, उसके साथ की धमनी तथा एक दो शिरा को अलग एक ओर कर दिया जाना चाहिए। ध्यान रखना है कि शुक्र-वाहिनी, उसके साथ की धमनी तथा एक-दो शिरा को अवश्य बचा देना है अन्यथा शुक्रग्रन्थि का क्षय या जल-सच्चय की उत्पत्ति की बहुत कुछ सम्भावना

है। इसके पश्चात् अवशिष्ट शिराजाल को लगभग दो-तीन इंच की लम्बाई में अन्य रचनाओं से बिलकुल अलग कर लिया जाता है यदि अपस्फीति अधिक हो तो लम्बाई और भी अधिक हो सकती है। शिराजाल के साफ किए हुए भाग के ऊपरी तथा निचले सिरे पर बन्धन बाँध दिया जाता है तथा बन्धनों के मध्य का भाग काटकर अलग कर दिया जाता है। यह ध्यान रहे कि बन्धनों के बिलकुल इतना निकट न काटा जाय कि वे फिसल कर बाहर निकल जायँ। कटे हुए सिरे पर एक-एक बन्धन और बाँध दिया जाता है तथा इन दोनों बधनों को खींच कर एक दूसरे के साथ भी बाँध दिया जा सकता है। वृषण रज्जु को आच्छादित करने वाली कला को मिलाकर सीने के पश्चात् उसे यथास्थान अन्दर प्रविष्ट करके चर्म के क्षत को रेशम के धागे के टाँके लगाकर बन्द कर दिया जाता है।

रोगी को लगभग एक सप्ताह तक चारपाई में लिटाए रखने के पश्चात् टाँके काट दिए जाते हैं। अच्छा हो यदि शस्त्रकर्म के कुछ दिन पश्चात् तक रोगी लगोट का प्रयोग करता रहे।

नसबन्दी अर्थात् बन्ध्यत्वकर शस्त्रकर्म[1]—

बन्ध्यत्वकर शस्त्रकर्म से तात्पर्य उस शस्त्रकर्म से है जो परिवार नियोजन अर्थात् सन्तति निग्रह के उद्देश्य से किया जाता है ताकि सन्तानोत्पादन की शक्ति सदैव के लिए समाप्त हो जाय। पुरुषों में इस दृष्टि से जो शस्त्रकर्म किया जाता है उसकी सम्पूर्ण विधि उपरोक्त अपस्फीति के लिए किए जाने वाले शस्त्रकर्म की तरह ही है। शिराजाल को काटने के स्थान पर शुक्रवाहिनी के एक दो इञ्च टुकड़े को काटकर अलग कर दिया जाता अथवा उसमें दृढ़बन्धन बाँध दिया जाता है ताकि मार्ग पूर्णतः अवरुद्ध हो जाय—वृषण रज्जु के शेष सभी अवयव यथावत् बने रहने दिए जाते हैं। यह तो आवश्यक है ही कि दोनों ओर की शुक्रवाहिनियों को काटकर अलग किया जाय।

ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के शस्त्रकर्म से जो बन्ध्यता उत्पन्न होती है, वह स्थायी होती है और साथ ही यह भी कि यदि वृषण रज्जु में

1. Sterlization Operation–Vasectomy.

सम्मिलित धमनी या शिरा को कोई क्षति नहीं पहुँचती तो बन्ध्यता उत्पत्ति के साथ ही साथ पुन्सत्व का ह्रास कदापि नहीं होता बल्कि उसमे कुछ और वृद्धि ही हो सकती है क्योंकि शुक्रग्रन्थियों द्वारा अन्तःस्राव की उत्पत्ति मे अधिकता ही हो जाने की सम्भावना है।

वृषणकोष के अर्बुद—

शुक्रग्रन्थि मे प्रायः घातक अर्बुद ही पाये जाते हैं, केवल एक अर्बुद जिसे एडीनोमा कहते हैं; सामान्य प्रकार का होता है।

दुर्दम अर्बुद—इनमें सारकोमा एव कैंसर प्रधान हैं। चिकित्सा न किये जाने पर एडीनोमा भी सारकोमा में परिवर्तित हो जा सकता है। सारकोमा अधिकांशतः ३०—४० वर्ष की आयु मे उत्पन्न होता है। इसका प्रारम्भ ग्रन्थि के तान्तव भाग मे होता है तथा कुछ समय मे ही इतना बढ जाता है कि ग्रन्थियाँ लगभग नष्ट हो जाती है। आकार मे यह गोल होता है। वंक्षण प्रदेश की लसीका ग्रन्थियाँ सदैव ही आक्रान्त होती हैं।

शुरू-शुरू में रोगी को विशेष कष्ट नहीं होता, किन्तु वृषणरज्जु के भी आक्रान्त होने तथा रोग के बढ जाने पर बहुत पीड़ा होती है जिसके कारण रोगी दिन पर दिन कृश होता जाता है। प्रारम्भ में अर्बुद धीरे-धीरे बढता है किन्तु बाद में इतनी शीघ्रता के साथ बढता है कि शीघ्र ही उदर मे पहुँच जा सकता है।

कैंसर शुक्र ग्रन्थि के गात्र में प्रारम्भ होता है तथा बहुत ही शीघ्रता के साथ चारो ओर की ऊतकों को आक्रान्त करता जाता है यहाँ तक कि वृषणकोष के चर्म मे भी व्रणोत्पत्ति होकर व्रणों मे से अर्बुद दिखाई पडने लगता है। सारकोमा की अपेक्षा कैंसर की वृद्धि बहुत शीघ्रता के साथ होती है।

चिकित्सा—दोनों की एकमात्र प्रधान चिकित्सा यथासम्भव शीघ्र से शीघ्र अर्बुद को शुक्रग्रन्थि एव वृषण रज्जु के अधिक से अधिक भाग के साथ काट-कर अलग कर देना है।

सामान्य अर्बुद–एडीनोमा—वृषणकोष मे इसकी उत्पत्ति गोल आकार के

अर्बुद के रूप मे होती है जिसके भीतर कई छोटी-छोटी गुहाएँ पाई जाती हैं। जिनमे विशेष प्रकार का तरल द्रव भरा रहता है।

अधिकांशतः रोग युवा व्यक्तियों को ही होता तथा उसका प्रारम्भ आघात के कारण होता है। ग्रन्थि धीरे-धीरे बहुत बढ़ जाती है किन्तु वृषण रज्जु पृथक मालूम पड़ती रहती है। प्रारम्भ मे रोगी को कोई कष्ट नहीं होता किन्तु आकार अधिक बढ जाने पर कष्ट होना स्वाभाविक है। चर्म पर व्रण भी बन जा सकते है।

चिकित्सा—निदान हो जाने पर वृषण के साथ ही साथ सम्पूर्ण अर्बुद का छेदन आवश्यक है और यह कार्य जितना शीघ्र हो जाय उतना ही अच्छा है क्योंकि यदि अधिक समय तक अर्बुद चलता रहता है तो वह सारकोमा का रूप धारण कर सकता है।

सत्रहवाँ अध्याय

अवशिष्ट सामान्य शस्त्र-कर्म

भिन्न-भिन्न तन्त्रों से सम्बन्धित सामान्य शस्त्र-कर्मों का वर्णन पिछले अध्यायो मे किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त कुछ अवशिष्ट सामान्य शस्त्र-कर्मों का वर्णन इस अध्याय के अन्तर्गत करना है।

शूचिकाभरण

मुख द्वारा प्रयोग न करके सिरिज या पिचकारी एव एक पोली सुई की सहायता से औषधि को उपयुक्त स्थान पर शरीर धातुओ मे प्रविष्ट कर देना ही इजेक्शन, सुई लगाना, शूचिकाभरण, अन्तःक्षेपण या शूचीवेध चिकित्सा कहा जाता है। इस प्रकार प्रविष्ट की गई औषधि सीधे रक्त मे शोषित-होकर अपना प्रभाव व्यक्त करती है।

इन्जेक्शन के लिए निम्न मुख्य आदेश ध्यान मे रखने चाहिए—

१—जब बेहोशी आदि के कारण मुख द्वारा औषधि दिया जा सकना सम्भव न हो अथवा मुख द्वारा प्रयुक्त औषधि वमन के कारण आमाशय मे ठहर न पाती हो।

२—कुछ औषधियाँ मुख द्वारा नही दी जा सकती, इन्जेक्शन द्वारा ही दी जा सकती हैं क्योंकि मुख द्वारा दिए जाने से आमाशयिक रस से उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है यथा पेनिसिलिन। इसके अतिरिक्त कुछ औषधियाँ ऐसी है जो मुख द्वारा दी जाने पर रक्त मे शोषित ही नहीं होती, फलतः सार्वदैहिक प्रभाव नही हो पाता। इनका इन्जेक्शन द्वारा ही प्रयोग सम्भव है यथा स्ट्रेप्टोमायसीन। आन्त्रनलिका मे ही प्रभाव को सीमित रखने के लिए स्ट्रेप्टोमायसीन का आन्त्रामाशय शोथ मे तथा पेनिसिलिन के एक विशिष्ट योग का मुख द्वारा भी प्रयोग किया जाता है।

सीरम एवं सार्वदैहिक प्रभाव के लिए वैक्सीन का प्रयोग भी प्रायः इन्जेक्शन द्वारा ही होता है।

३—जब शीघ्र ही तथा तीव्र प्रभाव डालना आवश्यक हो यथा अवसाद की अवस्था में कोरामिना, कैम्फर आदि हृदयोत्तेजक औषधियों का प्रयोग तथा पीडाहरण के लिए मौर्फीन, मलेरिया के लिए कुनीन आदि का प्रयोग।

४—पचन-संस्थान की कुछ ऐसी विकृतियाँ जिनमें यह आशा न हो कि मुख द्वारा दी गई औषधि का भली प्रकार आसानी से शोषण हो सकेगा। यह तो निश्चित्-सा है कि मुख द्वारा जितनी भी औषधि दी जाती है उसका कुछ न कुछ अंश मल के साथ में उत्सर्गित हो जाता है। सम्पूर्ण औषधि रक्त में शोषित नहीं हो पाती जब कि इन्जेक्शन द्वारा दी गई औषधि के सम्बन्ध में यह निश्चित है कि वह पूर्णतः रक्त में शोषित होकर अपना प्रभाव व्यक्त करेगी। जीवनीय गण, यकृत सत्व; कैल्शियम के योग आदि इसीलिए इन्जेक्शन द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं।

५—कुछ ऐसे पदार्थ भी हैं जिनका इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग करने से भिन्न प्रकार का प्रभाव पडता है जो मुख द्वारा प्रयोग किए जाने से सम्भव नहीं। दुग्ध का पेशीगत इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग शरीर की प्रतिकार शक्ति को उत्तेजना देता है जब कि मुख द्वारा दूध के पीने से इस प्रकार का प्रभाव सम्भव नहीं।

निषेध—१—इन्जेक्शन चिकित्सा के लिए कोई विशेष निषेध[1] न होते हुए भी जब मुख द्वारा औषधि प्रयोग से ही लाभ हो सकता हो तथा रोगी से यह आशा भी की जा सकती हो कि वह मुख द्वारा औषधि सेवन करता रहेगा; इन्जेक्शन की शरण न लेना ही अच्छा है।

२—उपयुक्त साधनों के अभाव में भी इन्जेक्शन देना उचित नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए यदि औषधि ऐसे रूप में उपलब्ध नहीं कि उसको इन्जेक्शन द्वारा दिया जाना सुरक्षित हो या सिरिंज व सूची को

1. Contra indications.

जीवाणुहीन शुद्ध न किया जा सकता हो तो इन्जेक्शन नही दिया जाना चाहिए।

३—कुछ व्यक्तियों में किसी विशेष औषधि के लिए प्रकृति वैशिष्ट्य[1] हुआ करती है। उन व्यक्तियो मे इन्जेक्शन द्वारा ऐसी औषधि का प्रयोग ठीक नही। प्रत्येक अवस्था मे इसका ज्ञान पहले से ही होना सम्भव नहीं है, अतः उपद्रवों के लिए भी तैयार रहना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि चिकित्सक को केवल औषधि की प्रयोगविधि से ही परिचित नहीं होना है अपितु इस बात का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए कि जिस औषधि को प्रयुक्त किया जा रहा है उसके अमुक प्रकार के उपद्रव हो सकते है। साथ ही सम्भावित उपद्रव के शमन के लिए सम्पूर्ण साधन पहले से ही तैयार रखने चाहिए। उदाहरण के लिए सीरम के प्रयोग के समय सिरम रोग[2] सम्बन्धी शीतपित्त आदि की उत्पत्ति की बहुत कुछ सम्भावना है, अतः हिस्टेमीन विरोधी[3] औषधियाँ बैनेड्रायल, एन्थीसान, फिनर्गिन, एड्रीनेलीन कोर्टीकोस्टरोयड प्रत्येक चिकित्सक की चिकित्सा-पेटी मे होना आवश्यक है।

४—जन्म से मृत्युपर्यन्त किसी भी व्यक्ति को इन्जेक्शन द्वारा औषधि दी जा सकती है किन्तु मात्रा का निर्धारण रोगी की आयु अथवा अवस्था के अनुसार किया जाना चाहिए।

५—कुछ विशेष औषधियो के सम्बन्ध मे विशिष्ट निषेधो का भी ध्यान रखना आवश्यक है जैसा कि उस औषधि से सम्बन्धित साहित्य मे प्रायः सदैव ही दिया रहता है।

प्रारम्भिक तैयारी—उपकरणों की शुद्धि—यह नितान्त आवश्यक है कि इन्जेक्शन देने से पूर्व सिरिज, नीडिल तथा लवण जल का अन्तः क्षेपण करते समय काच पात्र, रबर की नली आदि सभी जीवाणुहीन शुद्ध कर लिए जायँ। इनको सामान्य जल मे उबाल कर शुद्ध किया जा सकता है और यही सर्वोत्तम

1. Idiosyncrasy 2. Serum-sickness 3. Antihistaminic Drugs.

विधि है। रेक्टीफायड स्पिरिट या साधारण मेथीलेटेड स्पिरिट मे डाले रखकर भी सिरिंज नीडिल आदि को जीवाणुहीन शुद्ध रखा जा सकता है; किन्तु यदि स्पिरिट से सिरिज को शुद्ध किया जाता है तो अच्छा हो यदि सिरिंज मे औषधि भरने से पूर्व उसको शुद्ध परिस्रुत जल या औषधि के कुछ अशों से ही धोकर साफ कर दिया जाय ताकि स्पिरिट के अश न रहें।

इजेक्शन द्वारा द्रव औषधियाँ ही प्रयुक्त की जा सकती है, अतः औषधियो के अधिकाशतः शुद्ध जल या किसी अन्य द्रव मे घोल बना लिए जाते हैं। यह नितान्त आवश्यक है कि इजेक्शन द्वारा प्रयोग के लिए ये सभी घोल जीवाणुहीन शुद्ध हों। ये घोल प्रायः स्वतः तैयार नहीं किए जाते बल्कि तैयार किए हुए ही मिलते हैं, अतः यदि औषधि किसी विश्वसनीय निर्माता से प्रात की गई है तो उसकी जीवाणुहीनता मे सन्देह नहीं किया जा सकता। कभी-कभी इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग के लिए औषधि चूर्ण के रूप मे आती है। जीवाणुहीनता का ध्यान रखते हुए इसको शुद्ध परिस्रुत जल मे घोलकर तत्क्षण इन्जेक्शन तैयार कर लिया जाता है।

इन्जेक्शन के लिए रोगी की तैयारी का कोई प्रश्न नहीं। यह बात दूसरी है कि किसी विशेष औषधि के लिए रोगी को विशेष रूप मे तैयार करना हो। एन० ए० बी० या शिरा द्वारा सज्ञाहरण के प्रयोग मे कुछ विशेष सावधानियाँ रखना आवश्यक होता है। इस स्थल पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि किसी विशेष औषधि के सम्बन्ध के निर्माता द्वारा किसी विशेष प्रकार के आदेश दिए गये हों तो उनका ध्यान रखना आवश्यक है।

इन्जेक्शन के प्रकार—

इन्जेक्शन कई भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते है यथा —

स्थानिक—जब औषधि अपने स्थानिक प्रभाव के लिए—सार्वदैहिक प्रभाव के लिए नहीं जैसा कि बहुधा होता है—किसी स्थल विशेष पर प्रविष्ट की जाती है तो उसको स्थानिक इजेक्शन[1], कहना चाहिए जैसे कारबकल की चिकित्सा

1. Local Injection.

में पेनिसिलिन का स्थानिक प्रयोग। नेत्रश्लेष्मलाधः[1], हृत्पेश्यान्तर्गत[2] अथवा मस्तिष्क गुहागत[3] इन्जेक्शन भी स्थानिक कहे जा सकते हैं क्योंकि इनका उद्देश्य क्रमशः नेत्रगुहागत अवयवों, हृत्पेशी तथा मस्तिष्क को सीधा लाभ पहुँचाना होता है।

उपचर्माधः या अन्तस्त्वक्—जब औषधि चर्म के ऊपरी पर्त उपचर्म[4] के नीचे अर्थात् स्वतः चर्म के मध्य में पहुँचाई जाती है तो उसको अन्तस्त्वक्[5] इन्जेक्शन कहना चाहिए। मसूरिका के लिए लगाया जाने वाला टीका अन्तस्त्वक् इन्जेक्शन ही है।

स्थानिक अथवा अन्तस्त्वक् इन्जेक्शन, इन्जेक्शन के असाधारण प्रकार हैं जो कभी-कभी काम में आते हैं। अधिकाश मे प्रयुक्त प्रकार निम्न हैं—

चर्माधः इन्जेक्शन—त्वचाधः या चर्माधः इन्जेक्शन[6] से तात्पर्य चर्म के नीचे औषधि पहुँचा देना है। एड्रीनेलीन, इन्स्युलीन, शामक एव हृदयोत्तेजक औषधियाँ आदि इसी प्रकार दी जाती हैं। यह इन्जेक्शन बाहु, अग्रबाहु, उरु या उदर प्रान्त आदि किसी भी स्थान पर दिया जा सकता है, यदि औषधि की मात्रा अधिक है यथा प्रत्यलर्क वैक्सीन[7] तो इन्जेक्शन उदर प्रान्त मे दिया जाना है; यदि रोगी स्वतः अपने इन्जेक्शन देता है तो उरु प्रान्त का बाहरी पृष्ठ अधिक उपयुक्त पड़ता है।

औषधियुक्त सिरिंज दाहिने हाथ मे पकड़ी जाती है तथा बाएँ हाथ की तर्जनी अँगुली व अँगूठे की सहायता से चर्म को शुद्ध करने के बाद पकड़कर थोड़ा ऊपर उठाकर वहाँ सुई प्रविष्ट कर दी जाती तथा पिस्टन दबाकर औषधि अन्दर पहुँचा दी जाती है। प्रत्येक इन्जेक्शन देते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि सुई को पूरा अन्दर प्रविष्ट न कर दिया जाय क्योंकि जोड़ पर से ही उसके टूट जाने की सम्भावना रहती है, अतः सदैव सुई की $\frac{2}{3}$ या $\frac{3}{4}$ लम्बाई

1. Subconjunctival 2. Intracardiac 3. Intraventricular 4. Epidermis 5. Intradermal 6. Subcutaneous Injection. 7. Anti rabbic Vaccine.

ही अन्दर प्रविष्ट की जानी चाहिए ताकि यदि टूट भी जाय तो आसानी से उसको पकड़ कर बाहर निकाला जा सके।

अन्तःपेशी इंजेक्शन[1]—पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमायसीन, दुग्ध आदि असंख्य औषधियों का प्रयोग इसी मार्ग से किया जाता है, औषधि पेशी सूत्रों के मध्य में पहुँचा दी जाती है तथा वहाँ से धीरे-धीरे उसका रक्त में शोषण हो जाता है। इस इंजेक्शन के लिए ऊर्ध्व बाहु के ऊपरी भाग या बाह्यपृष्ठ या पुट्ठे[2] का ऊर्ध्व बाह्य चतुर्थांश[3] ही उपयुक्त पड़ता है। अन्तःपेशी इंजेक्शन देते समय इस बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि औषधि शिरा में प्रविष्ट न हो जाय अथवा तन्त्रिका सूत्रों को क्षति न पहुँचने पावे और इस उद्देश्य से उपरोक्त स्थान ही सर्वोपयुक्त पड़ते हैं। इंजेक्शन दे चुकने के बाद ही सुई को निकाल कर इंजेक्शन देने के स्थान पर हलका मर्दन किया जा सकता है ताकि औषधि का पेशीसूत्रों में वितरण हो जाय।

चर्माधः या अन्तःपेशी इंजेक्शन का एक विशेष उपद्रव इंजेक्शन के स्थान पर पूयोत्पत्ति हो जाना है और इसका कारण जीवाणुहीनता का पूर्ण ध्यान न रखना ही हो सकता है। यदि पूयोत्पत्ति हो जाती है तो विद्रधि की तरह उसकी चिकित्सा की जानी चाहिए।

अन्तःशिरा इन्जेक्शन[4]—इसका तात्पर्य औषधि को शिरामार्ग से सीधा रक्त में प्रविष्ट कर देना है। कई अवसरों पर इस प्रकार औषधि का शिरामार्ग में प्रवेश कर देना जीवन रक्षक होता है इसमें कोई सन्देह नहीं किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि क्योंकि चिकित्सा की यह पद्धति जीवन-रक्षक होती तथा सरल भी है, अतः सदैव ही इसकी शरण ली जाय, यह ठीक नहीं—शिरामार्ग से औषधि उसी अवस्था में देनी चाहिए जब रोगी की जीवन-रक्षा के लिए उसकी नितान्त आवश्यकता हो। साधारणतया शिरा द्वारा औषधि प्रयोग के सम्बन्ध में निम्न आदेश ध्यान में रखने हैं—

1. Intramuscular 2. Gluteal region 3. Upper Lateral Quadrant. 4. Intravenous Injection.

१—जब रोगी की जीवन-रक्षा के लिए औषधि का तत्क्षण प्रभाव डालना अभीष्ट हो। इस प्रकार के असख्य उदाहरण दिए जा सकते है यथा मधुमेह-जन्य संन्यास की अवस्था मे इन्स्यूलीन, हृदयावसाद की अवस्था में कोरामिन आदि हृदयोत्तेजक पदार्थ, रोहिणी[1] के उग्र रूप होने पर रोहिणी प्रतिविष[2] तथा घातक मलेरिया को एकदम शान्त करने के लिए कुनीन का शिरामार्ग द्वारा प्रयोग ही प्रशस्त है।

२—जब औषधि की मात्रा इतनी अधिक हो कि उसको शीघ्रता के साथ अन्य प्रकार से रक्त मे न पहुँचाया जा सकता हो यथा लवण जल, ग्लूकोज या प्लाज्मा आदि का शिरा द्वारा आधान।

३—जब औषधि के अधिक उग्र प्रभाव की आवश्यकता हो तथा उतना उग्र प्रभाव अन्य मार्गों से सम्भव न हो तब औषधि इसी मार्ग से दी जानी चाहिए। उदाहरण के लिए धनुस्तम्भ[3] या रोहिणी विरोधी सीरम के शिरा द्वारा दिए जाने से अधिक प्रभाव पड़ता है। जबकि अन्तःपेशी इन्जेक्शन द्वारा उतना प्रभाव सम्भव नहीं।

४—कुछ औषधियाँ पेशीमार्ग से नहीं दी जा सकती क्योंकि वे अधिक क्षोभक[4] होने के कारण कोथ[5] की उत्पत्ति कर सकती है उनका शिरामार्ग से देना ही आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए नियोआर्सेफिनेमीन या कैल्शियम क्लोरायड शिरा द्वारा ही दिए जाने चाहिए।

उपरोक्त स्पष्ट आदेशो के अभाव मे शिरामार्ग द्वारा औषधि देना ठीक नही विशेषकर क्षीण शरीर, दुर्बल, वृद्ध व्यक्तियो मे। क्योंकि शिरागत इन्जेक्शन के कुछ विशेष उपद्रव भी हो सकते है जो स्वतः रोगी के जीवन को खतरे मे डाल देते है।

शिरा का चुनाव—अन्तःशिरा इन्जेक्शन ऐसे स्थान पर ही दिया जा सकता है जहाँ पर कि शिरा को चर्म के नीचे अनुभव किया जा सके और इस दृष्टि से कूर्पर सन्धि का पूर्व पृष्ठ अर्थात् कुहनी का सामने का भाग सर्वो-

1. Diphtheria 2. Diphtheria Anti-toxin 3. Tetanus 4. Irritant 5. Necrosis.

प्रयुक्त है। लगभग सभी शिरागत इन्जेक्शन यहीं दिए जाते हैं। कुछ व्यक्तियों में इस स्थल पर कई शिराएँ दिखाई पडती हैं और यथार्थ बात यह है कि जिस शिरा में भी सम्भव हो, इन्जेक्शन दिया जा सकता है, इतना अवश्य ध्यान रखना है कि जो भी शिरा अपने स्थान पर दृढता के साथ स्थिर होती है उसमें इन्जेक्शन देना आसान होता है किंतु जो सुई के दबाव के साथ इधर-उधर हटने लगती है उसमें इन्जेक्शन देना कठिन होता है। इस दृष्टि से बहिर्बाहु[1] या अंतर्बाहु[2] मुख्य शिराएँ हैं जिनमें शिरागत इन्जेक्शन दिए जाया करते हैं।

कभी-कभी स्थूल शरीर व्यक्तियों में इस स्थल पर शिरा का मिलना असम्भव-सा होता है। कुछ में एक नीला-सा धब्बा ही प्रतीत होता है और उसी में इन्जेक्शन दिया जा सकता है। यदि कुहनी पर शिरा का मिलना सम्भव न हो सके तो हाथ के पश्चात् पृष्ठ अर्थात् पीछे की ओर किसी भी शिरा में इन्जेक्शन दिया जा सकता है किंतु इन शिराओं के सम्बन्ध में इस बात के लिए सावधान रहना है कि कभी-कभी सुई चर्म को छेद कर शिरा के अन्दर प्रविष्ट होने के बाद भी ऊपर या नीचे इधर-उधर हट जा सकती है।

यदि बाहु में कोई भी शिरा उपलब्ध न हो सके तो गुल्फ सन्धि के अंदर की ओर पश्चात् अंतर्जंघिका[3] शिरा में भी कभी-कभी इन्जेक्शन देना पडता है।

बच्चों में उपरोक्त शिराओं के अतिरिक्त किसी कपाल प्रदेशीय शिरा बहिर्ग्रीवा शिरा[4] अथवा ऊर्ध्वस्थ पूर्व पश्चात्गामी शिरानाल[5] से भी शिरागत इन्जेक्शन दिए गए हैं। इस शिरानाल में इन्जेक्शन में अग्र कलान्तराल ब्रह्मरन्ध्र[6] के मार्ग से दिया जाता है जब ठीक मध्य में ब्रह्मरन्ध्र के पश्चात् कोण में सुई प्रविष्ट की जाती है।

किसी भी शिरा में इन्जेक्शन क्यों न दिया जाय सुई अंदर प्रविष्ट हो

---

1. Median Cephalic 2. Median Basilic 3. Posterior Tibial 4. External Juglar Vein 5. Superior Longitudenal Sinus. 6. Aterior Fontanella.

जाने के पश्चात् पिस्टन को थोडा खीचकर इस बात का निश्चय कर लेना है कि सुई शिरा मे प्रविष्ट हुई अथवा नही और यह बात सिरिंज मे रक्त आ जाने से स्पष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शिरा के स्थान पर सुई धमनी मे प्रविष्ट न हो जाय। इन्जेक्शन देने के लिए यदिशिरा को काट कर स्पष्ट करना पडता है तो लगभग एक इन्च शिरा स्पष्ट की जानी चाहिए।

जीवाणुहीनता—प्रत्येक प्रकार के इन्जेक्शन विशेपकर शिरागत इन्जेक्शन के समय जीवाणुहीनता का ध्यान रखना नितात आवश्यक है, सिरिंज सूची आदि सभी उबालकर शुद्ध कर लिए जाने चाहिए, प्रयुक्त औषधि भी अवश्य ही शुद्ध होनी चाहिये। प्रायः सभी इन्जेक्शन एम्पूल मे तैयार ही मिलते हैं जो जीवाणु रहित शुद्ध होते है। उनके सम्बध मे निर्माणकर्ता द्वारा दिए गए सभी आदेशो को ध्यान मे रखना है और यह भी कि औपधि नियत तिथि के बाद काम मे न लाई जाय।

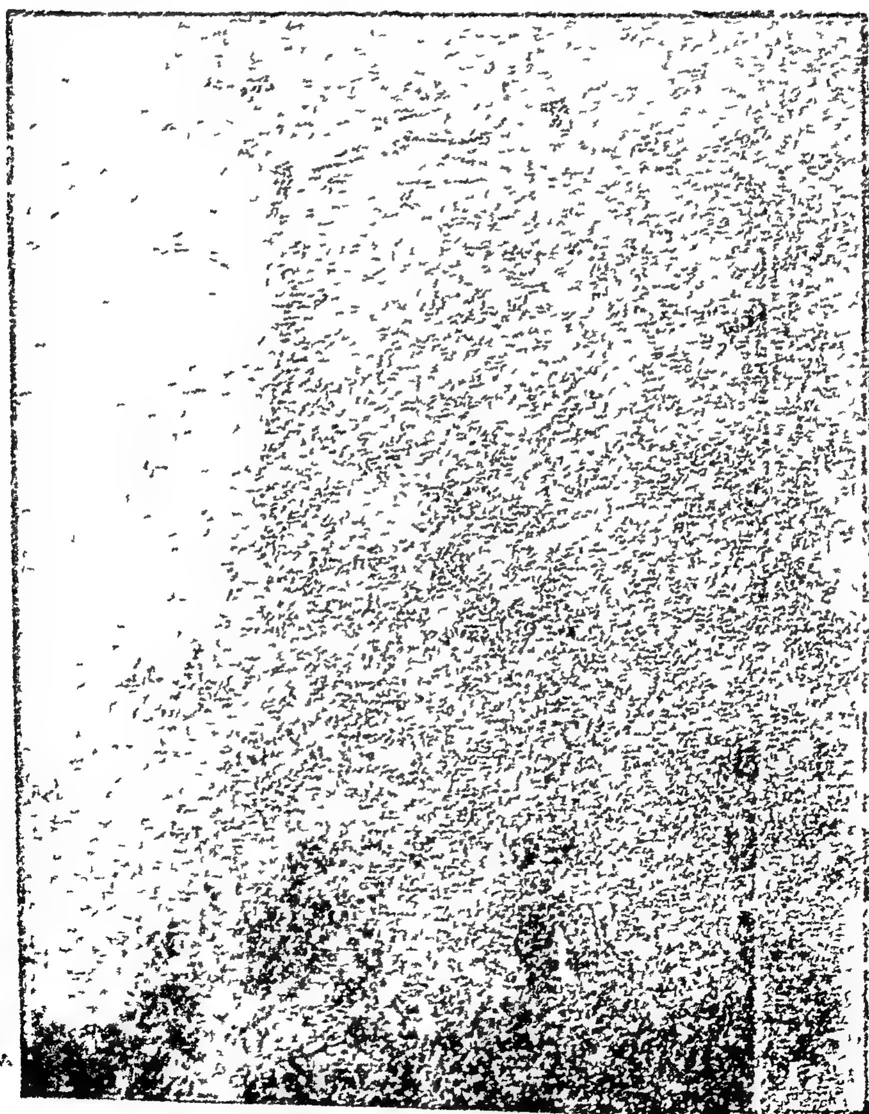
सूचीवेध करने से पहले जिस स्थान पर सूचीवेध करना है उस स्थान के चर्म को भी शुद्ध कर लेना है और इसके लिए चर्म को साबुन एव पानी से साफ करके टिंचर आयोडीन लगा दी जा सकती है, किंतु साधारणतया रेक्टीफायड या मेथीलेटेड स्पिरिट का प्रलेप ही पर्याप्त होता है। कभी-कभी ऐसा अवश्य होता है कि शिरा यदि बहुत सूक्ष्म है तो स्पिरिट के प्रलेप से स्थानिक धातुओं के सकोच के कारण वह और भी अदृश्य-सी हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उष्ण जल के फाए से स्थान को साफ करना ठीक पडता है।

इन्जेक्शन की विधि—रोगी को पूर्णतः लेटी हुई या अधलेटी अवस्था मे रखा जाता तथा उसकी भुजा को बाहर को ओर फैलाकर किसी तकिए आदि पर स्थिर कर लिया जाता है। रोगी को बिठाकर तथा भुजा को सामने मेज पर फैलाकर भी इन्जेक्शन दिया जा सकता है किंतु उपयुक्त यही है कि उसको लिटाकर ही इन्जेक्शन दिया जाय।

ऊर्ध्व बाहु के चारो ओर टूर्नीकेट, रूमाल या अन्य मुलायम डोरी लपेट कर कसी जा सकती है किंतु इस बात का अवश्य ध्यान रखना है कि इनमे गाँठ

इस प्रकार दी जाय कि सुई के शिरा मे प्रविष्ट हो चुकने के पश्चात् उसको आसानी से विना भुजा को थोड़ा भी हिलाए-डुलाए खोल दिया जा सके। इस प्रकार करने से रक्त प्रवाह मे बाधा पडती तथा शिरा स्पष्ट हो जाती है। किसी दूसरे व्यक्ति से बाहु के ऊपरी भाग मे शिरा को इस प्रकार कसवा लिया जाना सुविधाजनक रहता है।

अब औषधियुक्त सिरिंज से सलग्न शूची शिरा मे प्रविष्ट की जाती है (चित्र १०५)। ऊपरी दबाव के कारण शूची के शिरा मे प्रविष्ट होते ही



चित्र १०५—शिरागत इन्जेकशन

सिरिंज में रक्त आ जाता है और यदि नहो आना तो पिस्टन को थोडा खींचकर देखा जा सकता है कि रक्त आया अथवा नहीं—रक्त का आना इस बात का परिचायक है कि शूची यथार्थतः शिरा मे ही प्रविष्ट हो चुकी है। शूची के शिरा मे पहुँच चुकने पर ऊर्ध्व बाहु पर के बन्धन को ढीला कर दिया जाता तथा पिस्टन दबाकर धीरे-धीरे औषधि अन्दर प्रविष्ट कर दी जाती है। कभी-कभी क्षीणकाय, विशेष कर वृद्ध व्यक्तियों मे यह देखा जाता है कि शिरा स्पष्ट तो होती है किंतु दृढता के साथ नीचे तल की धातुओं के साथ स्थिर न होने के कारण शूची प्रवेश करते समय इधर-उधर हटने लगती है। ऐसी स्थिति मे सर्वोपयुक्त यह है कि जिधर को शिरा हट रही है उसी ओर शूची का रुख रखते हुए दबाव डाला जाय यहाँ तक कि सूची चर्म मे छिद्र करने के पश्चात् शिरा मे प्रविष्ट हो जाय।

शिरागत इन्जेक्शन के लिए उपयुक्त आकार की सूची १२ न० ली जानी चाहिए और शूची जितनी ही अधिक तेज होगी उतना ही अच्छा रहेगा, कुण्ठित शूची के प्रयोग से रोगी को कष्ट होता तथा शिरा मे उसको प्रविष्ट करने मे भी कठिनाई होती है।

सावधानियाँ—शिरा मार्ग से औषधि प्रयोग सरल कार्य नही समझा जाना चाहिए क्योंकि औषधि सीधे रक्त प्रवाह मे पहुँच कर रक्त की प्राकृतिक रचना मे एक स्पष्ट परिवर्तन उत्पन्न कर देती है जो यदि इस प्रकार का है जिसे शरीर सहन नही कर सकता तो हानि अवश्य सम्भाव्य है और फिर इस हानि को रोका भी नही जा सकता, क्योकि जो औषधि रक्त मे एक बार प्रविष्ट हो चुकी फिर वह लौटाई नही जा सकती। अतः शिरागत इन्जेक्शन के सम्बन्ध मे विशेष सतर्क रहते हुए निम्न बातो का ध्यान रखना है—

१. जिस औषधि को शिरा मार्ग से दिया जाता है उससे सम्बन्धित सम्पूर्ण साहित्य चिकित्सक द्वारा समझा होना चाहिए, औषधि की मात्रा, प्रयोग विधि, घोल के लिए माध्यम, घोल की शक्ति, औषधि प्रभाव, प्रयोग से सम्भावित दुष्परिणाम एवं उन दुष्परिणामों के प्रतिकार के साधन आदि सभी बातें चिकित्सक को स्पष्ट होनी चाहिए। शिरा मार्ग द्वारा प्रयोग के लिए औषधि

विश्वस्त कम्पनी द्वारा निर्मित हो तथा चिकित्सक का कर्तव्य है कि प्रयोग करने से पूर्व निर्माता द्वारा प्रस्तुत तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन कर ले; विशेष कर औषधि प्रयोग सम्बन्धी निषेधों का।

२. सम्भावित दुष्परिणामों के प्रतिकार के लिये जिन भी साधनों की आवश्यकता है; इन्जेक्शन देना प्रारम्भ करने से पूर्व ही वे भी तैयार रखने चाहिए। इसीलिए एड्रीनेलीन, कोरामिन आदि का पास होना आवश्यक है।

३. रोगी की पूर्ण परीक्षा कर लेना भी नितांत आवश्यक है विशेष कर हृदय की कि उसमें कोई हृतकपाट[1] या हृतपेशी[2] सम्बन्धी विकृति न हो और इस प्रकार की परीक्षा उस अवस्था में और भी अधिक आवश्यक है जब औषधि अधिक मात्रा में प्रयुक्त की जा रही है क्योंकि इस प्रकार के प्रयोग से हृदय पर सीधा विशेष भार पड़ता है। जिसको यदि वह दुर्बल अथवा विकृत है तो सम्भाल नहीं सकता, श्वसन संस्थान की परीक्षा भी आवश्यक है। वृक्क एवं यकृत की कार्यक्षमता का भी ध्यान रखना है क्योंकि यदि वृक्क ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर रहे तथा मूत्र में एल्ब्यूमिन जाती है तो आर्सेनिक व स्वर्ण आदि के योगों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि यकृत विकृत है तो संखिया योग के शिरामार्ग से प्रयोग से कामला की उत्पत्ति हो सकती है।

४. यदि सम्भव हो तो रोगी से पूछकर यह भी जानने का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि पूर्व समय में शिरागत इन्जेक्शन से कभी कोई विशेष दुष्परिणाम तो नहीं उत्पन्न हुए; क्योंकि औषधियों के प्रति व्यक्तिगत प्रकृति के विषय का ध्यान भी रखना आवश्यक है।

५—यदि किसी औषधि के शिरामार्ग से प्रवेश के लिए विशेष तैयारी की आवश्यकता हो तो वह भी पूरी कर ली जानी चाहिये।

६—इन्जेक्शन के पश्चात् रोगी को कुछ समय तक लिटाये रखना आवश्यक है विशेष कर आर्सेनिक आदि इन्जेक्शन के पश्चात्।

1. Valves 2. Myocardium.

७—इन्जेक्शन देते समय सतत: रोगी के चेहरे तथा इन्जेक्शन के स्थान पर दृष्टि रखनी चाहिये। यदि रोगी के चेहरे से किसी विशिष्ट उपद्रव की आशंका हो अथवा औषधि शिरा के बाहर जाती मालूम पडे तो शूची को तत्क्षण निकाल लिया जाना आवश्यक है।

८—शिरा मे औषधि प्रविष्ट करते समय वायु के बुलबुले अन्दर प्रविष्ट न होने पावे यह अच्छा ही है और इसकी सावधानी भी रखनी ही चाहिए अन्यथा यह भी सत्य है कि किसी प्रकार वायु के अन्दर प्रविष्ट हो जाने से भी कोई उपद्रव उत्पन्न होते नही देखे गए।

९—यह एक असंदिग्ध सत्य है कि औषधि की मात्रा की अपेक्षा उसको प्रवेश करने की गति से उपद्रव उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है। अतः औषधि को सदैव धीरे-धीरे प्रविष्ट किया जाना चाहिए ताकि उपद्रव उत्पन्न होने की सम्भावना घट जाय और यही कारण है कि कभी-कभी बिन्दुशः अन्तःक्षेप[1] की विधि को अपनाना आवश्यक होता है।

यथार्थ बात तो यह है कि गति औषधि की प्रकृति, रोगी की हालत एवं घोल की शक्ति के बल पर निर्भर करती है। अति बल लवण जल[2] के अन्तःक्षेप की गति समबल लवणजल[3] के अन्तःक्षेप की गति से कम ही होनी चाहिए।

कुछ बाधाएं एवं उनका प्रतिकार—औषधि शिरा के अन्दर ही प्रविष्ट की जाती है, अतः जबतक शिरा पूर्ण रूप से स्पष्ट न हो जाय सुई को प्रविष्ट करने का प्रयत्न करना ठीक नहीं। शिरा को स्पष्ट करने के लिए ऊर्ध्व बाहु को सहायक से दबवाया जा सकता या रूमाल, तौलिया, मुलायम रस्सी या टूर्नीकेट से कसा जा सकता है; अग्रबाहु के पूर्व पृष्ठ को ऊपर की ओर मर्दन करने एवं कुहनी को दो-चार बार मोड़ने से भी शिरा के स्पष्ट होने मे सहायता मिलती है।

1. Intravenous drip. 2. Hypertonic. 3. Isotonic.

कभी-कभी सुई चर्म मे प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् भी शिरा मे प्रविष्ट नही हो पाती। ऐसी स्थिति मे सुई को थोडा इधर-उधर भिन्न-भिन्न दिशाओं मे करके अन्दर की ओर किया जाता है और वह शिरा मे पहुँच जाती है। किंतु इधर-उधर करते समय इस बात के लिए भी सावधान रहना चाहिए कि ओषधि चर्म के नीचे न पहुँच जाय। यदि सफलता न मिले तो सुई को निकाल-कर फिर उसी बाहु मे या दूसरी बाहु मे चुभोया जाता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सुई शिरा मे पहुँचकर फिर उसके पश्चात् भित्ति को छेद कर बाहर निकल आती है। ऐसा होने पर सुई को थोड़ा खीच-कर शिरा मे ही ले आया जा सकता है।

कभी-कभी यद्यपि बहुत कम ऐसा भी होते देखा गया है कि औषधि अन्दर प्रविष्ट होते-होते एकदम रुक जाय। इसका कारण यह होता है कि शिरा की भित्ती शूची के मुख पर आकर उसको अवरुद्ध कर देती है। ऐसी स्थिति मे सुई को थोडा ही बाहर की ओर खीचकर फिर ओषधि अन्दर प्रविष्ट की जाने लगनी चाहिए।

उपद्रव एव उनकी व्यवस्था—औषधियों के दुष्परिणाम जन्य उपद्रवों की व्याख्या इस स्थल पर नही की जा सकती क्योंकि यह औषधियो के गुणाव-गुणों के वर्णन से सबन्धित है। इन्जेक्शन देने की विधि से सबन्धित जो प्रधान दुर्घटना है वह औषधि का शिरा के बाहर इधर-उधर निकल जाना है। यदि ओषधि विशेष क्षोभक नहीं और इस प्रकार की है कि उसको पेशीगत इन्जेक्शन के रूप में भी दिया जा सकता है तो इस प्रकार की दुर्घटना हो जाने का कोई भी महत्त्व नही क्योंकि चर्माधः प्रान्त मे पहुँची हुई थोडी-सी औषधि विशेष कष्टकर नही होगी। किन्तु यदि औषधि विशेष क्षोभक है तो अवश्य विशेष कष्टकर होती है। कभी-कभी संपूर्ण बाहु शोथ युक्त हो जाती तथा रोगी को बहुत पीडा होती है जो कई दिन तक चलती रहती है।

इन्जेक्शन देते समय यदि औषधि इधर-उधर जाती मालूम पड़े तो औषधि को अन्दर प्रविष्ट करना एकदम बन्द करके सुई को वही लगी रहने देकर

सिरिंज को अलग कर लिया जाता है। सुई से खाली सिरिंज लगाकर प्रविष्ट हो चुकी औषधि मे से जितनी भी सम्भव हो सके वापस खींच ली जाती है। केवल इतना ही नही खाली सिरिज द्वारा उस स्थान पर शुद्ध परिस्रुत जल प्रविष्ट कर और उसको वापस खींचकर एक प्रकार से प्रक्षालन-सा कर दिया जाता है। शुद्ध जल के स्थान पर ऐसी औषधि के घोल का प्रयोग किया जा सकता है जो प्रविष्ट औषधि को निष्क्रिय कर सके। उदाहरण के लिए नियोसालवर्सन के लिए पाँच सी० सी० परिस्रुत जल मे १० ग्रेन सोडियम थायोसल्फेट का घोल इस दृष्टि से उपयुक्त है।

इसके पश्चात् इन्जेक्शन के स्थान पर सेंक या शीत प्रयोग भी लाभकर है बाहु को पीड़ा शान्त होने तक आराम की स्थिति मे रखना चाहिए।

कटिवेधन

सुषुम्ना[1] कपाल की पश्चादास्थि के नीचे से प्रारम्भ होकर कशेरुकाओ[2] द्वारा निर्मित नलिका[3] मे होकर प्रथम एव द्वितीय कटि कशेरुका के सगम तक चली जाती है। प्रारम्भ से अन्त तक सुषुम्ना के मध्य मे अवकाश स्थान अर्थात् पोल रहती है जिसमे विशिष्ट तरल पदार्थ का सचार होता रहता है। इस तरल पदार्थ को प्रमस्तिष्क मेरु द्रव[4] कहा जाता है क्योंकि ऊपर की ओर मस्तिष्क द्रव से इसका सीधा सम्बन्ध रहता है। कटिवेधन[5] का उद्देश्य सुषुम्ना के मध्य मे स्थित अवकाश स्थान या नली तक पहुँचकर प्रमस्तिष्क मेरु द्रव से सम्बन्ध स्थापित करना है। क्योकि यह शस्त्र-कर्म कटिप्रान्त में किया जाता है इसलिये कटिवेधन कहलाता है।

कटिवेधन की आवश्यकता निम्न अवस्था मे पडा करती है :—

१ तन्त्रिका सिफिलिस[6] या मस्तिष्कावरण शोथ[7] को अवस्था मे परीक्षा के लिए प्रमस्तिष्क मेरु द्रव निकालना।

---

1. Spinal Chord 2. Vertebra 3. Vertebral canal. 4. Cerebrospinal fluid 5. Lumbar Puncture 6. Neuro-syphilis 7. Meningitis.

२—सुषुम्ना के अर्बुद को क्ष-किरण द्वारा परीक्षा करने के उद्देश्य से सुषुम्ना नलिका में लायपीडोल[1] का इन्जेक्शन।

३—मस्तिष्कावरण शोथ[2] या धनुस्तम्भ[3] की चिकित्सा में औषधि का अन्तःप्रवेश।

४—मस्तिष्क द्रव के दबाव को घटाने के लिए द्रव निकलना तथा

५—सुषुम्नावरोध[4] के रूप में सज्ञाहरण

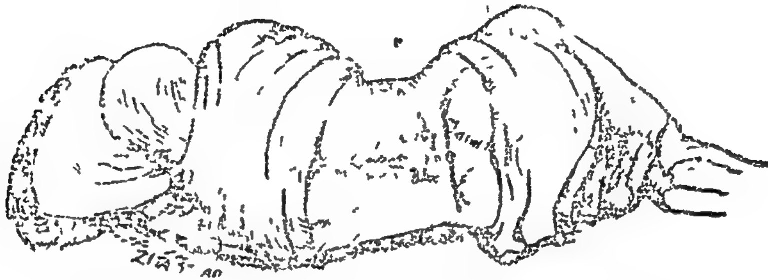
विधि—

विधि का वर्णन करने से पहले यह समझ लेना है कि सुषुम्ना प्रथम कटि कशेरुका के निम्न सिरे पर या द्वितीय कटि कशेरुका के ऊपरी सिरे पर समाप्त हो जाती है। अतः द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ कशेरुका मध्य स्थानों पर वेधन करने से सुषुम्ना को क्षति नहीं पहुँच सकती। प्रायः तीसरे एवं चौथे कशेरुका के मध्य के स्थान को वेधन के लिए चुना जाता है। इस स्थान को स्पष्ट रूप से मालूम करने के लिए जघन धाराओं के सबसे ऊँचे भागों को जो पीठ में पार्श्व की ओर प्रतीत किए जा सकते हैं, मिला दिया जाता है। मिलने वाली यह रेखा मध्य में चतुर्थ कटि कशेरुका पर होकर जाती है। इससे किंचित् ऊपर ही सूची को २½–३ इंच की लम्बाई तक प्रविष्ट किया जाना चाहिए। यह भी ध्यान रखना है कि इस स्थल पर कशेरुका कटक पीछे की ओर पूर्णतः सीधे न होकर थोड़ा ही नीचे की ओर को झुके रहते हैं, अतः प्रविष्ट करते समय सूची का रुख सामने तथा बहुत थोड़ा ऊपर की ओर झुका रहना चाहिए।

रोगी को किसी मेज पर (चारपाई नहीं) बाएँ करवट लिटा दिया जाता है, घुटने ऊपर की ओर मुड़े, शरीर पीछे की ओर यथासम्भव अधिक से अधिक धनुषाकार टेढ़ा ताकि कशेरुकाकण्टक एक दूसरे से पृथक् तने रहें तथा सिर के नीचे तकिया होना चाहिए (चित्र १०६)। चर्म को साफ करके वहाँ

1. Lipiodol 2. Meningitis ३. Tetanus 4. Spinal block.

टिंचर आयोडीन का थोडा प्रलेप कर दिया जाता है। कटिवेधन शूची अथवा जिसे ट्रोकार एवं केन्यूला भी कह सकते हैं उचित स्थल पर सामने की ओर किन्तु थोडा ऊपर की ओर रुख रखते हुए सतत: दृढता के साथ प्रविष्ट की जाती है। प्रविष्ट करते समय चर्म, कशेरुकान्तरिक बन्धन तथा थोडा-सा



चित्र १०६—कटिवेध के लिए रोगी का आसन

सुषुम्नावरण द्वारा प्रतिरोध-सा मालूम पडता है जो दृढता के साथ पार कर लिया जाना चाहिए। २½-३ इञ्च के लगभग अन्दर प्रविष्ट होने पर शूची सुषुम्ना मध्यनलिका मे पहुँच जाती है और उसका पहुँचना प्रतिरोध के हट जाने से अनुभव हो जाता है। ट्रोकार को निकाल लिया जाता है तथा स्वच्छ द्रव शूची मे होकर निकलने लगता है। यदि केवल द्रव निकालना है तो द्रव निकाल लिया जाता है तथा दाबमापक को सलग्न करके सुषुम्ना द्रव का दबाव भी नाप लिया जाता है। यदि सुषुम्ना नलिका मे औषधि भी प्रविष्ट करना है तो इसी शूची के साथ औषधि युक्त सिरिंज सबन्धित की जा सकती है अथवा बार्कर का कुण्ठितशीर्ष केन्यूला[1] प्रथम शूची से होकर ही प्रविष्ट कर दिया जाता है तथा उसकी सहायता से सिरिंज द्वारा औषधि अन्दर प्रविष्ट की जाती है। औषधि अन्दर प्रविष्ट करने से पूर्व थोडा द्रव खींच कर यह निश्चय कर लिया जाना चाहिए कि केन्यूला उचित स्थान पर है अथवा नहीं।

कटिवेधन के समय कुछ कठिनाइयाँ सामने आ सकती है। ट्रोकार अस्थि द्वारा रुक जाता है और इसका कारण ट्रोकार का रुख ठीक न होना, कशेरुक दण्ड का भली प्रकार झुका न होना अथवा अस्थि सन्धि शोथ[2] की उपस्थिति

1. Barker's Blunt Ended Canula 2. Osteo arthritis.

हो सकती है ट्रोकार को चर्म के नीचे तक खींच लिया जाता है तथा रोगी के कशेरुक दण्ड को और भी सामने की ओर मोड़ कर शुद्ध दिशा में उसको पुनः प्रविष्ट किया जाता है। अस्थि सन्धिशोथ की अवस्था में द्वितीय अथवा चतुर्थ कशेरुकान्तरिक स्थान में ट्रोकार प्रविष्ट करने का प्रयत्न किया जाता है किन्तु प्रयत्न के फिर भी असफल होने की सभावना है। रोगी को मेज के किनारे पर बैठाकर पैरों को स्टूल या कुर्सी पर रखकर उसको सामने की ओर झुकाकर तथा साधे रखकर भी कटिवेधन करना सभव है।

यदि मस्तिष्क सुषुम्नाद्रव के स्थान पर ट्रोकार में होकर रक्त निकलने लगे तो यह निश्चित है कि ट्रोकार कशेरुकाओं के पश्चात् पृष्ठ पर स्थित शिराजाल मे प्रविष्ट कर गया है। ऐसा होने पर उसे निकाल कर पुनः प्रविष्ट किया जाना चाहिए। यह भी सभव है कि सुषुम्ना नलिका मे पहुँच कर कैन्यूला और भी आगे बढ जाय और फिर द्रव न निकले, अतः यदि इस बात का निश्चय हो कि ट्रोकार एवं कैन्यूला पूर्ण ठीक प्रकार ही प्रविष्ट किया गया है किन्तु फिर भी कैन्यूला मे होकर द्रव नहीं निकलता तो कैन्यूला में ट्रोकार डालकर उसको कुछ मिलीमीटर ही बाहर की ओर खींच लिया जाता है ताकि वह सुषुम्ना नलिका मे आ जाय।

बहुत छोटे बच्चों मे चतुर्थ कशेरुकान्तरिक स्थान मे ही कटिवेधन किया जाना चाहिए क्योंकि उनमे सुषुम्ना तृतीय कटि कशेरुका के निचले शिरे तक आती है।

गल तुण्डिकाओं का उच्छेदन

गले में जिह्वा के पीछे दोनों ओर एक-एक रहनेवाली ग्रन्थि को गलतुण्डिका या टांसिल[1] कहा जाता है। कभी-कभी चिरकालीन शोथ की अवस्था मे ये बहुत बढ़ जाती हैं तब इनको निकालना आवश्यक होता है। इस शस्त्रकर्म को ही जिसमे गलतुण्डिकाओं को काटकर अलग कर दिया जाता है, गलतुण्डिकाच्छेदन[2] कहते हैं। तीव्र शोथ की अवस्था मे शस्त्रकर्म करना ठीक

1. Tonsils 2. Tonsillectomy.

नही बल्कि यथासम्भव शस्त्रकर्म उसी अवस्था में किया जाना चाहिए जब ग्रन्थियाँ बढी हुई तो हों किन्तु शोथयुक्त न हों।

शस्त्रकर्म की दो विधियाँ हैं—प्रथम तो छेदन करके ग्रन्थियों को निकालना तथा दूसरी एक विशेष यन्त्र जिसे गुलोटीन[1] कहते हैं उसकी सहायता से ग्रन्थियो को निकालना। प्रथम विधि अधिक उपयुक्त है क्योंकि उसमे आसानी से ग्रन्थियो को पूर्ण रूप से निकाला जा सकता है। द्वितीय विधि भी पूर्णतः अनुपयुक्त नही कही जा सकती क्योंकि उससे भी अभ्यस्त चिकित्सक के हाथो ठीक ही कार्य होता है।

छेदन द्वारा गलतुण्डिका निष्कासन—समझदार युवा व्यक्तियों मे यह शस्त्रकर्म स्थानिक सज्ञाहरण द्वारा ही किया जा सकता है। पूर्व एव पश्चात् गल तोरणिका स्तम्भ[2] तथा ऊपरी शिरे पर एड्रीनेलीन युक्त दो प्रतिशत शक्ति के कोकेन घोल का इन्जेक्शन दिया जाता है तथा १० प्रतिशत शक्ति के कोकेन घोल का तुण्डिकाओं पर भली प्रकार लेप कर दिया जाता है। बच्चों अथवा नासमझ बड़े व्यक्तियों मे जिनके अधिक इधर-उधर हाथ-पैर फेंकने की सम्भावना हो गैस आक्सीजन एव ईथर द्वारा सर्वाङ्ग सज्ञाहरण करना अच्छा रहता है। यदि केवल स्थानिक सज्ञाहरण का प्रयोग किया गया है तो रोगी को लिटा कर शस्त्रकर्म करना चाहिए। मुख विस्फारक[3] की सहायता से मुख को खुला रखना तथा शीर्ष प्रकाश[4] की सहायता से मुख के आन्तरिक भाग को शस्त्रकर्म करते समय पूर्णतः प्रकाशित रखना नितात आवश्यक है। मुखविस्फारक इस प्रकार का होना चाहिए कि उसमे जिह्वा दाबक का भी प्रबन्ध हो। सर्वांग संज्ञाहरण की अवस्था मे इसके साथ ही एक नली भी सबन्धित रहनी चाहिए जिसकी सहायता से सज्ञाहरण औषधि पहुँचाई जा सके। रोगी को मेज पर चित् लिटा लिया जाता, कन्धों के नीचे छोटा तकिया रहता तथा सिर पूर्णतः पीछे झुका रहता है। पैरो की अपेक्षा सिर को निम्न तल पर रखना चाहिए। मुख

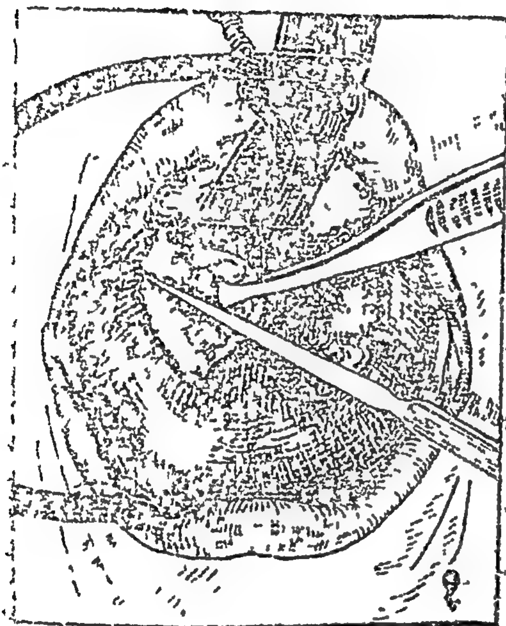
---

1. Guillotine 2. Anterior and Posterior Pillar of fauces 3. Mouth Gag 4. Head light.

विस्फारक प्रविष्ट करने से पूर्व तृतीय स्तर तक की सज्ञाहीनता उत्पन्न कर ली जाती है क्योंकि कास प्रतिवर्त्त क्रिया समाप्त ही होती जाय। मुखविस्फारक प्रविष्ट करते समय ध्यान रखना है कि जिह्वादाबक जितना ही चौड़ा हो उतना ही अच्छा है तथा वह मध्य में रहना चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि रोगी की जिह्वा, जिह्वादावक तथा उसके दाँतों से बीच में न दब जाय। मुखविस्फारक को सहायक द्वारा या सज्ञाहरण करने वाले चिकित्सक द्वारा ही बाहर की ओर साधे रखा जाता है।

एक ओर की गलतुण्डिका को लम्बी चिमटी या विशेष प्रकार की सदंश जिसे वल्सेलम कहते हैं, द्वारा पकड़ लिया जाता है तथा पूर्व तोरणिका पर गलतुण्डिका के किनारे से दो तीन मिलीमीटर हटकर एक लंबा छेदन किया जाता है। किसी कुण्ठित शस्त्र की सहायता से इस छेदन को ऊपर जिह्वा के आधार तक तथा नीचे मृदुतालु तक बढ़ाया जाता है (रोगी की लेटी हुई स्थिति)। तुण्डिका को चिमटी में पकड़े रखकर मध्यरेखा की ओर तना रखते हैं तथा अंगुली चिमटी या अन्य कुण्ठित अस्त्र सेउसे धीरे-धीरे किंतु सावधानी एवं दृढ़ता के साथ अलग करते जाते हैं। कभी-कभी जहाँ आवश्यकता हो सावधानी के साथ कैंची से भी काटा जा सकता है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ग्रन्थि का कुछ भी भाग छूटा न रह जाय। अन्त में थोड़ा मोड़ देकर गलतुण्डिका को अलग करने से पूर्व अच्छा हो यदि अन्तिम बंधन को चिमटी से दबा दिया जाय ताकि रक्तस्राव की संभावना कम हो जाय। इस प्रकार सरलता के साथ गलतुण्डिका को पूर्ण रूप से अलग कर दिया जाता है (चित्र १०८)। यदि किसी रक्तनलिका से रक्त निकलता मालूम पड़े तो उसको धमनी सदंश से केवल दबाया जा सकता है अथवा धमनी सदंश दबाने के साथ ही साथ कैटगट में बाधा भी जा सकता है। ध्यान रखना चाहिए कि यदि शस्त्रकर्म उचित प्रकार से किया गया है तो केशिकाओं से थोड़ा-थोड़ा रक्तस्रावित होता रह सकता है, किसी बड़ी रक्त नलिका के न कटने के कारण एकदम अधिक रक्त नहीं निकलता। हलके एड्रीनेलीन घोल में शुद्ध गौज को भिगोकर शस्त्रकर्म के स्थान पर उसको रख दिया जाता है और फिर

दूसरी ओर को गलतुण्डिका की ओर ध्यान दिया जाता है। दूसरी को भी उपरोक्त विधि से ही निकाला जाता तथा एड्रीनेलीन घोल में भीगे गौज से भर दिया जाता है। कुछ ही क्षणों पश्चात् जब गौज हटाया जाता है तो दोनों पार्श्व शुष्क दृष्टिगोचर होते हैं। किंतु यदि किसी प्रकार उपरोक्त साधारण उपायों द्वारा रक्तस्राव बन्द न हो तो खात में शुद्ध गौज भरकर उसके ऊपर









चित्र १०८—गलग्रन्थि छेदन शल्यकर्म

दोनों पूर्व एवं पश्चात् तोरणिकाओं को कैटगट के टांकों से खींचकर सी दिया जाता है और इस प्रकार गौज का दवाव पडने से रक्तस्राव अवश्य ही वन्द हो जाता है जव दूसरे दिन टांके काटकर अलग कर दिए जाते हैं।

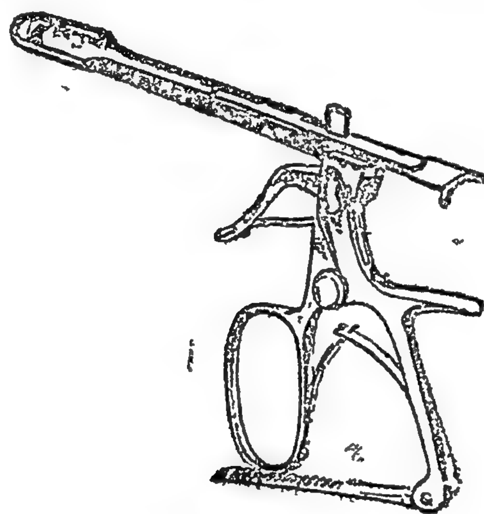
गुलोटोन की सहायता से गलतुण्डिका निष्कासन—यह विधि उन गलतुण्डिकाओं को निकालने मे सफल नहीं होती जो पूर्व एवं पश्चात् तोरणिका के वीच के खात मे दवी हुई अथवा उभरी हुई नहीं अपितु सपाट तल को होती है क्योंकि इनको गुलोटीन मे होकर वाहर की ओर उभारा नहीं जा सकता। वच्चों मे जिनकी गलतुण्डिकाएँ गोलाकार रूप मे स्पष्टतः उभरी होती हैं, यह विधि सफलता के साथ प्रयुक्त की जा सकती है और इसमे भी सदेह नहीं कि एक अभ्यस्त चिकित्सक के हाथो इससे उपरोक्त विधि के सदृश ही फल मिलता है। इस विधि से शस्त्रकर्म भी जल्दी हो जाता है तथा अधिक गहरे सज्ञाहरण की भी आवश्यकता नही पड़ती।

रोगी को चित लिटाकर ईथायल क्लोरायड द्वारा हलका सज्ञाहरण किया जाता है। केवल इतना कि कास प्रतिवर्त क्रिया उपस्थित रहे। डोयन का वन्द मुख विस्फारक[1] अन्दर मुख मे प्रविष्ट कर दिया जाता है। वेहोशी उत्पन्न हो चुकने पर रोगी को दाएँ करवट करके मुख विस्फारक को खोलकर चिकित्सक अपने वाएँ हाथ की तर्जनी अगुली मुख मे प्रविष्ट करके उसकी सहायता से पूर्व गलतोरणिका को थोडा पीछे एव वाहर की ओर दवाता है। ऐसा करने से टॉसिल अन्दर की ओर निकल पडता है। दाएँ हाथ से चिकित्सक गुलोटीन (चित्र १०६) को अन्दर प्रविष्ट करके उसके छल्ले को अन्दर की आर उभरे हुए टासिल पर चढ़ा देता है तथा यन्त्र को उचित प्रकार से दबाकर टासिल को अपने आधार स्तर मे अन्दर की ओर भली प्रकार हटा देता है। वाहर की ओर से भी सहायक थोडा दवाव डाल सकता है ताकि ग्रंथि का अधिकाश या लगभग सभी भाग गुलोटीन के छिद्र मे आ जाय। एक विशेष प्रकार की लम्बी चिमटी की सहायता से शस्त्र के छिद्र मे होकर ग्रंथि को पकडकर भी खींचा जा सकता है। इन सवके वाद चिकित्सक अपने अँगूठे से शस्त्र के चाकू को

1. Doyen's Gag.

जो शस्त्र के अन्दर ही बन्द रहता है, दबाता है इस प्रकार ग्रन्थि का जितना भी भाग गुलोटीन के छिद्र मे रहता है, सब कटकर अलग हो जाता है। इस प्रकार ग्रन्थि को निकालने के पश्चात् चिमटियों मे लगे हुए शुद्ध प्लोतों की सहायता से शस्त्रकर्म के स्थान से निकलने वाले रक्त आदि को साफ कर दिया जाना चाहिए। बायीं ओर की गलतुण्डिका भी इसी विधि से निकाल दी जाती है। चेहरे पर बरफ युक्त ठंडे पानी के छींटे मारने से भी स्राव को रोका जा सकता है।

संज्ञाहरक का प्रयोग करने वाले चिकित्सक की ही सहायता बच्चे का



चित्र १०६—गुलोटीन

सिर स्थिर करने के लिए ली जा सकती है। कण्ठशालूकों[1] को भी यदि उनकी वृद्धि हो, गल-ग्रन्थि निकालने के पश्चात् ही निकालने मे कोई आपत्ति नही।

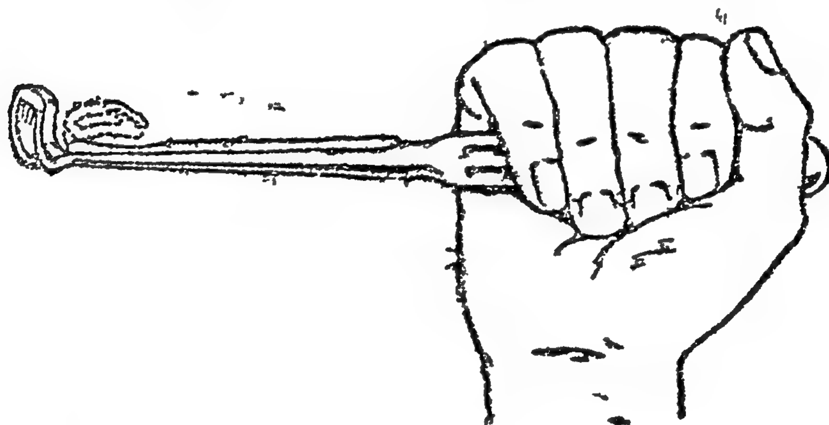
शस्त्रकर्म के पश्चात् जब रोगी स्वास्थ्य लाभ कर रहा होता है किसी प्रकार उपसर्ग पहुँच जाने से ज्वर, पीड़ा आदि प्रारम्भ होते दिखाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति मे पैनीसिलीन, टैट्रासाइक्लीन, एरेथ्रोमायसीन आदि प्रतिजीवी योगो का प्रयोग आवश्यक है।

यदि शल्यकर्म के स्थान से रक्तस्राव होता मालूम पडे तो बरफ चूसना तथा रक्तावरोधक योग यथा क्लौडिन एडीनोक्रोम आदि का प्रयोग करना चाहिए।

कण्ठशालूक

नासा के पीछे की ओर नासिका एवं ग्रसनिका के बीच मे पाई जाने वाली ग्रन्थियों को कण्ठशालूक[1] कहा जाता है। प्रायः बच्चों में गलतुण्डिकाओं के साथ ही साथ इनकी वृद्धि भी होती देखी जाती है जिसके कारण बच्चे का नासा द्वारा साँस लेना कठिन हो जाता है जिससे उसका स्वास्थ्य गिरता जाता तथा चेहरे का आकार ही इस प्रकार का हो जाता है कि उसको देखकर ही रोग का अनुमान लगाया जा सकता है। कभी-कभी इन ग्रन्थियों की वृद्धि के कारण यूस्टेशियन नलिका[2] के अवरुद्ध हो जाने से मध्यकर्णशोथ तथा बधिरता तक उत्पन्न हो जा सकती है।

रोगी को मेज पर लिटाकर क्लोरोफार्म आदि की सहायता से सर्वांगसंज्ञाहरण कर लिया जाता है तथा गलतुण्डिका छेदन की तरह ही मुख विस्फारक की सहायता से उसके मुख को चौड़ा करके सुप्रकाशित रखते हैं। एक विशेष



चित्र ११०—नासा पश्चिम ग्रन्थियों को निकालने का शस्त्र

प्रकार के यन्त्र द्वारा जो चित्र ११० मे दिखाया गया है, ग्रन्थियों को काटकर अलग करना है। यन्त्र को दाएँ हाथ मे पकड़कर चिकित्सक रोगी के मुँह में अन्दर प्रविष्ट करता है तथा बढ़ी हुई ग्रन्थियाँ अंकुश में अटका ली जाती हैं एवं चाकू से जो अंकुश के पीछे ही लगा रहता है, काटकर अलग कर दी जाती

1. Adenoids. 2. Eustachian Tube.

हैं। इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए कि यूस्टेशियन नलिका के पीछे वाले खात मे स्थित बढ़ी हुई धातु को काटकर अलग कर दिया जाय ताकि अवरोध के हटने से मध्यकर्ण की स्थिति सुधरने लगे। यह भी ध्यान रखना है कि सजाहरण बहुत गहरा होना आवश्यक नही केवल इतना हो कि कास प्रतिवर्त क्रिया नष्ट न होने पावे।

ग्रन्थि का दो-तीन बार मे पूर्ण छेदन हो चुकने पर रोगी को एक करवट करके मुख को नीचे की ओर किसी पात्र की ओर रुख करके लिटा दिया जाता है और साथ ही गले को शुद्ध रुई के प्लोत द्वारा साफ किया जा सकता है। बरफ के पानी से मुख पर छींटे भी दिये जाते हैं ताकि रक्तस्राव के रुकने मे सहायता मिले।

दन्तनिष्कर्षण

दन्तक्षरण, दाँत में पीड़ा, दाँत का हिलना आदि कई ऐसी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं जिनमे दाँत को अलग करने की[1] आवश्यकता पड़ जाया करती है। यह कार्य भी इतना सरल तथा साधारण है कि चिकित्सक ही नही अपितु साधारण व्यक्ति भी इसको करते रहते हैं। दाँत निकालने के लिए विशेष प्रकार की संदश प्रयुक्त की जाती है। यह भी स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के दन्तनिष्कर्षण के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की सदश का ही प्रयोग किया जाता है क्योंकि दाँत की बनावट तथा स्थिति के अनुसार इसमे उपयुक्त वक्रता रहती है। दन्त चिकित्सक के लिए इन सभी सदंशो का रखना आवश्यक है जबकि सामान्य चिकित्सक सभी दाँतो को उखाड़ने के लिए विशेष प्रकार की एक ही सदश रख सकता है।

रोगी को कुर्सी पर बिठा लिया जाता तथा प्रकाश का इस प्रकार प्रबन्ध किया जाता है कि उसके मुख मे अच्छी तरह प्रकाश पड़ता रहे। मुख खोलने के लिए मुख विस्फारक की सहायता ली जा सकती है किन्तु इसकी आवश्यकता

1. Tooth Extraction.

बहुत कम पड़ा करती है। यदि आवश्यकता हो तो सहायक द्वारा जिह्वादावक की सहायता से कपोल को एक ओर हटाए रखवाना चाहिए। मुख की शुद्धि के लिए प्रारम्भ में ही पोटास परमैंगनेट के हलके घोल से अच्छी तरह कुल्ले करवा दिए जाते है। अच्छा हो यदि रोगी की ग्रीवा से नीचे के भाग को स्वच्छ वस्त्र से ढक दिया जाय ताकि कपडो के खराब होने का भय न रहे।

अब चिकित्सक रोगी के सामने खडा होकर जिस दाँत को उखाडना है उसके चारों ओर दन्तवेष्ट में २-४ प्रतिशत प्रोकेन घोल दन्त सिरिंज की सहायता से प्रविष्ट करता है ताकि दाँत उखाड़ते समय रोगी को पीडा न हो। प्रोकेन घोल के प्रविष्ट करने के लगभग पाँच मिनट पश्चात् ही उपयुक्त दंत सदंश की सहायता से दाँत को मूल तक दृढ़ता के साथ पकड कर हलके झटके के साथ बाहर खींच लिया जाता है। इस बात का ध्यान रहे कि दाँत बाहर खींचते समय शक्ति की दिशा इस प्रकार की रहनी चाहिए कि दाँत बाहर की ओर ही निकले— शक्ति का किनारे की ओर पड़ना ठीक नहीं। पकडते समय यह हो सकता है कि थोड़ा इधर-उधर हलके से हिलाकर दाँत को और भी ढीला कर लिया जाय।

दाँत निकालने के पश्चात् पोटास परमैंगनेट के घोल से कुल्ला कराने से ही रक्तस्राव प्रायः बन्द हो जाता है। शुद्ध गौज की छोटी गद्दी-सी उखड़े हुए दाँत के स्थान पर रखकर दूसरे दाँत से या उँगली दबाए रखने से भी रक्तस्राव रुक जाता है। इस गद्दी को १ : १००० शक्ति के एड्रीनेलीन घोल, तारपीन तेल, टिंचर फैरी परक्लोर आदि में भिगोया जा सकता है और इस प्रकार करने से रक्तस्राव के रुकने में और भी सहायता मिलती है।

कुछ विशेष अवस्थाओं में यदि इन सामान्य उपायों द्वारा भी रक्तस्राव बन्द न हो तो उखड़े हुए दाँत के स्थान को साफ करने के पश्चात् अग्नि या कारबोलिक अम्ल से दहन करने तथा हीमोस्टेटिक सिरम कैल्शियम आदि के इंजेक्शन देने की आश्यकता पड़ सकती है। किन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है और केवल उसी अवस्था में होता है जब रोगी के रक्त में कोई विशेष विकृति हो।

संज्ञाहरण

सजीव पदार्थों का यह गुण है कि वे बाह्य उत्तेजना को अनुभव करते तथा उसके अनुसार प्रतिक्रिया करते हैं। यह कार्य तन्त्रिकातन्त्र[1] अर्थात् मस्तिष्क सुषुम्ना एव उनसे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न तन्त्रिकाओं का है। जिस जीवधारी का तन्त्रिकातन्त्र जितना ही अधिक उन्नत एवं परिष्कृत होता है उसमे बाह्य उत्तेजना की अनुभूति तथा उसके प्रति प्रतिक्रिया भी उतनी ही अधिक स्पष्ट सुनियोजित एवं तात्कालिक होती है। इस दृष्टि से मानव शरीर का तंत्रिका तंत्र ही सर्वाधिक उन्नत है और इसीलिये तनिक सुई चुभाने की पीड़ा भी बिना अनुभव किए नही रह सकती। बाह्य उत्तेजना, पीड़ा आदि के अनुभव करने के इस गुण को ही संज्ञा कहते हैं तथा औषधि प्रयोग से इस गुण को नष्ट कर देना ही संज्ञाहरण कहलाता है। छोटे से छोटा शस्त्र-कर्म भी बिना इसके सम्भव नहीं और इसीलिए प्रत्येक शल्य चिकित्सक को सज्ञाहरण के भिन्न-भिन्न साधनों के संबंध मे जानकारी होनी आवश्यक है।

यह सर्वविदित है कि शरीर के किसी भी स्थल से पीडा की अनुभूति को संवेदी तन्त्रिकाएँ[2] सुषुम्ना मार्ग से मस्तिष्क तक ले जाती है तथा मस्तिष्क के बाह्य स्तर का यह गुण है कि वही पीड़ा की अनुभूति का स्पष्ट अनुभव करता है। अब हमको यदि सज्ञाहीनता उत्पन्न करनी है तो —

(अ) स्थान विशेष की सवेदी तन्त्रिकाओ को जो पीडा की अनुभूति को मस्तिष्क तक ले जाने को है, निष्क्रिय कर दे ताकि पीडा की अनुभूति जा ही न सके। इसको स्थानीय संज्ञाहीनता अथवा स्थानीय संज्ञाहरण[3] कहते है। छोटे-छोटे शस्त्रकर्मो के लिए इसी की शरण ली जाती है। कोकेन तथा उसके भिन्न-भिन्न यौगिक प्रधान स्थानीय संज्ञाहरक[4] है।

(ब) सुषुम्ना के स्थल विशेष को निष्क्रिय बनाकर रुकावट डाल दी जाय

1. Nervous System. 2. Sensory Nerve. 3. Local Anaesthesia. 4. Local Anaesthetic.

ताकि पीड़ा की अनुभूति आगे बढ़कर मस्तिष्क तक पहुँच ही न सके। इसे अवरोधक संज्ञाहीनता[1] कहते हैं जिसका कभी-कभी प्रयोग किया जाता है।

(स) किसी भी स्थल से जानेवाली पीड़ा सम्बन्धी संवेदनाओं को निश्चित पीड़ा अनुभूति में बदलने वाला मस्तिष्क का बाह्य स्तर ही है और यदि इसको निष्क्रिय कर दिया जाय तो किसी भी स्थल की वेदना की फिर अनुभूति नहीं हो सकती। इसी को सर्वांग संज्ञाहीनता[2] या संज्ञाहरण कहते हैं तथा इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करने वाले पदार्थ सर्वांग संज्ञाहरण पदार्थ कहलाते हैं।

स्थानिक संज्ञाहरण

सामान्य शस्त्र-कर्मों के लिए स्थानिक संज्ञाहरण[3] की ही आवश्यकता पड़ा करती है और इसीलिए एक साधारण चिकित्सक के लिए यह विषय बहुत ही महत्व का है। चर्म पर शीत पहुँचा कर भी इस प्रकार का संज्ञाहरण उत्पन्न किया जा सकता है और इसके लिए बरफ का प्रयोग भी सम्भव है अथवा ईथायल क्लोरायड या ईथर छिड़क कर ठंडक उत्पन्न करना अधिक उपयुक्त पड़ता है और इसीलिए ईथायल क्लोराइड सीकर[4] का बहुत प्रयोग किया जाता है। किन्तु इस प्रकार उत्पन्न संज्ञाहीनता बहुत ही अल्पस्थायी २५-४० सेकण्ड के लिए होती है, अतः इसका प्रयोग केवल मात्र क्षणिक शस्त्रकर्म अर्थात् विद्रधि खोलना, इन्जेक्शन की सुई चुभाना आदि के लिए ही सम्भव है। इस प्रकार के संज्ञानाश को अधिक समय तक स्थिर नहीं रखा जा सकता क्योंकि अधिक समय तक शीत प्रयोग करने से स्थानिक धातुएँ गलने लगती हैं। स्थल विशेष को रक्तहीन बना देने से आंशिक संज्ञाहरण उत्पन्न किया जा सकता है जैसा कि एड्रीनैलीन के स्थानिक इन्जेक्शन अथवा कड़ी पट्टी बाँध देने से सम्भव है किन्तु क्रियात्मक दृष्टि से इसका कोई भी महत्त्व नहीं।

इसके अतिरिक्त कुछ औषधियाँ हैं जो चर्म पर लगाने से हलकी विसंज्ञता

1. Block Anaesthesia. 2. General Anaesthesia
3. Local Anaesthesia 4. Ethyl Chloride spray.

उत्पन्न करती तथा पीड़ा में शान्ति पहुँचाती हैं। इनको स्थानीय पीड़ाहर[1] कहते हैं। इनमें से कुछ आमाशयिक क्षोभ को शान्त कर वमन रोकने के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। मेथोल, क्लोरोब्यूटोल, कैम्फर, हायड्रोसायनिक अम्ल आदि इसी कोटि के पदार्थ हैं।

यथार्थ स्थानीय सज्ञाहर[2] औषधियाँ वे हैं जो स्थानीय सवेदी तन्त्रिकाओं को अवसादित करके सज्ञाहरण करती हैं। इस दृष्टि से कोकेन तथा उसके भिन्न-भिन्न यौगिक प्रयुक्त किये जाते हैं। इनका प्रचार बढ़ गया है तथा इतनी महत्वपूर्ण औषधियाँ प्राप्त हो चुकी हैं कि आजकल बहुत-से शस्त्र-कर्म जो पहले क्लोरोफार्म की सहायता से ही किये जाते थे, अब स्थानीय सज्ञाहरण उत्पन्न करके किए जाने लगे हैं।

स्थानीय सज्ञाहरक पदार्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह शक्तिवान हो जिससे शीघ्र ही अपना प्रभाव डाल सके, क्षोभक न हो, स्थानिक धातुओं का नाश भी न करे जिससे व्रणरोपण में देरी न हो, सार्वदैहिक विषाक्तता भी उसके प्रयोग से उत्पन्न न हो तथा स्थायी हो जिसको उबाल कर शुद्ध किया जा सके। रक्तावरोधक पदार्थ घोल के साथ में मिलाया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न स्थानिक संज्ञाहरक औषधियाँ—

कई भिन्न-भिन्न योग मिलते हैं जिनमे से केवल निम्न दो मुख्य हैं—

प्रोकेन हायड्रोक्लोराइड[3]—इसी को ईथोकेन हायड्रोक्लोराइड, नोवोकेन[4] या केरोकेन[5] कहते हैं। यह रग एव गन्धरहित कणदार चूर्ण होता है जो स्वाद मे थोड़ा तिक्त तथा जिह्वा को सुन्न करने वाला है।

अधिकांश मे स्थानिक संज्ञाहरण के रूप में इसी का प्रयोग होता है। इसका २ प्रतिशत शक्ति का घोल अधिक से अधिक ५० सी० सी०, १ प्रतिशत शक्ति १०० सी० सी० अथवा ½ प्रतिशत घोल २०० सी० सी० तक एक बार मे प्रयुक्त किया जा सकता है अर्थात् कुल मात्रा १ ग्राम से अधिक नहीं होनी

1. Local Anodyne. 2. Anaesthetic 3. Procain Hydrochloride. 4. Novocaine 5. Kerocaine.

चाहिए। विन्दु आदि के रूप में इसका प्रयोग सम्भव नहीं। इनके द्वारा उत्पन्न विसज्ञता अधिक से अधिक $\frac{3}{4}$ घण्टे तक रहती है।

पेंटोकेन[1]—इसी को एमीथोकेन हायड्रोक्लोराइड[2], या डेसीकेन[3] भी कहते हैं। यह तिक्त गन्धहीन श्वेत दानेदार चूर्ण होता है जो जल में खूब घुलनशील है। प्रोकेन की अपेक्षा यह अधिक शक्तिवान और साथ ही साथ विपाक्त भी है। इसका केवल ०·१—१·१५ प्रतिशत शक्ति का घोल प्रयुक्त किया जाता है।

विषाक्तता—पूर्णतः निर्विष होते हुए भी कभी-कभी प्रकृति वैशिष्ट्य[4] के कारण तीव्र विषमयता के उदाहरण देखे जाते हैं। इन लक्षणों के प्रधानतः दो रूप होते हैं यथा अवसादक[5], उत्तेजक या आक्षेपक[6]।

अवसाद का अर्थ हृदयावसाद है जिसके फलस्वरूप चेहरे का सफेद पड़ जाना, नाड़ी की तेजी, वक्ष में पीड़ा, द्विदृष्टिता[7], दृष्टि का धुँधलापन तथा हृदय का फेल होना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते ही कोरामिना आदि हृदयोत्तेजक औषधियाँ देने के अतिरिक्त कृत्रिम श्वास तथा आक्सीजन एवं कार्बनडाइ-आक्साइड का मिश्रण सुँघाया जाना चाहिए।

उत्तेजक लक्षणों की उत्पत्ति का अर्थ तन्त्रिका तन्त्र की उत्तेजना है जिसके फलस्वरूप मानसिक उत्तेजना के अतिरिक्त हाथ-पैरो का ऐंठना आदि लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते ही पेण्टोथाल सोडियम आदि कोई बार्बीट्यूरेट शिरा द्वारा दिया जाना चाहिए। इससे लक्षणों में तत्क्षण सुधार होता है। इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि बार्बीट्यूरेट प्रोकेनजन्य विपाक्तता के लिए प्रतिविष का कार्य नही करते वल्कि तन्त्रिकातंत्र की उत्तेजना के फलस्वरूप उत्पन्न लक्षणों का ही शमन करते हैं। यही कारण

---

1. Pantocaine. 2. Amethocaine Hydrochloride 3. Decicaine. 4. Idiosyncrasy. 5. Depressant. 6. Convulsive. 7. Diplopia.

है कि हृदयावसाद जन्य लक्षणों मे इनके प्रयोग से किसी भी प्रकार के लाभ की आशा नही की जा सकती। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि ये सभी लक्षण केवल प्रकृति वैशिष्ट्य के कारण ही उत्पन्न होते हैं और बहुत ही कम देखे जाते हैं।

विषाक्तता के लिए परीक्षा—क्योंकि विषाक्तता केवल व्यक्तिगत होती है; अतः व्यक्तिमात्र की परीक्षा ही सम्भव है। इसके लिए चर्मांधः इन्जेक्शन द्वारा परीक्षा की जा सकती है किन्तु वह विशेष विश्वसनीय नहीं। अतः नासा में घोल की बूँदे डालकर परीक्षा की जाती है। प्रथम एक तरफ की नासा में एक बूँद डाली जाती है, पाँच मिनट तक प्रति मिनट नाडी तथा रक्तचाप देखा जाता है। यदि कोई परिवर्तन नही होता तो फिर प्रत्येक नासा मे ५-५ बूँदें डाली जाती हैं। इसके बाद दस मिनट तक प्रति मिनट नाड़ी तथा रक्तचाप देखा जाता है। यदि कोई परिवर्तन नही होता तो औपधि प्रयोग को सुरक्षित समझ लिया जाता है।

घोल तैयार करना—प्रायः घोल तैयार किये हुए ही मिलते हैं किन्तु आवश्यकता पड़ने पर शुद्ध परिस्त्रुत जल मे घोल तैयार भी किया जा सकता है। यदि घोल तैयार किया जाता है तो रक्तावरोधक पदार्थ एड्रीनलीन या ऐपीनेफ्रीन प्रयोग के समय ही मिलाना चाहिए। घोल को शुद्ध करने के लिए उबाला जा सकता है।

प्रयोग-विधि—

बिन्दु निक्षेप—अर्थात् बूँद डालना नेत्र मे प्रयुक्त करने के लिए कोकेन ४ प्रतिशत अथवा पैंटोकेन सबसे अधिक उपयुक्त है। घोल की कुछ बूँदे नेत्र मे डाली जाती हैं जो आवश्यकतानुसार ५,५ मिनट पश्चात् ३,४ बार तक दुहराई जा सकती है।

फुआर अथवा प्रलेप—मुख, गला या स्वर यन्त्र के सज्ञाहरण के लिए इस विधि को अपनाया जाता है। इसके लिए कोकेन की ४ प्रतिशत शक्ति का घोल अथवा नोवोकेन का २ प्रतिशत शक्ति का घोल प्रयोग मे लाना चाहिए। इस घोल की गले मे एक विशेष यन्त्र द्वारा फुआर छोड़ी जाती है। अथवा

रुई की फुरेरी की सहायता से गले में प्रलेप भी किया जा सकता है। आवश्यकतानुसार एक बार करने के दस मिनट पश्चात् फिर दुहराना चाहिए।

प्लुतधारण अथवा पैकिंग—नासा मार्ग के सज्ञाहरण के लिए भी सीकर अथवा प्रलेप किया जा सकता है किन्तु इसके लिए सर्वोत्तम विधि प्लुतधारण ही है। गौज के टुकड़े को घोल मे भिगोकर नासा में भर दिया जाता है। यह कार्य शस्त्रकर्म करने से कम से कम आधा घण्टा पूर्व किया जाना चाहिए।

चर्माधः इन्जेक्शन—किसी भी स्थल पर शस्त्रकर्म करने के लिए इस विधि को अपनाया जा सकता है और इसके लिए प्रायः नोवोकेन का ही प्रयोग किया जाता है। शस्त्रकर्म के स्थान पर तथा उसके आस-पास चर्म के नीचे प्रोकेन घोल का इन्जेक्शन दिया जाता है। घोल की शक्ति ½—२ प्रतिशत तक हो सकती है तथा इसी में एड्रीनेलीन घोल मिलाया जा सकता है। इन्जेक्शन देते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि औषधि शिरा में न प्रविष्ट कर जाय। यदि अधिक क्षेत्र में सज्ञाहीनता उत्पन्न करनी हो तो उतने ही क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न स्थलों पर इस प्रकार के कई चर्माधः इन्जेक्शन दिये जा सकते हैं किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रोकेन की मात्रा ६ ग्रेन से अधिक न हो जाय। घोल समबल लवण जल में भी तैयार किया जा सकता है। इजेक्शन के लगभग ५ मिनट पश्चात् शस्त्रकर्म करना सम्भव है।

तन्त्रिकावरोध—इसका अर्थ स्थान विशेप को जाने वाली तन्त्रिका को प्रोकेन घोल की सहायता से निष्क्रिय कर देना है। इसके लिए प्रोकेन का दो प्रतिशत घोल तन्त्रिका के आस-पास इजेक्शन पिचकारी की सहायता से प्रविष्ट कर दिया जाता है। इसका प्रभाव यह होता है कि उस तन्त्रिका से सम्बन्धित आगे का सभी क्षेत्र सज्ञाहीन हो जाता है। इस विधि का प्रयोग शाखाओं पर के शस्त्रकर्म के लिए ही सम्भव है सिर ग्रीवा अथवा धड़ पर किये जानेवाले शस्त्रकर्मो के लिए नहीं। इंजेक्शन के पश्चात् तन्त्रिका के आकार के अनुसार ५—२० मिनट पश्चात् ही शस्त्र-कर्म किया जाना चाहिए क्योंकि इतने समय में ही विसंज्ञता उत्पन्न हो पाती है।

चर्मांधः इन्जेक्शन द्वारा उत्पन्न संज्ञाहीनता के मुकाबिले में तन्त्रिकावरोध जन्य संज्ञाहीनता की अपनी निजी विशेषताएँ भी हैं जिसके कारण इसको अपेक्षाकृत अच्छा समझा जाता है यथा—

(१) तन्त्रिका सम्बन्धित सम्पूर्ण क्षेत्र अस्थि, मासपेशी, चर्म आदि संज्ञाहीन हो जाते हैं तथा प्रभाव उतने क्षेत्र तक ही सीमित रहता है।

(२) चर्मांधः इजेक्शन का प्रयोग किसी विद्रधि आदि के लिए सम्भव नही जबकि इस विधि का प्रयोग इसके लिए भी किया जा सकता है। केवल आवश्यकता इतनी है कि इंजेक्शन शोथ युक्त स्थान से कुछ दूरी पर दिया जाय।

चर्मांधः इजेक्शन से शस्त्रकर्म का स्थल फूल-सा जाता है, अतः शस्त्रकर्म करने मे थोड़ी बाधा पड़ती है इस प्रकार की स्थिति तंत्रिकावरोध करने पर उत्पन्न नही होती।

तन्त्रिकावरोध करते समय भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि घोल शिरा मे न प्रविष्ट हो जाय।

ध्यान रखना चाहिए कि स्थानिक संज्ञाहरण के साथ ही साथ यदि आवश्यकता पडे तो सार्वदैहिक संज्ञाहरण का भी प्रयोग किया जा सकता है।

स्थानिक संज्ञाहरण के उदाहरण—

स्थानिक संज्ञाहरण का उपयोग कई भिन्न-भिन्न स्थलों पर किया जा सकता है। किन्तु इस स्थल पर केवल ऐसे ही उदाहरण दिये जायेंगे जिनका साधारण चिकित्सक की दृष्टि से विशेष महत्व है। यथा—

चर्मांधः अर्बुद आदि का निकलना—अर्बुद के चारों ओर उससे थोडी दूर चार या अधिक बिन्दु चुने जाते हैं जहाँ पर ½ प्रतिशत शक्ति का घोल चर्म में प्रविष्ट करके विस्फोट[1]-से उत्पन्न कर लिये जाते हैं। यह बहुत ही बारीक १५-२० नम्बर की सुई से किया जाता है। सुई को चर्म के केवल बाहरी पर्त मे घुमाकर लगभग ½ सी० सी० घोल अन्दर प्रविष्ट कर दिया जाता है।

1. Wheal.

इन विस्फोटों मे होकर लम्बी सुई प्रविष्ट की जाती है तथा अर्बुद के नीचे व उसके चारों ओर स्थित गम्भीरस्थ धातु मे घोल प्रविष्ट कर दिया जाता है। इसके पश्चात् अर्बुद के चारो ओर के चर्माधः भाग में भी घोल प्रविष्ट कर दिया जाता है और इस प्रकार सम्पूर्ण अर्बुद के चारो ओर विसंज्ञक घोल का अवरोध लग जाता है। अन्त मे जिस रेखा मे छेदन करना है उसी रेखा मे चर्म पर हलका विस्फोट उत्पन्न कर लेते हैं।

श्वासनलिकाच्छेदन[1]—जिस रेखा मे छेदन करना है उसी रेखा मे ½ प्रतिशत शक्ति का घोल प्रवेश करके विस्फोट-सा उत्पन्न कर लेते हैं। इस विस्फोट मे होकर ही दूसरी लम्बी सुई प्रविष्ट करके छेदन के दोनो ओर श्वास-नलिका तक संज्ञाहरक घोल प्रविष्ट कर दिया जाता है।

अँगुली विद्रधि—अँगुली के प्रथम पोर[2] के लगभग मध्य में पहले ½ प्रतिशत शक्ति के घोल का अन्तस्त्वक तथा त्वचाधः इंजेक्शन दे दिया जाता है। इसके साथ ही साथ प्रथम इंजेक्शन द्वारा उत्पन्न विस्फोट मे होकर सुई अन्दर गहराई तक प्रविष्ट की जाती है और इस प्रकार दोनो पार्श्व मे लगभग एक-एक सी० सी० घोल पहुँचा दिया जाता है। इसके लगभग ५-१० मिनट पश्चात् इंजेक्शन से आगे की सम्पूर्ण उँगली संज्ञाहीन हो जाती है। इस स्थल पर यह ध्यान रखना है कि घोल एड्रीनलीन रहित हो।

सुन्नत या खतना[3]—इसके लिए भी घोल मे एड्रीनलीन का प्रयोग नहीं करना चाहिए। शस्त्रकर्म के स्थान पर इंजेक्शन न देकर लिंग के मूल में इंजेक्शन दिया जाता है। यह इंजेक्शन केवल त्वचाधः होता है तथा लिंग के चारों ओर विशेष कर पीछे के भाग मे दिया जाता है। मूत्रमार्गीय छिद्र पर शस्त्रकर्म करने के लिए शस्त्रकर्म के स्थान पर ही इन्जेक्शन देना अधिक उपयुक्त है।

अण्डकोषों पर शस्त्रकर्म—जिस स्थल पर छेदन करना है प्रथम उस स्थल पर इंजेक्शन दिया जाता है। इसके पश्चात् अण्डकोष मूल के चारो

---

1. Tracheotomy 2. digit 3. Circumcision.

ओर चर्म के नीचे नोवोकेन का सज्ञाहर घोल प्रविष्ट कर दिया जाता है। अब रज्जु[1] को अंगूठे व तर्जनी से पकड़कर उठा लिया जाता है तथा जितना भी सम्भव हो सके, ऊपर उसमे इन्जेक्शन दे दिया जाता है। इस प्रकार करने से जलवृषण[2] अथवा शुक्रग्रन्थि सम्बन्धी पूरे शस्त्रकर्म किये जा सकते हैं। यदि केवल रज्जु पर नसबन्दी[3] आदि शस्त्रकर्म करना हो तो शस्त्रकर्म के स्थान पर ही इन्जेक्शन देना पर्याप्त है।

साधारण अस्थिभंग को ठीक करना—इसके लिए एड्रीनलीन रहित नोवोकेन का दो प्रतिशत घोल प्रयोग मे लाया जाता है। अच्छा हो यदि एक्स-रे की सहायता से प्रथम अस्थिभंग की यथार्थ स्थिति का निश्चय कर लिया जाय। इसके बाद अस्थिभग के ऊपर ही त्वचाधः इन्जेक्शन देकर एक विस्फोट-सा उत्पन्न कर लिया जाता है। इसमे होकर एक लम्बी मजबूत सुई अस्थि के टूटे हुए दोनो शिरों के मध्य मे प्रविष्ट की जाती है। वह ठीक स्थान पर पहुँची अथवा नही इसका निश्चय करने के लिए पहले थोड़ी-सी औषधि प्रविष्ट की जाती है। यदि औषधि प्रविष्ट करने मे पिचकारी को दबाने मे अधिक जोर नही लगाना पड़ता तो अनुमान लगाया जा सकता है कि सुई टूटे हुए शिरों के मध्य मे पहुँच गई। इसके अलावा पिस्टन को थोड़ा खीचकर भी देखा जाता है और यदि इसमे रक्त मिश्रित द्रव पदार्थ लौटता है तब भी यही अनुमान लगाया जाता है। इस स्थल पर टूटी हुई अस्थि के आकार के अनुसार २०-५० सी० सी० घोल अन्दर प्रविष्ट कर लिया जाता है। घोल प्रविष्ट करने के पाँच मिनट पश्चात् ही अस्थियो के सिरों को मिलाने का प्रयत्न किया जाता है।

---

1. Cord. 2. Hydrocele. 3. Vasotomy.

अठारहवाँ अध्याय

कोथ एवं निर्जीवाङ्गत्व

कोथ या निर्जीवागत्व[1] से तात्पर्य किसी स्थान विशेष की ऊतकों की मृत्यु से है। यदि केवल कोमल ऊतक की ही मृत्यु होती है तो मृतक भाग को मृतोतक[2] कहते हैं।

इस प्रकार की स्थिति शाखाओं विशेष कर उँगली, हाथ या पाँव मे ही बहुधा देखी जाती है यद्यपि शरीर के अन्य भाग यहाँ तक कि आन्तरिक अंग भी इस प्रकार विकृत होते देखे गये हैं।

रोग के प्रधानतया लक्षण होते हैं—

१—धमनी स्पन्दन की अनुपस्थिति—जितना भाग मृत हो चुका है उसमें धमनी स्पन्दन अनुभव नहीं किया जा सकता।

२—अंग का शीतल पड़ जाना—रक्त-सचार के अभाव में मृत अंग एकदम शीतल पड़ जाता है।

३—संज्ञा शक्ति का नाश—तन्त्रिका सूत्रों के नष्ट हो जाने से विकृत अग में पीड़ा नहीं होती और न सूई आदि चुभाने से ही कुछ अनुभव होता है। यह हो सकता है कि रोग के कारण दूरवर्ती स्थानों मे पीड़ा हो।

४—कर्महीनता—स्पष्ट है कि मृत अग कुछ भी कार्य नहीं कर सकता।

५—वर्ण परिवर्तन—रक्त की उपस्थिति में मृत अग का रग नीला अथवा कालिमा युक्त हो जाता है जबकि रक्त के उपस्थित न होने पर रग पीला या मोम के समान श्वेत दिखाई पड़ने लगता है।

1. Gangrene 2. Slough

६—सार्वदैहिक लक्षण—ऊपर की ओर से विषाक्त पदार्थों के शरीर मे शोषित होते रहने के कारण प्रायः ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण भी मिलते हैं।

७—कोथ के मूल उत्पादक रोग के लक्षणों का मिलना भी निश्चित रूप से सम्भव है।

विकृति की प्रकृति के अनुसार कोथ के दो प्रकार है यथा—

शुष्क कोथ[1]—इस प्रकार की स्थिति उस अवस्था मे उत्पन्न होती है जब कोथ से पूर्व अग का द्रवाश किसी रोग के कारण नष्ट हो चुका हो। इसमें अग को आने वाली धमनी का मार्ग धीरे-धीरे अवरुद्ध होता जाता है। पीड़ित अग शुष्क हो जाता, चर्म मे सिकुड़न पड़ने लगती तथा उसका रग काला या गहरा बादामी हो जाता है। चर्म के अक्षत होने के कारण वहाँ जीवाणु प्रवेश नही पा सकते और यदि प्रविष्ट हो भी जायँ तो आर्द्रता के अभाव मे उनकी वृद्धि सम्भव नही। यही कारण है कि शुष्क कोथ की अवस्था मे ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण नहीं देखे जाते तथा कोथ के कारण रोगी का जीवन तत्काल सकट मे भी नहीं होता है। रोग की वृद्धि धीरे-धीरे होती है तथा पीड़ित अंग से दुर्गन्धि भी नही आती। कुछ समय पश्चात् मृतक तथा स्वस्थ भाग के मध्य में विरोहण ऊतक की उत्पत्ति होने लगती है और दोनों भागो के बीच का यह भाग स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

आर्द्र कोथ[2]—इसकी उत्पत्ति उस अवस्था मे होती है जब अग मे आर्द्रता रहती है, अतः आर्द्र कोथ की उत्पत्ति के मूल मे धमनी अवरोध के साथ ही साथ शिरा का भी अवरोध होता है। आर्द्र कोथ (१) जीवाणु रहित या (२) जीवाणु युक्त हो सकता है यद्यपि जीवाणु रहित कोथ बहुत ही कम देखा जाता है। जीवाणु रहित कोथ की अवस्था मे अग का आकार वही रहता है जो कोथ की उत्पत्ति से पूर्व था केवल उसका रग नीला, हरा या श्वेत पड़ने लगता है। जीवाणु युक्त कोथ की अवस्था मे अंग सूज जाता, स्थानिक

1. Dry Gangrene. 2. Moist Gangrene.

ऊतक मुलायम पड़ जाती तथा चर्म पर फलक से पड़ जाते हैं जिनमे से दुर्गन्धि युक्त सिरस तथा गैस निकलती है। अंग का वर्ण भी काला, हरा अथवा पीला पड़ जाता है। कोथ में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है तथा जीवाणु जन्य विष पदार्थों के शरीर मे शोषित होते रहने के कारण ज्वरादि सार्वदैहिक लक्षण भी अवश्य ही रहते हैं। शीघ्र ही उचित चिकित्सा का प्रबन्ध न करने से रोगी की मृत्यु सम्भव है।

सामान्य चिकित्सा—चिकित्सा स्थानिक एवं सार्वदैहिक की जानी चाहिए। स्थानिक चिकित्सा का प्रधान रूप मृत भाग को काटकर अलग कर देना है क्योंकि उसका पुनरुज्जीवन सम्भव नहीं। सार्वदैहिक चिकित्सा का प्रधान रूप पोषक औषधियों व पदार्थों के प्रयोग से रोगी का सामान्य स्वास्थ्य सुधारना, पीड़ा का शमन, जीवाणु युक्त कोथ की अवस्था मे पेनिसिलिन, सल्फा विभाग की औषधियों आदि का प्रयोग तथा मधुमेह आदि का प्रबन्ध, यदि उपस्थित हो, आवश्यक है। इन सबका वर्णन इसी अध्याय मे यथा-स्थान किया जा रहा है।

उत्पादक कारण के अनुसार कोथ के भिन्न-भिन्न प्रकार—

(१) प्रत्यक्ष कोथ[1]—इसका तात्पर्य प्रत्यक्ष बाह्य या स्थानिक कारण जन्य कोथ है जिसके कारण हो सकते हैं। (१) कुचलने वाले आघात (२) दबाव (३) ताप या शीत (४) तीव्र शोथ (५) दाहक रासायनिक पदार्थ तथा (६) क्ष-किरण या रेडियम।

(२) अप्रत्यक्ष कोथ[2]—इसका तात्पर्य बाहर से अप्रत्यक्ष किन्तु सार्व-दैहिक या आन्तरिक कारण जन्य कोथ है जिसके कारण हो सकते है—(१) सार्वदैहिक रोग (मधुमेह, तीव्र ज्वर, अर्गोट), (२) रक्त नलिकाओं के रोग जिनके कारण धमनी का मार्ग क्रमशः सकुचित हो जाता है (धमनी काठिन्य[3] तथा सावरोध अन्तर्धमनी शोथ[4]), (३) रक्तनलिका का आकस्मिक अवरोध (अन्तःशल्यता[5] या आघात) (४) अंग के तन्त्रिका वितरण में बाधा[6]।

1. Direct Gangrene 2. Indirect Gangrene 3. Arteriosclerosis 4. Endarteritis obliterens 5. Embolus 6. Imperfect Innervation.

(३) औपसर्गिक कोथ—यह कोथ विशेष प्रकार के जिवाणुओं द्वारा उत्पन्न होता है यथा (१) मुख[1] या भगप्रदेशीय कोथ[2] (२) बेसीलस वेल्ची[3] या बेसीलस ओडोयेटिस मेलिग्नी[4] द्वारा उत्पन्न कोथ (३) फगेडीना[5]।

प्रत्यक्ष कोथ—

(१) कुचलने वाले आघात इस प्रकार के हो सकते है कि तत्क्षण ही कुचले हुए अंग की मृत्यु हो जाती अथवा उपसर्ग पहुँचने के पश्चात् शोथ उत्पन्न होकर बाद मे अग गलना शुरू होता है।

चिकित्सा—यदि इस वात का निश्चय हो कि कुचले हुए अग की मृत्यु हो चुकी है उसको बचाया नही जा सकता तो अंगच्छेद कर दिया जाना चाहिए, सन्देह की अवस्था मे बचाने का प्रयत्न अवश्य करना है। जीवाणुहीनता का पूर्ण ध्यान रखते हुए क्षत स्थान की सफाई तथा व्रणोपचार के साथ ही साथ पेनिसिलिन एव सल्फा विभाग की औषधियों का प्रयोग आवश्यक है ताकि विक्षत अग का शोथ एव पूयोत्पत्ति रोकी जा सके। यह सब कुछ करने पर भी यदि अग गलने लगे तो अगच्छेदन किया जा सकता है। यथार्थ बात यह है कि यदि रक्तनलिकएँ व तान्त्रिका सूत्रों को क्षति नहीं पहुँचती तो अग को बचाया जा सकता है और जहाँ तक भी सम्भव हो बचाने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए।

(२) दबाव—किसी स्थान पर अनुचित रूप से सततः दबाव पड़ते रहने से भी जहाँ दबाव पड़ रहा है वहाँ की ऊतको की मृत्यु होने लगती है। खपच्ची के सम्पर्क मे रहने वाले भाग यथा एडी का शोथ या शैयाव्रण[6] एक प्रकार के कोथ के स्पष्ट उदाहरण है। दबाव एव घर्षण के स्थान पर प्रारम्भ मे तत्रिका शूल होता है किंतु यदि इनकी ओर ध्यान नही दिया जाता तो शीघ्र ही कोथ का प्रारम्भ हो जाता तथा पीडा शान्त हो जाती है। यदि दबाव पडने वाला

1. Cancrum oris 2. Noma Vulvae 3. Bacillus Welchi 4. Bacillus oedematis Maligni 5. Phagedena 6. Bed sore.

अंग गीला रहता है या सतत मल सूत्र के सम्पर्क में रहता है तो कोथ की सम्भावना और भी अधिक रहती है। इसके साथ ही यदि अंग घातित है यथा पक्षाघात या अर्द्धांग घात है तो थोड़ी-सी भी असावधानी कोथ की उत्पत्ति कर सकती है।

चिकित्सा—चिकित्सा बहुत ही सरल है। प्रथम इस बात का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि अनुचित रूप से हर समय दबाव न पड़ता रहे दबाव के स्थान पर मुलायम गद्दी रखी जा सकती है। शैयाव्रणों की उत्पत्ति रोकने के लिए ऐसे रोगी को जिसको अधिक समय तक चारपाई में लिटाए रहने की आवश्यकता है, जलपूर्ण गद्दे[1] या मुलायम गद्दे पर लिटाना चाहिए, बहुधा करवट बदलवाते रहना चाहिए तथा जो अंग शैया के सम्पर्क में रहते हैं जैसे स्कन्ध एवं कटि प्रदेश उनके नीचे विशेष मुलायम गद्दा रखना तथा उनपर स्पिरिट मलकर अवधूलन चूर्ण (बोरिक एसिड, जिंक आक्साइड एवं स्टार्च) बुरक दिया जाना चाहिए। वलयाकार गद्दे का प्रयोग किया जा सकता है— जीवाणुहीनता का भी ध्यान रखना चाहिए।

(३) ताप या शीत द्वारा उत्पन्न कोथ —दग्ध व्रण भी ताप द्वारा उत्पन्न एक प्रकार का कोथ ही है जिसका पीछे विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है।

शीताघात - शीत द्वारा उत्पन्न कोथ का स्पष्ट उदाहरण है शीताघात। इसकी उत्पत्ति अत्यधिक शीत के कारण विशेषकर उस अवस्था में जब ठण्डी हवा चल रही हो होती है। कोथ की उत्पत्ति दो प्रकार से सम्भव है (१) सीधे शीत के प्रभाव से जल प्रभावित अंग का रक्तसञ्चार बन्द होकर कोथ की उत्पत्ति होती तथा (२) शोथ के कारण कोथ की उत्पत्ति उस समय होती है जब अंग शीत के प्रभाव से ठीक हो रहे होते हैं। रक्त नलिकाओं की दीवाल के घातित होने के कारण इतना स्राव होता है कि उसके दबाव से रक्तनलिकाएँ तक बन्द हो जाती है। जिससे कोथोत्पत्ति सम्भव है।

1. Water Bed.

चिकित्सा—शीत द्वारा प्रभावित अंग को एकदम नहीं बल्कि धीरे-धीरे उष्णता प्राप्त करने देना चाहिए ताकि रक्त नलिकाएँ भी शक्ति प्राप्त करती जायँ। हलकी मालिश द्वारा शीत प्रभावित अग मे रक्तप्रभाव तथा चेतनाशक्ति लौटाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

यदि कोथ की उत्पत्ति हो चुकी है तो अग को जीवाणुहीन शुद्ध रखना चाहिए उस समय तक जब कि मृत भाग अलग होकर रोपण न हो जाय।

(४) **तीव्रशोथ**—तीव्र शोथ के कारण कोथ की उत्पत्ति उन अगों मे होती है जो अधिक दृढ़ तथा घने होते हैं तथा जहाँ पर शोथ जन्य द्रव इतना दबाव डालता है कि स्थानिक रक्त-नलिकाएँ तक रुक जाती है। इस प्रकार की स्थिति अगुलियों के कण्डरावण शोथ या अस्थिमज्जा शोथ की अवस्था मे होती है जब कि सम्बन्धित अस्थि गलने लगती है।

चिकित्सा—पैनिसिलिन, टैट्रासाइक्लीन आदि प्रतिजीवी योग एव सल्फा औषधियो आदि के प्रयोग के अलावा यह भी आवश्यक है कि शोथयुक्त भाग से दबाव कम करने के लिए गहरे लम्बे छेदन किए जायँ। शेष चिकित्सा स्थिति के अनुसार की जानी चाहिए।

(५ व ६) **दाहन रासायनिक पदार्थ क्ष-किरण या रेडियम** के अनावश्यक रूप से अधिक समय तक सम्पर्क मे आने वाली ऊतको की मृत्यु निश्चित है। मृत ऊतकों को काटकर अलग कर देना या शनैः शनैः स्वतः अलग हो जाने देना तथा जीवाणुहीनता का पूर्ण ध्यान रखते हुए उचित रूप से व्रणोपचार ही उचित चिकित्सा है।

अप्रत्यक्ष कोथ—

(१) **सार्वदैहिक रोग जन्य कोथ**—मधुमेह या इक्षुमेह—मधुमेही मे तीन प्रधान कारण होते है जिनसे कोथ की उत्पत्ति मे सहायता मिलती है। (१) रोगी की प्रतिरोध शक्ति का ह्रास (२) दूरस्थ तन्त्रिका शोथ[1] तथा (३) अन्तर्धमनी शोथ[2]। कोथ का प्रारम्भ सदैव किसी क्षत की उत्पत्ति के

---

1 Peripheral Neuritis. 2. Endarteritis.

पश्चात् होता है। अत उत्पन्न होने के पश्चात् उपरोक्त कारणो की उपस्थिति मे शीघ्र ही पाक तथा कोथ की उत्पत्ति होने लगती है।

चिकित्सा - मधुमेह की चिकित्सा यथा शर्करा के सेवन मे कमी तथा इन्स्युलीन का प्रयोग आवश्यक है। शोथ, पूयोत्पादन एवं कोथ की वृद्धि को रोकने के लिए पेनिसिलिन आदि का भी प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। मृत ऊतकों को शीघ्र काट कर अलग कर देना अथवा स्वतः धीरे-धीरे अलग हो जाने देना तथा जीवाणुहीनता का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए व्रणोपचार स्थानिक चिकित्सा के मुख्य पहलू है। यदि रोगी देर से आता है तथा कोथ की अवस्था बढ चुकी है तो अंगच्छेद की आवश्यकता पड सकती है।

तीव्र ज्वरो के पश्चात् कोथ की उत्पत्ति धमनी अवरोध के कारण हो जाया करती है। उसी के अनुसार चिकित्सा की जानी चाहिए।

(२) अर्गोट सेवन से उत्पन्न कोथ—अर्गोट की उत्पत्ति क्लेविसेप्स परप्यूरिया[1] नामक फगस से होती है। इस फगस से युक्त अन्न का सेवन करने के कारण रोग की उत्पत्ति हो जाया करती है। ओषधि के रूप मे अधिक समय तक अर्गोट के सेवन से भी रोगोत्पत्ति सम्भव है।

रोग का प्रारम्भ हाथ-पैर की उंगलियों, कर्ण या नासा के बाहरी भाग से होता है। प्रारम्भ मे पीडित भाग मे झनझनाहट, सज्ञाहीनता तथा पीडा मालूम होनी तथा इसके पश्चात् ऊतको की मृत्यु के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगते है। शुष्क कोथ होता है।

चिकित्सा - अर्गोट या विशिष्ट फगस युक्त अन्न का सेवन तत्क्षण बन्द कर दिया जाना चाहिए। शेष चिकित्सा सामान्य सिद्धातो के अनुसार की जाती है।

(३) रक्तनलिकाओ के रोग—धमनियों के इस प्रकार के रोग जिनके कारण धमनी का मार्ग अवरुद्ध होने के कारण अग विशेष को रक्त जाना ही बन्द हो जाय, कोथ की उत्पत्ति कर सकते है। कोथ प्रायः शुष्क प्रकार का होता है इसके प्रधान रूप हैं—

1. Claviceps purpurea.

(अ) वृद्धावस्थिक कोथ--इसकी उत्पत्ति उन्हीं व्यक्तियों मे होती है जो धमनी काठिन्य[1] नामक रोग से पीड़ित होते है। यह आवश्यक नहीं कि कोथ की उत्पत्ति सदैव वृद्धावस्था मे ही हो, प्रौढ व्यक्तियो को भी जिनकी धमनियाँ फिरग रोग अथवा अतिशय मद्यपान के कारण विकृत हो चुको है, यह रोग हो सकता है। धमनियो के मार्ग के सकुचित हो जाने के कारण रक्त का प्रवाह कम होता है, फलतः अग की प्रतिकार शक्ति भी घटती जाती है क्योंकि पर्याप्त पोषण नही मिल पाता और इसका फल यह होता है कि हलके आघात या शाथ के कारण ही कोथ की उत्पत्ति होने लगती है। कोथ का प्रारम्भ प्रायः एक ओर के पैर के अगूठे या अगुली से होता है यद्यपि हाथ, कर्णपाली, नाक या जिह्वा कहीं भो प्रारम्भ हो सकता है।

लक्षण--कोथ का प्रारम्भ हो इससे पूर्व ही रक्तप्रवाह की कमी के लक्षण यथा पैरो का ठण्डापन, झनझनाहट, सुन्नता तथा पेशियों मे ऐंठन आदि प्रगट होने लगते है।

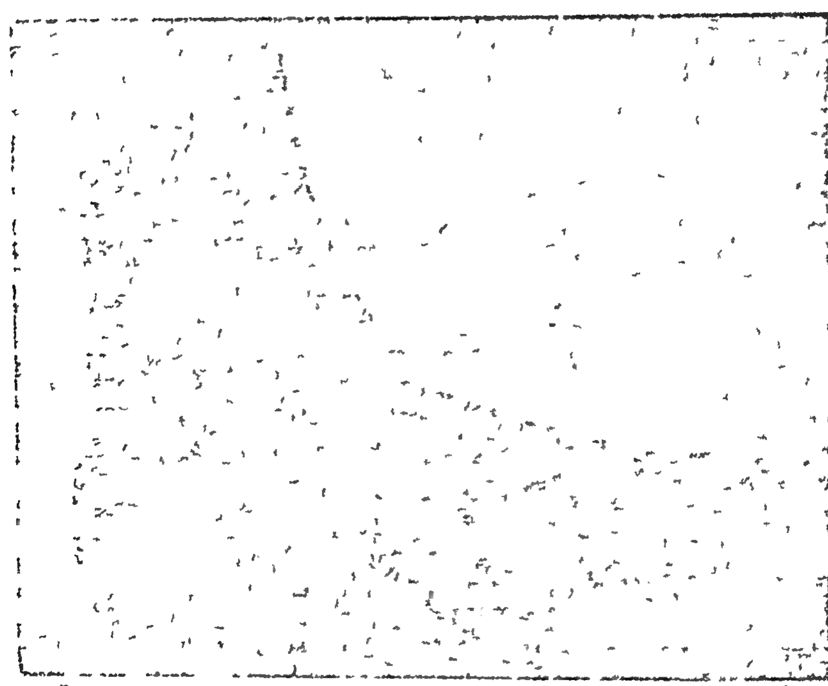
यदि शोथ के पश्चात् कोथ का प्रारम्भ होता है तो लालिमायुक्त कोई स्थान दृष्टिगत होता है जिसमे तीव्र पीडा होती तथा शीघ्र ही दोप होने लगता है। यदि धमनी के अवरोध के कारण कोथ का प्रारम्भ होता है तो अग मे झुर्रियाँ-सी पड जाती तथा उसकी मृत्यु हो जाती है। कोथ का प्रारम्भ प्रायः पैर के अगूठे के अन्दर की ओर से होता है, दूसरी अगुलियाँ भी विकृत हो जाती तथा कोथ पैर की ओर बढ़ने लगता है (चित्र १११) रोग कभी भी एकदम रुक जा सकता है अथवा पूयोत्पादक जीवाणुओं के पहुँच जाने से रोग की भयकरता और भी बढ़ जाती है। कुछ समय पश्चात् मृतक भाग स्वस्थ भाग-से पृथक होने लगता है और इस समय पूयोत्पादक जीवाणुओं द्वारा उपसर्ग होने की अधिक सम्भावना रहती है।

चिकित्सा--पैरों की ओर रक्त संचार की कमी के लक्षण मिलते ही इस

---

1 Arteriosclerosis

प्रकार की सावधानी रखनी चाहिए कि पैरों में ठण्ड या आघात न लगने पावे। कोथ का प्रारम्भ होने पर स्थान को पूर्णतया शुद्ध करके शुद्ध शोषक रुई रखकर पट्टी से बाँध दिया जाता तथा उसको आराम की स्थिति में भाग उठा हुआ एवं गर्म रखा जाता है। रोगी को पोषक पदार्थ दिये जाते तथा पीडा के लिए औषधियों का प्रयोग आवश्यक है। कोथ के बढ़ने पर



चित्र १११- पाँव का जराजन्य कोथ

अगच्छेद का प्रश्न आता है। यदि मृत एवं जीवित भाग के बीच की सीमा स्पष्ट हो जाती है तथा विषमयता के लक्षण भी अधिक नहीं तो मृत भाग को स्वयं ही अलग होने दिया जा सकता है अन्यथा अगच्छेद का प्रबन्ध किया जाना चाहिए। जहाँ पर कि धमनी स्पन्दन अनुभव किया जा सके उसके नीचे के भाग का छेदन किया जा सकता है। अनुभव द्वारा यह देखा गया है कि यदि पैर का अधिक भाग विकृत हो चुका है तो उर्वस्थि अर्बुदों के तनिक ऊपर से ही छेदन करना उपयुक्त पड़ता है। रोगी की अवस्था क्षीण होने के कारण शस्त्रकर्म में सावधानी बरती जानी चाहिए।

(ब) रक्तनलिका अवरोध जन्य कोथ—इस प्रकार के कोथ की उत्पत्ति रक्त नलिकाओ के भिन्न-भिन्न कारणों से अवरुद्ध हो जाने पर हो जाया करती है जैसे (अ) बन्धन, कडी पट्टी या अस्थि भग्न की अवस्था मे भग्न अस्थि के किनारो द्वारा रक्तनलिकाओं पर दबाव पडना अथवा (ब) रक्तनलिकाओ की दीवाल का फट जाना जैसा कि अस्थिच्युति के समय हो सकता है या (स) अन्तःशल्यता के कारण रक्तनलिका का रुक जाना। प्रथम दो अवस्थाओं मे धमनी के साथ ही साथ शिरा का मार्ग भी अवरुद्ध हो जा सकता है, अतः अग काला तथा शोथयुक्त हो जाता है। केवल धमनी का अवरोध होने पर जैसा कि तृतीय अवस्था मे सम्भव है, अग प्रथम श्वेत पीला-सा पडता है और बाद मे काला-सा पडता है। जब अन्तःशल्यता उत्पन्न होती है तो शल्य के स्थान पर तीव्र पीडा होती है तथा बाद मे शल्य के ऊपर की ओर धमनी मे रक्त जम जाता है। अन्तःशल्यता की उत्पत्ति प्रायः ऐसे स्थान पर होती है जहाँ धमनी दो शाखाओं मे विभाजित हो रही हो।

इन उपरोक्त सभी अवस्थाओ मे यदि समपार्श्वी रक्तसञ्चालन[1] प्रारम्भ हो जाता है तो कोथ की उत्पत्ति रुक जा सकती है किन्तु अन्तःशल्यता की अवस्था मे प्रायः होता यह है कि हृदन्त शोथ[2] के कारण अन्तःशल्यता की उत्पत्ति होती है इसके अलावा मूल रोग के कारण रोगी बहुत दुर्बल हो चुका होता है, अतः प्रायः कोथ शीघ्र उत्पन्न हो जाता है कोथ ऊपर की ओर बढ़ता जाता है वहाँ तक जहाँ अग को जीवित रखने के लिए रक्तसञ्चार पर्याप्त मात्रा मे हो और ऐसा किसी सन्धि के पास होता है।

चिकित्सा—सामान्य चिकित्सा के अलावा अगोच्छेदन का प्रश्न आता है अगोच्छेदन। करने के पूर्व समपार्श्वी रक्तसञ्चालन को उत्पन्न होने का अवसर दिया जाना चाहिए और इस बीच मे पूर्ण जीवाणुहीनता का ध्यान रखते हुए गर्म, आराम से तथा थोडा उठा हुआ रखा जाता है। यदि २४ घण्टे के अन्दर-अन्दर सुधार के लक्षण दृष्टिगोचर नही होते तो कोथ की प्रत्यक्ष

---

1. Collateral Circulation 2. Endocarditis

सीमा से दो-तीन इञ्च ऊपर से अंगोच्छेदन कर दिया जाता है। यदि अन्त:शल्यता का प्रश्न है तो अंगोच्छेदन करने से पूर्व शल्य को हटाने का प्रयत्न किया जा सकता है। इसके लिए धमनी को स्पष्ट किया जाता तथा अवरोध के ऊपर-नीचे दोनों ओर बन्धन लगाकर धमनी में एक लम्बा छेदन करके चिमटी से शल्य अर्थात् थक्के को निकाल दिया जाता है। तत्पश्चात् धमनी के क्षत को सी कर चर्म के क्षत को भी बन्द कर दिया जाना चाहिए।

(४) अंग के तन्त्रिका वितरण में बाधा जन्य कोथ--किसी भी अंग को जाने वाले तन्त्रिका सूत्रों का कार्य संवेदनावहन[1] (संवेदी तन्त्रिका) या प्रेरणावहन[2] (प्रेरक तन्त्रिका) के अतिरिक्त अंग के पोषण को ठीक बनाए रखना[3] भी होता है, फलतः यदि अंग के तन्त्रिका वितरण में बाधा पहुँचती है तो उस अंग के पोषण में भी कमी आ जाना स्वाभाविक है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सुषुम्ना को आघात पहुँचने पर सामान्य शैयाव्रण के कारण ही कोथ की उत्पत्ति होने लगना है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि जब संवेदी तन्त्रिका सूत्र नष्ट हो जाते हैं तो अंग विशेष पर पड़ने वाले अनावश्यक दबाव की ओर ध्यान ही नहीं जाता जिसका फल यह होता कि वहाँ कोथ उत्पन्न होने लगता है।

रेनौड का रोग[4] अर्थात् समान रूप से दोनों ओर के अंगों में कोथ की उत्पत्ति भी तन्त्रिका वितरण में बाधा के कारण ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार की अवस्था मानसिक दृष्टि से दुर्बल, रक्ताल्प तथा गर्भाशय आदि के अन्य रोगों से पीड़ित १८-३० वर्ष आयु की स्त्रियों में अधिक देखी जाती है। रोग का दौरा प्राय: शीत के कारण उत्पन्न होता है। इसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं। (१) धमनी संकोच के कारण स्थानिक रक्ताल्पता अर्थात् लालिमा की कमी तथा पीड़ा। (२) शिरा के अवरोध के कारण नीलिमा युक्त रक्ताधिक्यता।

1. Sensory 2. Motor 3. Trophic influence 4. Raynaud's Di-e ise.

इसके बाद अवस्था ठीक हो जा सकती है। इस प्रकार दौड़े-से आते हैं जो शीत ऋतु मे अधिक देखे जाते हैं। अन्त मे (३) कोथ की उत्पत्ति जिसमे चर्म के थोडे-थोडे स्थल गलते मालूम पडते है।

रोग दोनों ह थो या पावों की अँगुलियों मे एक साथ प्रारम्भ होता है तथा वर्षों तक चलता रह सकता है।

चिकित्सा--सार्वदैहिक चिकित्सा नितान्त आवश्यक है--रक्त, गर्भाशय या तन्त्रिका तन्त्र सम्बन्धी जो भी रोग हों उनकी समुचित चिकित्सा के साथ ही साथ रोगी का सामान्य स्वास्थ्य सुधारने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। पीडित अग का मर्दन तथा उष्ण जल या वायु के द्वारा सेंकना लाभकर है। यदि अगच्छेदन की आवश्यकता प्रतीत हो तो केवल गले हुए भाग को ही निकालना पर्याप्त है।

औपसर्गिक कोथ—

(२) **मुख कोथ**[1]--इसी मे भग प्रदेशीय कोथ[2] को भी सम्मिलित किया जा सकता ह। ये शीघ्र वृद्धिशील कोथ के दोनों अलग-अलग प्रकार हैं जो २-५ वर्ष आयु के क्षीण शरीर बच्चों के मुख एव भग प्रदेश को क्रमश· प्रभावित करते है। रोग प्रायः कमजोर बच्चो मे ही जो अन्य विस्फोट ज्वरो[3] विशेषकर खसरा, स्कार्लेट ज्वर[4] आदि से स्वास्थ्य लाभ कर रहे हों, होता देखा जाता है।

रोग का प्रारम्भ प्रायः कपोल के भीतर की ओर अथवा मसूढे के पास एक व्रण के रूप मे होता है जिस पर गलित भाग लगा रहता है तथा रंग काला या गहरा मटमैला होता है। चारो ओर का भाग शोथयुक्त रहता है। कुछ ही घण्टे पश्चात् इस गलित स्थान के बाहर की ओर कपोल पर धब्बा दिखाई देता है जो शीघ्रता के साथ फैलता है तथा कुछ समय मे गलकर अलग हो जाने से वहाँ छिद्र बन जाता है। मुख से रक्तमिश्रित श्लेष्मा गिरता रहता है तथा

1. Cancrum oris. 2. Nomavulvac. 3. Exanthemata.
4. Scarlet Fever.

इतनी दुर्गन्धि आती है कि रोगी के पास खड़ा होना तक सम्भव नहीं होता। अधोहन्वास्थि भी गलने लग सकती है। दाँत गिरने लगते हैं, तीव्र विषमयता एवं पूयमयता के कारण रोगी को ज्वर होता, नाडी क्षीण एवं तेज होती है। ३-४ दिन में रोगी की मृत्यु हो जा सकती है।

चिकित्सा—बहुत ही शीघ्र तथा साहसपूर्ण होनी चाहिए। संज्ञाहरण के पश्चात् सभी गलित भाग को चाकू या कैंची से काटकर पूर्णतः अलग कर देना है, यहाँ तक कि स्वस्थ भाग से रक्त बहने लगे। इसके पश्चात् व्रण के किनारों पर शुद्ध कारबोलिक अम्ल या शोरकाम्ल लगाया जाता है। हाइड्रोजन पर-ऑक्साइड या पोटास परमेंगनेट द्वारा प्रतिदिन मुख की सफाई की जानी चाहिए। व्रण को भी सदा स्वच्छ रखना आवश्यक है।

सल्फा विभाग की औषधियाँ, पेनिसिलिन एवं अन्य प्रतिजीवी पदार्थों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए।

इन सबके अलावा रोगी की हीनावस्था को ध्यान में रखते हुए दीपक एवं हृदयोत्तेजक औषधियों का प्रयोग भी नितान्त आवश्यक है।

(२) गैस कोथ[1]—इसी को तीव्र वृद्धि शील[2] या आघात जन्य वृद्धि शील[3] कोथ भी कह सकते हैं। पूयोत्पादक जीवाणुओं के अतिरिक्त इसका कारण कई भिन्न-भिन्न वातनिरपेक्षी[4] जीवाणु होते हैं जिनमें से मुख्य बेसीलस वेल्ची, बेसीलस मेलिग्नी आदि-आदि हैं।

रोग का प्रारम्भ बहुत तीव्रता के साथ आघात के दो तीन दिन पश्चात् ही अंग में पीड़ा, ज्वर, वमन, शीघ्रगामी नाडी आदि लक्षणों के साथ होता है। नागरिक जीवन में इसकी उत्पत्ति ऐसे क्षतों में अधिक होते देखी जाती है जो मार्ग की धूल आदि गन्दगी के कारण दूषित हो गए हों। सैनिकों में इस प्रकार के क्षतों में इसकी उत्पत्ति अधिक होती है जिनमें आसपास की

---

1. Gas gangrene 2. Acute Spreading 3. Spreading Traumatic 4. Anaerobic.

धातुएँ अधिक क्षत-विक्षत हो गई हो तथा बाह्य पदार्थ कपडे आदि के टुकडे अन्दर प्रविष्ट कर गए हों।

लक्षणो को दृष्टि से सामान्यतः इसके तीन प्रकार किए जाते है यथा
(१) स्थानिक-जिनमे केवल स्थल विशेष की कुछ पेशियाँ प्रभावित होती है।
(२) विस्तृत[1] जिसमे अंग का पूरा भाग का भाग प्रभावित होता है तथा
(३) स्फूर्जक प्रकार[2]।

स्थानिक--अग शोथयुक्त तथा चर्मशुष्क एवं मटमैले रग का होता है। गैस को उपस्थिति के कारण आस-पास की धातुओं को दबाने से कर-कर ध्वनि होती है। चर्म की अपेक्षा पेशियो मे अधिक तेजी से परिवर्तन होता है। पहले वे शुष्क तथा मटमैले लाल रंग की होती है किन्तु बाद मे काले रग की आर्द्र तथा दुर्गन्धियुक्त हो जाती है। चर्म पर काले-काले से विस्फोट उत्पन्न हो सकते हैं जिनमे दुर्गन्धियुक्त द्रव भरा रहता है।

विस्तृत--अग की प्रधान रक्तनलिकाओं को भी आघात पहुँच जाता है तथा कोथ के सामान्य लक्षणो के अतिरिक्त अग फूला हुआ-सा एव डिम्डिम् ध्वनियुक्त[3] होता है।

स्फूर्जक प्रकार—अगच्छेद करने पर भी रोग मे बढने की प्रवृत्ति रहती है तथा रोगी के सामान्य लक्षण अधिक तीव्र होते है। प्रायः मृत्यु हो जाती है।

प्रतिषेध--किसी भी ऐसे आघात के पश्चात् जिसमे अग को अधिक क्षति पहुँची हो तथा गन्दगी के प्रवेश का भय हो, निम्न बातो का ध्यान रखना है (१) क्षत-विक्षत धातुओ को काट कर अलग कर देना (२) निकास का समुचित प्रबन्ध (३) एण्टीगैस गैंग्रीन सिरस[4] का चर्माधः या पेश्यान्तर्गत इन्जेक्शन द्वारा प्रयोग (४) प्रतिपेध के रूप मे ही सल्फा ओषधियों एव पेनिसिलिन आदि का भी प्रयोग।

---

1. Diffuse Type 2. Fulminating Type 3. Crepitate. Tympanitic. 4. Anti gas gangrene Serum.

चिकित्सा—जैसे ही कोथ की उत्पत्ति का भय हो, निश्चित निदान के लिए व्रण स्राव की परीक्षा की जा सकती है। व्रण को भली प्रकार खोल दिया जाना चाहिए तथा गलित वस्तुओं को भी यथासम्भव पूर्णतः काट कर अलग कर दिया जाना आवश्यक है। पूर्ण निकास एवं सामान्य व्रणोपचार के अलावा अंगच्छेद की आवश्यकता पड़ सकती है और अंगच्छेद ऐसे स्तर पर किया जाना चाहिए कि स्वस्थ धातुओं तक पहुँच जाय। ध्यान रखना है कि आधुनिक युग में पेनिसिलिन आदि सफल औषधियों के प्रयोग से बहुत कुछ लाभ की आशा की जा सकती है। अतः अंगच्छेद उसी अवस्था में किया जाना चाहिए जब सामान्य चिकित्सा से लाभ होने की आशा न रहे तथा रोगी की जीवन-रक्षा के लिए अंगच्छेद आवश्यक हो।

एण्टीगैस गैंग्रीन सिरम, सल्फा औषधियाँ तथा पेनिसिलिन आदि का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। यह सब उपरोक्त चिकित्सा के साथ-साथ किया जाना चाहिए। इसके भी अलावा रोगी का सामान्य स्वास्थ्य सुधारने की दृष्टि से पोषक पदार्थ एवं औषधियों का प्रयोग आवश्यक है।

उन्नीसवाँ अध्याय

अर्बुद

शरीर की किसी धातु मे अनावश्यक रूप से व्यर्थ एव बिना किसी स्पष्ट कारण के उत्पन्न हुई वृद्धि को अर्बुद[1] कहते है अर्थात् अर्बुद शरीर की किसी ऊतक मे हुई एक अनावश्यक स्थानिक वृद्धि है जिसका अन्त नही होता तथा जिसकी वृद्धि का शरीर की वृद्धि से कोई सम्बन्ध नही। स्पष्ट है कि यह एक अप्राकृतिक स्वरूप की वृद्धि होती है जो सब मे नही पाई जाती।

कारण—अर्बुदोत्पत्ति का कोई निश्चित स्पष्ट कारण नही बताया जा सकता फिर भी निम्न दशाओ को अर्बुदोत्पत्ति के कारण के रूप मे समझा जाता है। सम्भव है कि कई भिन्न-भिन्न दशाएँ मिलकर अर्बुद की उत्पत्ति मे हाथ बटाती हों।

(१) चिरकालीन स्वरूप का अधिक समय तक कार्य करता रहने वाला क्षोभ जिसके साथ मे उपसर्ग की अवस्था हो भी सकती है अथवा नही भी, अर्बुद की उत्पत्ति का एक प्रधान कारण माना जाता है। यह सम्भव है कि क्षोभ की अवस्था समाप्त होने के बहुत समय पश्चात् अर्बुद की उत्पत्ति हो। जिह्वा एवं ओष्ठ के कैसर की उत्पत्ति मे प्रायः इस प्रकार का कारण ही देखा जाता है।

(२) भ्रूणावस्था की ऊतको के कुछ भाग उसी दशा मे रह जाते हैं; उनका पूर्ण विकास नही हो पाता। अतः आगे चलकर वृद्धि करने की विशेष

---

1. Tumour.

नोट—अर्बुदो का इस स्थल पर वर्णन बहुत सूक्ष्म रूप से ही किया जायगा क्योंकि सामान्य शल्य-विज्ञान की दृष्टि से विशेष विस्तृत वर्णन आवश्यक नहीं।

अन्ना युक्त ये ऊतक कोशिकाएँ ही एकदम वृद्धि करके अर्बुद की उत्पत्ति कर देती है।

(३) अर्बुद की उत्पत्ति मे कुछ अशो मे पैतृक प्रभाव भी सम्भव है क्योंकि ऐसे परिवार देखे गए है जिनमे कैंसर या अन्य अर्बुद अधिक व्यक्तियों को होता है, कुछ सामान्य अर्बुद भी एक ही परिवार की कई सन्ततियों मे लगातार उत्पन्न होते देखे गए है। किंतु इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता।

(४) कुछ विद्वानो की धारणा है कि अर्बुद भी एक प्रकार के सक्रामक रोग है जिनकी उत्पत्ति विशेष प्रकार के पराश्रयियो[1] द्वारा होती है किन्तु यह धारणा बिल्कुल निर्मूल है क्योंकि इस प्रकार के पराश्रयी आज तक नही देखे जा सके। इसमे तो कोई सन्देह नही कि कैंसर कोशिकायें जहाँ भी स्थिर होकर अपना स्थान बना लेती है वही उनकी वृद्धि होने लगती है किंतु यह कैंसर कोशिकाओं की उत्पन्न होते रहने की विशेष क्षमता है, कैंसर के विशिष्ट पराश्रयी नहीं।

अर्बुदों के प्रकार

लक्षण एव शरीर पर प्रभाव की दृष्टि से अर्बुदो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है यथा (१) सामान्य अर्बुद तथा दुर्दम अर्बुद।

सामान्य अर्बुद—इनकी निम्न विशेषतायें होती है—

(१) सख्या मे एक से बहुत हो सकते है।

(२) अर्बुद प्रायः विशिष्ट आवरण द्वारा सीमित परिवेष्ठित होता है।

(३) वृद्धि धीमी होती है।

(४) छेदन के पश्चात् पुनरुत्पत्ति की सम्भावना प्राय नही ही होती।

(५) प्रत्यक्ष अर्बुद द्वारा जीवन को कोई खतरा नही, जो कुछ भी उपद्रव हो सकते है, वे अर्बुद का अन्य अगो पर दबाव पडने से होते है यथा वसार्बुद स्थानिक दबाव के कारण आन्त्रावरोध उत्पन्न कर सकता है।

1. Parasites.

(६) विक्षेपण[1] की सम्भावना नहीं पाई जाती अर्थात् अर्बुद जिस स्थान पर है वहीं बढ़ता रह सकता है, यह सम्भव नहीं कि दूरस्थ अंगों में भी उसका प्रारम्भ हो जाय।

(७) लसीकावाहिनियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(८) इनकी सूक्ष्म रचना शरीर की निकटस्थ प्राकृतिक धातुओं की रचना से मिलती-जुलती है।

(९) व्रणोत्पत्ति या रक्तस्राव की सम्भावना नहीं। दबाव या अतिशय वृद्धि के कारण यदि चर्म क्षत हो जाय तो व्रणोत्पत्ति अवश्य सम्भव है।

दुर्दम अर्बुद—उपरोक्त के विरुद्ध इनकी निम्न विशेषताएँ देखी जाती हैं—

(१) प्रधान अर्बुद प्रायः एक ही होता है। अधिक समय तक चिकित्सा न करने से विक्षेपण द्वारा अन्य अंगों में भी उत्पत्ति सम्भव है।

(२) विशिष्ट कोष द्वारा परिवेष्ठित नहीं होते तथा आस-पास की धातुओं को आक्रान्त करते हैं।

(३) वृद्धि बड़ी तेजी के साथ होती है।

(४) छेदन के पश्चात् पुनरुत्पत्ति की प्रायः सम्भावना रहती है।

(५) प्रत्यक्ष अर्बुद द्वारा जीवन को खतरा है—इनमें एक विशेष प्रकार का विष उत्पन्न होकर शरीर में व्याप्त होता रहता है जिससे रोगी कृश, रक्ताल्प होता है और इस प्रकार यदि दुर्दम अर्बुद को नहीं ठीक किया जाता तो मृत्यु अनिवार्य है।

(६) विक्षेपण की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है।

(७) निकटस्थ लसीका ग्रन्थियों पर इनका प्रभाव पड़ता है।

(८) इनकी सूक्ष्म रचना शरीर की निकटस्थ प्राकृतिक ऊतकों की रचना से बिलकुल भिन्न होती है।

1. Metastasis.

(६) चर्म के आक्रान्त हो जाने से व्रणोत्पत्ति प्रायः हो जाती है जिससे रक्तस्राव होता रहता है।

इस स्थल पर ध्यान रखना चाहिए कि अर्बुदों की दुर्दम एवं सामान्य दो प्रकारों में विभाजन की एक निश्चित सीमा नहीं हो सकती क्योंकि दुर्दमता के भी भिन्न-भिन्न स्तर देखे जाते हैं अर्थात् एक अर्बुद तो बहुत ही शीघ्र दुर्दम हो सकता है जबकि दूसरा धीरे-धीरे दुर्दम होता है। यह तो निश्चित ही है कि सामान्य अर्बुद किसी भी समय दुर्दम रूप धारण कर सकता है। यही कारण है कि किसी भी अर्बुद की दुर्दमता का निर्णय जहाँ उसकी आन्तरिक सूक्ष्म रचना के आधार पर किया जाता है वहाँ उसकी स्थिति, वृद्धि तथा लक्षणों के आधार पर भी करना चाहिए।

रचना के अनुसार अर्बुदों का विभाजन—दुर्दम एवं सामान्य इस प्रकार का उपरोक्त विभाजन अर्बुद के लक्षण एवं शरीर पर उसके प्रभाव के आधार पर किया गया है। अर्बुदों की सूक्ष्म रचना अथवा जिन ऊतकों से उनकी उत्पत्ति होती है उसके आधार पर अर्बुदों का निम्न प्रकार विभाजन किया जा सकता है।

(१) संयोजी ऊतक अर्बुद

(२) उपकलार्बुद

(३) मिश्र अर्बुद—यह बहुत कम देखे जाते हैं, अतः इस स्थल पर उनका वर्णन अभीष्ट नहीं।

संयोजी ऊतक अर्बुद—संयोजी ऊतक द्वारा निर्मित अर्बुद कई भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं यथा—

वसार्बुद—यह वसा द्वारा निर्मित अर्बुद होता है जो सीमित[1] अथवा विसरित[2] हो सकता है। सीमित वसार्बुद[3] एक मुलायम उभार-सा होता है जिसमें पूय तरंग की सी अनुभूति भी हो सकती है। प्रायः देखा जाता है कि वसा कई भागों में विभक्त होती है तथा प्रत्येक भाग के बीच में तन्तु-ऊतक के फलक रहते हैं जो सम्पुट के साथ मिले होते हैं। इस प्रकार अर्बुद का आकार

1. Localised-encapsuled 2. Diffuse 3. Lipoma.

अनियमित स्वरूप का होता है तथा उसमें बहुत भिन्नता पाई जाती है। इस कोटि के अर्बुद प्रायः शरीर में दोनों ओर समान स्थितियों में पाये जाते हैं तथा चर्म के नीचे ही होते हैं। कभी-कभी पेशियों के अन्दर, सन्ध्यावरण[1] या श्लेष्मल कला के नीचे, अस्थ्यावरण या मस्तिष्कावरण से सम्बन्धित हो सकते है। अर्बुद प्रायः चर्म एवं आस-पास की ऊतक से ससक्त नही होता किन्तु यदि सततः दबाव पड़ता रहता है तो ससक्ति भी सम्भव है।

विसरित वसार्बुद[2] यथार्थ में चर्म के नीचे वसा की अतिशय वृद्धि है जो प्रौढ व्यक्तियों मे जो मद्य का अधिक सेवन करते है, होती देखी जाती है। इसको वसार्बुद न कहकर केवल वसार्बुदता[3] भी कहा जा सकता है।

चिकित्सा--वसार्बुद कभी घातक रूप नही धारण करता, अतः चिकित्सा की आवश्यकता उसी अवस्था में है जब वह आकार एवं स्थिति के कारण रोगी को कष्टकर हो। चिकित्सा का प्रधान रूप शस्त्रकर्म द्वारा अर्बुद को पूर्णतः सम्पुट सहित बाहर निकाल देना है। वसार्बुदता की चिकित्सा मद्य सेवन बन्द करना तथा व्यायाम है।

वाहिकार्बुद—वाहिकार्बुद[4] से तात्पर्य रक्त नलिकाओं की अतिशय एवं अप्राकृतिक वृद्धि से उत्पन्न अर्बुद है जो (१) सामान्यच्छ[5] (२) गह्वरन्यच्छ[6] या (३) जालरूप वाहिकार्बुद[7] होता है।

सामान्य न्यच्छ—विस्तृत कोशिकाओं के सगठन को जो तन्तु ऊतक द्वारा जुड़ा रहता है सामान्य न्यच्छ कहा जाता है। यह प्रायः जन्मजात होता है तथा चर्म के मध्य मे या चर्माधः हो सकता है, जीवन के प्रथम कुछ महीनो में इसका आकार बढ़ता रहता है। रंग चमकीला लाल या हलका लाल होता है। चिकित्सा छेदन द्वारा अर्बुद को निकालना या कार्बन डायऑक्साइड स्नो या रेडियम द्वारा नष्ट करना है।

---

1. Synovial membrane. 2. Diffuse Lipoma 3. Lipomatosis 4. Angioma 5. Simple naevus 6. Cavernous Naevus 7. Plexiform Angioma.

गह्वर-न्यच्छ से तात्पर्य धमनी एवं शिरा के मध्य में केशिकाओं के स्थान पर रक्त-गुहाओं का होना है। यह भी चर्म के मध्य में या चर्माधः सीमित या विस्तृत हो सकता है। दवाव डालकर मर्दन करने से इसका रक्त शिरा की ओर खाली किया जा सकता है। चिकित्सा डायाथर्मी द्वारा सम्भव है।

जालरूप वाहिकावुर्द—यथार्थ में अधिक विस्तृत कई नलिकाओं का समूह है। ये रक्त नलिकाएँ बहुत विस्तृत हो जा सकती हैं। यदि चर्म में क्षत हो जाता है तो इस कोटि के अर्बुद से इतना रक्तस्राव हो जा सकता है कि रोगी की मृत्यु तक हो जाय। चिकित्सा उपरोक्त की तरह।

उपास्थि अर्बुद[1]—ये उपास्थि अर्थात कार्टिलेज के बने अर्बुद होते हैं जिन पर एक कोष चढा रहता है तथा दबाने से जो लचीले किन्तु दृढ़ प्रतीत होते है। चूने के लवण एकत्रित होते रहने से ये कडे भी हो जा सकते हैं अथवा अस्थि में भी परिणित हो जाते हैं। यह भी सम्भव है कि एक ही अर्बुद में कडा तथा कोमल भाग भी पाया जाय। वृद्धि धीरे-धीरे होती है. पीडा नहीं होती किन्तु यदि किसी तन्त्रिका पर दबाव पड़ने लगता है तो पीड़ा भी सम्भव है।

अर्बुद की उत्पत्ति लघु अथवा दीर्घ दोनो ही प्रकार की अस्थियों में हो सकती है। दीर्घ लम्बी अस्थियो मे इनकी उत्पत्ति अस्थ्यावरण के नीचे अस्थि के सिरों पर होती देखी जाती है तथा लघु अस्थियो मे प्रायः अंगुलियों की अस्थियों में उत्पन्न होते देखे जाते है। इन अस्थियो मे भी प्रायः अस्थि के सिर पर ही उत्पत्ति होती है तथा एक समय मे कई अर्बुद हो सकते हैं। जिस स्थान पर अर्बुद होता है वहाँ अस्थि चौडा हो जाती है और इस प्रकार अंगुलियों का आकार ही विकृत हो जाता है। एक्स-रे चित्रण मे अर्बुद की छाया उसी अवस्था मे आती है जब वह चूने की उपस्थिति के कारण कड़ा हो गया हो अथवा अस्थि के रूप मे परिणत हो गया हो।

इस कोटि के अर्बुद कभी भी घातक रूप धारण कर सकते है, अतः चिकित्सा शीघ्र की जानी चाहिए।

1. Chondroma.

चिकित्सा—शस्त्रकर्म द्वारा कोष सहित अर्बुद को निकाल देना ही प्रधान चिकित्सा है। कोष के स्पष्ट न होने के कारण यदि यह सम्भव न हो तो आस-पास की अस्थि के कुछ भाग को भी छील कर साफ किया जाना चाहिए। अँगुलियों मे कई अर्बुद होने पर इस सन्देह की अवस्था मे कि कहीं वे दुर्दम रूप न धारण कर लें, अगच्छेद किया जा सकता है।

अस्थ्यर्बुद[1]—अस्थि द्वारा निर्मित अर्बुद अस्थि से सम्बन्धित ही उत्पन्न होते हैं तथा दो प्रकार के होते हैं (१) सुषिर[2] एवं (२) संहत[3]। प्रथम प्रकार का अस्थि-अर्बुद लम्बी अस्थियों विशेष कर ऊर्वस्थि एवं बहि प्रकोष्ठास्थि[4] के सिरों पर पाया जाता है जहाँ पर कि वह एक उत्सेध के रूप मे निकला रहता है। अर्बुद के ऊपर स्वच्छकार्टिलेज[5] का स्तर चढ़ा रहता है तथा कभी-कभी इसका आकार बहुत चढ जाता है। वृद्धि धीरे-धीरे होती है तथा उसी समय तक होती है जब तक कि उपस्थिति एव वृद्धि बाल्यकाल एवं प्रारंभिक युवावस्था मे ही संभव है। किसी प्रकार की पीड़ा नही होती किन्तु तन्त्रिका पर दबाव पड़ने से पीड़ा अवश्य सम्भव है।

सहत प्रकार का अस्थ्यर्बुद बहुत घनी अस्थि का बना होता है तथा प्रायः नेत्रगुहा[6], कर्णपश्चादास्थि[7], बाह्य कर्णकुहर[8], ललाट विवर[9], अधोहन्वस्थि[10] का कोण आदि स्थानों पर पाया जाता है। जिस स्थान पर भी अर्बुद स्थित होता है उस स्थल पर दबाव पड़ने के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के लक्षण उत्पन्न होने लगना स्वाभाविक है।

अस्थ्यर्बुद की एक मात्र चिकित्सा छेदन द्वारा उसको काटकर अलग कर देना है।

मज्जार्बुद[11]—इसकी उत्पत्ति का प्रारम्भ अस्थिमज्जा से होता है तथा

---

1. Osteoma 2. Cancellous 3. Compact or Ivory 4. Radius. 5. Hyaline Cartilage 6. Orbit 7. Mastoid 8. External meatus 9. Frontal sinus 10. Mandible 11. Myeloma.

गोल[1] अथवा तर्क्वाकार[2] कोशिकाओं का बना होता है जिनमें इधर-उधर बहुकेन्द्रीय दीर्घ कोशिकाएं[3] फैली रहती हैं। ये अर्बुद लाल रंग के अधिक रक्त संचार युक्त होते हैं तथा लम्बी अस्थियों के सिरों पर उत्पन्न होते देखे जाते हैं—अन्तर्जंघास्थि के ऊर्ध्व शिरेपर प्रायः उत्पन्न होते देखा गया है। जिस स्थान पर अर्बुद उत्पन्न होता है उस स्थान पर अस्थि चौड़ी हो जाती तथा पतली पड़ जाती है। बाहर की ओर नई अस्थि भी उत्पन्न हो सकती है जो अण्डे के छिलके के सदृश प्रतीत होती है। रक्तस्राव के कारण अर्बुद के भीतर सिस्ट बन जा सकते हैं।

चिकित्सा—जहाँ तक सम्भव हो सके अर्बुद का पूर्ण छेदन कर दिया जाना चाहिए। यदि न हो सके तो अर्बुद को खुरच कर निकाला जा सकता है। खुरचने के पश्चात् चारों ओर कारबोलिक अम्ल युक्त गौज भरा जा सकता है, अर्बुद के अधिक विस्तृत हो जाने पर अस्थि को ही काटकर अलग करना आवश्यक हो सकता है।

तन्तु अर्बुद[4]—तन्तु ऊतक द्वारा निर्मित अर्बुद (१) कोमल अथवा (२) कठिन इस प्रकार दो तरह का हो सकता है।

कोमल तन्तु अर्बुद में कोशिकाओं एवं रक्तनलिकाओं की अधिकता तथा तन्तुओं की कम मात्रा होती है। इसकी वृद्धि तीव्रता के साथ होती है तथा कठिन तन्तु अर्बुदों में सूत्रों की अधिकता होती है एवं इसकी वृद्धि धीमी होती है।

इस कोटि के अर्बुद घातक सारकोमा का शीघ्र रूप धारण कर सकते हैं, अतः यथासम्भव शीघ्र ही कोष सहित छेदन कर दिया जाना चाहिए।

मांसार्बुद[5]—अनैच्छिक प्रकार[6] के पेशी सूत्रों द्वारा निर्मित यह अर्बुद प्रायः गर्भाशय गात्र अथवा पुरःस्थ ग्रन्थि में उत्पन्न होता देखा जाता है। पेशी

---

1. Round 2. Spindle celled 3. Multinuclear giant cells 4. Fibroma 5. Myoma 6. Unstripped Muscle.

सूत्रों के साथ ही साथ तन्तु ऊतक भी सम्मिलित रहती है। पूर्णतः कोप सहित अर्बुद का निकाल दिया जाना ही प्रधान चिकित्सा है।

तन्त्रिका तन्तु अर्बुद[1]—केवल मात्र तन्त्रिका कोशिकाओं[2] का अर्बुद बहुत ही कम देखने को मिलता है। तन्त्रिका तन्तु अर्बुद से तात्पर्य तन्त्रिका वरण[3] से उत्पन्न अर्बुद से है। ये तीन प्रकार के होते है यथा—

१—**स्थानिक सीमित**[4]—इसकी उत्पत्ति किसी चर्माधः छोटी शाखा या बडी तन्त्रिका से हो सकती है। प्रथम प्रकार में बहुत पीड़ा होती है, विशेप कर उस अवस्था मे जब उसको छू दिया जाय अथवा शीत के सम्पर्क में आने दिया जाय। इस कोटि के अर्बुद सारकोमा मे परिवर्तित हो जा सकते हैं जब कि सम्बन्धित अग का घात एव संज्ञानाश हो जाया करता है।

मुख्य तन्त्रिका को बिना क्षति पहुँचाये अर्बुद को काटकर निकाल देना ही प्रधान चिकित्सा है यदि यह सम्भव हो सके।

२—**विसरित**[5]—दूरस्थ तन्त्रिका मण्डल से सम्बन्धित कई तर्क्वाकार या गोलाकार अर्बुद उत्पन्न हो जाते है जिनमे दबाने से पीडा होती है। इनके सारकोमा मे परिवर्तित हो जाने की सम्भावना रहती है। किसी प्रकार की चिकित्सा सम्भव नहीं।

३ **जालरूप**[6]—किसी विशिष्ट तन्त्रिका या तन्त्रिका जाल से सम्बन्धित विस्तृत मुलायम उत्पत्ति है जिसको चर्म के नीचे टेढ़े-मेढे गतिशील जाल के रूप में मोटे-पतले धागो की तरह अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार की उत्पत्ति जन्म के समय ही अथवा युवा व्यक्तियो मे देखी जाती है और प्रायः त्रिधारा तन्त्रिका[7] या ग्रैवेयक तन्त्रिकाओ को प्रभावित करती है। पीड़ित भाग को काटकर निकाल देना ही प्रधान चिकित्सा है।

आघात जन्य तन्त्रिकार्बुद[8]—कभी-कभी तन्त्रिका के कटे हुए सिरों पर पाई जाने वाली कोष के आकार की उत्पत्ति है। यथार्थ मे यह अर्बुद

---

1. Neurofibroma 2. Nerve cells 3. Nerve sheath 4. Localised 5. Diffuse 6. Plexiform 7. Trigeminal Nerve 8. Traumatic or Amputation neuroma.

नहीं बल्कि एक विशिष्ट आकार का कोप है जिसके मध्य में तन्त्रिका सूत्र वन्द रहते हैं।

तन्त्रिकाधार अर्बुद[1]—तन्त्रिकाधार वस्तु से उत्पन्न एवं निर्मित अर्बुद को तन्त्रिकाधार अर्बुद नाम से पुकारा जा सकता है। इसकी उत्पत्ति मस्तिष्क सुषुम्ना तथा दृष्टि पटल पर ही हो जाया करती है। इसके दस भिन्न-भिन्न प्रकार होते हैं तथा इसमें कोथ एवं रक्तस्राव की सम्भावना रहती है।

दन्तार्बुद[2]—दाँतों की ऊतकों से निर्मित अर्बुद को दन्तार्बुद की संज्ञा दी गई है। भिन्न-भिन्न अर्बुदों में इन ऊतकों का अनुपात भी भिन्न-भिन्न रहता है और उसी के आधार पर इन अर्बुदों को कई प्रकारों में विभाजित कर दिया गया है। वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था में ये अर्बुद प्रायः मसूढ़े की श्लैष्मिक कला के नीचे छिपे रहते हैं, फलतः प्रारम्भ में इनका पता भी नहीं लग पाता। कई वर्ष पश्चात् अधिक वृद्धि या पूयोत्पादन होने पर ही पता चलता है। अर्बुद किस प्रकार का है यह निर्णय केवल छेदन के पश्चात् ही हो पाता है।

एक मात्र चिकित्सा अर्बुद को शस्त्र-कर्म द्वारा पूर्णतः अलग कर देना है।

सारकोमा

संयोजी ऊतक द्वारा उत्पन्न दुर्दम स्वरूप के अर्बुद को सारकोमा[3] कहा जाता है। ये कोशिकाओं एवं कोशिकान्तरिक वस्तु द्वारा निर्मित होते हैं किन्तु कोशिकान्तरिक ऊतक की अपेक्षा कोशिकाओं की बहुत अधिकता पायी जाती है। ये अर्बुद अस्थिमज्जा, अस्थिवेष्ट, चर्म या प्रावरणी से प्रायः उत्पन्न होते देखे गये हैं। प्रारम्भ में अर्बुद विशिष्ट आवरण द्वारा सीमित हो सकता है किन्तु बाद में शीघ्र ही आस-पास की ऊतकों में फैलने लगता है—अर्बुद को सीमित रखने वाला कोप आदि कुछ भी नहीं रहता। इस कोटि के अर्बुदों में रक्त संचार की

1. Neuroma 2. Odontoma 3. Sarcoma.

मात्रा बहुत अधिक रहती है जिसके कारण कभी-कभी इनमे स्पन्दन भी अनुभव होता है। किन्तु रक्त-सचार के लिए अर्बुद के अन्तर्गत विशिष्ट रक्त नलिकाये नही होती बल्कि अर्बुद के अन्दर खुले हुए स्थान रहते हैं जो केवल अन्तर्कला से वेष्ठित होते है। आस-पास की धमनी एव शिराये भी विस्फारित हो सकती है। रक्त-सञ्चार की अधिकता के कारण इस कोटि के अर्बुदो से रक्तस्राव की बहुत सम्भावना रहती है। रक्त के लिए इन अवकाश स्थानो का सीधा सम्बन्ध शिराओ से रहता है और यही कारण है कि दुर्दम अर्बुद कोशिकाओ का रक्तमार्ग से विपेक्षण आसानी से हो सकता है अर्थात् कोशिकाये या छोटे छोटे भाग अबु`द से अलग होकर रक्तमार्ग से दूरस्थ अगो मे पहुँच कर वहाँ गौण वृद्धियाँ प्रारम्भ कर देते है। इस प्रकार की वृद्धियाँ फुफ्फुसों मे ही प्रायः अधिक पाई जाती है किन्तु यदि मूल अर्बुद उदरस्थ रक्तसचार[1] से सीधा सम्बन्धित है, तो गौण वृद्धि का प्रथम प्रारम्भ यकृत मे ही होता है। अबु`द का कभी कभी लसीका वाहिनियो द्वारा भी प्रसरण होते देखा गया है।

अबु`द का रग रक्तसचार की न्यूनाधिकता के अनुसार हलके भूरे से लेकर गहरा लाल तक हो सकता है। रक्त सचार जितना ही अधिक होगा अर्बुद उतना ही अधिक दुर्दम तथा विक्षेपणशील समझा जाना चाहिए और इस प्रकार दुर्दमता एव विपेक्षण की शक्ति के अनुसार इनमे बहुत कुछ भिन्नता पाई जाती है। जिन अबु`दो मे तन्तुऊतक अथवा कोशिकान्तरिक वस्तु की अधिकता होती है वे प्रायः कठिन होते तथा उनकी वृद्धि धीमी एव दुर्दमता भी कम होती है। इसके विरुद्ध कोमल प्रकार के अबु`द शीघ्र बढते, उनमे विस्तार अर्थात् विपेक्षण की शक्ति अधिक होती है, अतः उनको अधिक दुर्दम समझा जाता है।

अबु`द की उत्पत्ति जन्म से ही हो सकती है अथवा यह किसी भी आयु मे पाया जा सकता है। साधारणतया इसकी उत्पत्ति युवावस्था मे अधिक होती देखी गई है।

---

1. Portal circulation.

निदान—सार्कोमा को सामान्य अर्बुद, आतशक, कैंसर तथा अन्य ग्रंथि युक्त दशा से पृथक करना आवश्यक है। अर्बुद से लिए गए कुछ अंशों की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करने से निश्चित निदान किया जा सकता है।

चिकित्सा—जितना भी शीघ्र सम्भव हो सके शस्त्र-कर्म द्वारा अर्बुद को काटकर अलग कर दिया जाना चाहिए। यह कार्य जितना भी शीघ्र हो सके उतना ही अच्छा है क्योंकि जब आस-पास की ऊतक में इसका प्रसार हो जाता है तब समूलोच्छेद सम्भव नहीं। प्रसार कहाँ तक हो चुका है इसका निश्चित अनुमान लगाना सम्भव नहीं, अतः शस्त्र कर्म करते समय स्वस्थ धातु का भी यथासम्भव अधिक से अधिक भाग काटकर अलग कर दिया जाना चाहिए।

इतने पर भी सम्भव है कि दुर्दम अर्बुद कोशिकायें निकटस्थ ऊतकों में व्याप्त रह गई हों; अतः शस्त्र-कर्म के पश्चात् रेडियम का प्रयोग किया जाना चाहिए।

शस्त्र-कर्म के अतिरिक्त रेडियम एवं एक्स-रे द्वारा भी सारकोमा की चिकित्सा की जाती है जो विशेष स्थानों पर ही सम्भव है।

चिकित्सा के सम्बन्ध में जो प्रधान बात ध्यान में रखने की है वह यही है कि जितना ही शीघ्र समुचित चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाता है, रोगी की जीवन-रक्षा की उतनी ही अधिक सम्भावना रहती है।

उपकलार्बुद—

उपकला[1] से उत्पन्न होने वाले अर्बुदों में (१) अंकुरार्बुद तथा (२) ग्रन्थ्यर्बुद। दो सामान्य प्रकार के एवं (३) कैंसर घातक प्रकार का अर्बुद होता है।

अंकुरार्बुद[2]—इस प्रकार के अर्बुदों की उत्पत्ति किसी भी अंग को आच्छादित करने वाली उपकला तथा चर्म, मुख, ओठ, स्वरयन्त्र, मूत्र मार्ग

1. Epithelium 2. Papilloma.

आदि से हो जाया करती है। मध्य का भी भाग संयोजी ऊतकों का बना होता है तथा उसमे रक्त नलिकाये भी सम्मिलित रहती हैं। इस मध्य अक्ष के चारों ओर वही उपकला चढी रहती है जो उस धातु को आच्छादित किए हुए है जहाँ पर कि अर्बुद स्थित है। किन्तु उपकला की उत्पत्ति अग के अन्दर की ओर नही होती और यही कैंसर तथा अंकुरार्बुद मे अन्तर है। प्रायः अर्बुद के पृष्ठ से बहुत से अकुर से निकले रहते है और इस प्रकार अर्बुद शहतूत के गुच्छों की तरह दिखाई पडता है। इस कोटि के अर्बुद की उत्पत्ति मूत्राशय मे अधिक होती देखी जाती है यद्यपि गला, स्वरयन्त्र आदि कहीं भी उत्पत्ति सम्भव है।

अर्बुद पूर्णतः सामान्य प्रकार का होता है किन्तु कभी-कभी यह भी संभव है कि उत्तेजना मिलने पर दुर्दम रूप धारण करता जाय।

छेदन द्वारा अर्बुद को अलग कर देना ही प्रधान चिकित्सा है।

ग्रन्थ्यर्बुद[1]—इसका प्रारम्भ किसी स्रावी ग्रन्थि[2] से होता है तथा अर्बुद की रचना भी उसी के समान होती है किन्तु कोई नलिका नहीं होती और न ग्रन्थि के स्राव की ही उत्पत्ति होती है। अर्बुद प्रायः अकेला ही होता है यद्यपि यह भी सम्भव है कि कई हो। अर्बुद को कोष आच्छादित किये रहता है तथा इसकी उत्पत्ति पृष्ठ के भीतर की ओर न होकर बाहर की ओर होती है तथा यह भी देखा गया है कि अधिकाश मे एक डठल द्वारा यह स्रावी ग्रन्थि से जुडा रहता है और इस डठल मे होकर ही रक्तनलिकाये जाती हैं। अर्बुद के निर्माण मे तन्तु ऊतक भी मिली रहती है जिसकी मात्रा भिन्न-भिन्न अर्बुदो मे भिन्न-भिन्न पाई जाती है किसी अर्बुद मे इसकी मात्रा इतनी अधिक हो सकती है कि उसे 'तन्तु ग्रन्थ्यर्बुद'[3] कहा जा सके कभी-कभी तन्तु-ऊतक के अलावा और ऊतक भी पाई जाती है।

अर्बुद सामान्य प्रकार का ही होता है जिससे जीवन की हानि का भय नहीं—इससे हानि का भय उसी अवस्था मे है जब किसी मुख्य अंग के पास

1. Adenoma 2. Secretory Cland 3. Fibro adenoma.

स्थित होने पर भौतिक दवाव से कष्टकर या हानिकर हो। कभी-कभी यद्यपि वहुत कम वृद्धा स्त्रियो मे स्तन के सामान्य ग्रन्थ्यर्वुद को घातक रूप भी धारण करते देखा गया है।

शल्यकर्म द्वारा अर्वुद को अलग कर देना ही प्रधान चिकित्सा है।

कैन्सर

उपकला से उत्पन्न होने वाले दुर्दम अर्वुद को कैसर नाम से सम्बोधित किया जाता है। उपकला की कोशिकाओ मे एक इस प्रकार का समूह उत्पन्न हो जाता है, जिसमे विभाजन द्वारा वृद्धि वहुत ही शीघ्र गति से होने लगती है तथा यह अतिशय वृद्धिशील कोशिका समूह चारों ओर की ऊतको मे फैलने लगता है। ये नवीन कोशिकायें स्तम्भों के आकार मे स्थित होती तथा चारो ओर की ऊतक मे इनके गुच्छे पाये जाते है। इन कोशिकाओ का विशेष गुण विभाजन द्वारा वृद्धि करते जाने की अपरिमित शक्ति है जिसके कारण अर्वुद के स्थान की ऊतके नष्ट सी होने लगती तथा कैसर कोशिकाये ही सर्वत्र व्याप्त होती जाती है। केवल इतना ही नही कि निकटस्थ ऊतकों मे ही इनका प्रसार हो वल्कि इनके समूह दूरवर्ती अगो मे पहुँच कर भी गौण वृद्धियाँ प्रारम्भ कर देते हैं। कैसर कोशिकाएँ उपकला की स्वस्थ कोशिकाओं से जितना ही अधिक भिन्न, वृद्धिशील तथा दूरस्थ अंगों तक विक्षेपण की शक्ति युक्त होते हैं, अर्वुद को उतना ही अधिक घातक समझना चाहिए।

कैसर कोशिकाओं का दूरस्थ अगों तक विक्षेपण लसीका वाहिनियों के मार्ग से ही होता है, रक्त मार्ग से नहीं और यदि रक्त मार्ग से होता भी है तो वह वहुत कम। यही कारण है कि अर्वुद के स्थान से सम्वन्धित लसीका ग्रन्थियाँ शीघ्र ही आक्रान्त होकर आकार मे वढ़ जाती है। ओष्ठ, स्तन तथा जननेन्द्रिय के कैसर की अवस्था मे क्रमशः ग्रीवा कक्ष एवं वंक्षण की ग्रन्थियो की शीघ्र ही वृद्धि होती देखी गई है। लसीका वाहिनियाँ भी आक्रान्त होकर वढ जाती हैं तथा चर्म पर इनको हाथ से टटोल कर अनुभव किया जा सकता है। कभी-कभी यह भी होता है कि स्थान विशेष का चर्म ही मोटा एव कड़ा पड़ जाता है।

उपकला से आच्छादित किसी भी स्थान पर कैंसर की उत्पत्ति सम्भव है किन्तु यह देखा गया है कि कुछ विशेष स्थानो पर इसकी उत्पत्ति की अधिक सम्भावना रहती है। स्त्रियों मे गर्भाशय प्रधानतया गर्भाशय ग्रीवा तथा स्तन का कैंसर अन्य स्थानों के कैंसर की अपेक्षा बहुत अधिक उत्पन्न होते देखा जाता है। पुरुषों मे आमाशय का कैंसर अधिक होता है; मुख, जिह्वा एव आन्त्र मे इसकी उत्पत्ति अधिक होती है। पित्ताशय, पुरःस्थ ग्रन्थि, स्वरयन्त्र, अवटुका ग्रन्थि, चर्म, एव जननेन्द्रिय पर भी इसकी उत्पत्ति होते देखी गई है, यद्यपि बहुत कम। गौण वृद्धियॉ यकृत, फुफ्फुस तथा अस्थिमज्जा मे अधिक उत्पन्न होते देखी जाती है।

अर्बुद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक विशेषता और भी देखी जाती है और वह यह कि जब किसी अग विशेष का कार्यकाल समाप्त हो रहा होता है तभी इसकी उत्पत्ति होती है—गर्भाशय मे उत्पन्न होने वाला कैंसर प्रायः रजोनिवृत्ति काल अर्थात् ४०-५० वर्ष की आयु मे ही उत्पन्न होता है। इसमे भी कोई सन्देह नही कि इस नियम के अपवाद भी पाये जाते हैं।

कैंसर की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अभी तक कोई निश्चित मत नही—अन्य अर्बुदो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वर्णित कारण ही कैंसर की उत्पत्ति से भी सम्बन्धित हो सकते है। एक व्यक्ति की ऊतकों से लिये गये कैंसर कोशिकाओं को दूसरे जीव की ऊतको मे स्थापित करके कैंसर की सक्रामता को सिद्ध करने की कोशिश की गई है किन्तु सफलता नही मिली, अतः कैंसर को संक्रामक नही कहा जा सकता।

चर्म या श्लैष्मिक कला मे कैंसर का प्रारम्भ एक छोटे अकुर, छोटी-सी कठिन ग्रन्थि या केवल विस्तृत शोथ के रूप मे होता है। शोथ के रूप मे प्रारम्भ होने वाले कैंसर मे चर्म मोटा अवश्य पड़ जाता है किन्तु वह ताप एव पीड़ा रहित होता है। जो भी वृद्धि होती है उसकी सीमा परिमित नही होती और न उसके चारो ओर कोई कोष ही होता है। यही कारण है कि अर्बुद का छेदन करते समय स्वस्थ ऊतको का भी छेदन करना आवश्यक है ताकि कैंसर कोशिकाये पूर्णतः अलग की जा सके।

कैंसर की वृद्धि होते-होते जब उसके ऊपर का चर्म या श्लैष्मिक कला नष्ट हो जाती है तो अर्बुद स्पष्ट दिखने लगता है। इसका नीचे का भाग किसी फल या बडे फूल के डटल समान संकुचित दिखता है। कभी-कभी इसका आकार गोभी के फूल के सदृश होता है। इस प्रकार के कैंसर को फंगेटिंग कैंसर[1] नाम से पुकारा जा सकता है। शिश्न का कैंसर प्रायः इसी प्रकार का होता है। कभी-कभी चर्म के नष्ट हो जाने से वहाँ व्रण की उत्पत्ति हो जाती है। कैंसर व्रण के किनारे मोटे क्रमहीन तथा कैंसर कोशिकायुक्त होते हैं। व्रण का तल चिकना तथा पतले स्राव युक्त होता है; पूयोत्पादक जीवाणुओं के कारण उसमें दुर्गंध भी आने लग सकती है। आन्तरिक अङ्ग जैसे गर्भाशय, गुदा आदि के कैंसर से रक्तस्राव भी होता देखा गया है।

निदान एवं साध्यासाध्यता—विशिष्ट स्थानों पर चिरकालीन स्वरूप की या तीव्रता के साथ होने वाली वृद्धि, चर्म या श्लैष्मिक कला के नष्ट हो जाने पर विशेष आकार के व्रण की उत्पत्ति, सम्बन्धित लसीका ग्रन्थियों का बढ़ा होना आदि बातें कैंसर का सन्देह दिलाने के लिए पर्याप्त हैं। वृद्धि के कुछ भाग को लेकर सूक्ष्म दर्शक यन्त्र द्वारा उसकी परीक्षा की जा सकती है। इन स्थानिक लक्षणों के अलावा यह भी देखा गया है कि कैंसर से एक विशेष विष का शरीर में शोषण होता रहने से रोगी का स्वास्थ्य दिन पर दिन गिरता जाता है, शरीर कृश होता जाता, हलका ज्वर रहता, रक्ताल्पता बढती जाती, क्षुधा नष्ट प्रायः हो जाती है क्योंकि आँतें इतनी शिथिल-सी हो जाती हैं कि मलावरोध बना ही रहता है। बिना किसी प्रकार के स्पष्ट कारण के इस प्रकार के लक्षण मिलने पर शरीर की पूर्ण परीक्षा करके कैंसर का निराकरण किया जाना चाहिए और वह भी मध्य आयु के पश्चात् के दिनों में क्योंकि इसी आयु में कैंसर की उत्पत्ति अधिक होते देखी जाती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कैंसर एक भयंकर स्वरूप की व्याधि है जिससे छुटकारा पाने की आशा केवल उसी अवस्था में की जा सकती है जब प्रारम्भ

1. Fungating Cahcer.

मे ही उसका निदान होकर चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध कर किया जाए। अधिक बढ़ जाने पर मृत्यु निश्चित है जो धीरे-धीरे होने के कारण बहुत दुःखदायी होती है। यह भी सत्य है कि सभी कैंसर एक से भयकर नही होते—कुछ अपेक्षाकृत कम तथा कुछ अधिक भयकर हुआ करते हैं।

चिकित्सा—सारकोमा की तरह इसकी भी प्रधान चिकित्सा केवल मात्र अर्बुद का ही नही अपितु आस-पास की ऊतको एव लसीका ग्रन्थियों का और यदि सम्भव हो तो सम्पूर्ण अङ्ग का ही छेदन कर देना आवश्यक है। शस्त्रकर्म से पूर्व एवं पश्चात् रेडियम एवं एक्स-रे का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। इस सबका इस स्थल पर विस्तृत वर्णन देना आवश्यक नही क्योकि यह कार्य कैसर चिकित्सा के लिए विशेष रूप से नियत स्थानो पर ही किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न अंगों के कैंसर—यद्यपि यह स्पष्ट है कि कैसर की चिकित्सा साधारण चिकित्सा द्वारा सम्भव नही फिर भी इस स्थल पर भिन्न-भिन्न अगो के कैसर के सम्बन्ध मे संक्षिप्त साकेतिक वर्णन आवश्यक ही है ताकि समय पर प्रारम्भ में ही निश्चित निदान किया जाकर रोगी की चिकित्सा का उचित प्रबन्ध कराया जा सके। साथ ही यह भी ध्यान रखना है कि सभी स्थानो के दुर्दम अर्बुदो का वर्णन न दिया जाकर केवल कुछ स्थानो के कैसर का ही जो अधिक पाये जाते है वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

स्तन का दुर्दम अर्बुद—स्तन ऐसे अग है जिनमे अर्बुदों की प्रायः उत्पत्ति हुआ करती है और ये अर्बुद दुर्दम तथा सामान्य दोनो ही प्रकार के होते है। दुर्दम अर्बुदों मे सारकोमा एवं कैसर दोनो ही सम्भव है।

सारकोमा प्रायः ४५ वर्ष की आयु से कम आयु मे उत्पन्न होता है तथा यह अनुमान लगाया गया है कि स्तनों मे पाये जानेवाले अर्बुदों मे दो प्रतिशत सारकोमा होता है।

कार्सिनोमा अर्थात् कैंसर भी गर्भाशय के पश्चात् स्तनों मे ही अधिक उत्पन्न होता है तथा प्रायः इसकी उत्पत्ति मध्यम आयु के आस-पास ही होती

देखी गई है। स्तन कैंसर के रोगियों में लगभग एक प्रतिशत पुरुष होते हैं। प्रजाता अथवा अप्रजाता दोनों में ही इसकी उत्पत्ति होते देखी गई है यद्यपि यह कहा जाता है कि स्तन पान कराने से कैंसर के उत्पन्न न होने में कुछ सहायता मिलती है। सारकोमा अथवा कैंसर दोनों की उत्पत्ति में कभी-कभी आघात का इतिहास मिलता है यद्यपि यह सदैव आवश्यक नहीं। कड़ी चोली[1] अथवा चिरकालीन स्तनशोथ भी कैंसर की उत्पत्ति में सहायक है।

अर्बुद का प्रारम्भ २५-६० वर्ष की आयु में होता है। प्रारम्भ में एक कठिन, गाँठदार, अनियमित स्वरूप की वृद्धि उत्पन्न होती है। इस गाँठ की चर्म के साथ ससक्ति होने के कारण चर्म के अन्दर की ओर दब जाने से गड्ढे से पड़ जाते हैं तथा चुचुक अन्दर की ओर खिंच जा सकता है। अर्बुद के नीचे की ओर संसक्ति होने के कारण इधर-उधर नहीं जा सकता। अर्बुद का प्रारम्भ प्रायः बाह्य ऊर्ध्व चतुर्थांश में ही होता है और यदि चूचुक के मध्य की ओर प्रारम्भ हो तो दूसरे स्तन में भी कैंसर के प्रसार की बहुत कुछ सम्भावना रहती है। कालान्तर में अर्बुद के स्थान पर व्रणोत्पत्ति हो जा सकती है जब कि व्रण के किनारे उठे हुए तथा कठोर होते हैं। कक्षा की लसीका-ग्रन्थियाँ आक्रान्त हो जाती जो स्पर्श में बहुत कठोर होती हैं। इन ग्रन्थियों द्वारा कक्षा में दबाव पड़ने के कारण कभी-कभी पीड़ित ओर की बाहु शोथयुक्त हो जाती है तथा उसमें तीव्र पीड़ा होती है।

कैंसर का विक्षेपण यकृत, फुफ्फुस, पर्युदर्या आदि स्थानों को होने से क्रमशः कामला, कष्टश्वास एवं जलोदर की उत्पत्ति सम्भव है। वक्षास्थि, ऊर्वस्थि शीर्ष, पर्शुकाएँ, आदि अस्थियों तक कैंसर कोशिकाओं के विक्षेपण हो जाने से इन अस्थियों में सततः तीव्र पीड़ा होती रहती है।

क्षीण शरीर एवं दुःस्वास्थ्य भी इसके प्रधान लक्षण हैं। रोग के प्रारम्भ के दो-तीन वर्ष में मृत्यु हो जा सकती है।

रोग का जितना शीघ्र निदान होकर चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध कर

1. Co-set.

दिया जाय उतनी ही जीवन रक्षा की सम्भावना अधिक है। यकृत फुफ्फुस आदि अंगों तक विक्षेपण हो जाने के पश्चात् जीवन रक्षा की कोई आशा नही रह जाती। अतः प्रारम्भ में ही रोग का सन्देह होने पर पूर्ण परीक्षा एव चिकित्सा के लिए प्रबन्ध करने का परामर्श रोगी को दे दिया जाना चाहिए। शस्त्र-कर्म द्वारा स्वस्थ धातुओं का बहुत कुछ भाग लेते हुए स्तनच्छेदन एवं रेडियम का प्रयोग ही स्तन कैंसर की प्रधान चिकित्सा है।

गर्भाशय का कैंसर—स्त्रियो मे गर्भाशय का कैसर प्रायः रजोनिवृत्ति काल के आसपास ही प्रारम्भ होता है। इसका प्रारम्भ गर्भाशय ग्रीवा अथवा गात्र मे हो सकता है यद्यपि यह देखा गया है कि प्रथम ग्रीवा ही आक्रात होती है उसके पश्चात् रोग का प्रसार गात्र तक भी हो जा सकता है।

प्रारम्भ मे ग्रीवा पर योनि की ओर छोटे कडे दाने अथवा अंकुर की उत्पत्ति होती है। यह भी सम्भव है कि ग्रीवा के भीतर अर्बुद का कई छोटी-छोटी ग्रन्थियो के रूप मे प्रारम्भ हो। यह वृद्धि शीघ्र ही योनि या गर्भाशय की ओर बढने लगती है। व्रणोत्पत्ति होने तथा व्रणों के शीघ्र ही बढते जाने से योनि की सम्पूर्ण भित्ति गल जा सकती है। केवल इतना ही नही कभी-कभी मूत्राशय तक की भित्ति आक्रात हो जाती है। व्रणो से पूयोत्पादक जीवाणुओ का उपसर्ग हो जाने पर दुर्गन्धि युक्त रक्त एव श्लेष्मा मिश्रित स्राव निकलने लगता है। प्रारम्भ मे पीड़ा नहीं होती किन्तु व्रणोत्पत्ति एवं पूयोत्पादक जीवाणुओ के उपसर्ग के पश्चात् असह्य पीडा होने लगती है जिसके कारण रोगी को चैन नही पडता तथा मॉर्फीन के प्रयोग तक की आवश्यकता पड़ सकती है। रोग का प्रारम्भ गात्र मे होने पर प्रथम लसीका ग्रन्थियाँ अथवा श्लैष्मिक कला आक्रात होती है परन्तु शीघ्र ही रोग सारे अग मे फैल जाने पर गर्भाशय व्रणो का छत्ता-सा बन जाता है जिसको अँगुली डाल कर अनुभव किया जा सकता है। यहाँ से अर्बुद का अन्य अगो तक विक्षेपण हो जा सकता है।

रोग का प्रधान लक्षण योनि से पूय एवं रक्त मिश्रित दुर्गन्धि युक्त स्राव का निकलना तथा पीड़ा का होना है। पीड़ा व्रणोत्पत्ति होने पर ही होती है

रोग के प्रारम्भ में नहीं अतः शुरू-शुरू में रोग की ओर ध्यान भी नहीं जाता। रक्तस्राव भी प्रारम्भ में थोड़ा ही होता है जो कालान्तर में बहुत बढ़ जा सकता है।

तीव्र स्वरूप की कोष्ठबद्धता, क्षुधानाश, अरुचि, क्षीणता, रक्ताल्पता, शक्ति-ह्रास, पेशियों की क्षीणता एवं दुर्बलता आदि लक्षण भी प्रायः सदैव ही साथ में रहते हैं। ये लक्षण मिलने पर रोग का सन्देह किया जाना चाहिए विशेष कर उस अवस्था में जब रोगिणी ४०-६० वर्ष की आयु की हो तथा उपरोक्त लक्षणों का कोई समुचित कारण न मालूम पड़ता हो। पीड़ा तथा योनि से रक्त मिश्रित दुर्गन्धियुक्त स्राव एक निश्चित सन्देहास्पद लक्षण है जिसके मिलते ही योनि-मार्ग से ठीक-ठीक परीक्षा की जानी चाहिए।

चिकित्सा—रोग के प्रारम्भ में ही यदि ठीक-ठीक निदान होकर चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध कर दिया जाय तो जीवन-रक्षा सम्भव है। यदि रोग अधिक बढ़ जाता है तो अन्य अंगों तक कैंसर कोशिकाओं के निपेक्षण हो जाने से शस्त्र-कर्म द्वारा भी जीवन-रक्षा सम्भव नहीं। फिर रोगी के अत्यन्त क्षीण हो जाने पर शस्त्र-कर्म स्वतः असम्भव-सा बन जाता है। अतः रोग के प्रारम्भ में ही किंचित् भी सन्देह होने पर आक्रांत भाग को चमसक से खुरचकर खुरचे हुए पदार्थ की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा की जानी चाहिए जिसमें कैंसर कोशिकायें दिखाई पड़ सकती हैं। यदि ऐसा है तो सम्पूर्ण गर्भाशय का छेदन कर देना ही अच्छा है तभी रोगी की जीवन रक्षा हो सकती है। रोग के बढ़ जाने पर रेडियम का प्रयोग तथा लक्षणों के शमन के लिए लाक्षणिक चिकित्सा ही सम्भव है किन्तु लाभ की आशा नहीं।

ओष्ठ का कैन्सर—अधिकांश में यह एपीथिलियोमा होता है जो पाइप, सिगरेट आदि प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को मध्यम आयु के पश्चात् उत्पन्न होता देखा जाता है। प्रायः निम्न ओष्ठ या मुख के कोण ही प्रभावित होते हैं।

रोग का प्रारम्भ (अ) एक विदार के रूप में जो बढ़ता जाता (ब) एक गांठदार या सामान्य वृद्धि के रूप में जो शीघ्र ही व्रण का रूप धारण कर लेती

अथवा (स) मोटे हो जाने वाले ओष्ठ आवरण के रूप में होता है। निकटस्थ लसीका ग्रन्थियाँ शीघ्र ही प्रभावित होकर बढ़ जाती हैं। प्रारम्भ मे ये कठोर, बढ़ी हुई तथा अलग-अलग होती हैं किन्तु बाद मे एक दूसरी से संसक्त हो जाती हैं तथा वहाँ व्रणों की भी उत्पत्ति हो जा सकती है। दूरस्थ अंगो को विक्षेपण बहुत कम होता देखा जाता है। मृत्यु प्रायः ग्रीवा में उत्पन्न द्वितीयक[1] विस्तृत व्रण, पीड़ा एवं पूयोत्पादक जीवाणुओ द्वारा उपसर्ग होने पर शक्ति का ह्रास अथवा किसी रक्तनलिका के गल जाने से होनेवाले रक्तस्राव के कारण होती है।

ओष्ठ में अधिक कालीन वृद्धि एवं लसीका ग्रन्थियों की वृद्धि सहित व्रण होने पर इस रोग का सन्देह किया जाना चाहिए। सन्देह की अवस्था मे सदैव कुछ भाग की सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा करके निश्चय किया जा जा सकता है।

शस्त्र-कर्म एवं रेडियम का प्रयोग ही प्रधान चिकित्सा है। शस्त्र-कर्म का अर्थ व्रण के आस-पास आधा इच तक लेते हुए छेदन कर देना है। प्रभावित लसीका ग्रन्थियों की भी इसी प्रकार समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए।

आमाशय का कैंसर—इसकी उत्पत्ति प्रायः ४०-६० वर्ष की आयु मे स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में थोड़ी अधिक होती देखी जाती है यद्यपि युवा अवस्था मे उत्पत्ति होना भी असम्भव नहीं। लगभग १०-१५ प्रतिशत रोगियो मे इसका प्रारम्भ चिरकालीन आमाशयिक व्रण के रूप मे होता है अथवा यह कहना चाहिए कि चिरकालीन आमाशयिक व्रण ही कैंसर का रूप धारण कर लेता है। रोग का प्रारम्भ अधिकाश मे आमाशय के पक्वाशय की ओर वाले भाग मे होता है यद्यपि दूसरे भाग मे भी उत्पत्ति सम्भव है। कभी-कभी कैन्सर सारे आमाशय मे भी फैल जाता है। अर्बुद का प्रारम्भ साधारणतया एक कठोर ग्रन्थि के रूप में होता है जो बड़ी शीघ्रता के साथ बढ़ती जाती तथा वहाँ अकुर एवं व्रण दोनो की ही उत्पत्ति हो जाती है। आमाशय

1. Secondary.

के किनारे पर स्थित लसीका ग्रन्थियाँ भी शीघ्र ही आक्रान्त हो जाती हैं तथा कालान्तर में अर्बुद समीपवर्ती अंगों के साथ संसक्त हो जाता है।

लक्षण—प्रारम्भ में केवल अपच होता है जो सामान्य चिकित्सा द्वारा ठीक नहीं होता। यथार्थ बात यह है कि यदि ४० वर्ष की आयु के पश्चात् इस प्रकार का लक्षण उत्पन्न हो जो शीघ्र ही ठीक होने में न आवे तो कैन्सर का सन्देह किया जाकर पूर्ण परीक्षा का प्रबन्ध आवश्यक है ताकि प्रारम्भ में ही निदान होकर चिकित्सा का प्रबन्ध किया जा सके।

कुछ समय पश्चात् ही उदर में पीड़ा प्रारम्भ होती है जो हर समय रहती, दबाने या भोजन से बढ़ती किन्तु वमन हो जाने पर भी घटती नहीं। वमन का रंग कौफी सदृश काला-लाल होता है। शुद्ध रक्तवमन एवं निगलने में कठिनाई आदि लक्षण भी मिल सकते हैं। रोगी का शरीर दिन पर दिन क्षीण होता जाता है। रक्ताल्पता भी बढ़ती जाती है। अन्त में मृत्यु शरीर के अत्यधिक कृश हो जाने पर ही होती है।

उपरोक्त लक्षण, क्ष-किरण फोटो, आमाशयिक स्राव की परीक्षा, मल के साथ सततः रक्त का आना आदि बातें निदानकर हैं। निश्चित निदान के लिए शस्त्र-कर्म के पश्चात् वृद्धि के कुछ भाग की सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षा की जा सकती है।

चिकित्सा विशेषज्ञ द्वारा विशेष साधन सम्पन्न अस्पताल मे ही सम्भव है और वह भी प्रारम्भिक अवस्था में क्योंकि जितना ही विलम्ब होता जाता है लाभ की आशा उतनी ही कम होती जाती है।

—०—

बीसवाँ अध्याय

अस्थिभंग एवं सन्धिच्युति

सामान्य वर्णन

अस्थियाँ—

संयोजक ऊतक द्वारा निर्मित अस्थि शरीर की सबसे अधिक कठोर एवं दृढ़ रचना है जिसमे थोड़ी बहुत नम्यता भी अवश्य रहती है। बालक की अस्थियाँ विशेष रूप से नम्य होती हैं। रचना की दृष्टि से इसको दो भागों में बाँटा जा सकता है। यथा (१) बाह्य स्तर जो अधिक संहत[1] तथा दृढ़ होता है तथा (२) आन्तरिक स्तर जो स्पंज सदृश सुषिर[2] तथा भंजनशील होता है। अस्थि के चारो ओर एक विशेष प्रकार का आवरण चढा रहता है जिसको पर्यस्थिकला या अस्थ्यावरण[3] नाम से सम्बोधित किया जाता है। लम्बी अस्थियों के मध्य मे अवकाश स्थान रहता है जिसको अस्थिगुहा[4] कहते हैं। इस गुहा के अन्दर तथा आन्तरिक स्तर के छिद्रो मे भी मज्जा[5] व्याप्त रहती है। इस मज्जा का प्रधान कार्य रक्त निर्माण करना है।

आकार की दृष्टि से अस्थियाँ चार प्रकार की होती है यथा—

१—दीर्घ अस्थियाँ—ये शरीर की मुख्य अस्थियाँ है जिनके दो शीर्ष तथा मध्य का भाग होता है। शीर्षों की अपेक्षा मध्य का भाग जिसे गात्र कहते हैं, पतला होता है ताकि पेशियों को स्थान मिल सके। साथ ही अग को दृढ़ता देने के उद्देश्य से इसमे कुछ वक्रता भी रहती है। ऊर्वस्थि, बहिर्जंघास्थि आदि लम्बी या दीर्घ अस्थियो के उदाहरण हैं। दीर्घ अस्थियाँ शाखाओं में ही

---

1. Compact 2. Spongy 3. Periosteum. 4. Cavity 5. Bone marrow.

पाई जाती है तथा एक दूसरे से इस प्रकार मिली रहती हैं कि पेशियों की सहायता से अंग को इच्छानुसार संचालित किया जा सके।

२–ह्रस्व अस्थियाँ—करभास्थियाँ[1] तथा प्रपादास्थियाँ[2] ह्रस्व अस्थियों के उदाहरण हैं।

३—चपटी अस्थियाँ—ये अधिकाश मे संहत स्तर की ही बनी होने के कारण अधिक दृढ होती है। इनका मुख्य उद्देश्य शरीर के मर्मांगों को सुरक्षित रखना यथा कपालास्थियाँ[3] अथवा पेशियों के लगने के लिए अधिक स्थान देना है जैसा असफलक[4]।

४—अनियमित आकार की अस्थियाँ—इनका आकार नियमित नहीं होता यथा कशेरुका[5] आदि।

अस्थि-भंग

कारण—अस्थिभंग से तात्पर्य उपरोक्त प्रकार की किसी भी अस्थि का टूट जाना है और साधारणतया यह किसी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आघात के कारण ही होता है जब भग आघात के स्थान पर ही होता है जैसे डण्डे लाठी आदि की चोट से हाथ-पैर की हड्डी का टूट जाना तो इसको प्रत्यक्ष आघात कहा जाता है तथा जब भंग आघात के स्थान पर ही न होकर दूर की अस्थि मे होता है तो इसको अप्रत्यक्ष आघात कहा जाता है यथा हाथ के आधार पर गिरने से जत्रुकास्थि का भग। कभी-कभी पेशियों को कण्डराओं के अत्यधिक आकस्मिक तनाव के कारण भी छोटी-छोटी अस्थियाँ टूट जा सकती हैं। जान्वास्थि का भग सदैव इसी प्रकार होता है।

आघात अस्थि भंग का तात्कालिक कारण हुआ और यही कारण मुख्य रूप से देखा भी जाता है। गौण कारण के रूप मे अस्थि की दुर्बलता होती है जिसके लिए निम्न अवस्थाएँ उत्तरदायी हो सकती है।

---

1. Metacarpus 2. Metatarsal 3. Skull bones. 4. Scapula. 5. Vertibra.

वृद्धावस्था—आयु बढ़ने के साथ ही साथ अस्थियों मे कैल्सियम की कमी होती जाती है और इसका कारण अंगों की शिथिलता, आन्तरिक स्रावों मे परिवर्तन, भोजन विशेषकर दूध की कमी आदि हो सकता है। इसीलिए थोडे से आघात से ही वृद्ध व्यक्तियों मे जल्दी ही भग्न हो जा सकता है विशेषकर ऊर्वस्थि के शीर्ष का।

पैतृक भग्न प्रवृत्ति—यह एक विशेष प्रकार का रोग है जो पैतृक होता है तथा जिसमे जन्म से ही अस्थियाँ अपेक्षाकृत अधिक भंजनशील होने के कारण अल्प आघात के कारण ही टूट जाती हैं। इसका कारण ज्ञात नही।

परावटु ग्रन्थि के स्राव की अधिकता[1]—इस स्थिति मे भी अस्थियों मे कैल्सियम के लवणों की कमी के कारण उनमे दुर्बलता आ जाती है।

अस्थि मृदुता[2]—युवावस्था विशेष कर स्त्रियों का यह एक विशेष रोग है जिसमे चूने, फास्फोरस एवं जीवतिक्ति डी॰ की कमी के कारण अस्थियाँ अपेक्षाकृत अधिक मुलायम होने के कारण जल्दी ही टूट जा सकती हैं।

अस्थि मज्जा शोथ[3]—पूयोत्पादक जीवाणुजन्य अस्थ्यावरण एवं मज्जा सहित अस्थि का शोथ है जिसके कारण अस्थि दुर्बल हो जाती है।

इस सबके अतिरिक्त अस्थियों के समीप या घातक अर्बुद या अवाञ्छित रूप से अधिक समय तक क्ष-किरण या रेडियम के प्रयोग से भी अस्थियाँ दुर्वल हो जा सकती हैं। अस्थि दौर्बल्य के कारण हलके आघात ही और कभी-कभी बिना प्रत्यक्ष आघात के ही अस्थि भंग हो जा सकता है।

भग युवावस्था मे तथा स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो को अधिक होते देखे जाते है और इसका एक मात्र कारण यही है कि युवा पुरुषों का जीवन अधिक क्रियाशील तथा भागने दौड़ने आदि खतरे पूर्ण कार्यों से भरा रहता है।

---

1. Hyperparathyroidism 2. Osteomalacia 3. Osteomyelitis.

भग्न के प्रकार—भग्न सरल[1] एव विवृत[2] दो प्रकार के होते हैं। साधारण (चित्र ११२) जब अस्थि के टूटे हुए टुकडे अपने स्थान पर ही रहते हैं चर्म



चित्र ११२—सामान्य भग्न

के बाहर नहीं निकल पाते तथा-विवृत (चित्र ११३) जब टूटे हुए टुकडे पेशी-चर्म या श्लेष्मल कला को विदीर्ण करके बाहर निकल आते हैं। साधारण भग्न मे वायु अस्थि तक नहीं पहुँच पाती जबकि विवृत भग मे वायु धूल के कण आदि अन्दर प्रविष्ट कर जाते हैं जिसके कारण पूयोत्पादन हो सकता है। विवृत भग मे रक्तस्राव का होना तो स्पष्ट ही है।

भग सोपद्रव या निरुपद्रव भी हो सकते हैं। निरुपद्रव भंग मे केवल मात्र अस्थि ही टूटती है आन्तरिक अगों को कोई क्षति नहीं पहुँच पाती। सोपद्रव भग मे टूटे हुए टुकड़ों के द्वारा रक्तनलिका, तन्त्रिका सूत्र अथवा

1. Simple. 2. Compound.

किसी आन्तरिक मर्मांग को क्षति पहुँच जाती है। ध्यान रखना चाहिए कि भंग स्वतः कभी भी घातक नहीं हो सकता किन्तु तज्जन्य उपद्रव अवश्य ही



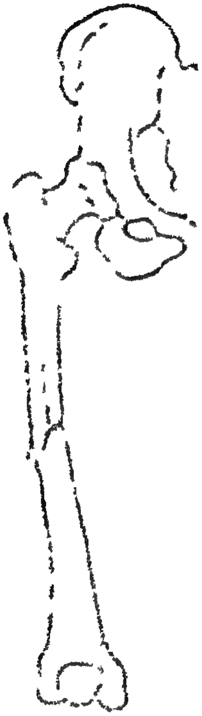
चित्र—११३ विवृत भंग

भयंकर स्वरूप का हो सकता है। कपालास्थि अथवा पर्शुकाओं के भंग इसीलिए भयंकर माने जाते हैं क्योंकि उनके द्वारा मस्तिष्क अथवा फुफ्फुस, हृदय आदि को ऐसी हानि पहुँच जा सकती है जो स्वतः जीवन के लिए घातक बन जाय।

भग पूर्ण अथवा अपूर्ण हो सकते है। अपूर्ण (चित्र ११४) भंग से तात्पर्य है कि अस्थि के टूटे हुए टुकड़े एक दूसरे से पूर्णतः पृथक नहीं हो जाते अर्थात् अस्थि पूरी नहीं टूट पाती। अपूर्ण भंग का प्रत्यक्ष उदाहरण ग्रीन स्टिक भंग[1] है जो प्रायः बच्चों में होता है। बच्चों की अस्थियाँ अधिक नम्य[2] होने के करण एकदम टूट नहीं जातीं बल्कि मुड़ जाती हैं। युवा

1. Green Stick Fracture, 2. Elastic

व्यक्तियों में भी कभी-कभी आघात के हल्के होने के कारण अपूर्ण भंग ही होना सम्भव है। पूर्ण भंग से तात्पर्य भंग अस्थि के दोनों टुकड़ों का



चित्र—११४
अपूर्ण भंग



चित्र—११५
विखण्डित भंग



चित्र—११६
पूर्ण भंग

अलग-अलग हो जाना है। (चित्र ११६) जब अस्थि के टुकड़े दो से अधिक हो जाया करते हैं तो उसको विखण्डित भंग[1] कहा जाता है। (चित्र ११५)।

पूर्ण भंग, भंग की रेखा की प्रकृति के अनुसार, कई प्रकार का हो सकता है यथा अनुप्रस्थ भंग[2] जब भंग की रेखा सीधी होती है। इस प्रकार का भंग प्रायः आघात के स्थान पर ही होता है। तिर्यक्[3] भंग में भंग की रेखा तिरछी होती है। सर्पिल[4] भंग में यह रेखा लहरदार या चक्कर लगाती हुई

1. Comminuted 2. Transverse 3. Oblique 4. Spiral

जाती है, अनुदैर्ध्य[1] भंग अस्थि की लम्बाई की ओर रहता है तथा अस्थि का एक लम्बा सा टुकड़ा टूट कर अलग हो जाता है। इस प्रकार का भंग प्रायः बन्दूक की गोली से ही होता है।

जब अस्थि का एक टूटा हुआ टुकड़ा दूसरे में घुस जाता है तो उसको अन्तराविष्ट[2] भग कहते हैं।

कपालास्थियों के भंग सामान्य रैखिक[3] अथवा अवनत[4] हो सकते हैं। अवनत भंग मे मस्तिष्क को आघात पहुँचने की अधिक सम्भावना रहती है।

भंग की परीक्षा—

इतिहास—सर्वप्रथम रोगी के आते ही स्वतः रोगी से अथवा उसको लाने वाले व्यक्तियों से दुर्घटना का पूर्ण इतिहास जानना चाहिए। दुर्घटना, कहाँ, किससे तथा किस प्रकार हुई इसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से भंग की प्रकृति को बहुत कुछ समझा जा सकता है, अतः इस बात को सतर्कता के साथ सुनना व समझना चाहिए। घटना का दिन, समय व स्थान भी अंकित कर लेना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि सम्भव है कि इसकी भविष्य में आवश्यकता पड जाय।

दुर्घटना जन्य भंग के अलावा रोगी के साधारण स्वास्थ्य तथा अस्थियों सम्बन्धी रोग के सम्बन्ध मे भी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक है ताकि भंग को सामान्य चिकित्सा के साथ ही साथ दूसरी बातों की ओर भी ध्यान दिया जा सके।

इसके पश्चात् ही यदि कोई स्पष्ट निषिद्धादेश न हो तो रोगी को मौर्फीन एट्रोपीन का इजेक्शन दिया जा सकता है ताकि उसकी पीड़ा शान्त हो जाय।

भौतिक परीक्षा—भौतिक परीक्षा करते समय विशेष सावधानी की आवश्यकता है अन्यथा अवसाद की अवस्था बढ़ सकती अथवा रक्तनलिका

1. Longitudinal 2. Compacted 3. Linear 4. Depressed.

या तन्त्रिका सूत्रों को क्षति पहुँच सकती है। इस परीक्षा में सर्वप्रथम भंग सम्बन्धी निम्न लक्षणों की ओर ध्यान दिया जाता है—

१. पीड़ा—भंग के स्थान पर।

२. अकार्यक्षमता—जिस अग में भग हुआ है उसको हिलाया-डुलाया नहीं जा सकता।

३. अंग विकृति—भंग के स्थान पर टूटे हुए सिरे थोड़ा इधर-उधर निकले होंगे अतः अंग की स्वाभाविक आकृति में अन्तर पड़ जायगा। विवृत भंग मे अस्थि का टूटा हुआ टुकड़ा स्पष्ट ही बाहर दिखाई पड़ सकता है।

४. स्थानिक लक्षण—आघात के स्थानिक लक्षण चर्म का छिलना आदि दिखाई पड़ सकता है।

५. अप्राकृतिक गति[1]—जिस स्थान पर भंग हुआ है उस स्थान पर अंग को थोड़ा मोड़ा जा सकेगा यद्यपि स्वस्थावस्था में इस प्रकार मोड़ा जाना सम्भव नहीं था। इस लक्षण को प्रतीत करने का सदैव प्रयत्न नहीं करना चाहिए और यदि किया ही जाता है तो बहुत सावधानी के साथ किया जाना चाहिए ताकि निकटस्थ रक्तनलिकाओं व तन्त्रिका सूत्रों आदि को क्षति न पहुँचने पावे।

६. भंग ध्वनि[2]—यदि अग को भंग के स्थान पर थोड़ा हिलाया-डुलाया जाता है तो अस्थि के टूटे हुए सिरों के आपस में रगड़ खाने से एक विशेष प्रकार की ध्वनि अनुभव की जा सकेगी। जहाँ तक सम्भव हो सके इस चिह्न को भी प्रतीत करने का विशेष प्रयत्न करना ठीक नहीं।

७. अंग की माप—भग के कारण अंग की लम्बाई आदि मे भी कमी आ जाया करती है अतः इसको निश्चित करने के लिए माप लिया जाना आवश्यक है किन्तु माप सदैव स्वस्थ एव पीड़ित दोनों ही अगों की ली जानी चाहिए ताकि यह अनुमान लगाना सम्भव हो सके कि अग कितना छोटा हो गया है।

1. Unnatural movement. 2. Crepitas.

अ—ऊर्ध्व शाखा की लम्बाई—रोगी की लेटी हुई स्थिति में दोनों भुजाओं को उसके शरीर के साथ मिलाकर तथा कुहनी पर समान रूप से प्रसारित कर लिया जाता है।

१—पूरी शाखा की लम्बाई असंकूट शीर्ष[1] से बहिःप्रकोष्ठिका के स्टाइ-लोयड उभार तक[2] ।

२—ऊर्ध्व बाहु की लम्बाई एक्रोमियन शीर्ष से बहिप्रकोष्ठिका एव प्रगण्डास्थि सन्धि तक तथा

३—अग्रबाहु की लम्बाई उपरोक्त सन्धि से बहिःप्रकोष्ठिका के स्टाइलोयड उभार तक।

(ब) निम्न शाखा की लम्बाई भी रोगी की लेटी हुई स्थिति में टाँगों को समान रूप से एक दूसरे की ओर झुकाकर मिलाते हुए फैला कर ली जाती है।

१—पूरी शाखा की लम्बाई—नितम्बास्थि के पूरोर्ध्वकूट[4] से अन्त-र्गुल्फ[5] के शीर्ष तक।

२—उरु की लम्बाई—नितम्बास्थि के पूरोर्ध्वकूट से जानुसन्धि की मध्यरेखा तक अन्दर की ओर तथा

३—जंघा की लम्बाई जानु सन्धि की मध्यरेखा के अन्दर की ओर से अन्तर्गुल्फ के शीर्ष तक।

भौतिक परीक्षा मे भग से सीधी सम्बन्धित उपरोक्त परीक्षाओं के अलावा रक्तनलिका, तन्त्रिका सूत्र, मासपेशो आदि तथा सन्धि को यदि कोई क्षति पहुँची है तो उसका भी निश्चित अनुमान लगाना आवश्यक-सा है। भग्न से दूर की ओर धमनी का स्पन्दन अनुभव करना चाहिए और साथ ही साथ अग की स्पर्शन शक्ति का भी अनुमान लगाना चाहिये ताकि यह निश्चय हो

---

1. Tip of Acromian 2. Styloid Process of Radius
3. Radio Humeral joint. 4. Anterior Superior Spine
5. Medial Malleolus

सके कि अंग से सम्बन्धित धमनी एवं तन्त्रिका को तो आघात नहीं पहुँचा।

८—क्ष-किरण चित्रण—भग होने के दो तीन घण्टे के अन्दर ही यदि रोगी चिकित्सक के पास आ जाता है तो सामान्य परीक्षा द्वारा ही यह निश्चय किया जा सकता है कि भंग हुआ अथवा नहीं किन्तु यदि रोगी देर से आता है तो शोथ उत्पत्ति के कारण अथवा भंग के ऐसे स्थान पर जहाँ उपरोक्त लक्षणों को स्पष्ट न किया जा सके क्ष-किरण चित्रण[1] अथवा क्ष-किरण चित्रण दर्शन[2] की आवश्यकता पड़ जाती है। भंग का सामान्य परीक्षा द्वारा निदान हो जाने पर भी उसकी ठीक-ठीक प्रकृति मालूम करने के लिए क्ष-किरण चित्रण अच्छा ही है। पैरिस प्लास्टर लगाने के पश्चात् भी यदि क्ष-किरण द्वारा एक बार पुनः परीक्षा कर ली जाय तो ठीक ही है क्योंकि इससे यह निश्चय हो जा सकता है कि अस्थि के भंग सिरे एक दूसरे के साथ ठीक प्रकार मिले अथवा नही।

क्ष-किरण द्वारा फोटो पूर्व पश्चात्[3], (आगे-पीछे) पार्श्व[4], ऊर्ध्वाधः[5] (ऊपर नीचे) अथवा तिर्यक्[6] दिशा मे लिया जा सकता है—जैसी भी आवश्यकता हो। यदि केवल एक दिशा मे फोटो लेने से काम न चले तो दो या तीन दिशाओं में लिया जाना चाहिए।

भंग के उपद्रव—

भग के कई उपद्रव क्षत अस्थि द्वारा निकटस्थ अंग को आघात पहुँचने से ही हो जाया करते हैं तथा कपालास्थियों अथवा पर्शुकाओं के भग मे तो यहाँ तक सम्भव है कि ये उपद्रव रोगी लिए घातक तक हो जायँ। इस प्रकार के उपद्रवों के अतिरिक्त स्वतः भग से भी निम्न कोटि के उपद्रव सम्भव हैं यथा—

१. स्तब्धता—इसकी गम्भीरता आघात की प्रकृति, उसके द्वारा उत्पन्न क्षति तथा स्थान पर निर्भर करती है।

---

1. Skiagraphy 2. Screening. 3. Antero.posterior 4. Lateral 5. Supero-inferior 6. Oblique

२. वसा अन्तःशल्यता[1]—भग के पश्चात् वसा के कण रक्तप्रवाह में पहुँच कर किसी स्थल पर अटक कर अन्तःशल्यता के लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं।

३. रक्तस्राव—भंग के कारण रक्तस्राव प्रायः अधिक नहीं होता।

४. भंग ज्वर[2]—स्राव के तीसरे चौथे दिन ज्वर की उत्पत्ति हो जा सकती है जो दो-तीन दिन रहकर स्वतः शान्त हो जाता है।

५. सकम्प प्रलाप[3]—मद्यपान के अभ्यस्त व्यक्तियों को इस प्रकार के उपद्रव की अधिक सम्भावना रहती है। निद्रानाश एवं उन्माद की सी दशा के अतिरिक्त सारे शरीर में कम्प होता रहता है। कभी-कभी रोगी भय-कर स्वप्न देखता है जिसके कारण वह चारपाई से उठकर भागने का प्रयत्न करता है। अन्तिम अवस्था मे मूर्च्छा उत्पन्न होकर रोगी की मृत्यु तक सम्भव है।

चिकित्सा—भंग का प्रबन्ध करने के पश्चात् ही रोगी की सामान्य दशा की ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। यदि सकम्प प्रलाप के उत्पन्न होने का प्रारम्भ से ही भय हो तो रोगी को पौष्टिक पदार्थ देते रहकर उसकी शक्ति को सुरक्षित बनाये रखना चाहिए। इसके अलावा निद्राकर, प्रशान्तक, सीक्विल, लार्गेक्टिल आदि औषधियों का भी प्रयोग आवश्यक है।

अस्थि संयोजन—

अस्थि संयोजन से तात्पर्य अस्थि की पुनरुत्पत्ति होकर दोनो भग सिरों का आपस में जुड़ जाना है। प्रकृतितः यह कार्य स्वतः ही हो जाता है। (१) भंग के होते ही अस्थि के दोनों सिरों के आस-पास तथा बीच मे रक्तस्राव हो जाता है जो शीघ्र ही जम जाता है। (२) सात से दस दिन

---

1. Fat Embolism 2. Fracture fever 3. Delirium Tremens.

के अन्दर-अन्दर यह रक्तस्कन्द[1] श्वेत कणिका एवं फायब्रोब्लास्ट[2] की सहायता से कणाकुर ऊतक[3] में परिणत हो जाता है (३) कणाकुर ऊतक में धीरे-धीरे चूने के लवण सञ्चित होते जाते हैं तथा अस्थि निर्माणक कोशिकाओं[4] की सहायता से मृदु अस्थि का निर्माण होता जाता है जिसको किण[5] कहते हैं। (४) किण में अधिकाधिक कैल्शियम लवणों के संचित होते जाने से वह दृढ अस्थि का रूप धारण कर लेता है और इस प्रकार धीरे-धीरे सम्पूर्ण अस्थि पूर्ववत् हो जाती है। इस स्थल पर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि किण का निर्माण अस्थ्यावरण के नीचे, भग्न शिरों के मध्य में तथा अस्थि-गुहा में भी होता है। यदि अस्थि के दोनों सिरे एक दूसरे के साथ ठीक प्रकार मिले हुए हैं जो अस्थ्यावरण के नीचे तथा अस्थिगुहा में की किण समाप्त हो जाती है। भग्न सिरों के मध्य की किण ही दोनों सिरों को जोड़ती हुई स्थिर रहती है।

स्वस्थावस्था में जब अन्य सभी बातें सन्तोषजनक हों किण के निर्माण होने में दो से तीन सप्ताह लगते हैं तथा छः से आठ सप्ताह में किण अस्थि में परिणत हो पाती है।

अस्थि संयोजन में विलम्ब—

कभी-कभी निम्न अवस्थाओं में भग्न शिरों का संयोजन ठीक प्रकार से नहीं हो पाता अथवा विलम्ब से होता है :—

१—**रोगी का अनुपयुक्त स्वास्थ्य**—रोगी के दुर्बल एवं क्षीण होने, अन्य रोगों से पीड़ित होने अथवा ओस्टोमलेशिया आदि अस्थि के रोगों की अवस्था मे संयोजन देर से होता है।

२—**अस्थि के भंग सिरों का मिलान होना अर्थात् दूर-दूर होना।**

अ—भंग सिरों के मध्य में पेशी, कण्डरा आदि का आ जाना।

1. Blood clot 2. Fibro blast 3. Granulation Tissue 4. Osteo blast 5 Callus.

ब—अस्थि के कुछ भाग के नष्ट हो जाने या अन्य कारण से दोनों सिरों का दूर-दूर होना ।

३—भंग शिरों का ठीक-ठीक प्रकार से न मिलना अर्थात् अनुपयुक्त अस्थि सन्धान[1]—

४—रक्त संचालन की कमी—इस प्रकार की स्थिति उसी अवस्था में उत्पन्न होती है जबकि भंग सिरों के मध्य मे अस्थि का कोई टुकड़ा ऐसा पड़ा हो जहाँ तक रक्त सचार हो ही नही सकता । यदि रक्त सचार नहीं हो सकता तो अस्थि निर्माणक कोषाणु अपना कार्य नही कर सकते ।

५—अनुपयुक्त चिकित्सा—

अ—अंग का अचल न किया जा सकना

ब—पीड़ित अग को समय से पूर्व ही चलाने लगना आदि ।

६—उपसर्ग—भंग के स्थान पर पूयोत्पादक जीवाणुओं के किसी प्रकार पहुँच जाने पर अस्थि निर्माण कार्य मे बाधा पड़ती है विशेष कर उस अवस्था में जब अस्थि मे कोथ प्रारम्भ हो जाय ।

भंग चिकित्सा के सामान्य सिद्धांत—

उपरोक्त बातों को समझ लेने के पश्चात् भंग चिकित्सा के यथार्थ क्रम के सम्बन्ध मे विचार किया जा सकता है जो निम्न प्रकार का होना चाहिए—

१—प्राथमिक सहायता[2]—भंग की चिकित्सा दुर्घटना के स्थान से ही प्रारम्भ हो जाती है । दुर्घटना के स्थान से रोगी को हटाने से पूर्व ही इस प्रकार का प्रबन्ध कर देना आवश्यक होता है कि अंग को जो कुछ क्षति पहुँच चुकी है वह उतनी ही रहे और न बढ़ने पावे । यथार्थ मे यह कार्य उन सामान्य व्यक्तियो का है जो दुर्घटना के स्थल पर ही रोगी के आस-पास होते हैं । किन्तु अधिकांश मे यह भार निकटस्थ चिकित्सक के ऊपर पड़ जाया करता है जिसके पास रोगी को प्रायः ले आया जाता है ।

---

1. Setting of fracture 2. First Aid.

यहाँ चिकित्सक का कर्तव्य है कि सर्वप्रथम रोगी की सामान्य अवस्था की ओर ध्यान दे और यदि अवसाद की अवस्था उत्पन्न हो गई हो या हो रही हो तो उसका प्रबन्ध कर दे। पीडाहरण के लिए मौर्फीन का इञ्जेक्शन दे दिया जाना आवश्यक है। इसके पश्चात् भंग अस्थि को यथासम्भव ठीक स्थिति में रखने के पश्चात् खपच्चियों की सहायता से अंग को स्थिर कर दिया जाता है। खपच्चियाँ लगने से पूर्व अंग को स्पिरिट से साफ करने के पश्चात् डस्टिंग पाउडर बुरका जा सकता है। खपच्चियों पर भली प्रकार रुई की गद्दी लगा दी जानी चाहिए ताकि वे रोगी को कष्टकर न हों। इसके पश्चात् भंग की पूर्ण चिकित्सा के लिए रोगी को अस्पताल भेज दिया जाता है। पीठ के आघातों मे रोगी को उलटा मुँह नीचे की ओर करके लिटाकर तथा अन्य आघातों में रोगी को सीधा लिटाकर ले जाया जाना चाहिए।

दुर्घटना के स्थल पर ही जहाँ खपच्चियाँ उपलब्ध न हो सकती हों अंग को स्थिर करने के लिए छड़ी, छाता, डण्डा, लकड़ी, फट्ठा आदि किसी वस्तु का प्रयोग सम्भव है अथवा पीड़ित अंग को स्वस्थ अंग के साथ ही पट्टियों द्वारा साध दिया जाना चाहिए। बिना अंग को स्थिर किए दुर्घटना के स्थान से रोगी को हटाना ठीक नहीं।

२—यथार्थ चिकत्सा—रोगी के अस्पताल में आ जाने पर भग की यथार्थ चिकित्सा प्रारम्भ की जाती है। इसके मूलभूत सिद्धान्त तीन हैं यथा—

अ—अस्थि सन्धान[1]—अर्थात् अस्थि के टूटे हुए सिरों को एक दूसरे के साथ ठीक प्रकार मिला देना।

ब—स्थिरीकरण[2]—अर्थात् अंग को इस प्रकार स्थिर कर देना कि उसमे किंचित् भी गति न होकर भंग सिरे हट न सकें।

स—अंग को पुनः कर्मशील बना देना[3]।

---

1. Reduction 2. Immobilization 3. Restoration of Function.

यह सब सामान्य चिकित्सक के क्षेत्र के बाहर है अतः साधनसम्पन्न अस्पताल मे ही रोगी को प्रविष्ट करा देना युक्तिसगत है।

सन्धिच्युति

(Dislocation)

सन्धि निर्माण में भाग लेने वाली दो या अधिक अस्थियों के सिरों का एक दूसरे के प्राकृतिक सम्पर्क में न रहकर आघात के कारण इधर-उधर हट जाना ही सन्धि विश्लेष या सन्धिच्युति कहा जाता है। प्रकृतितः सन्धि के भीतर अस्थियों के सिरे विशेष बन्धनों द्वारा जिनको स्नायु कहते हैं एक दूसरे के साथ बँधे रहते हैं तथा सम्पूर्ण सन्धि एक दृढ़ कोष द्वारा ढकी रहती है। इस कोष को सन्धि कोष कहा जाता है। सन्धिच्युति के समय बन्धन क्षत-विक्षत हो जा सकते तथा अस्थि के सिरे सन्धि कोष के बाहर निकल आ सकते हैं। इस प्रकार को विकृति प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनो ही प्रकार के आघातों से उत्पन्न हो सकती है।

लक्षण—१. आकार विकृति—सन्धिच्युति का यह प्रथम प्रधान लक्षण है कि अग का आकार विकृत हो जाता है और इसको विशेष रूप से स्पष्टतः समझने के लिए दूसरी ओर की स्वस्थ सन्धि से विकृत सन्धि की तुलना अवश्य कर ली जानी चाहिए। स्पर्श करने से अस्थि का हटा हुआ सिरा इधर-उधर अप्राकृतिक स्थान पर अनुभव किया जा सकता है।

२. अग की लम्बाई में अन्तर पड जाता है विश्लेष की प्रकृति के अनुसार वह बढ़ अथवा घट जा सकता है।

३. प्रत्येक दिशा मे सन्धि की गति सीमित हो जाती है। सन्धिच्युति के साथ ही साथ यदि अस्थि भग भी है तो भग ध्वनि तथा भग के स्थान पर अप्राकृतिक गति का उपस्थित होना भी बहुत कुछ सम्भव है।

४. सम्भव है कि आघात के भी कुछ लक्षण मिले जब कि आघात का इतिहास मिलना तो निश्चित है ही। सन्धिकोष एवं बन्धनों को क्षति पहुँचने

के कारण पीड़ा भी अवश्य होती है जो विकृति की प्रकृति के अनुसार तीव्र स्वरूप की अथवा अल्प हो सकती है यदि समीपवर्ती तन्त्रिका सूत्रों को क्षति पहुँच जाती है तो उसके लक्षण पीड़ा, सुन्नता आदि भी उपस्थित हो सकते हैं।

उपद्रव—१. अस्थि भग—सन्धि च्युति के साथ ही साथ समीपस्थ अस्थि का भंग होना भी बहुत कुछ सम्भव है। इसका निश्चित निदान क्ष-किरण चित्रण द्वारा ही सम्भव है।

२. तन्त्रिका सूत्रों अथवा रक्त नलिकाओं को क्षति पहुँच सकती है जिससे सम्बन्धित लक्षण अपने आप अनुभव किए जा सकते हैं।

३. विवृत भग की तरह विवृत सन्धि च्युति भी हो सकती है जिसमें सन्धि च्युति के साथ ही साथ चर्म भी विदीर्ण हो जाय। अस्थि सन्धान कर चुकने अर्थात् विश्लेषित अस्थियों को ठीक स्थान पर ले आने के पश्चात् चर्म को सीकर ठीक कर दिया जाता है। क्षत के ठीक हो जाने के पश्चात् ही सन्धि में गति किया जाना प्रारम्भ किया जा सकता है। विवृत सन्धि च्युति की अवस्था में जहाँ तक भी सम्भव हो सके निकास[1] का प्रबन्ध नहीं किया जाना चाहिए और यदि किया जाना आवश्यक ही हो तो निकास-नलिका[2] गौज आदि सन्धि कोष के अन्दर जहाँ तक भी सम्भव हो सके, प्रविष्ट न करना ही अच्छा है।

भविष्य—यदि अस्थियों का सधान प्रारम्भ में ही कर दिया जाता है तो सन्धि का पूर्वावस्था में आ जाना निश्चित-सा है। फिर भी आस-पास की सन्धियों की जड़ता तथा सन्धि शोथ की उत्पत्ति बहुत कुछ सम्भव है। साथ में भग भी होने पर अस्थि सन्धान में कठिनाई पड़ती है और इसके अलावा वार-वार सन्धि विश्लेष की सम्भावना बनी रहती है। यदि तन्त्रिका सूत्रों या रक्तनलिकाओं को भी क्षति पहुँच जाती है तो तदनुकूल भविष्य भी अवश्य अन्धकार में रहता है।

---

1. Drainage 2. Drainage Tube.

निदान—उपरोक्त लक्षणों से निदान आसान है फिर भी यदि सम्भव हो सके तो क्ष-किरण फोटो ले लिया जा सकता है क्योंकि उससे सन्धि की यथार्थ स्थिति मालूम होने के साथ ही साथ यह भी निश्चित हो जाता है कि अस्थि भग तो नही। सधान के बाद भी एक बार पुनः क्ष-किरण फोटो ले लेना अच्छा है।

चिकित्सा—शीघ्र से शीघ्र अस्थिसन्धान करना अर्थात् स्थान से हटी हुई अस्थियों को ठीक स्थान पर ले आना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए—

अ—हस्त व्यापार—चतुराई के साथ जिस मार्ग से च्युत अस्थि का शिरा अलग हुआ है उसी मार्ग से उसको अपने स्थान पर बिठा देना चाहिए। इसके लिए सर्वाङ्ग सज्ञाहरण की प्रायः आवश्यकता नहीं पड़ा करती। अस्थि सधान प्रारम्भ करने से पहले रोगी का $\frac{1}{4}$ ग्रेन मौर्फिया का इन्जेक्शन दिया जा सकता है। ध्यान रखना चाहिए कि इस कार्य के लिए शक्ति की आवश्यकता नही अपितु कौशल की आवश्यकता है।

ब—प्रसारण - कभी-कभी सम्बन्धित पेशियो के प्रसारण की आवश्यकता पड़ जाया करती है और यह कार्य पेशियो को सततः खींचने से सम्भव हो जा सकता है। क्लोरोफार्म द्वारा सज्ञाहरण करने से भी पेशियो की शिथिलता उत्पन्न होती है।

सन्धान के पश्चात् कुशाएँ लगाकर १०, १५ दिन तक सन्धि को स्थिर रखा जाता है ताकि इस समय में टूटे हुए बन्धन आदि ठीक हो जायँ। इसके पश्चात् सन्धि की जड़ता को रोकने के लिए रोगी को स्वतः सन्धि मे गति करनी चाहिए।

स-शस्त्र कर्म—उपरोक्त विधि से काम न चल सके अथवा रक्त नलिकाओं एव तन्त्रिका सूत्रो को भी हानि पहुँच चुकी है अथवा भग भी साथ मे है तो शस्त्र-कर्म आवश्यक हो सकता है।

यदि शीघ्र ही अस्थिसन्धान नहीं हो पाता तो—ध्यान रखना चाहिए कि आघात के दो मास या अधिक पश्चात् जब रोगी चिकित्सक के पास आता है तो हस्त व्यापार द्वारा अस्थिसन्धान नही किया जा सकता क्योंकि अधिक शक्ति लगाने से जैसी कि आवश्यकता होती है अस्थि भग हो जा सकता है या तन्त्रिका सूत्रों व रक्त नलिकाओ को क्षति पहुँच सकती है। ऐसी स्थिति मे शस्त्र कर्म द्वारा ही अस्थियो को ठीक स्थिति मे लाया जा सकता है। किन्तु यदि रोगी वृद्ध है, सन्धि मे विशेष पीड़ा नहीं होती तथा सन्धि में कामचलाऊ गति भी की जा सकती है तो शस्त्र कर्म न करना ही अच्छा है। इसके विरुद्ध यदि रोगी युवा है तथा सन्धि मे पीडा भी अधिक होती है तो शस्त्र-कर्म द्वारा उसको ठीक किया जा सकता है।

विशेष-विशेष सन्धियों के विश्लेष—

अधोहन्विका च्युति—इसका अर्थ नीचे के जबडे की अस्थि का सन्धि पर च्युत हो जाना अर्थात् हट जाना है जिससे मुँह खुले का खुला रह जाता है फिर बन्द नही किया जा सकता। प्रकृतितः होता यह है कि मुँह खोलते समय हनुस्थूलक[1] हनुखात मे सन्धायक उत्सेध[2] के पीछे पहुँच जाया करता है। अब इस स्थिति मे यदि चिबुक पर नीचे की ओर को थोडा भी आघात लग जाय या मुख ही एकदम आवश्यकता से अधिक खुल जाय जैसा कि जम्हाई लेते समय या दाँत उखाडते समय सम्भव है तो हनुस्थूलक उत्सेध पर से फिसलता हुआ उसके आगे आ जायगा तथा स्वतः वह पीछे नही जा सकेगा यही अधो-हन्विका की च्युति है।

प्रधान लक्षण रोगी का मुँह खुले का खुला रह जाना है। चिबुक नीचे को दब जाती है किन्तु यदि केवल एक ही ओर की च्युति है तो चिबुक एक ओर को हटी हुई मालूम पडेगी। कपोल पर कर्णमूल के आगे एक गढ़ा-सा प्रतीत होगा तथा उसके आगे एक उभार-सा मालूम पडेगा। सन्धि के स्थान पर थोडी-बहुत पीड़ा भी सम्भव है।

---

1. Condyle of the Mandible 2. Articular eminence.

चिकित्सा—चिबुक को एकदम ऊपर की ओर दबाना ठीक नही। रोगी को कुर्सी पर बिठाकर चिकित्सक उसके सामने खड़ा हो जाता है तथा अपने दोनों अँगूठों पर कपडा डालकर उनको रोगी के मुख मे अन्दर प्रविष्ट करता है। अँगूठे दोनों ओर नीचे के अन्तिम दाँतो पर पहुँच कर पीछे तथा नीचे की ओर दबाव डालते हैं। ऐसा करने से हनुस्थूलक नीचे की ओर दब कर सन्धायक उत्सेध पर फिसल कर अपने ठीक स्थान पर पहुँच जाता है। इसके बाद एक मास तक रोगी को मुँह अधिक खोलने की अनुमति नही दी जानी चाहिए।

जत्रुकास्थि[1] की च्युति

वक्षीय भाग[2]—यह विश्लेष बहुत कम होता देखा जाता है। होता यह है कि जत्रुक के अंसकूटीय सिरे पर आघात लगने से जत्रुकास्थि के साथ सन्धि बनाने वाला सिरा सामने की ओर हट आता है। जत्रुकास्थि के बगल मे यह भाग चर्म के नीचे उभरा हुआ अनुभव किया जा सकता है तथा पीड़ित ओर का स्कन्ध कुछ पीछे की ओर हटा हुआ मालूम पड़ता है।

रोगी को स्टूल पर बिठा दिया जता है तथा उसकी भुजाओ को कुहनी पर मोड़कर वक्ष पर रख दिया जाता है। चिकित्सक रोगी के पीछे खडा होता तथा अपने घुटने को पीछे दोनो स्कन्धो के बीच मे लगा देता है ताकि रोगी का शरीर स्थिर रखा जा सके। अब दोनों हाथो से रोगी के स्कन्धों को बाहर तथा पीछे की ओर खीचा जाता है। ऐसा करने से जत्रुकास्थि का वक्षीय सिरा अपने स्थान पर पहुँच जाता है। यह हो सकता है कि च्युत सिरे को सहायक थोड़ा पीछे की ओर दबावे। इसके पश्चात् चिपकने वाला प्लास्टर आदि लगाकर उसको स्थिर कर देते है। यह हो सकता है कि जत्रुकास्थि के अग-भंग की तरह बाहु आधार आदि लगाकर बाहु को भी स्थिर कर दिया जाय। एक मास पश्चात् उद्वर्तन एवं चालन क्रियाये की जाती है।

1. Clavicle. 2. Sternal end.

अंसकूटीय शिरा[1]— स्कन्ध के बाहरी भाग के बल गिरने या पीछे की ओर से आघात लगने से यह हो जाया करता है। इनसे जत्रुक का सिरा ऊपर की ओर हट जाता है। दोनों स्कन्धों की तुलनात्मक दृष्टि से परीक्षा करने से विकृति सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

पहले की तरह ही कन्धों को पीछे की ओर खींचने तथा जत्रुक के सिरे को दबाने से सन्धान आसानी से किया जा सकता है किन्तु च्युत अस्थि को स्थिर रखना अवश्य कुछ कठिन होता है। चिपकने वाला प्लास्टर कवलिका के रूप में स्कन्ध पर रखकर चिपकने वाले प्लास्टर की ही एक पट्टी कुहनी से लेकर स्कन्ध के ऊपर तक लगा दी जाती है। बाहु को उसी प्रकार स्थिर कर दिया जाता है जिस प्रकार जत्रुक भग्न में करते हैं।

स्कन्ध का सन्धि विश्लेष

यह दुर्घटना प्रायः हो जाया करती है। प्रगण्डिकास्थि[2] का शिरा जो सन्धि निर्माण में भाग लेता है बड़ा किन्तु अंसफलक में अंसगर्त[3] की गहराई कम होती है। इसके साथ ही सन्धि कोष ढीला होने के अलावा नीचे की ओर कुछ दुर्बल होता है। इसका फल यह होता है कि आघात लगने अर्थात् बाहु को एकदम जोर के झटके के साथ बाहर की ओर खींचने से सन्धि कोष के नीचे के भाग में छिद्र होकर प्रगण्डिकास्थि का शीर्ष अंसगर्त के नीचे पहुँच जाता है। इस स्थिति को अंसगर्ताधः च्युति[4] कह सकते हैं। किन्तु इस स्थिति में शीर्ष स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि कक्षानुगा धारा की चौड़ाई उसकी अपेक्षा बहुत कम होती है। आघात की दिशा तथा अंग की स्थिति के अनुसार शीर्ष अंसतुण्ड के नीचे (अंसतुण्डाधः च्युति[5]) आगे की ओर जत्रुकास्थि के नीचे (जत्रुकाधः च्युति[6]) तथा कभी-कभी पीछे की ओर अंसकण्टक के के नीचे (कण्टकाधः च्युति[7]) पहुँच जा सकता है।

---

1. Acromial end. 2. Humerous 3. Glenoid cavity. 4. Subglenoid dislocation. 5. Subceracoid dislocation 6. Sublavicular. 7. Sub-spinous.

लक्षण—सभी प्रकार की स्थितियों में लक्षण लगभग समान होते हैं। अंसकंटक चर्म के नीचे उभरा हुआ तथा उसके नीचे गड्ढा-सा मालूम पड़ता है। रोगी को बिठाकर यदि दोनों स्कन्धों को सामने से तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो पीड़ित स्कन्ध की स्वाभाविक गोलाई नष्ट हुई मालूम पड़ती है (चित्र २११) पीड़ित ओर अंसकटक अग्रभाग तथा प्रगण्डिकास्थि का बाह्यार्बुद दोनों एक सीध मे आ जाते हैं। स्कन्ध में तीव्र पीड़ा होती तथा कुहनी वक्ष से बाहर की ओर हटी रहती है।

अन्सगर्ताध च्युति मे प्रगाण्डिकास्थि के शीर्ष को कक्षा मे प्रतीत किया जा सकता है तथा बाहु अधिक लम्बी मालूम पडती है।

अन्सतुण्डाधः च्युति मे जो अन्य की अपेक्षा अधिक होता है प्रगण्डि-कास्थि का शीर्षअन्सतुण्ड के नीचे पहुँच जाता है तथा उसकी ग्रीवा अन्सपीठ ऊपर अटक जाती है।



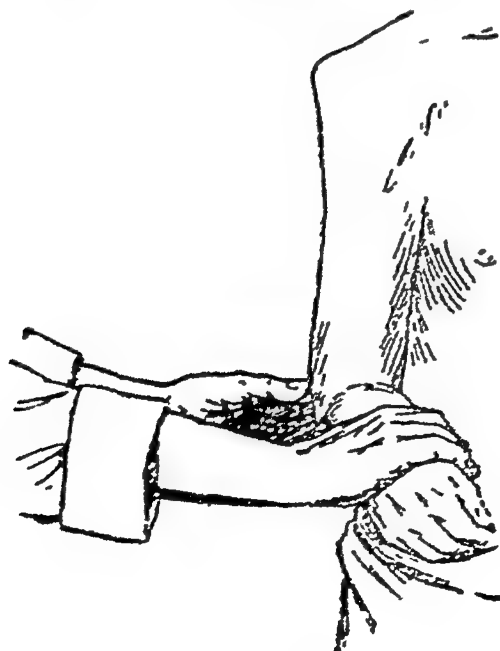
चित्र नं० २११—दाईं ओर स्कन्ध की स्वाभाविक गोलाई नष्ट

जत्रु काधः च्युति कम होती है। इसमें शीर्ष कभी-कभी दूसरी-तीसरी पर्शुका तक पहुँच जाता है तथा बाहु की लम्बाई कम मालूम पडने लगती है।

कन्टकाधः च्युति और भी बहुत कम होती है। इसमें अस्थि का सिर अन्सकन्टक के नीचे पहुँच जाता तथा कुहनी आगे की ओर एव हाथ वक्ष की ओर खिंच जाता है। वाहु अन्दर घूम जाती है।

चिकित्सा—अस्थि सन्धान करने के लिए सिर को उसी मार्ग से जिससे वह बाहर निकलता है भीतर पहुँचा दिया जाना चाहिए। अच्छा हो यदि रोगी को मूर्छित करके ही अस्थि सन्धान किया जाय। मौर्फीन $\frac{1}{6}$ ग्रेन के इन्जेक्शन से भी काम चल सकता है। सन्धान निम्न विधियों में से किसी एक के द्वारा किया जाता है।

कूचर की विधि[1]—चिकित्सक रोगी के पीड़ित ओर खड़ा होकर एक हाथ से कुहनी तथा एक से कलाई को पकड़ता है। कुहनी समकोण पर मोड़ कर दृढता के साथ शरीर के साथ दवाकर स्थिर रखी जाती है (चित्र २१२) और इसके साथ ही ऊर्ध्व वाहु को धीरे-धीरे किन्तु दढ़ता के साथ बाहर की ओर घुमाया जाता है (चित्र २१३) जब तक कि शीर्ष या तो खिसक कर

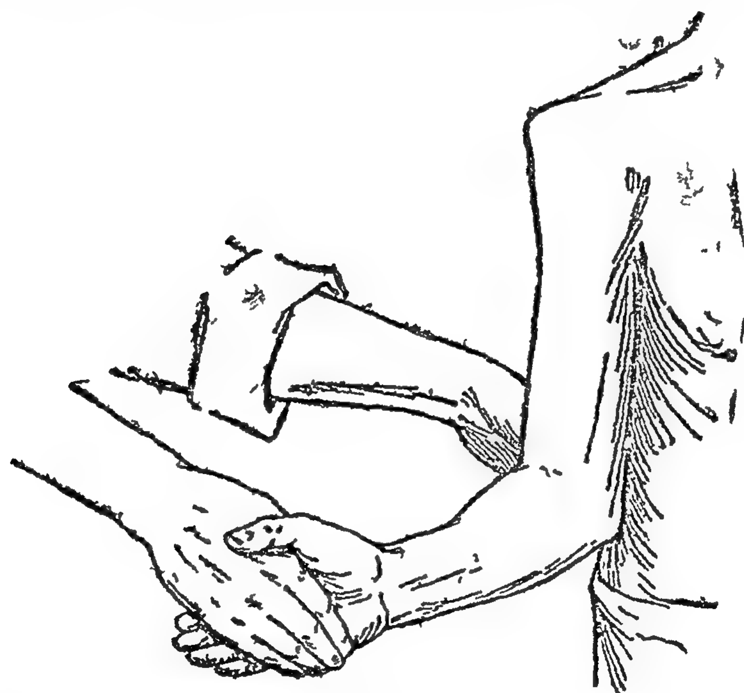


चित्र २१२—कूचर की विधि से सन्धि-सन्धान

1. Kocher's method.

अपने स्थान पर पहुँच जाय और या रुकावट प्रतीत होने लगे। यदि इतने ही से अस्थि संधान नहीं हो पाता तो बाहु को बाहर की ओर घूमी हुई तथा शरीर से चिपकी रखते हुए ही कुहनी को सामने की ओर लाया जाता है (चित्र-२१४) तथा फिर अन्दर की ओर घुमाकर ही हाथ को स्वस्थ ओर के स्कन्ध पर ले जाया जाता है (चित्र २१५) तृतीय क्रिया के अन्त मे अस्थि अपने स्थान पर पहुँच जाती है तथा अन्तिम क्रिया के द्वारा वह वहाँ स्थिर हो जाती है।

मिलर की विधि[1]—रोगी को कुर्सी पर बिठा दिया जाता तथा उसकें वक्ष पर तौलिया आदि डालकर स्वस्थ ओर खडे हुए सहायक को पकड़ा दिया जाता है ताकि वह उसको अपनी ओर ही खींचे रखकर रोगी के शरीर को स्थिर किए रहे। चिकित्सक पीड़ित ओर खड़ा होकर पैर कुर्सी पर रखकर घुटने



चित्र न० २१३—कूचर की विधि से सन्धि सन्धान

को रोगी के वक्ष पर पार्श्व मे लगा देता है। अग्रबाहु को बाहु के साथ लगभग समकोण पर मुड़ी रखते हुए एक हाथ से रोगी की कलाई तथा दूसरे से कुहनी के ऊपर बाहु पकड़ ली जाती है। बाहु को धीरे से उठाकर

1. Miller's method.

सीधा किया जाता है। अब अग्रबाहु को नीचे की ओर लाया जाता है जिससे बाहु भीतर की ओर घूम जाती है और इस प्रकार करने से प्रगण्डास्थि का शीर्ष ठीक स्थान पर खिसक जाता है।

सन्धान कर चुकने के पश्चात् सन्धि का उद्वर्तन किया जाता है। इसके पश्चात् कक्षा मे रुई की कवलिका रखकर बाहु को वक्ष के साथ बाँध दिया जाता है तथा हाथ एव अग्रबाहु को गोफण मे साध दिया जाता है। कम से कम १–१½ मास तक हाथ से भारी काम नहीं लिया जाना चाहिए।

कूर्परसन्धि का विश्लेष

युवा व्यक्तियों मे इस सन्धि का प्रायः विश्लेष हो जाया करता है। अधिकाश मे बहिः प्रकोष्ठिकास्थियाँ एव अन्त प्रकोष्ठिकास्थियाँ पीछे की ओर हट जाया करती है (पश्चिम विश्लेप) कभी-कभी इसके साथ ही पार्श्व विश्लेप भी रहता है। कभी-कभी अस्थियाँ आगे की ओर भी स्थानान्तरित हो जा सकती है। इसे पूर्व विश्लेष कहते है।

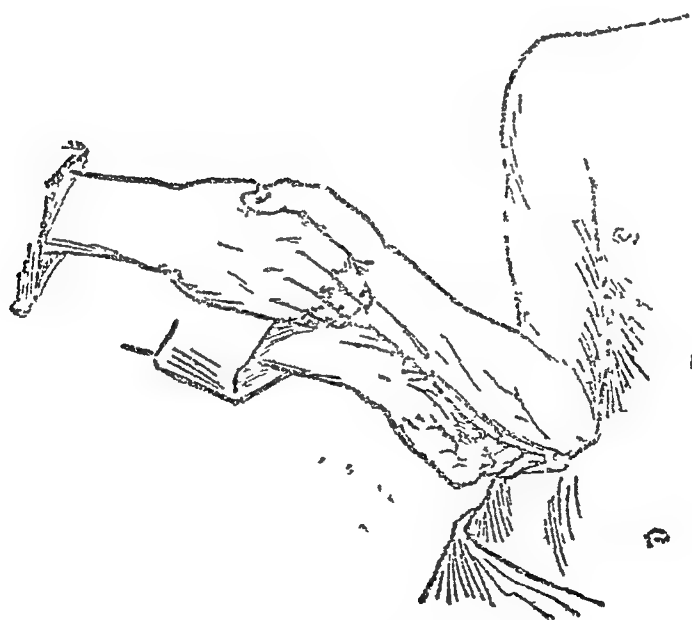
यदि रोगी दुर्घटना के शीघ्र ही पश्चात् आ जाता है जब तक विशेष शोथ न उत्पन्न हो पाया हो तो दोनो ओर की कूर्पर सन्धियों की तुलनात्मक दृष्टि से परीक्षा करने तथा अस्थियों के उभार आदि को देखने से निदान सरलता के साथ हो जाता है। फिर भी जहाँ तक सम्भव हो सके क्ष-किरण चित्रण अवश्य करा लिया जाना चाहिये ताकि निश्चित निदान के साथ ही साथ यह भी निश्चित हो सके कि साथ मे भग्न तो नहीं।

चिकित्सा १. रोगी को एक मेज पर जो अधिक ऊँची न हो लिटा लिया जाता है तथा पीड़ित ओर की बाहु को धीरे से बाहर की ओर ले जाया जाता है इतना कि वह शरीर के साथ समकोण पर आ जाय। चिकित्सक अपने एक पैर को कुर्सी या स्टूल पर रखकर घुटने को पीड़ित ओर की कुहनी पर बीच मे सामने इस प्रकार स्थिर कर देता है कि प्रगण्डिका के निचले भाग तथा प्रकोष्ठिकाओं के ऊपरी सिरों पर समान रूप से दबाव डाला जा सके (चित्र २१६)। अब एक हाथ से कलाई दृढ़ता से पकड़

कर तथा दूसरे से ऊर्ध्वबाहु को सीधे रखकर अग्रबाहु को खीचता तथा अपने घुटने के सहारे मोड़ता है। इस प्रकार करने से अस्थि अपने स्थान पर पहुँच जाती है। यदि बहिःप्रकोष्ठिका बाहर की ओर हटी हुई हो तो इसी समय उसको भी दबाकर ठीक कर दिया जाना चाहिये।

२. प्रथम कूर्पर सन्धि का अति विस्तार किया जाता तथा फिर उसको मोड़ दिया जाता है। मोड़ते समय अग्रबाहु को खिंचा रखना चाहिये। इतना अवश्य है कि अति विस्तार करने से कूर्पर सन्धि के सामने की धातुओं को और भी क्षति पहुँचती है।

रोगी को कुर्सी पर बिठाए रखकर भी उपरोक्त दोनो विधियों मे से ही किसी के द्वारा अस्थिसन्धान सम्भव है—सिद्धान्त यही है कि कूर्पर सन्धि पर ऊर्ध्व बाहु एव अग्रबाहु की सन्धियो को एक दूसरे से पृथक् खीचते हुए सन्धि को मोड़ दिया जाय ताकि त्रचुपवर्द्धन अपने ठीक स्थान पर पहुँच जाय।

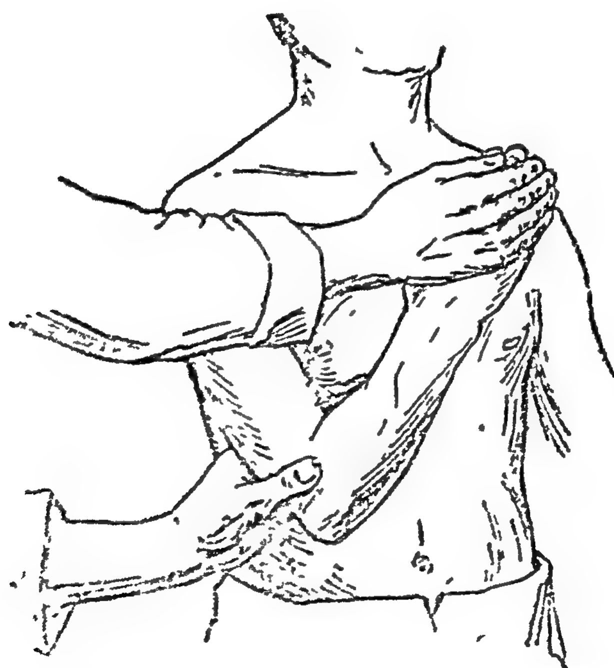


चित्र २१४—कूचर की विधि से अस्थि सन्धान

सन्धान के पश्चात् अग्रबाहु को बाहु पर पूरी तरह मोड़ दिया जाता तथा इसी स्थिति मे ४८ घण्टे तक पट्टी बाँधकर स्थिर कर दिया जाता है।

इसके पश्चात् रोगी स्वतः सन्धि मे गति करना प्रारम्भ करता है। यदि चंचु-प्रवर्द्धन[1] का भग्न हो चुका है तो अस्थि सन्धान बड़ी सरलता के साथ हो जाता है किन्तु फिर उतनी ही सरलता के साथ सन्धि विश्लेप हो जा सकता है, अतः ऐसी स्थिति मे अग्रबाहु को बाहु पर १५ दिन मुड़ा रखना चाहिये। इसके पश्चात भी दो सप्ताह तक अग्रबाहु को गोफण में स्थिर रखना आवश्यक है। तत्पश्चात् उद्वर्तन एवं चालन क्रियायें आरम्भ की जाती हैं।

अन्तः प्रकोष्टिकास्थि का सन्धि विश्लेष—यह बहुत कम होता है तथा इसके साथ में प्रगण्डिकास्थि के अन्तरार्बुद का भग्न प्रायः शामिल रहता है।



चित्र २१५—कूचर की विधि से सन्धि सन्धान

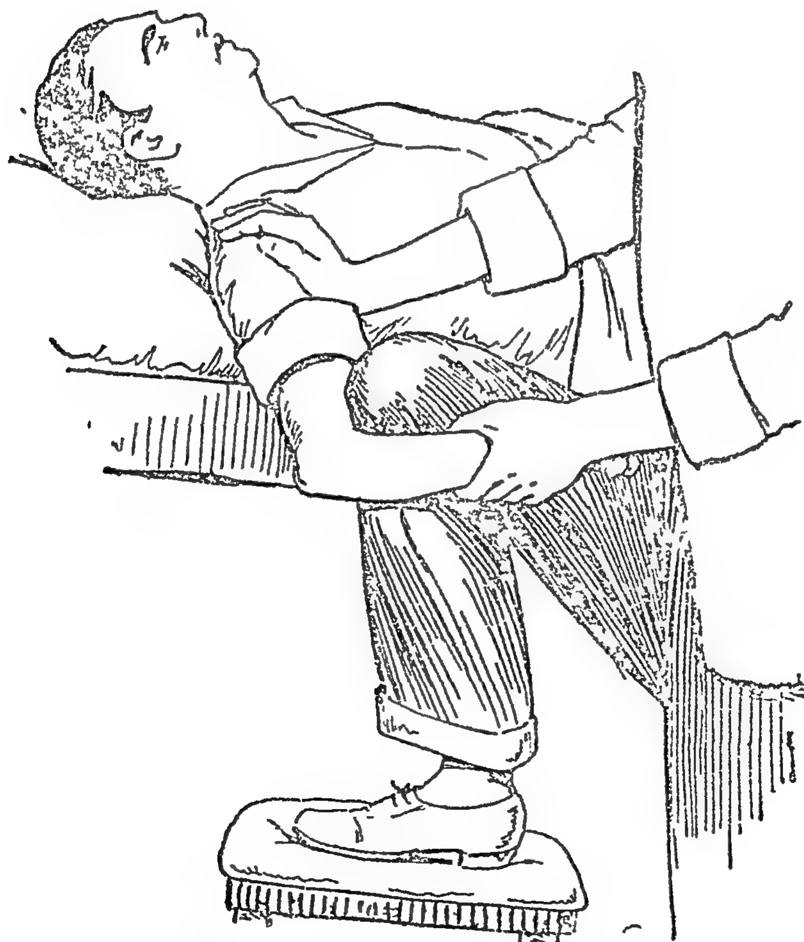
चिकित्सा ऊपर लिखित सिद्धान्तों के अनुसार ही की जानी चाहिए।

बहिः प्रकोष्टिकास्थि का सन्धि विश्लेष—कूर्पर के पीछे की ओर आघात लगने से इस प्रकार का सन्धि विश्लेप हो जाया करता है जिसके

1. Coronoid procers.

साथ मे कभी-कभी अन्तःप्रकोष्टिकास्थि के ऊपरी भाग का भग्न भी शामिल रहता है। इसमे अस्थि आगे की ओर हटकर प्रगण्डिकास्थि के सामने आ जाती है जहाँ पर कि उसको अनुभव किया जा सकता है। निश्चित निदान तथा भग्न के निराकरण के लिए क्ष-किरण फोटो आवश्यक है।

ऊर्ध्व बाहु को खीचे रखते हुए सहायक रोगी की कलाई या अँगुलियो को पकड़कर लम्बाई मे खीचता है। इसी समय प्रधान चिकित्सक द्वारा बहिः प्रकोष्टिकास्थि का शीर्ष दबाकर अपने स्थान पर पहुँचा दिया जाता है। अग्रबाहु को कुहनी पर पूरी मोड़ कर स्थित कर दिया जाता है जिससे अस्थि फिर अपने



चित्र २१६—कूर्पर सन्धि—सन्धि सन्धान

स्थान से नहीं हट पाती। किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कुहनी पर मोड़ने से आगे का रक्तसंचार बन्द न हो जाय। एक मास या उससे कुछ कम दिन तक स्थिर रखने के पश्चात् उद्वर्तन एवं चालन क्रियायें प्रारम्भ की जाती हैं।

कुहनी का अधिक खिंच जाना[1]—किसी छोटे बच्चे को कलाई या अग्रबाहु पकड़कर एकदम उठा लेने या झटका मार देने से इस प्रकार की विकृति उत्पन्न हो जाती है, बहिःप्रकोष्टिका के शीर्ष का आंशिक विश्लेप हो जाता है, अग्रबाहु आधी मुड़ी हुई अवस्था में रहती है तथा हाथ को घमाया नहीं जा सकता। आघात के स्थान पर पीड़ा भी बहुत होती है।

अग्रबाहु को पूर्ण उत्तानन[2] एवं संकुचन की स्थिति में लाने से सन्धान हो जाता है पश्चात् चिकित्सा की आवश्यकता नहीं।

मणिबन्ध का विश्लेष—यह दुर्घटना बहुत कम होती है और जब होती है तब कलाई पर तीव्र आघात लगने से ही उत्पन्न होती है। सन्धि च्युति आगे अथवा पीछे दोनों ही ओर को हो सकती है यद्यपि अधिकांश में पीछे की ओर ही होती है। इस प्रकार की सन्धि में कलाई के सहित हाथ पीछे की ओर हट जाता है तथा दोनों ही प्रकोष्टिकाओं के निचले सिरे आगे की ओर उभर आते हैं। हथेली छोटी अवश्य मालूम पड़ती है किन्तु अग्रबाहु की लम्बाई में अन्तर नहीं पड़ता जबकि अस्थि भग्न की अवस्था में लम्बाई कुछ कम हो जानी चाहिए। सन्धि विश्लेप की अवस्था में दोनों मणिकों की सापेक्षिक स्थिति भी यथावत् बनी रहती है।

आगे की ओर होनेवाली च्युति हाथ के वेग के साथ पीछे की ओर मुड़ने पर भारी चोट लगने के कारण होती है। इसमें कलाई के साथ-साथ हाथ सामने की ओर हटा हुआ मालूम पड़ता है तथा मणिबन्ध की छोटी-छोटी अस्थियाँ भी सामने की ओर उभरी हुई मालूम पड़ती है।

---

1. Pulled Elbow 2. Supination.

चिकित्सा—रोगी को आराम से कुर्सी पर बिठा लिया जाता अथवा लिटा लिया जाता है। चिकित्सक सामने खड़ा होकर पीड़ित हाथ को पकड़ कर दृढ़ता के साथ खींचता है। इस समय यह भी आवश्यक है कि कोई सहायक कुहनी को पकड़कर पीछे की ओर खींचे रहे। हाथ को सामने की ओर खींचने के साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि हस्त व्यापार द्वारा उभरी हुई अस्थियों को अपने स्थान पर बिठा दिया जाय। तत्पश्चात् हाथ को कुछ समय तक आगे की ओर मोड़कर रखा जाता है। एक सप्ताह पश्चात् उद्वर्तन एवं चालन क्रियायें की जानी चाहिए।

दूरस्थ अन्तःप्रकोष्ठिकास्थि एवं बहिःप्रकोष्ठिकास्थि सन्धि च्युति—इस स्थिति में अस्थि सन्धान हाथ को पूर्ण उत्तानन[1] की स्थिति में लाने से किया जा सकता है। अंग को लगभग दो मास तक कुहनी को समकोण पर मुड़ी रखते हुए तथा हाथ को पूर्ण ऊर्ध्व-नयन की स्थिति में रखकर पैरिस प्लास्टर लगाकर स्थिर रखा जाता है।

मणिबन्ध प्रान्त की छोटी-छोटी अस्थियों का स्थान च्युति—इस स्थल पर छोटी-छोटी आठ अस्थियाँ हैं जो आपस में एक दूसरी के साथ तथा प्रकोष्ठिकाओं के साथ दृढबन्धनों द्वारा जुड़ी हुई हैं। इस प्रकार इस स्थल पर कई सन्धियाँ बन जाती हैं जिनके आगे पीछे संकोचक एवं प्रसारक पेशियों की कण्डराएं रहती हैं।

आघात लगने से ये अस्थियाँ भी कभी-कभी अपने स्थान से च्युत हो जाती हैं जबकि चर्म के नीचे उभरी हुई उनको अनुभव किया जा सकता है।

हस्त व्यापार द्वारा अस्थि को दबाकर अपने स्थान पर बिठा देना ही यथार्थ चिकित्सा है। इसके पश्चात् कुछ समय तक अंग को स्थिर रखना चाहिए ताकि अस्थि अपने स्थान से फिर न हट जाय। यदि हस्त व्यापार द्वारा अस्थि को ठीक नहीं किया जा सकता तो शस्त्र-कर्म की आवश्यकता पड़ सकती है। किन्तु यदि शस्त्र-कर्म द्वारा भी अस्थि को अपने स्थान पर न

---

1. Supination.

पहुँचाया जा सके तथा उसके सभी बन्धन क्षत हो चुके हों तो उसको बिलकुल निकाल कर अलग किया जा सकता है।

अस्थिसन्धान अथवा शस्त्र-कर्म के पश्चात् मणिबन्धन को प्रसारण की अवस्था मे ही पैरिस प्लास्टर लगाकर कुछ समय के लिए स्थिर कर दिया जाना चाहिए।

करभास्थि एवं अंगुल्यास्थियों का विश्लेष—आकार विकृति को देखकर निदान सहज ही किया जा सकता है। चिकित्सा भी कठिन नहीं। एक हाथ से अँगुली को खींचते हुए दूसरे हाथ से हस्त-कौशल द्वारा अस्थि को ठीक स्थान पर विठाकर सन्धि को ठीक कर दिया जाना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो कुशा लगाकर या पैरिस प्लास्टर द्वारा कुछ समय तक के लिए विकृत सन्धि को ठीक करने के बाद स्थिर किया जा सकता है।

वंक्षण सन्धि की च्युति

शरीर की सबसे वड़ी और दृढ़ संधि वंक्षण सन्धि ही है जिसके वन्धन तथा चारो ओर स्थित पेशियाँ भी वड़ी-वडी तथा मजबूत हैं। यही कारण है कि इस सन्धि का विश्लेप कम होता है और यदि होता है तो अधिक तीव्र स्वरूप के आघात के कारण ही होता है। आघात की तीव्रता के कारण स्तब्धता अधिक गहरी तथा रोगी की अवस्था अपेक्षाकृत कुछ अधिक चिन्ताजनक होती है।

सन्धि के बन्धन तथा कोप खिंची हुई अवस्था में होने पर पैर या जानु पर चोट लगने से इस सन्धि की च्युति हो जाती है। बन्धन टूट जाते या क्षत-विक्षत हो जाते हैं। सन्धिकोष का पिछला या निचला भाग कुछ दुर्बल होने के कारण टूट जाता है तथा वहीं होकर ऊर्वस्थि का सिर बाहर निकल आता है। उलूखल[1] मे से निकलने के वाद सिर आगे की ओर या पीछे की ओर जा सकता है और इस प्रकार च्युति पूर्व च्युति[2] या पश्चिम च्युति[3] दो प्रकार की होती है।

---

1. Acetabulum 2. Anterior of Ventral 3. Dorsal Dislocation.

पूर्व च्युति—

टाँगे चौड़ी करके आगे की ओर झुक कर खडे होने की अवस्था मे पीठ के ऊपर भार गिरने या आघात लगने से इस प्रकार की च्युति हो जाया करती है। सन्धि कोप मे छिद्र हो जाने से सिर बाहर निकलकर नीचे व सामने की ओर गवाक्ष पर पहुँच जाता है। कभी-कभी थोडा और भी आगे व ऊपर हट सकता है। नितम्ब मे गढा दिखता तथा शिखरक पीछे की ओर मुड़ जाता है। अङ्ग की लम्बाई प्राकृत की अपेक्षा कुछ बढ़ी हुई तथा वह बाहर की ओर खिचा तथा मुडा हुआ मालूम पड़ता है। पाँव की एड़ी पीछे तथा ऊपर की ओर उठी रहती है। इसको गवाक्ष च्युति[1] कहते हैं।

जघनास्थ्योपरि च्युति[2] मे उपर्युक्त की अपेक्षा सिर और भी आगे जघनास्थि के अनुप्रस्थ भाग पर पहुँच जाता है। अधिकाशतः अङ्ग की लम्बाई मे विशेष परिवर्तन नही होता तथा उरु सामने की ओर झुकी हुई तथा बाहर की ओर खिची व घूमी हुई मालूम पडती है।

इस प्रकार पूर्व च्युति दो प्रकार की होती है।

चिकित्सा—रोगी को फर्श पर लिटाकर मूर्छित कर लिया जाता है। चिकित्सक पीड़ित अङ्ग की ओर झुककर खड़ा होकर उरु को उदर की ओर तथा जंघा को उसकी ओर जितना भी हो सके मोडता है। इसके साथ ही साथ अङ्ग को थोड़ा बाहर की ओर खीचे रखना चाहिए। कुछ मिनट तक ऐसा करने के पश्चात् जानु के नीचे से पकड़कर जंघा को ऊपर की ओर उठाया जाता तथा अङ्ग को भीतर की ओर घुमाकर दूसरे अङ्ग के समानान्तर कर दिया जाता है। इस प्रकार करने से सिर उलूखल के अन्दर प्रविष्ट कर जाता है।

यह सब करते समय यह आवश्यक-सा है कि एक सहायक रोगी के कटि प्रदेश को नीचे की ओर साधे रहे तथा जहाँ तक सम्भव हो सके ऊर्वस्थि के सिर को भी नीचे की ओर दबाता रहे।

---

1. Obturator 2. Pubic dislocation,

गवाक्ष विश्लेष मे भी थोडे बहुत अन्तर के साथ इसी विधि से सन्धान किया जाता है। रोगी को चित् लिटाकर उसकी कमर पर चद्दर डाल कर तथा चद्दर के दोनों इधर-उधर निकले सिरों पर भारी वजन रखकर या खूँटी गाड़ कर कमर को स्थिर किये रहा जा सकता है ताकि सन्धान करते समय रोगी का शरीर ऊपर न उठने पावे। अब चिकित्सक घुटने के नीचे से जंघा को पकड कर ऊपर की ओर उठाता और इस प्रकार उदर की ओर मोड़कर उदर के समकोण पर ले आता है। अब रोगी की जंघा को चिकित्सक अपने दोनो उरुओं के बीच मे दबाकर दोनो बाहुओं को घुटने के नीचे निकालकर जघा को अपनी पूरी शक्ति लगाकर ऊपर व बाहर की ओर खींचता है। इसके साथ ही उरु को बाहर की ओर मोडे भी रखना चाहिए। यह सब करते समय यह ध्यान अवश्य ही रखना है कि रोगी का शरीर जमीन से ऊपर न उठने पावे।

पश्चात् च्युति—

जब कोई व्यक्ति अपनी उरु को आगे की ओर झुकाकर तथा भीतर की ओर मोडकर खड़ा हो उस समय पीठ पर चोट लगने या भारी वजन के गिरने से अथवा किसी ऊँचे स्थान से नितम्ब के बल गिरने से पश्चात् च्युति हो जाया करती है। इस प्रकार की स्थिति मे होता यह है कि चोट लगने से ऊर्वस्थि का शिर सन्धि के भीतर की ओर दबता है। इस दबाव से सन्धिकोप का नीचे एव पीछे का भाग अपेक्षाकृत दुर्बल होने के कारण फट जाता तथा उसमें होकर ऊर्वस्थि का शिर बाहर निकल कर दबाव के कारण ही फिसलता हुआ पीछे की ओर पहुँच जाता है। आभ्यन्तर गवाक्षिका[1] पेशी की कण्डरा अस्थि ग्रीवा के ऊपर रहती है। गोल स्नायु[2] भी टूट जाता है।

पीड़ित अग की स्थिति विशेष प्रकार की हो जाती है; वह दूसरे अंग की ओर खिंच जाने के साथ ही साथ अन्दर की ओर कुछ घूम भी जाती है। सारे अंग की लम्बाई १-१½ इञ्च तक घट जाती है, जंघा दूसरी जघा की

---

1. Obturator Internus 2. Ligamentum Teres

ओर झुकी रहती है किन्तु पीड़ित ओर के पैर का अंगूठा दूसरे स्वस्थ पैर के अगूठे तक नही पहुँचता बल्कि कुछ पीछे ही रह जाता है। शिखरक निलेटन रेखा के ऊपर पहुँच जाता है जहाँ शोथ की उत्पत्ति न होने तक उसको अनुभव भी किया जा सकता है। नितम्ब के नीचे का गढा नष्ट हो जाता है।

गृध्रसी विश्लेष[1] गृध्रसी विश्लेष भी पश्चात् च्युति का ही प्रकार है तथा इसकी उत्पत्ति भी उसी तरह ही होती है। अन्तर केवल इतना रहता है कि गृध्रसी विश्लेष मे अस्थि का सिर गृध्रसी द्वार तक ही रह जाता है क्योंकि आभ्यन्तर गवाक्षिका की कण्डरा सिरे के नीचे ग्रीवा पर आ जाती है तथा उसको ऊपर की ओर नही बढने देती। फलतः अग की लम्बाई भी उतनी कम नही हो पाती यद्यपि अंग की स्थिति उसी प्रकार की होती है।

चिकित्सा—दोनों अवस्थाओ की चिकित्सा सामान है। रोगी को फर्श पर ही चटाई या गद्दा बिछाकर लिटाने के बाद क्लोरोफार्म सुंघाकर बेहोश कर लिया जाता है। चिकित्सक जघा को घुटने पर उरु की ओर तथा उरु को उदर की ओर मोड़ता है और ये मोड समकोण तक आ जाने चाहिए। अब दोनो अग्रबाहुओ को चिकित्सक रोगी के घुटने के नीचे लगाकर रोगी को फर्श के ऊपर उठाने का प्रयत्न करता है किन्तु सहायक द्वारा रोगी को नीचे की ओर साधे रक्खा जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त उरु को उदर की ओर मुड़ी तथा बाहर की ओर खिची रखने के साथ ही साथ उसे अपने ही अक्ष पर बाहर की ओर घुमाया जाता[2] है। इस क्रिया से ऊर्वस्थि का सिर सन्धि-कोष के छिद्र पर आ जाता है तथा सन्धि की पेशियाँ भी ढीली पड जाती हैं। इसी समय शीघ्रता के साथ चिकित्सक अग को सामने की ओर लाकर दूसरे अग के समानान्तर कर देता है ताकि ऊर्वस्थि का सिर उलूखल के अन्दर चला जाय। ये सभी क्रियाएँ एक साथ क्रमशः की जानी चाहिए।

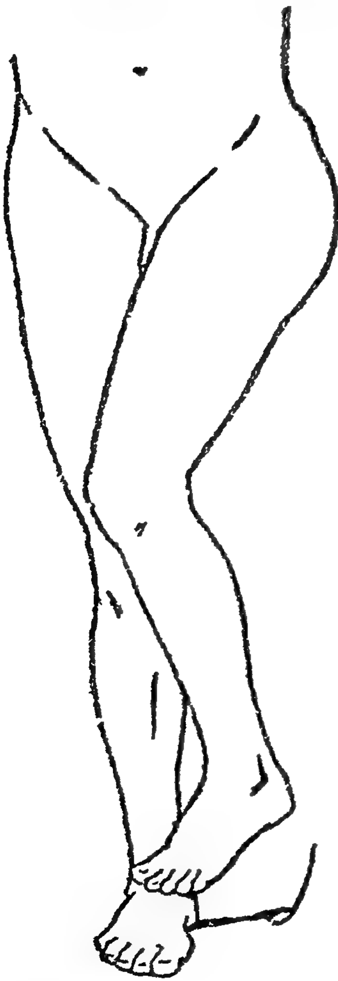
पूर्व एव पश्चात् दोनो ही प्रकार की च्युति मे सन्धान के पश्चात् रोगी को तीन सप्ताह तक चारपाई मे आराम करने देना चाहिए। पीड़ित शाखा को

---

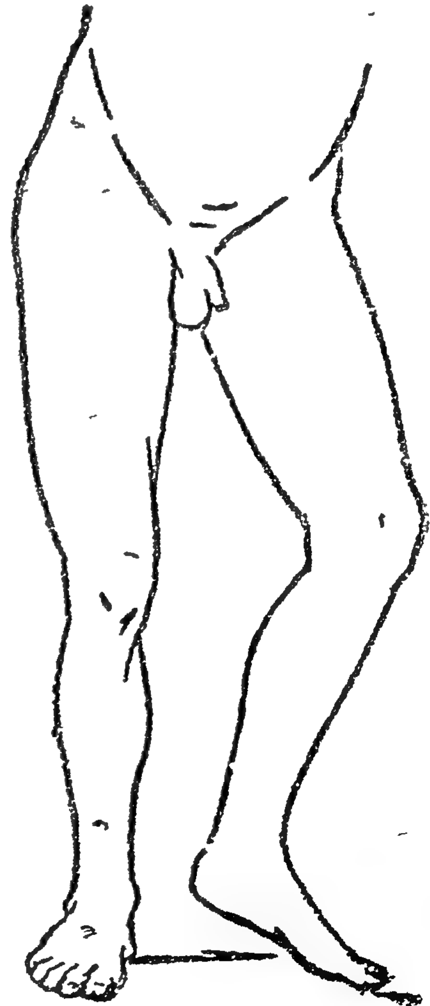
1. Sciatic Dislocation 2. Externally Circumducted.

स्वस्थ शाखा के साथ बांधकर स्थिर कर देना पर्याप्त है किन्तु यदि पेशी शोथ आदि का भय हो तो पैरिस प्लास्टर लगाकर अग को स्थिर किया जा सकता है। इसके पश्चात् उद्वर्तन एव चालन क्रियाएँ प्रारम्भ की जा सकती हैं।

पूर्व एवं पश्चात् च्युति का तुलनात्मक विवेचन—विकृति की दृष्टि से पश्चात् च्युति मे अग उदर की ओर संकुचित, अन्तर्नयन तथा अन्दर की ओर घूमी हुई स्थिति मे रहता है। पीड़ित ओर का उरु स्वस्थ उरु की ओर झुका हुआ तथा कभी-कभी अशतः उसके ऊपर पडा रहता है। पीडित ओर का अगूठा स्वस्थ अगूठे तक नही पहुँचता। गृध्रसी विश्लेष मे विकृति उसी रूप की होती है केवल मात्र सकोच कुछ कम होता है। (चित्र २१७)



चित्र २१७—पश्चात् च्युति



चित्र २१८—पूर्व च्युति

पूर्व च्युति मे अंग उदर की ओर बहिर्नयन तथा बाहर की ओर घुमी हुई स्थिति में रहता है। जघनास्थ्योपरि च्युति मे सकुचन, अपेक्षाकृत अधिक होता है। (चित्र २१८)

सन्धान करते समय भी सभी क्रियाएँ समान हैं किन्तु पूर्व च्युति से उरु को अन्दर की ओर तथा पश्चात् च्युति मे उरु को बाहर की ओर घुमाया जाना चाहिए।

जानु सन्धि का विश्लेष

जानु सन्धि के निर्माण मे भाग लेने वाली सभी अस्थियाँ केवल चर्म से दबी होने के कारण बाहर की ओर से आसानी से अनुभव की जा सकती है अतः जानुसन्धि का विश्लेष शीघ्र ही पहिचाना जा सकता है। इसीलिए सन्धिसन्धान भी कठिन नही। सन्धान के पश्चात् अङ्ग पीछे की ओर कुशा लगाकर कुछ समय के लिए स्थिर कर दिया जाना चाहिए ताकि उसको आराम मिले। इस बात का अवश्य ही ध्यान रहता है कि सन्धि मे शोथ की उत्पत्ति न होने पावे अन्यथा सन्धि मे जाड्यता उत्पन्न हो जा सकती है। इस बात की अवश्य परीक्षा कर ली जानी चाहिए कि सन्धि को तथा वहाँ पर स्थित रक्त नलिकाओं को क्षति न पहुँची हो क्योंकि इनको यदि अधिक क्षति पहुँच जाती है तो अगच्छेद आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि अस्थियों के बीच मे मृदु धातुएँ आ जाती हैं। ऐसी अवस्था मे सदैव ही शस्त्रकर्म आवश्यक है।

———

ग्रंथ में संग्रहीत विशिष्ट शब्दों की

वर्णात्मक सूची

विषय — पृष्ठ संख्या

अ · अः

शिरान्तर्गत घनास्रता अन्तः-शल्यता (Embolism) १४७
अपस्फीत व्रण (Varicose ulcers) १९६
अर्श (Haemorrhoids or Piles) ४१९
अश्मरी (Vesical calculus) ४६४
अवशिष्ट सामान्य शस्त्र-कर्म ५०७
अर्बुद (Tumour) ५५७
अस्थि भग एवं सन्धि च्युति (Fracture) ५७६
अधोहन्विका च्युति ५९६
आमाशय प्रक्षालन (Stomach wash) ३८०
उदर के क्षत-सामान्य २१२
उदर से तरल द्रव निकालना ३८४

क वर्ग

कैथेटर अथवा शलाका मूत्र-मार्ग मे प्रविष्ट करना ४४४
कटिवेधन (Lumbar puncture) ५२१
कंठ शालूक ५३०
कूर्पर सन्धि का विश्लेष ६०२
कोथ एवं निर्जीवाङ्गत्व (Gangrene) ५४२
खतना (Circumcision) ४८१
गलतुण्डिकाओं का उच्छेदन (Tonsillectomy) ५२८, ५७८
गुद भ्रंश (Prolapse of anus) ४३७
गोफनिका या एकैकशः टाँके, १२१
घातक व्रण २०६

विषय — पृष्ठ संख्या

च वर्ग

छिन्न क्षत (Incised wound) २०४
जल वृषण (Hydrocele) ४६३
जत्रुकास्थि की च्युति ५६७
जीवाणु विज्ञान (Bacterology) २७
जीवाणुओं से रक्षा ४६
जीवाणु नाशन (Antisepsis) ४७

ट वर्ग

टाँके या सीवन १२०

त वर्ग

तन्त्रिका विकार जन्य व्रण १६७
दन्त निष्कर्षण (Tooth Extraction) ५३१
दाह (Burn) २३०
दुष्ट व्रण (Indolent ulcers) १६४
निर्जीवाणुकरण (Sterilization) ६८
निकास (Drainage) १२६
फुफ्फुस निपात (collapse) १५२

विषय — पृष्ठ संख्या

प वर्ग

परिदर्शन (Inspection) १६
परिस्पर्शन (Palpation) १८
परिताडन (Percussion) २४
परिस्रवण (Auscultation) २५
पट्टियाँ (Bandages) ८४
पिच्चित क्षत (Contused wound) २०६
प्रतिजीवी पदार्थ (Antibiotic) ५८
मूत्र एवं प्रजनन तन्त्र के रोग ४४०
फिरंगज व्रण (Syphilitic ulcer) २००
वन्ध्यत्वकर शस्त्रकर्म (Vasectomy or sterilization operation) ५०४
भगन्दर (Fistula) ४३४
भिन्न-भिन्न प्रकार का रक्तस्राव २७६
भेदक व्रण (Perforating-ulcer) १६७
मस्तिष्क सपीडन (Cerebral compression) २१७
मस्तिष्क क्षोभ २२०
मणिबन्ध का विश्लेष ६०६

विषय	पृष्ठ संख्या
मूत्र एवं प्रजनन-तन्त्र के रोग	४४०
मूत्रावधारण (Retention of urine)	४५३
य — ज्ञ	
रक्तधान (Blood transfusion)	१३६-१४१
रक्तस्राव (Haemorrhage)	२६८
रक्तादि वृद्धि अथवा रक्तसचय (Haematocele)	५०२
रोग क्षमता (Immunity)	३६
लेम्बर्ट सीवन (Lembert's sutures)	१२४
वक्ष प्रान्त के क्षत	२११
वक्ष परिवेधन (Paracentasis thoracis)	३३३
व्रण एव व्रणोत्पादन (Ulceration)	१६१
व्रण की परीक्षा	१६१
विशिष्ट व्रण	२००
विद्रधि (Abscess)	१५५
विद्ध क्षत (Punctured wound)	२०५
विदीर्ण क्षत (Lacerated-wound)	२०५

विषय	पृष्ठ संख्या
वृपण एव अधिवृपण के प्रधान रोग	४६०
वृपण शिरास्फीति (Varicocele)	५०२
वृपण कोप के अर्बुद	५०५
शस्त्र-कर्म (Operation)	११०
शस्त्र कर्म गृह (Operation theatre)	११२
शय्या व्रण (Bed sores)	१५०
शल्य प्रवेश	२४१
श्वसन संस्थान सम्बन्धी उपद्रव	१५२
श्वासावरोध (Asphyxia)	२५५
श्वासप्रणालछिद्रकरण (Trachetomy)	३२२
शिरान्तर्गत घनास्रता (Thrombosis)	१४७
सिर के क्षत	२१४
शिरामार्ग से द्रवाधान (Intravenous infusion)	३५१
शिश्न मुण्ड शोथ	४८७
शोथ के लक्षण (Inflammation)	१५६
सवेदनहारी पदार्थ (Anaesthetics)	१०
सल्फोनामायड विभाग	५४

विषय	पृष्ठ संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
सन्धियों के क्षत	२१३	सूचिका भरण	५०७
सज्ञाहरण (Anaesthesia)	५३३	स्तब्धता (Shock)	१३६
सन्धिच्युति (Dislocation of joint)	५६३	स्कन्ध का सन्धि विश्लेष	५६८
		हार्निया (Hernia)	३८७
सामान्य शस्त्र-कर्म	३०२	हीमोफायलिया	२६१
सामान्य शल्य-कर्म (श्वसन तत्र)	३२२	क्षय जन्य व्रण	२०१
सामान्य शस्त्रकर्म (रक्तवह तंत्र)	३४५	छिन्नक्षत	२०४
सामान्य शस्त्रकर्म (पचन तत्र)	३८०		

मेडिकल पुस्तक भवन द्वारा प्रकाशित
चिकित्सा सम्बन्धी उत्कृष्ट पुस्तकें

एलोपैथिक पुस्तकें

डॉ० सुरेशप्रसाद शर्मा द्वारा लिखित :—

१—इन्जेक्शन—इसमें सुई लगाने के तरीके और इसके सम्बन्ध में जानने योग्य सभी बातों के अतिरिक्त सभी प्रकार के इन्जेक्शनों जैसे पेनिसिलीन, स्ट्रेप्टोमाइसिन, औरियोमाइसिन, डाइक्रिस्टेसिन आदि सभी दवाओं का वर्णन और प्रयोग सरल ढंग से दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक न केवल विद्यार्थियों, प्रारम्भिक चिकित्सकों मात्र के लिए उपयोगी है, वरन् निपुण एवं प्रतिष्ठित चिकित्सकों के लिए भी निर्देशन का कार्य करेगी, क्योंकि इस प्रकार सर्वांगपूर्ण संगृहीत विषय एक जगह उन्हें भी प्राप्त नहीं होता। सुन्दर छपाई, ग्लेज कागज एवं अनेक चित्रों से परिपूर्ण।

२—एलोपैथिक चिकित्सा—पुस्तक नौ अध्यायों में लिखी गई है। प्रथम चार अध्यायों में 'विषय-प्रवेश,' 'शरीर-विज्ञान', रोग निदान संबंधी आवश्यक बातें और नवीनतम आविष्कृत औषधियों का वर्णन क्रमशः दिया गया है। अन्य अध्यायों में प्रचलित सभी रोगों का वर्णन और उनकी चिकित्सा वृहद् रूप से दी गयी है। उ० प्र० सरकार से पुरस्कृत।

३—मिक्शचर—मिक्शचर बनाने की विधि और १८५ रोगों पर परीक्षित ३५० नुस्खों का वर्णन दिया गया है। साथ-ही-साथ पेटेण्ट दवाओं और उन रोगों पर चलने वाले इन्जेक्शनों का नाम भी दिया गया है।

४—एलोपैथिक पॉकेट गाइड—इस पुस्तक में आधुनिक वैज्ञानिक एवं प्रचलित चमत्कारिक औषधियों के नुस्खे, प्रमुख रोगों का संक्षिप्त परिचय एवं निदान दिया गया है।

डॉ० शिवदयाल गुप्त, ए० एम० एस० द्वारा लिखित पुस्तकें—

५—एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका—हिन्दी और देशी भाषाओं मे सर्व-प्रथम प्रामाणिक पुस्तक। सुदीर्घ पाँच खण्डो मे एलोपैथी का सारा विज्ञान पढ़िये। पृ० सख्या ११५२। **६—कम्पाउण्डरी शिक्षा एव चिकित्सा प्रवेश।**

७—सचित्र-नेत्र-रोग विज्ञान (एलोपैथिक)—प्रस्तुत पुस्तक मे नेत्र-रचना, उसकी कार्यक्षमता आदि विषयों पर सुन्दर विवेचन किया गया है। उ० प्र० सरकार से पुरस्कृत।

८—एलोपैथिक सफल औषधियाँ—इस पुस्तक मे सल्फा ग्रूप की सभी औषधियों, कालाजारनाशक, मलेरियानाशक, कुष्ठनाशक, कृमिनाशक आदि औषधियो का प्रयोग तथा पी० ए० एस० वेसीट्रेसीन, आयलोटायसिन और अब तक की निकली हुई जीवाणुरोधक औषधियो का वृहद् वर्णन सरल ढङ्ग से दिया गया है।

९—मल-मूत्र रक्तादि परीक्षा (एलोपैथिक)—मल-मूत्र, स्राव, प्रलेप, थूक, वीर्य आदि परीक्षाओ की विधि सरल ढङ्ग से दी गयी है।

१०—धात्री विज्ञान—इस पुस्तक के लेखक चिकित्सा जगत मे चिरपरिचित एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका के प्रणेता डॉ० शिवदयाल गुप्त ए. एस. एस. हैं। कहने की आवश्यकता नही कि धात्री विज्ञान विषय पर सम्पूर्ण चिकित्सा के अनुसार अधिकृत रूप मे अभी तक कोई पुस्तक नही मिलती थी। डॉ० गुप्त ने इस विषय को अधिकृत रूप मे सामने रखकर गृहस्थ समाज के एक अभाव की पूर्ति की है। विशेषतः ग्रामीण जनता के लिए यह अति अलभ्य पुस्तक है। पृष्ठ-संख्या लगभग २०९।

११—सामान्य शल्य चिकित्सा (सर्जरी)—हिन्दी मे सर्जरी की यह पुस्तक सर्वोत्तम है। सैकड़ो चित्र, कपडे की जिल्द।

१२—एलोपैथिक पेटेण्ट मेडिसिन्स ले०—डॉ० अ० ना० पाण्डेय—इस पुस्तक मे एलोपैथी की प्रायः सभी दवाओ का वर्णन, उनका मिश्रण, प्रयोग विधि, मात्रा, किन-किन रोगो मे उनके प्रयोग से लाभ होता है, किन कम्पनियों द्वारा तैयार की गयी है आदि बाते सरल ढङ्ग से बतलायी गयी हैं।

१३—एलोपैथिक पेटेण्ट चिकित्सा—ले० डॉ० अ० ना० पाण्डेय—केवल पेटेण्ट दवाओं से चिकित्सा-विधि बतायी गयी है।

१४—ज्वर चिकित्सा—ले०—डॉ०अ०ना०पाण्डेय—प्रायः सभी प्रकार के ज्वरों की चिकित्सा कई पैथियों द्वारा बतायी गयी है।

१५—माडर्न एलोपैथिक मेटेरिया मेडिका—(ले०—डॉ० रामनारायण सक्सेना, प्रोफेसर—बुन्देलखण्ड आयुर्वेदिक कालेज, झाँसी)—यह एलोपैथिक ज्ञान की मूल पुस्तक है।

१६—अभिनव शवच्छेद विज्ञान—प्रोफेसर श्री हरस्वरूप कुलश्रेष्ठ द्वारा लिखित। शरीर रचना का ज्ञान शवच्छेदन से ही होता है और उसे ही २ भागों मे सरलता से दिया गया है। दो भागों मे प्रकाशित।

१७—स्त्रियों के रोग और उनकी आधुनिक चिकित्सा—

लेखक —आचार्य रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी (B A., A. M. S.)

आचार्य त्रिवेदी की अन्य पुस्तकों की शृङ्खला मे यह उनकी नवीनतम और सर्वांगपूर्ण विशाल कृति है। इसके निर्माण मे उनका गत ६ वर्ष का परिश्रम मूर्त्त हो उठा है। भाषा सरल, वैज्ञानिक, विवेचनात्मक और भावबोधिनी है।

यह ग्रन्थ स्त्रियों के रोगों पर विस्तृत प्रकाश डालता है और उनकी सागोपाग मेडिकल और सर्जिकल चिकित्सा को इस प्रकार स्पष्ट करता है कि एक एम० बी० बी० एस० एव बी० एम० एस० का छात्र तथा गायनोकोलाजिस्ट पूरा-पूरा मार्गदर्शन पा सकता है।

इस एक पुस्तक के पढने के बाद किसी भी अन्य गायनोकोलोजी विषय की अंग्रेजी पुस्तक के पढने की आवश्यकता नहीं रहती।

जो चिकित्सक स्त्री-रोगों के इलाज (चिकित्सा) मे विशेषज्ञता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें इसे अवश्य पढना चाहिए। पृष्ठ सख्या —११५० के लगभग, अनेक चित्रों से सुसज्जित—

१८—शरीर रचना एवं क्रिया-विज्ञान—(लेखक—डॉ० एस० आर० वर्मा, भूतपूर्व प्राध्यापक—पी० एच० मेडिकल कालेज, काशी)

शरीर-रचना एवं क्रिया-विज्ञान चिकित्सा-शास्त्र का एक मुख्य आधार है। इसका पूर्ण ज्ञान न होने से चिकित्सा का पूर्ण ज्ञान होना ही असम्भव है। शरीर के अगो में विकृति आ जाने पर उनकी स्वाभाविक क्रियाओ का समुचित ज्ञान हुए बिना उस विकृति का अनुमान ही नही किया जा सकता।

प्रस्तुत पुस्तक मे मानव-शरीर के हर अङ्ग के चित्र के साथ उसकी रचना एवं क्रिया को बहुत ही सरल हिन्दी मे समझाया गया है ताकि पाठकगण को समझने मे किसी प्रकार की कठिनाई न हो। पुस्तक बहुत ही उपयोगी एवं लाभदायक है। पृष्ठ-सख्या लगभग २७१।

१६—वृद्धावस्था के रोग और उनका प्रतीकार—

लेखक—रघुबीरप्रसाद त्रिवेदी

२०—विटामिन—प्रस्तुत पुस्तक मे विटामिन के आविष्कार का इतिहास, विटामिन के भेद, किसी बीमारी मे कौन विटामिन उपयुक्त होगा आदि बातें लिखी गयी हैं। एलोपैथिक कम्पनियो द्वारा आविष्कृत सभी विटामिनो का परिचय एवं उनके प्रयोग, खाद्य-पदार्थों मे विटामिन पाये जाने की तालिका आदि का विस्तृत विवेचन है। पुस्तक अपने विषय की नई एव निराली है।

चिकित्सा वाङ्मय के भारत प्रसिद्ध लेखक आचार्य त्रिवेदी की वरद लेखनी से प्रसूत यह नवीनतम कृति है। इसमे वृद्धावस्था क्यो होती है और उसे किस प्रकार रोका जा सकता है इस पर व्यापक प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक में वृद्धों के रोगों का सविस्तार वर्णन किया गया है। सामान्य व्यक्तियों और वृद्धों के रोगों की व्यवस्था और उपचार पर आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने जो उन्नति की ह उन सबका समावेश इसमे किया गया है।

हिन्दी भाषा में इतनी आकर्षक और आधिकारिक पुस्तक यह पहली ही है जिसमें नवीन और प्राचीन दोनों ज्ञान-विज्ञान का समन्वय किया गया है।

प्रत्येक चिकित्सक और चिकित्सा के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक मार्गदर्शिका सिद्ध होगी।

बुढ़ापे से बचने के लिए प्रत्येक नवयुवक को तथा वृद्धावस्था में सुखपूर्वक जीने के लिए प्रत्येक प्रौढ़ और वृद्ध पुरुष और स्त्री को इसे अवश्यपढ़ना चाहिए।

पृष्ठ-संख्या १६८। २१—मासिक विकार। २२—सन्तति निरोध।

२३—जननेन्द्रिय रोग चिकित्सा—इसमे पुरुषों एवं स्त्रियों के समस्त गुप्त रोगों का वर्णन एवं चिकित्सा है।

२४—सल्फोनामायड एवं एण्टीबायोटिक्स—इस पुस्तक मे एलोपैथी की समस्त सल्फाग्रूप एव एण्टीबायोटिक्स की चमत्कारिक औषधियों का वर्णन है।

२५—नासा, कर्ण एवं गले के रोग—नाक, कान एव गले के समस्त रोगों की अचूक चिकित्सा।

२६—मॉडर्न सिलेक्टेड मेडिसिन—लेखक डॉ० केशवानन्द नौटियाल (ए. एम. एस., का. हि. वि. वि.)—

२७—बाल रोग चिकित्सा—(लेखक—डॉ० रमानाथ द्विवेदी) पृष्ठ-संख्या लगभग ५००।

२८—मॉडर्न डायग्नोसिस—पृष्ट-सख्या ६१७ (डॉ० केशवानन्द नौटियाल ए.एम. एस., का. हि.वि.वि.) (सजिल्द एवं सचित्र)।

२९—मॉडर्न ट्रीटमेण्ट—प्रथम भाग तथा द्वितीय भाग।

३०—ब्लड प्रेशर—पृष्ठ सख्या लगभग २००।

३१—स्टेस्थोस्कोप परीक्षा—लेखकों की अग्रेजी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर है। भाषा बहुत ही सरल एव सुबोध है।

होमियोपैथिक पुस्तकें :—

१—होमियो मेटेरिया मेडिका (रेपर्टरी सहित)—रचयिता डॉ० विलियम बोरिक। प्रस्तुत पुस्तक डॉ० विलियम बोरिक की मूल अग्रेजी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद है। २—फैरिङ्गटन की तुलनामूलक मेटेरिया मेडिका।

३—बायोकेमिक चिकित्सा—टीशू रेमिडीज की कुल १२ औषधियो का पूरा वर्णन और उनसे चिकित्सा दी गई है। उ० प्र० सरकार से पुरस्कृत।

४—आर्गेनन—महात्मा हैनिमेन कृत आर्गेनन का अविकल हिंदी अनुवाद और परीक्षित अनुभवपूर्ण व्याख्या। उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत।

५—स्त्री रोग चिकित्सा (सचित्र)—इस पुस्तक में तमाम स्त्री अवयवों का वर्णन, उनको होने वाले रोगों के कारण, परिचय, निदान एव उनकी समुचित चिकित्सा विधि होमियोपैथिक दवाओ द्वारा दी गई है।

६—होमियो पारिवारिक चिकित्सा—इस पुस्तक मे चिकित्सा सवधी आवश्यकीय सभी बातों, प्रत्येक रोगों के मुख्य-मुख्य लक्षणों, परिचय, निदान और परीक्षित होमियोपैथिक दवाओं द्वारा उनकी चिकित्सा-विधि दी गई है।

७—होमियो भेषज सार। ८—रोगी की सेवा और पथ्य। ९—होमियो इन्जेक्शन चिकित्सा। १०—भारतीय औषधावली तथा होमियो पेटेण्ट मेडिसिन। ११—होमियो पाकेट गाइड। १२—बायोकेमिक पाकेट गाइड। १३—होमियो गृह चिकित्सा। १४—जल चिकित्सा विज्ञान। १५—होमियो पशु चिकित्सा। १६—बायोकेमिक रहस्य। १७—पुरानी बीमारियाँ। १८—नैश रोजनल लोडर्स। १९—होमियो टायफायड चिकित्सा। २०—होमियो न्यूमोनिया चिकित्सा। २१—होमियो थाइसिस चिकित्सा। २२—थर्मामीटर। २३—एनीमा और कैथेटर। २४— रोग लक्षण संग्रह। २५—होमियो लेबुल बुक। २६—एलेन्स की नोट्स। २७—लोडर्स इन होमियोपैथिक थेराप्युटिक्स। २८—मेडिकल सर्टिफिकेट हिन्दी-अंग्रेजी।

२९—पीयर्स की कम्परेटिव मेटेरिया मेडिका—प्रसिद्ध होमियोपैथ डॉ० पीयर्स द्वारा लिखित यह मेटेरिया मेडिका अनेक अर्थों में अन्य मेटेरिया मेडिकाओं से विशिष्ट है। लेखक की पुस्तक "टान आन मेटेरिया मेडिका विथ कम्पैरिजन" का अविकल हिन्दी अनुवाद है। यह पुस्तक होमियोपैथ चिकित्सको के चिकित्सा कार्य मे अत्यन्त सहायक होगी। ३०—होमियो मेटेरिया मेडिका। ३१—होमियोपैथिक रिपर्टरी। ३२—बायो० रिपर्टरी। ३३—होमियो भेषज सम्बन्ध एवं क्रिया स्थिति काल। ३४—तुलनात्मक होमियो औषधि चुनाव एवं डायलुशन। ३५—आर फोर्टीइयर प्रैक्टिस।

आयुर्वेदिक पुस्तकें—

१—आयुर्वेद विज्ञान—ले० डॉ० कमला प्रसाद मिश्र। आयुर्वेदिक की अपूर्व चिकित्सा पुस्तक। २—नाड़ी रहस्य—नाड़ी विज्ञान के लिए। ३—आधुनिक आहार-विहार, द्रव्य गुण-विज्ञान एवं चिकित्सा।

ग्राम सीरीज प्रकाशन—

१—नीम चिकित्सा विधान। २—तुलसी चिकित्सा विधान। ३—आयुर्वेदिक घरेलू चिकित्सा। ४—बबूल चिकित्सा विधान। ५—मधु चिकित्सा विधान। ६—सुलभ देहाती नुस्खे। ७—कब्ज या कोष्ठबद्धता। ८—सफल होमियो प्रेस्क्रिप्शन। ९—जल चिकित्सा।

१०—वृक्ष विज्ञान चिकित्सा—ले० डॉ० राधाकृष्ण पाराशर।

११—मवेशियों की घरेलू चिकित्सा—प्रस्तुत पुस्तक मे गाय, भैंस और बकरी, घोडा, मुर्गी आदि की ग्रामीण नुस्खों द्वारा चिकित्सा करने की विधि बताई गई है।

१२—जन स्वास्थ्य विज्ञान—इस पुस्तक मे स्वास्थ्य सम्बन्धी विवेचना पूर्णरूप से दी गयी है। १३—छाछ चिकित्सा विधान।

१४—नीबू चिकित्सा-विज्ञान—इस पुस्तिका मे नीबू के सामान्य परिचय, वर्गीकरण के अलावा उसके अनेक चिकित्सकीय प्रयोग दिये गये हैं। साथ ही नीबू से बनने वाले अनेक खाद्य प्रयोग भी दिये गये हैं। जैसे—नीबू के अचार, सिकजबीन आदि।